ऋग्वेद संहिता

भाषा-भाष्य

सप्तम खण्ड

॥ ओ३म् ॥

ऋग्वेद-संहिता

भाषा-भाष्य

(सप्तम खण्ड)

भाष्यकार—

श्री पण्डित जयदेव शर्मा,

विद्यालङ्कार, मीमांसातीर्थ.

प्रकाशक—

आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड्, अजमेर

प्रथमावृत्ति	सन् १९३६ ई०	मूल्य
२०००	संवत् १९९३ वि०	४) रुपये

(५) अविनाशी प्रभु से रक्षा की याचना। (६) सर्वातिशायी सर्वमाननीय वेद का दाता प्रभु। (पृ० २१–२५)

सू० [५१]—सौचीक अग्नि और देवगण। देह में प्रविष्ट आत्मा और अध्यक्ष सर्वसाक्षी प्रभु का वर्णन (२) प्रभु और आत्मा के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न। (३) देहस्थ आत्मा के दर्शन की उत्कण्ठा, सर्वनियन्ता प्रभु पर सर्वाशा। (४) परमेश्वर वरुण से जीव की देह-बन्धन से मुक्ति की प्रार्थना। अल्पज्ञानी नचिकेता और वरुण यम का रहस्य। (५) देह में आत्मा के बंधने का कारण। (६) रथी के समान मार्गगामी विद्वानों के कर्त्तव्य। आत्मा का अपने को असहाय देख कर भयभीत होना और प्रभु से मार्ग-दर्शन की याचना। (७) दीर्घ-जीवन वाला होकर ज्ञान प्राप्त करने का आदेश। (८) दीर्घजीवन के साधनों की याचना। (९) यज्ञ से प्रयाज और अनुयाज के तुल्य जीवन में अन्न, कर्म-फल आदि एवं उत्तम गुरु-सुहृद आदि की याचना। (पृ० २५–२९)

सू० [५२]—देवगण। ज्ञानार्थी की गुरु जनों के प्रति प्रार्थना। (२) ब्रह्मज्ञान के दान और प्रतिग्रह का वर्णन। (३) सूर्य चन्द्र के तुल्य ज्ञानदाता गुरु और ज्ञानार्थी शिष्यों का सम्बन्ध। प्रतिभास चन्द्र में प्रकाशवत् विद्यार्थीगण में ज्ञानप्रकाश का धारण। (४) सूर्य की किरणों के तुल्य विद्वानों का ज्ञान-प्रकाश-प्रदान का कर्त्तव्य। अध्यात्म में—सात्विक यज्ञ का वर्णन। (५) विद्वानों से ज्ञान धारण करने के साथ बल-वीर्य धारण, ब्रह्मचर्य-धारण तथा प्राण निग्रह के साथ २ शत्रुदमन। (६) यज्ञ में ३३३० देवों के तुल्य देह में ३३३० शक्तियों की प्राप्ति और यज्ञवत् जीवन यापन। (पृ० २९–३३)

सू० [५३]—(१-३) सौचीक अग्नि। विद्याभिलाषियों की ज्ञानवान् विद्वान् को अपने बीच प्राप्त करने की अभिलाषा। (२) उसका

स्वागत। (३) उससे वेदज्ञान और दीर्घ जीवन-आचार की याचना, (४) देवगण। वेदज्ञान का प्रयोजन असुरों का पराजय। (५) पापों से मुक्त होने की प्रार्थना। (६-११) सौचीक अग्नि। विद्योपार्जन के अनन्तर विद्वानों का शिष्य के प्रति गृहस्थ-प्रवेश का उपदेश। (७) विद्वानों की अध्यक्ष पदों पर नियुक्ति। पक्षान्तर में—आत्म-दर्शनार्थ बाह्य इन्द्रियों का दमन—(८) नदीवत् आत्मा का वर्णन। उसमें स्नान कर पापों के त्याग का कल्याणमय ज्ञानैश्वर्यों की प्राप्ति का उपदेश। (९) सर्वशक्तिमान् परमात्मा का ज्ञानमय परशु से आत्मा के बन्धन-छेदन। औपनिषत् महास्त्र, सुआयस परशु से तुलना। (१०) ज्ञानों से अमृतमय मोक्ष पद की प्राप्ति करने का आदेश। (११) तद्गत चित्त से स्तुति करने का उपदेश। भक्त पुरुष की विजयी के समान सफलता।

सू० [५४]—इन्द्र। राजा और प्रभु का वर्णन। पृथिवी आकाशवत् राजा प्रजावर्ग की स्थिति। उन दोनों पर राजा का शासन। राजा के कर्त्तव्य, प्रजारक्षण, प्रजाशिक्षण, प्रजा का पोषण। (२) राष्ट्रपति के कर्त्तव्य, ज्ञानप्रसार और पराक्रम। (३) प्रजापति का अपने में से जगत्-सर्ग रचना। प्रजापति के आधे २ देह से नर नारी की उत्पत्ति का रहस्य। (४) महान् प्रभु के ४ अविनाशी रूप। (५) प्रभु से ऐश्वर्य-याचना। इन्द्र की वेदोक्त व्युत्पत्ति। (६) इन्द्र के सूर्यवत् मुख्य कार्य, सब में प्रकाश देना, सब में मधुर रस देना।

सू० [५५]—इन्द्र। परमेश्वर का जगद्-धारक अव्यक्त सामर्थ्य। (२) परमेश्वर का सर्वप्रिय, सर्वपोषक, गुह्य रूप। (३) प्रभु का सर्वपालक, सर्वपूरक रूप, ३४ विकृतियों का मूल गुह्य रूप। (४) सर्वजगद्-उत्पादक परमेश्वर की मातृशक्ति उषा। (५) प्रभु का महान् अमर काव्य। (६) सर्वशक्तिमान् महान्, सनातन, सर्वव्यापक सत्य स्वरूप। अमोघ विजयी दानी प्रभु। (७) किरणों और सूर्य का सा

* ओ३म् *

ऋग्वेद-विषय-सूची

अष्टमोऽष्टकः । प्रथमोऽध्यायः ।

दशमं मण्डलं । चतुर्थोऽनुवाकः ।

सू० [४६]—अग्निः । ज्ञानी, विद्वान्, सर्वाध्यक्ष, सर्वपालक प्रभु । (१) यज्ञाग्नि के तुल्य आत्मा की ज्ञान-साधनों से प्राप्ति । (३) मोक्ष में युक्तात्मा का प्राप्य प्रभु सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, तेजोमय है । (४) सर्वस्तुत्य, सर्वस्वामी प्रभु । (५) सर्वमोक्षप्रद, तेजोमय प्रभु (६) त्रित अग्नि का वर्णन । आचार्य-गृह में ब्रह्मचारी के तुल्य आत्मा का देह में आगमन । कलाकौशल पक्ष में—अग्नि विद्युत् का वर्णन । (७) मुख्याग्नि गुरु के अधीन अन्य अनेक शिष्याग्नियों के तुल्य मुख्य के नीचे अधीन शासकों का वर्णन । (८) सर्वज्ञानप्रद प्रभु (९) सर्वस्तुत्य, सर्वोपास्य प्रभु का उपदेश (१०) प्रभु से ही दीर्घ जीवन, बल आदि की प्रार्थना । (पृ० १७७)

सू० [४७]—इन्द्रो वैकुण्ठः । वसुपति परमेश्वर का अवलम्ब लेकर उसी से ऐश्वर्य की याचना करने का उपदेश । (२) सर्वरक्षक । (३) सर्वज्ञ, सर्वोपरि, सर्वस्वामी । (४) भवतारक, महान्, सर्वदुष्ट-विघ्नादि नाशक । (५) सबका स्वामी, सर्वनेता, सर्वसंचालक, स्तुत्य परमेश्वर का जगत् रूप महान् रथ । (६) सर्वनमस्य, सप्तप्राण, सप्तरश्मि

सत्यकर्मा, बृहस्पति। (७) प्रभु से याचना-विनय और ऐश्वर्य, और रक्षा, स्थानादि की याचना। (पृ० ७–११)

सू० [४८]—इन्द्र वैकुण्ठ। परमेश्वर। प्रत्यक्ष रूप से अध्यात्म वर्णन। (२) वह प्रभु सर्वोपरि सर्ववेदों का स्वामी, लोकनाथ, धन को देने, विभाग करने हारा है। (३) सबको बल का दाता, सबका अध्यक्ष सबके फलों का देने-दिलाने वाला। (४) आत्मा का ज्ञान-दाता, उद्धारक प्रभु। (५) मृत्यु आदि का वारक प्रभु। परमेश्वर के सख्य में सदा अभय, आश्वासन, (६) दुष्टों को दण्ड देने वाला प्रभु। (७) सर्वोपरि शक्तिशाली प्रभु। (८) दुष्ट-नाशक, प्रजापालक प्रभु। (९) प्रभु के साथ मैत्रीभाव रखने का उपदेश। (१०) सर्वशास्ता प्रभु (११) सर्वशक्तिप्रद प्रभु। वह अपराजित, अहिंसित, अविनाशी है। पक्षान्तर में—सर्वोपरि राजा का वर्णन। (पृ० ११–१६)

सू० [४९]—सर्वैश्वर्यप्रद प्रभु का आत्म-वर्णन। सर्वजगत्-उत्पादक, बलप्रद, सर्वप्रेरक, दुष्ट-दण्डक प्रभु। (२) सर्वव्यापक, सर्ववशकर्त्ता प्रभु। (३) अज्ञान-नाशक, सर्वरक्षक, दुष्टदण्डक, सज्जनपालक प्रभु। (४) प्रभु के पिता के तुल्य कर्त्तव्य। प्रभु का दुष्टों का दमन। (५) अपनी ओर आने वालों के प्रति प्रभु की विशेष कृपा। (६) सर्वतारक प्रभु। (७) भक्तों पर कृपालु परमेश्वर। (८) साधक पुरुष के प्रति प्रभु के कार्य। (९) प्रभु का देह में आत्मा के तुल्य अद्भुत कार्य। (१०) देह में आत्मा के कर्त्तव्य। (११) प्रभु के अद्भुत कर्म। (पृ० १६–२१)

सू० [५०] इन्द्र वैकुण्ठ। सर्वोपरि, सर्वस्तुत्य, आनन्दमय, सर्वोत्पादक प्रभु। (२) सर्वस्वामी, सर्वसेव्य, सर्वसुखप्रद, निरञ्जन प्रभु। (३) भक्तों विषयक प्रश्न (४) सर्वपूज्य, सर्वद्रष्टा, सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रेरक।

पति के अधिकार। वह कन्या के धन का अधिकारी न हो। (९) चौरवत् व्यक्ति के हाथ कन्या को न देकर वीर पुरुष के हाथ कन्यादि का दान करे। (१०) विद्यार्थियों के कर्त्तव्य, गुरु उपासना। पक्षान्तर में—नवविवाहितों के सत्कर्त्तव्य। (११) ब्रह्मचारी के तुल्य विवाहित के कर्त्तव्य। (१२) निष्पाप जीवन का फल दीर्घ-जीवन। (१३) मुख्य प्राण के अधीन गौण प्राणों के तुल्य राजा के अधीन सामन्तों के कर्त्तव्य। (१४) सर्वोपास्य पापनाशक देव भर्ग। (१५) स्त्री पुरुषों के कर्त्तव्य उनके ब्रह्मचारी वा पुत्रों के प्रति कर्त्तव्य। (१६) राजा के तुल्य आत्मा का वर्णन। उसको रथवत् देह-चालन का कर्त्तव्य। (१७) पुत्रवत् आत्मा का उभय-लोक-तारक होने का वर्णन। (१८) सर्वाश्रय हृदयस्थ परमात्मा का सर्वमाता के तुल्य होना, वही उपास्य है। (१९) मातृवत् प्रकृति का वर्णन। उससे पुत्रवत् जीव-सर्ग। उसकी सवनीय गौ के साथ उपमा। (२०) बालक-वत् आत्मा का वर्णन। उसका देह पर वशीकरण करने का वर्णन। (२१) उत्तम भक्त के लक्षण। जितेन्द्रिय से ही प्रभु प्रसन्न होता है। (२२) प्रभु से रक्षा, और निष्पाप होने की प्रार्थना। (२३) सन्यासी उपदेष्टा के कर्त्तव्य। (२४) अवश्य प्रार्थनीय सर्वसुखप्रद प्रभु (२५) उपास्य प्रभु से ज्ञान और अन्न की याचना। (२६) उपास्य प्रभु, सर्वोत्तम बन्धु उत्तम दुधार गौ के तुल्य है। (२७) विद्वानों को ज्ञान-सेवन, प्रभु के प्रेमी होने का उपदेश। (पृ० ६५–७९)

द्वितीयोऽध्यायः

सू० [६२]—विश्वेदेव और आङ्गिरस गण। ईश्वरोपासना से मोक्ष लाभ। विद्वानों के कल्याण की भावना। विद्वानों का कर्त्तव्य, मनुष्यों पर

अनुग्रह करना । (२) गड़े खजाने के तुल्य ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश, (३) विद्वान् तेजस्वियों का कर्त्तव्य राजा का स्थापन, प्रजा का अभ्युदय, मानवों पर अनुग्रह । पक्षान्तर में—योगाभ्यास का वर्णन । (४) गुरु और ज्ञानार्थी शिष्यों के कर्त्तव्य । (५) उत्तम शिष्यों के कर्त्तव्य । उनके बीच सूर्यवत् उनको ज्ञान देना । (७) गुरु-शिष्य का विद्या-दाना-ऽऽदान । (८) जीव की सस्यांकुर के समान उत्पत्ति, (९) तेजस्वी का सूर्यवत् सर्वोच्च स्थान । उसका महान् सागरवत् वर्णन । (१०) उसका सबसे अधिक आदर, (११) तेजस्वी नायक के कर्त्तव्य । उसके ग्राह्य गुण ।

सू० [६३]—विश्वेदेव । उपदेष्टा लोगों के कर्त्तव्य । (२) उत्तम नाम पदधारी नेता जनों के कर्त्तव्य । (३) माता-पिता गुरु आदि से शिक्षा, ज्ञान, मधु अन्नादि प्राप्त करने वाले विद्यावानों के सुख-कल्याण की कामना । (४) मोक्षसेवी ज्ञानी पुरुषों के लक्षण । (५) योग्य आदरणीय पूज्यों की पूजा का उपदेश । (६) सेव्य, वेदोपदेष्टा, सर्वतारक प्रभु । (७) विद्यावानों से कल्याण की याचना । (८) उत्तम ज्ञानी ऐश्वर्यवानों से सुख-कल्याण रक्षा की याचना । (९) पापमोचना उत्तम जनों का सादर आमन्त्रण । (१०) उत्तम नौका के तुल्य तारक प्रभुमयी नौका का वर्णन । (११) रक्षार्थ उत्तम पुरुषों का शासन, और उनसे रक्षा और कल्याण की प्रार्थना । (१२) वे प्रजाओं में से रोग, पीड़ा, परस्पर अदानशीलता और दुःखदायिनी हिंसा को दूर करें । (१३) तेजस्वी और उत्तम व्यापारियों के कर्त्तव्य । उनके आत्मा का अभ्युदय । (१४) वीरों विद्वानों के रक्षा-कुशल अध्यक्ष का वर्णन । (१५) वीरों, विद्वानों के कर्त्तव्य, वे प्रजाओं में उत्तम सुखप्रद मार्ग, समुद्र नदी आदि पर गमन-साधन और घर गृहस्थ में शान्तिस्थापन करें । (१६)

विद्वानों का परमेश्वर से सम्बन्ध। (८) शिल्पी के तुल्य प्रभु परमेश्वर का जगत्सर्जन कार्य। (पृ० ५२-४६)

सू० [५६]—विश्वेदेव। सर्वाश्रय प्रभु में रमण करते हुए सर्वोत्तम, ज्योतिर्मय प्रभु में मग्न होना। (२) आत्मा को जन्म-जन्मान्तर में साधन कर प्रभु को प्राप्त करने का उपदेश। (३) उत्तम कर्म, उत्तम ज्ञान, उत्तम मार्गों से उत्तम गति प्राप्त करने का उपदेश। (४) उनको उत्तम मार्गों का उपदेश। (५) उत्तम लोक-प्राप्ति और प्रजा-प्रसार का उपदेश। (६) अगली प्रजा के स्थापन का उपदेश अथवा वानप्रस्थोचित विधि से वंश-स्थापन, अविच्छिन्न तन्तु करने का उपदेश। (७) नाव और समुद्र के दृष्टान्त से इस लोक का तरण, प्रजास्थापन का उपदेश।

सू० [५७]—विश्वेदेव। प्रभु से दूर न होने और कुपथ पर न जाने का आदेश। (२) ईश्वर भक्त की आत्मा की सूत्र, प्रजा वा पुत्रवत् स्थिति। उसकी प्राप्ति का आदेश। (३) मन को वश करने का उपदेश। (४). मन का पुनः ज्ञानमार्ग में प्रवर्त्तन, प्रत्याहार, योग-अंग की साधना। (५) मन को बलवान् बनाने का उपदेश। (६) परमेश्वर प्राप्त्यर्थं अनेक जन्मों में उत्तम मन उत्तम प्रजावान् होने की कामना। (पृ० ५०—५२)

सू० [५८]—मनः-आवर्त्तन। इस लोक में पुनः आने, जन्म लेने आदि के निमित्त मन का पुनः २ आवर्तन। योगाङ्ग रूप प्रत्याहार का वर्णन।

सू० [५९]—(१-३) निर्ऋतिः। गृहस्थ को सुखपूर्वक निभाने का उपदेश। बालक दीर्घायु हों। (२) उत्तम अन्न वा धनों को प्राप्त करें। (३) शत्रु पर विजय करें और विद्वान् की मार्गदर्शिता में इस

दुःख से मुक्त, सुखी हों। (४) निर्ऋति और सोम। विद्वान् के कर्त्तव्य। वह अन्यों को कष्टों से बचावे। प्रभु हमें प्रकृति के तमोमय बंन्धन से मुक्त रखें। (५–६) असुनीति। प्राणप्रद प्रभु से प्रार्थना। उससे पुनः जन्म जन्मान्तरों में समस्त इन्द्रियादि सुख-साधनों की प्रार्थना। (७) प्रभु से पुनः प्राणादि की याचना। (९–१०) द्यावापृथिवी। आकाश-भूमिवत् माता-पिता के कर्त्तव्य। वे प्रजा का कष्ट दूर करें।

सू० [६०]—असमाता राजा। विनयशील तेजस्वी, स्तुत्य जन को आश्रय करने का उपदेश। (२) असाधारण मानवान्, पालक की शरण ग्रहण करो। (३) राजा का हिंसावत् पराक्रमी होने का कर्त्तव्य। (४) प्रजा वृद्ध्यर्थ मधुरभाषी राजा की आवश्यकता। (५) राजा के आश्रयभूत जन असाधारण बल और ज्ञान वाले हों। (६) प्रजा के हितार्थ राजा-प्रजावर्गों को सन्मार्ग पर चलाने और दुष्टों के दमन का उपदेश। (७) माता पिता के तुल्य राजपद। (८) जुए के समान मन के वशीकरण का उपदेश। (९) मनोदमन का प्रभु को साधन बनाना। (१०) दीर्घजीवन वा कल्याणार्थ प्रभु से ज्ञान वा मन-शक्ति की याचना। (११) पापत्यागार्थ व्रत आदि से विनय की शिक्षा। (१२) हाथों के सौभाग्यवान् और कल्याणप्रद होने की प्रार्थना। (तृ० ६०–६४)

सू० [६१]—विश्वेदेव। ब्रह्मा पद के योग्य विद्वान् का लक्षण। पक्षान्तर में मेघ-कर्म। (२) मेघ वा सूर्यवत् पराक्रमी राजा के कर्त्तव्य। (३) शक्तिशाली की आज्ञा-पालन का उपदेश। (४) दिन रात्रिवत् स्त्री-पुरुषों के कर्त्तव्य, वे प्रातः यज्ञ, विद्याभ्यासादि करें। प्रेम भाव से रहें। (५) गृहस्थ को पुत्रोत्पत्ति और वनस्थ होने का उपदेश। (६) पुत्रोत्पादन की आवश्यकता। (७) पुत्र न होने की दशा में कन्या को ही पिता के धन का उत्तराधिकार। (८) अभ्रातृका कन्या के

उत्तम गृहणी के सेना के सदृश कर्त्तव्य । (१७) उत्तम शासक और विद्वानों के कर्त्तव्य ।

सू० [६४]—विश्वेदेव । सदा स्मरणीय और मननीय प्रभु देव की जिज्ञासा । (२) ज्ञानार्थी और फलार्थी सब पर दयालु प्रभु । (३) सर्वोपरि स्तुत्य प्रभु और स्तुत्य सूर्य चन्द्रवत् उत्तम स्त्री पुरुष । (४) एक मात्र जगत्-कर्त्ता वेदवाणियों से स्तुत्य महान् प्रभु । (५) राजा के तुल्य आत्मा का नाना देहों में विचरण और भोग्य फल प्राप्ति । (६) शूरवार दानी, लोगों से प्रार्थना । (७) वायुवद् बलवान् पोषकों का वरण, क्योंकि वे प्रभु के शासन में एक चित्त होकर कार्य करते हैं । (८) उत्तम शक्तियों और शक्तिशालि पुरुषों की प्राप्ति । (९) उदार देवियों का सादर आमन्त्रण और अन्नवत् ज्ञान-याचना । (१०) पूज्यों से प्रार्थना, प्रभु से रक्षा की प्रार्थना । (११) सम्पन्न गृहवत् सुखदायी प्रभु । उत्तम जनों का सुखदायी उपदेश । यशः-सम्पदा आदि की कामना । (१२) विद्वानों से उपदेशों और उत्तम मान-प्राप्ति की प्रार्थना । (१३) विद्वानों और वीरों से परस्पर बन्धुत्व और ज्ञान-प्रसार की प्रार्थना । (१४) सूर्य भूमि के तुल्य माता पिताओं के कर्त्तव्य । (१५) परम वेदवाणी का वर्णन । (१६) विद्वान् ज्ञानी को उत्तम जन्म लाभ । (१७) उत्तम शासक और विद्वानों के कर्त्तव्य । (पृ० ९६–१०)

सू० [६५]—विश्वेदेव । अग्नि, विद्युत्, जल, अन्न, सूर्य, वायु पृथिवी, नदी १२ मास, आकाश, अन्तरिक्ष, देहगत प्राणगण, तेज, शब्द, ओषधिगण, प्राण, प्रकृति, प्रभु इनकी परस्पर सुसंगत स्थिति । (२) वायु, अग्नि जल की व्यापक स्थिति, ओषधिवर्ग की जल के आश्रय वृद्धि, पक्षान्तर में राष्ट्र में सेनापति, पुरोहित और राजा तथा गृहपति, स्त्री और पुत्र का वर्णन । (३) उन शक्तिशाली पदार्थों का वर्णन ।

(४) महापुरुषों के कर्त्तव्य। (५) मित्र वरुण, वायु जलवत् दानी स्नेही, महापुरुषों का वर्णन। (६) पृथ्वी के परि भ्रमण से ऋतुओं की उत्पत्ति आदि का वर्णन। (७) सूर्य की रश्मियों के तुल्य ज्ञानी पुरुषों का वर्णन। (८) आकाश, भूमि, वा सूर्य पृथिवीवत् पुत्रों के प्रति माता-पिता के कर्त्तव्य। (९) इन्द्र वायु, मेघ वायु, और सूर्य किरणों के तुल्य पार्थिव और दिव्य जनों और तत्वों का वर्णन। (१०) सूर्यादि के तत्वज्ञ की उपासना। (११) उत्तम पुरुषों के लक्षण। (१२) उत्तम स्त्री पुरुषों के कर्त्तव्य। (१३) उत्तम पुरुषों से प्रार्थना। (१४) श्रेष्ठ जनों के कर्त्तव्य। (१५) ब्रह्मचारी और आचार्य के कर्त्तव्य। (पृ० १००–१०९)

सू० [६६]—विश्वेदेव। राजा गुरु आदि पूज्यों की उपासना और सत्संग का उपदेश। (२) विद्वानों से ज्ञान-प्राप्ति का उपदेश। (३) तेजस्वी राजा का कर्त्तव्य, प्रजा का पालन। (४) माता पिता के तुल्य प्रिय, सत्यज्ञानी पुरुषों के आदर का उपदेश। (५) श्रेष्ठों से शरण आदि की याचना। (६) यज्ञ, विद्वान् स्त्री पुरुषों, वीरों के बलशाली होने की प्रार्थना। (७) अग्नि जलवत् शान्तिप्रद और दुष्ट-संतापक से सुख की प्रार्थना। (८) क्षत्रियों के कर्त्तव्य। (९) विद्वानों के कर्त्तव्य। (१०) राजसभादि के विद्वान् सभासदों के कर्त्तव्य। (११) राजादि पुरुषों से प्रार्थना। (१२) विद्वानों के कर्त्तव्य। (१३) न्यायमार्ग का अनुसरण। विद्वानों के सत्संग का उपदेश। (१४) उत्तम गुरु जनों का कर्त्तव्य वे प्रेम से वेदोपदेश करें।

सू० [६७]—बृहस्पति। वेदज्ञ विद्वान् का कर्त्तव्य ज्ञानोपदेश कर मोक्ष प्राप्त कराना। पक्षान्तर में—प्रभु की महिमा। (२) सत्योपदेष्टा जनों के कर्त्तव्य। (३) विद्वान् परमहंसों के कर्त्तव्य वे देह-बन्धन

को दूर करें। पक्षान्तर में सूर्य का वर्णन। (४) बृहस्पति रूप आत्मा का देह में वर्णन। उसको वेदत्रयी का साक्षात्कार। (५) ज्ञानवान् आत्मा का देहपुरी-बन्धन का भेदन। अध्यात्म योजना। (६) सूर्य मेघ के दृष्टान्त से राजा का दुष्ट-दमन का कर्त्तव्य। (७) सूर्य के दृष्टान्त से राजा को संग्रह का उपदेश। पक्षान्तर में—आत्मा का प्राण-च्छिद्र-निर्माण आदि का वर्णन, आत्मा के धनसनि, वृष, वराह आदि नामों की व्याख्या। (८) माण्डलिकों में प्रधान राजा के तुल्य प्राणों में आत्मा का वर्णन पक्षान्तर में—प्रभु और भक्त का वर्णन। (९) सिंहवत् पराक्रमी सभापति के प्रति प्रजा का कर्त्तव्य। पक्षान्तर में आत्मिक बल बढ़ाने का उपाय। (१०) सूर्यवत् प्रभु का वर्णन। पक्षान्तर में—राष्ट्रपति और वेदज्ञ विद्वान् के कर्त्तव्य। (११) विद्वान् पुरुषों के कर्त्तव्य। (१२) सूर्य का मेघ-भेदनवत् आत्मा के देह में प्राण-मार्गों के भेदन का वर्णन। राष्ट्र में राजा-प्रजावर्गों का कर्त्तव्य। सप्त-सिन्धुओं के भेदन का रहस्य। (पृ० ११ –१२५)

सू० [६८]—बृहस्पति। हंसवत् भक्तों के कर्त्तव्य। भक्तों की प्रकट होती वाणिया का वर्णन। (२) अग्नियों के तुल्य विद्वानों का कार्य, सत्-मार्ग प्रकाशन। पुरोहित वा गुरुवत् प्रभु से सन्मार्ग की आशा। कर्मफल दाता प्रभु। (३) किसान के समान प्रभु का सृष्टि-वपन का कार्य। और खेतियों के समान पृथिवियों का वर्णन। पक्षान्तर में प्रभु का जंगम सृष्टि रचने का वर्णन। और जंगम-सर्गोत्पादक जंगम भूमियों का वर्णन। (४) परमेश्वर ज्ञान किस प्रकार देता है इस का वर्णन। मेघ से, वा पर्वत से जलधाराओंवत् ज्ञान धाराओं की प्राप्ति का वर्णन। शिल्पी द्वारा बनी नहर के समान शिष्यों में ज्ञान-धारा का प्रवर्त्तन। (५) प्रकाश से अन्धकार के तुल्य वा वायु के झोके से सेवार के तुल्य अज्ञान के नाश का उपदेश। (६) अन्नवत् शत्रुदल के ग्रसने

का उपदेश। पक्षान्तर में—मन्त्रों से ज्ञानप्राप्ति का उपदेश। (७) वेदवाणियों से गुह्य ज्ञान करने का उपाय। वेद से समस्त ब्रह्माण्डों के ज्ञान करने का उपदेश। (८) छोटे तालाब में तड़पते हुए मत्स्य के समान बद्ध आत्मा की स्थिति। उसको ज्ञान द्वारा मुक्त होने का उपदेश। उसके लिये वह ओंकार का ध्यान करे। मुक्ति में डण्डी से फल टूटने के समान बन्धन-छेद। (९) साधना से ऋतम्भरा के प्रति प्रकाशमय आत्मा का दर्शन, पोरु २ में मज्जा वा सींख के दृष्टान्त से आत्म-विवेचन का उपदेश। (१०) पतझड़ के दृष्टान्त से भोग आदि बन्धनों का त्याग—फिर बन्धन में आना। (११) मेघ को विद्युत् जैसे वैसे दिन रात्रि का अनेक प्रकार से विभाग। अध्यात्म में—आत्मा को गुणों द्वारा भूषित करना। और ज्ञानेन्द्रिय-वृत्तियों से आत्मा का बोध। राष्ट्रपक्ष में—राजा का कर्त्तव्य। विवेक पूर्वक न्याय-शासन। (१२) उपदेष्टा गुरु के कर्त्तव्य। (पृ० १२५–१३४)

सू० [६९]—अग्नि। संयमी के परमात्मविषयक सम्यङ् दर्शन उसी की यज्ञाग्निवत् प्रतिष्ठा। पक्षान्तर में—राजा के कल्याणकारी कार्य, प्रजा द्वारा उसका अभिषेक। (२) घृत से अग्नि के तुल्य तेजस्वी राजा का वर्णन। (३) तेजस्वी राजा की प्रशंसनीय नीति। वह प्रजा को ज्ञान-ऐश्वर्य आदि दे। (४) राजा के प्रति प्रजा के कर्त्तव्य। प्रजा के प्रति राजा के उदार दान। पक्षान्तर में प्रभु के उदार दान। (५) राजा के कर्त्तव्य। (६) राजा का विजय कार्य। (७) शक्तिशाली राजा का वर्णन। उसकी आचार्य से समता। (८) उत्तम गौ के तुल्य स्त्री और वाणी का वर्णन। (९) परमेश्वर की महान् महिमा। (१०) पिता पुत्र के तुल्य राजा का व्यवहार। (११) राजा की विनय दण्ड की व्यवस्था। (१२) प्रभु और राजा। (पृ० १३४–१४२)

सू० [७०]—(१) अग्नि। अग्नि के दृष्टान्त से गुरु के कर्त्तव्य।

(३) शिष्यों के कर्त्तव्य। (४) धान्यवत् प्रजाजन के विस्तृत होने का वर्णन। (५) स्त्रियों और सेनाओं का द्वारों के दृष्टान्त से वर्णन। (६) दिन रात्रिवत् गृहस्थ स्त्री पुरुषों का वर्णन। (७) विद्वान् उपदेष्टा का कर्त्तव्य। (८) इडा, आदि तीन देवियें और उनके कर्त्तव्य। (९) विद्वानों के बीच पालक स्वामी का कर्त्तव्य। पक्षान्तर में प्राणों के बीच आत्मा की स्थिति। (१०) वनस्पतिवत् शासक का कर्त्तव्य। (११) अग्निवत् विद्वान् के कर्त्तव्य। (पृ० १४२–१४६)

सू० [७१]—ज्ञान। बुद्धि में वाणी की उत्पत्ति। प्राथमिक वाणी का उद्भव। उनके प्रेम वश अन्यों को उपदेश। (२) विद्वानों का विवेक से पवित्र वाणी का प्रयोग। वेदों का बुद्धिपूर्वक साक्षात्कार और प्रकाश। (३) संगति द्वारा वाणी को समझने का सिद्धान्त। (४) वाणी के ज्ञान में विद्वान् और अविद्वान् का भेद। वाणी और विद्वान् की पतिपत्नी से उपमा। (५) विद्वान् और अविद्वान् में भेद। स्थिरपीत विद्वान् का लक्षण। वाणी के पुष्प और फल। अविद्वान् की अफला अपुष्पा वाणी। अविद्वान् की मायावृत्ति। (६) सच्चे मित्र वेद के त्यागने वाले को दण्ड। (७) एक समान अध्येताओं में भी ज्ञान मार्ग में न्यूनाधिक ज्ञानी होने का कारण। (८) विद्यार्थियों को ज्ञान-वृद्धव्यर्थ परस्पर वाद-प्रतिवाद करने का उपदेश। (९) वेदज्ञान का लाभ न करने वालों का अनिष्ट जीवन (१०) विशेष विद्वान् का वर्णन। (११) वेदाभ्यासार्थ ४ ऋत्विजों के कार्यों का वर्णन। (पृ० १४९–१५६) इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

तृतीयोऽध्यायः

सू० [७२]—देवगण। देवों, विद्वानों, दिव्य पदार्थों के जन्मादि सम्बन्ध में विवेचन। (२) लोहकार शिल्पी के दृष्टान्त से गुरु के कर्त्तव्य

एवं जगत्-उत्पादक प्रभु के सर्जन आदि दर्शन। (३) उषा के दृष्टान्त से असत् दशा से सत् का प्रादुर्भाव। (४) पृथिवी से स्थावर-जंगम सृष्टि के तुल्य प्रकृति से जगत्-सर्ग का वर्णन। (५) सूर्य से भूमि के तुल्य गुरु से विद्या का प्रादुर्भाव। सूर्य की पुत्री पृथिवी से अनेक जीवों की उत्पत्ति। प्रकृति से सूर्यादि लोकों की उत्पत्ति का वर्णन। (६) प्रकृति-मय लोकों में जीवसर्ग। पक्षान्तर में—आचार्य कुल में शिष्यों का सर्ग और उनकी सदाचार से उन्नति। (७) मेघों के तुल्य सूर्यादि लोकों के कर्त्तव्य। सूर्य के किरणों के तुल्य देहधारियों के कर्त्तव्य। पक्षान्तर में—विद्वानों का मेघादिवत् उदार कर्त्तव्य। (८) माता से पुत्रों के तुल्य प्रकृति से ८ प्रकृति-विकृतियों की उत्पत्ति। दूर २ तक लोकों में देहवान् सर्ग की सृष्टि। पक्षान्तर में देह-प्रकृति के आठ पुत्र ८ प्राण। (९) आत्मा में ७ प्राणों की शक्ति, उसकी देह-धारक शक्ति का वर्णन। (पृ० १९७—१९३)

सू० [७३]—इन्द्र। माता के तुल्य वीरोत्पादक प्रजा के कर्त्तव्य। पक्षान्तर में प्रकृति-पुरुष का वर्णन। (१) सेनापति की सेना से बढ़ने वाले वीरभटों के तुल्य माता से उत्पन्न गर्भों का वर्णन। (३) ऐश्वर्यवान् राजा के दो कर्त्तव्य। (४) राजा के शासनार्थ कर्त्तव्य। (५) सेनापति वा सभापति के कर्त्तव्य, न्याय शासन, दुष्ट दमन। (६) सूर्यवत् राष्ट्रपति के कर्त्तव्य। प्रजापालन और शत्रुनाश। (७) उसका दुष्ट-दमन का कार्य। (८) सूर्यवत् प्रजा-पालक का उदार शासन। (९) सूर्य-मेघ चक्रवत् राजा के राष्ट्रचक्र का वर्णन। राजा का आदर मेघवत् राष्ट्र में जलसेचन का प्रबन्ध। पक्षान्तर में परमेश्वर वा जगत्सर्जन। वेदद्वारा जगत् का ज्ञान-वर्णन। पक्षान्तर में देहों के बीच लिङ्ग शरीरों का वर्णन, जलाश्रित देह। देह बन्धन का ज्ञान से छेदन। रसाधार देह। (१०) मेघ की सूर्य से उत्पत्ति के तुल्य

सैन्य बल से राष्ट्र की उत्पत्ति। पक्षान्तर में प्रभु से जगत् की उत्पत्ति, विद्युत्-विद्या। (११) सूर्य की किरणों के तुल्य ज्ञानदर्शी विद्वान् उपासकों का वर्णन। उनकी प्रभु से प्रार्थना।

सू० [७४]—इन्द्र। दानशील और वीर पुरुषों के कर्त्तव्य। (२) किरणों के तुल्य विद्वानों के कर्त्तव्य। (३) मोक्ष-साधकों के कर्त्तव्य उनको दान देने का धर्म। (४) भूमि से फल, फ़सल चाहने वाले खेतिहरों के तुल्य वीरों और विद्वानों के कर्त्तव्य। (५) सेनापति और गुरु के उत्तम लक्षण। (६) विद्युत् के तुल्य विजेता के कर्त्तव्य। प्रधान-पद योग्य पुरुष। (पृ० १७३–१७७)

सू० [७५]—नदियां। आप्तों, प्राणों का वर्णन। पक्षान्तर में—जलों के सम्बन्ध में शिल्पी का विशेष ज्ञान। जल-विज्ञान। और प्राण-विज्ञान। (२) इन्जीनियर के तुल्य प्रयाणार्थ मार्ग-निर्माण में राजा के कर्त्तव्य। (२) अध्यात्म में देह-शिल्प का वर्णन। प्रभु विषयक मन्त्र-योजना। (३) बरसाती जल-धाराओं और बहती नदियों के तुल्य सेनापति और उसकी शक्तियों का वर्णन। (४) माता और पुत्रवत् राजा प्रजा का कर्त्तव्य वर्णन। योद्धा राजा के तुल्य नायक का वर्णन। (५) गंगा आदि देहगत १० नाड़ियों का वर्णन, उनका विशेष विवरण। आत्मा रूप नदी सिन्धु। (६) आत्मा रूप सिन्धु का वर्णन। तृष्टामा आदि देहगत ८ नाड़ियों का वर्णन। (७) आत्मा का सिन्धु रूप से वर्णन। (८) आत्मा का युवति रूप से वर्णन। सिन्धु रूप से अनादि आत्मा का वर्णन। (पृ० १७७–१८६)

सू० [७६]—ग्राव गण। विद्वानों और वीर पुरुषों के कर्त्तव्य। (२) वह प्रधान नायक के अधीन रहें। (३) नाना पदों पर योग्यों का स्थापन। (४) वीरों, विद्वानों के कर्त्तव्य। दुष्टदमन, कष्ट-निवारण,

ऐश्वर्य-सम्पादन। (५) विशेष सामर्थ्यों के आदर का उपदेश। (६) मेघवत् विद्वान् उपदेष्टाओं के कर्त्तव्य। (७) मेघवत् वीर पुरुषों, विद्वानों के कर्त्तव्य। आत्म-साक्षात्कार। गोपालक के समान रस दोहन का उपदेश। मुखों से अन्नों के तुल्य समस्त उत्तम वचनों का सेवन। (८) प्रभु की उपासना। उपयोगी समस्त पदार्थों को उत्पन्न करने का उपदेश। (पृ० १७६–१९०)

सू० [७७]—मरुद्गण। वर्षा लाने वाले वायुगण के सदृश विद्वानों, प्रजाजनों के कर्त्तव्य। (२) शस्त्र-निर्माण, लक्ष्मी-वृद्धि, वीरों की वृद्धि का उपदेश। किरणोंवत् वीरों के उद्योग करने की आवश्यकता। (३) सूर्यवत् वीरों के तेजस्विता के कर्त्तव्य। (४) जल धाराओं के समान वीर विद्वानों के कर्त्तव्य। (५) रथ में जुते अश्वों के तुल्य वा रश्मियों से बद्ध वायुओं के तुल्य नियुक्त वीरों के कर्त्तव्य। (६) वीरों और वैश्य वर्गों को धन की प्राप्ति का उपदेश। (७) दानशील उदार पुरुष को उत्तम लाभ और उत्तम मान-पद प्राप्ति। (८) रक्षक, सर्वशान्तिदायक आदित्य विद्वान् तेजस्वियों के कर्त्तव्य। (पृ० १९१–१९५)

सू० [७८]—मरुद्गण। विद्वानों और वीरों के कर्त्तव्य। वे निष्पाप हों। (२) वे तेजस्वी हों, उत्तम भूषण पहनें, नियम और समय के पाबन्द हों, (३) वायुवद् बलशाली, अग्नि-ज्वालाओं के तुल्य तेजस्वी, और शुभ ज्ञानदाता हों। (४) चक्र के अरों के समान परस्पर बन्धु, ईश्वरोपासक हों, (५) वे नाना विद्याओं में पारंगत, सर्वपोषक, विनयी हों, (६) मेघों के तुल्य उनके कर्त्तव्य। 'सिन्धु-मातरः' का रहस्य। बालकों के समान उनके धर्म। पक्षान्तर में देहगत प्राणों का वर्णन। (७) प्राभातिक रश्मियों के तुल्य वीरों, विद्वानों के कर्त्तव्य। वे गुणी तेजस्वी, शुभकारी, ज्ञानी, वेगवान्, दूरदेशगामी हों (८) उनसे ऐश्वर्यों, ज्ञानों और मैत्री-सद्भाव की प्रार्थना। (१९६–२००)

सू० [७९]—अग्निः। अग्नि, जाठरअग्नि, व्यापक आत्मा और परमात्मा का श्लेष से वर्णन। जड़ जगत् में आत्मा की अद्भुत आश्रयकारी शक्तियों का वर्णन। नश्वर देहों में अविनश्वर आत्मा के दर्शन। अग्नि तत्त्व में ताप और विद्युत् दो शक्तियां। (२) शरीर में स्थित वैश्वानर आत्मा की अद्भुत महिमा। यज्ञवत् वैश्वानर अग्नि में आहुति। पक्षान्तर में विशाल वैश्वानर का वर्णन। उसमें महान् यज्ञ के दर्शन। (३) शिशु के तुल्य आत्मा का वर्णन, पक्षान्तर में साधक योगी के आत्मा का वर्णन। (४) आत्मा का अद्भुत वर्णन। अज्ञेय प्रभु। आत्मा की रहस्यमय गति। (५) कृपालु, परमेश्वर की जीवों के प्रति अद्भुत दया-युक्त व्यवस्था। परमेश्वर का सहस्र रूप। पुरुषसूक्तोक्त वा गीतोक्त विराट् का व र्न। (६) परमेश्वर के उग्र रूप को देखकर भक्त को जिज्ञासा। परमेश्वर की संहारक शक्ति का दर्शन। गीता के ११ वें अध्याय में कहे विराट् की उग्र रूप से तुलना। (७) सूर्य के समान आत्मा का वर्णन। पक्षान्तर में अग्नि और वीर तेजस्वी का चन्द्र के तुल्य वर्णन। (पृ० २००–२०८)

सू० [८०]—अग्निः। प्रभु परमेश्वर आत्मा और वीर शासक पुरुष का अग्निवत् श्लिष्ट वर्णन। सर्वधारक अग्नि, सूर्यवत् सर्वधारक प्रभु सर्वोत्पादक है। पक्षान्तर में चिति शक्ति और वाणी आदि का धारक वेदादि वचनों से श्रोतव्य आत्मा। (२) ज्ञानी की वाणी कल्याणकारिणी, हो, तेजस्वी पुरुष और प्रभु सर्वदुष्ट-नाशक हैं। पक्षान्तर में देहगत तेज, ओज रूप अग्नि का वर्णन। (३) सर्वरक्षक, मृत्युनाशक प्रभु और देहस्थ जाठर अग्नि का वर्णन। (४) तेजस्वी अग्रणी प्रधान पुरुष के कर्त्तव्य। और देहस्थ वीर्याग्नि का वर्णन। (५) सर्वस्तुत्य, नित्य स्मरणीय, सर्वकाल-प्रार्थनीय और सर्वध्यानास्पद प्रभु। पक्षान्तर में भौतिक अग्नि के नाना वैज्ञानिक उपयोगों का वर्णन। (६) सर्वोपास्य

प्रभु, वेदवाणी का उपदेष्टा। पक्षान्तर में अग्नि वा तेज की सर्वत्र उपासना. सर्वत्र अग्नि का साक्ष्य। वेदरूप सर्वश्रेष्ठ मार्ग। विद्वान् सत्कार योग्य है। (७) वेद से रक्षा की याचना। पक्षान्तर में शक्तिशाली अग्नि, उसकी पालाशी अरणियों से उत्पत्ति (पृ० २०८—२१४)

सू० [८१]—विश्वकर्मा। सबका दाता, सर्वपालक, सर्वप्रेमी, सर्वव्यापक, विश्वकर्मा परमेश्वर—सायण मतानुसार ईश्वर का प्रलय रूप सर्वमेध यज्ञ। एक यास्कोक्त इतिहास के अनुसार सायणीय अर्थ। उसमें दोष। यास्क वचन का दुर्ग-सम्मत अभिप्राय। आहुति का अर्थ आत्म-दर्शन। तदनुसार मन्त्रार्थ। सर्वमेध की व्याख्या। गीता, और उपनिषदादि में प्रोक्त आत्म-दर्शन की संगति। (२) जगत् के आश्रय, और सर्ग तथा मूलकारण आदि के सम्बन्ध में प्रश्न। (३) सर्वकर्त्ता परमेश्वर का स्वरूप। वह प्रभु सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, अद्वितीय विश्वकर्मा है। (४) आकाश भूमि और जगत् के उपादान कारण और सर्वाध्यक्ष विषयक प्रश्न। (५) प्रभु का सर्वमेध यज्ञ सब जीवों को कर्मानुसार देह, सुख, कर्म फलादि देना ही है। परमेश्वर के तीन धाम, तीन प्रकार के नाम। (६) परमेश्वर की जगत् रूप अद्‌भुत आत्माहुति। (७) वाचस्पति प्रभु का स्मरण, ध्यान, प्रार्थना। सर्वजगत् का उत्तम शिल्पी प्रभु। (पृ० २१४—२२३)

सू०[८२]—सब जगत् का कर्त्ता परमेश्वर। उसी की शक्ति से भूमि, आकाश स्थूल जगत् की स्थिति और वृद्धि। पृथिवी आदि का क्रमशः सर्जन। (२) विश्वकर्मा, विश्वस्रष्टा का वर्णन। पक्षान्तर में देहाश्रित विश्वकर्मा आत्मा का वर्णन। विश्वकर्मा आदित्य का वर्णन। (३) परमेश्वर पिता, उत्पादक, व्यवस्थापक सर्वज्ञ, अद्वितीय, अविज्ञेय सब का लक्ष्य है। (४) ऋषिजनों का सर्वोपास्य प्रभु में समस्त भूत-दर्शन रूप सर्वमेध।

ऋषिजनों का प्रभु में चित्त-समर्पण। (५) सर्वाश्रय, सर्वश्रेष्ठ प्रभु। (६) सर्वाश्रय प्रभु एक, अजन्मा है। वही सब प्रकृति और समस्त दिव्य लोकों और शक्तियों का आश्रय। (७) व्यापक, अन्तर्यामी, अज्ञेय प्रभु। (पृ० २२४–२२९)

सू० [८३]—मन्यु। प्रतापी तेजस्वी स्वामी के सहाय के कर्त्तव्य। (२) मन्यु ज्ञानी, सस्तंभक, सर्वमान्य देव का स्वरूप। (३) अति बलशाली, मन्युदेव, प्रभु। अध्यात्म में इन्द्र मन्यु आत्मा। (४) मन्यु सेनापति का वर्णन। पक्षान्तर में संकल्प मात्र से जगच्चालक प्रभु। (५) परम ज्ञानी, प्रभु स्वामी के प्रति विरही भक्त की विरहवेदना-युक्त विनय भाव। (६) सर्वदण्डक, सर्वपोषक, सर्वपालक प्रभु के प्रति भक्त का ममत्व। (७) भक्त का प्रभु के दर्शनों के लिये उतावलापन, और समान सख्यभाव (पृ० २२०–२३३)

सू० [८४]—मन्यु। सेनापति का वर्णन। अध्यात्म में रस स्वरूप प्रभु का वर्णन। (२) सेनापति का कार्य सैन्यसंञ्चालन शत्रु सेनाओं का दूरीकरण। (३) वह सब को वश करे। (४) युद्ध के लिये सबको उत्साहित करे। (५) शक्तिशाली पुरुष अध्यक्ष, सर्वप्रिय, सब शक्तियों का स्रोत हो। (६) सर्वातिशयी बली, सर्वस्तुत्य, युद्धकुशल हो। पक्षान्तर में परमेश्वर का वर्णन। (७) वह प्रजा को ऐश्वर्य दे, शत्रुओं को भय दिखावे। (पृ० २३३–२३७)

सू० [८५]—(१-५) सोम। सर्वाधार सत्य। सत्य के आश्रय ही सोम की स्थिति। गृहस्थ का आधार सत्य और ऋत। (२) सर्वाश्रय सोम। वीर्य और शक्ति की महत्ता। सर्वोत्पादक सामर्थ्य सोम। (३) सोमपान का महत्व। वेदज्ञान सोमपान। (४) ब्रह्मचारी बधूयू, सोम। उसके आश्रय पर गृहस्थ। ब्रह्मचारी का रूप। (५) चन्द्रवत्

सोम विद्वान् का वर्णन। (६–१६) सूर्या का विवाह। बधू के साथ देने योग्य सर्वश्रेष्ठ शिक्षा और दहेज, बधू की ओढ़नी। (७) सूर्या बधू के उत्तम अलंकरण। (८) बधू के योग्य पति को भेट, व्यवहार और दोनों का अश्वी होने का रूप। (९) बधू की कामनावान् पुरुष सोम। पिता कन्या को कब दान करे। (१०) बधू के पतिगृह में जाने के लिये उचित रथ मन। (११) उसके रथ का अलंकारिक रहस्यमय वर्णन। (१२) मनोमय रथ का वर्णन। (१३) बधू की विदाई। (१४) सूर्या का त्रिचक्र रथ। (१५) त्रिचक्र रथ के चक्र विषयक प्रश्न। (१६) तीनों चक्रों का स्पष्टीकरण। (१७) आदरणीय जनों के आदर-भाव प्रदर्शन। (१८) सूर्य चन्द्र वा दिन रात्रि का दो बालकों के तुल्य तथा उनके समान स्त्री-पुरुषों का वर्णन। विवाह के समय की परिक्रमाओं के तात्पर्य का स्पष्टीकरण। (१९) चन्द्र के समान वर तथा आत्मा का वर्णन। पक्षान्तर में राजा और बालक का वर्णन। (२०) उषा सूर्यवत् नव वधू को विवाह की आज्ञा और उपदेश। गृहस्थ का वर्णन। मन्त्र की पति-पत्नी दोनों के प्रति योजना। (२१) पुरुष को कन्या-ग्रहण करने का आदेश। विश्वावसु गन्धर्व का स्पष्टीकरण। (२२) पुरुष कैसी कन्या को ग्रहण करे? भिन्नगोत्र में विवाह का उपदेश। (२३) सुदृढ़ दाम्पत्य का उपदेश। (२४) पति द्वारा वधू को पितृपाश से मुक्त कर पतिगृह में स्थापन। (२५) स्त्री का वरुणपाश और उससे मोचन। पति का दृढ़तर बन्धन। (२६) वधू का गृहपत्नी होने का अधिकार, पति के साथ पाणिग्रहण कर गमन। (२७) गृहस्थ के कर्त्तव्यों का उपदेश। पति-पत्नी का देह संसर्ग, और वार्धक्य तक परस्पर मिलकर रहने का उपदेश। (२८) यज्ञ द्वारा पति-पत्नी का प्रेम-बन्धन और संसारिक बन्धन का उपदेश। पक्षान्तर में—स्त्री पुरुष के परस्पर सम्बन्धित होने का काल स्त्री के रजो-

दर्शन के अनन्तर ही है। (२९) विवाह बन्धन में बन्धने का ठीक समय और विवाह काल में करने योग्य कार्यों का निर्देश। :स्त्री-सहवास के पूर्व स्त्री के शरीर शोधन की अति आवश्यकता। अविवेक से हानियें। दूषित स्त्री-देह से भयंकर रोगादि की संभावना। (३०) रजोधर्म से हुई स्त्री के शरीर तथा वस्त्रादि से स्पर्श करने का निषेध। उस काल में स्त्री शरीर तथा उसके वस्त्रादि के स्पर्श-संसर्गादि से हानियें। (३१) पुरुषादि से आने वाले स्त्री शरीर वा गर्भाशय द्वारा आने वाले परस्परिक रोगों से बचने का का उपदेश। (३२) दम्पती की रक्षा का उपदेश। (३३) विवाह पर बधू के सौभाग्य आशीर्वाद की प्रार्थमा। (३४) बधू के अभोग्य देह के दोष, उसका प्रतिविधान। (३५) सूर्या सवित्री, वा वधू के देह के तीन रूप। (३६) पाणि ग्रहण के मन्त्र। वर का वधू का हस्तग्रहण करते हुए वधू ग्रहण करने और आजन्म-सम्बन्ध का उद्घोषणा। (३७) नर के लिये बीजवपनार्थ भूमि स्त्री, उसका कमनीय कल्याणतम रूप परस्पर कर्षणा। (३८) अग्निवत् विद्वान् वा प्रभु की साक्षिता में बधू का परिग्रह। (३९) ऋतुकालानुसार पत्नी का पति से पुनः संसर्ग का उपदेश। (४०) कन्या को सोम, गन्धर्व और अग्नि की प्राप्ति। इसका स्पष्टीकरण। (४१) सोमादि का उपरोक्त गन्धर्वादि को देने का अभिप्राय। (४२) वर वधू को आयु भर एकत्र रह कर पुत्र पौत्रादि सहित सुखी जीवन बिताने का उपदेश। (४३) गृहस्थ को प्रजापति के कर्त्तव्यों का उपदेश। वधू को पतिगृह में प्रवेश करते हुए सबके प्रति शान्तिदायक होने का उपदेश। (४४) पत्नी को कर्त्तव्य का उपदेश। (४५) वेद की १० पुत्रोत्पत्ति करने की आज्ञा। (४६) नववधू की सम्राज्ञी होने की प्रतिष्ठा। (४७) वर-बधू का परस्पर एक-हृदय और एकांग होने की प्रार्थना। (पृ० २३७–२६६) इति तृतीयोऽध्यायः ॥

चतुर्थोऽध्यायः

सू० [८६]—वृषाकपि-सूक्तम् । वरुण । सर्वोपरि परमेश्वर की जगत्सर्जन रूप महिमा का वर्णन । (२) भक्त के लिये प्रभु का असह्य विरह । सर्वोत्कृष्ट, सर्वसुखदाता प्रभु । (३) भक्त के प्रति उदार दयालु प्रभु । (४) रक्षक प्रभु और जीव में देह का बन्धन । (५) देह बन्धन के नाश और सम्यग्-ज्ञान में प्रकृति की कारणता । (६) प्रकृति का उत्कृष्ट ऐश्वर्य, और पक्षान्तर में स्त्री का परम सौभाग्य । परमेश्वर का उत्कर्ष । (७) जीव के देह की अद्भुत रचना से ईश्वर के उत्कृष्ट कौशल का स्मरण । (८) प्रकृति का स्त्री तुल्य बन्धन होना । (६) जीव, प्रकृति और प्रभु के पारस्परिक सम्बन्ध । (१०) परमेश्वर का प्रकृति में बीजवपन । पक्षान्तर में नारी माता का पूज्य भाव । (११) स्त्री का सौभाग्य और उसकी प्रकृति से तुलना । (१२) जगत्-सर्ग में जीवात्मा की आवश्यकता । जगत् सर्ग में परम प्रभु की आनन्दप्रदता से उसका सबसे अधिक उत्कर्ष । (१३) प्रभु का सर्वोपरि उत्कर्ष । (१४) अध्यात्मिक १५ प्राण और अंगों का एक साथ परिपाक । (१५) इन्द्र, वृषभ, सर्वशासक, सर्वोपास्य प्रभु का वर्णन । (१६) उत्कृष्ट और निकृष्ट पुरुष के लक्षण । (१७) जीवात्मा की प्रभु को प्राप्ति । (१८) प्रभु की साक्षात् प्राप्ति । (१९) देह-बन्धन की जंगल से उपमा । (२०) अति समीप प्रभु की प्राप्ति का उपदेश । (२१) प्रकृति और प्रभु का मिलकर भोग्य जगत् को बनाना । (२२) प्रभु-दया से अमर पद की प्राप्ति । (२३) बुद्धिशक्ति से २० अंगुलियों के तुल्य २० प्राणों का चालन और प्रकृति से २१ विकृतियों की उत्पत्ति । 'मानवी पर्शु' का रहस्य । (पृ० २६६–२८१)

सू० [८७]—रक्षोहा अग्नि । जंगल में अग्नि के तुल्य जगत्-जाल

में रक्षक प्रभु की प्रार्थना। (२) प्रजानाशक दुष्ट के नाशार्थ शस्त्रादि-सम्पन्न शासक से विनीति। (३) सेनादि से दुष्टों के दमन करने की प्रार्थना। (४) राजा को महास्त्रों से दुष्टों के नाश का उपदेश। (५) दुष्टों के अंग-छेदनादि दण्ड करने का आदेश। (६) सेनापति को आकाश भूमि आदि सर्वत्र दुष्टों के नाश का उपदेश। (७) स्वामी को दुष्ट जनों से प्रजा को बचाने का कर्त्तव्य। दुष्टों को बुरी मृत्यु से पीड़ित करने वा मारने का आदेश। (८) अपराधियों के अपराध घोषणा सहित दण्डित करने का आदेश। (९) राष्ट्र-रक्षा और आत्म-रक्षा का उपदेश। (१०) सब पर राजा की दृष्टि रखने और दुष्टों को अन्न, जन और मन तीनों बलों से नाश करने का उपदेश। (११) प्रजा के हितार्थ असत्यशील दुष्टों का दमन। (१२) न्याय-बल से अनृतवादी, आदि दुष्टों का दमन। (१३) वाणी द्वारा मर्म-पीड़ादायी दुष्टों को हृदय-मर्मवेधी दण्ड का विधान। (१४) युद्धादि से प्रजा-पीड़कों के नाश का उपदेश। मूलदेवों का रहस्य। (१५) पापाचारी, और वाणी से पीड़ा देने वाले को दण्ड विधान। (१६) पीड़ा देकर स्वयं ऐश्वर्य भोक्ता को दण्ड। (१७) प्रजाजनों को पीड़ित करने वाले को दण्ड कि वर्ष भर उसे दूध न मिले, वह पीवे तो अग्नि-दण्ड। (१८) दुष्टों गोमूत्रादि पान का दण्ड। उनको अन्धेरी कोठड़ी का दण्ड। (१९) दुष्टों को कभी विना दण्ड दिये न छोड़ने का आदेश। (२०) सब ओर से प्रजा-रक्षा और दुष्ट-नाश का आदेश। (२१) प्रजा-रक्षा मित्ररक्षा का उपदेश। (२२) दुष्टपीड़क राजा के शरण में प्रजा की स्थिति। (२३) दुष्ट शत्रु का मूलोच्छेद करने का उपदेश। (२४) अन्यों को तुच्छ समझ कर कष्ट देने वालों को दण्ड देने और राजा को सावधान रहने का उपदेश। (२५) उनको विविध उपायों से दण्डित करने का आदेश। (पृ० २८१—२९३)

सू० [८८]—सूर्य, वैश्वानर। किरणों के जलादान के दृष्टान्त से देह में प्राणों का अन्नदान और मुमुक्षुओं का प्रभु में आत्मदान का वर्णन। (२) दिन और रात्रि के अन्धकार के तुल्य तमस् या अव्यक्त जगत् के लय होने का वर्णन। जगत्-सर्जक और संहारक प्रभु के आश्रित समस्त लोक। (३) महान् व्यापक अग्नि, प्रभु का वर्णन। (४) जगत्-सर्जक, संहारक जातवेदा अग्नि। (५) व्यापक सर्वोपरि पूज्य महान् अग्नि की स्तुति। (६) सर्वमूलाश्रय अव्यक्त व्यापक प्रभु का वर्णन। (७) सर्वान्नग्राही वैश्वानर अग्नि का वर्णन। (८) यज्ञाग्निवत् देहाग्नि में वैश्वानर यज्ञ, (९) महान् सर्वाश्रय अग्नि का वर्णन। (१०) अग्नि के तीन रूप। (११) महान् सूर्य प्रभु। उसकी प्रकृति से संगति और समस्त लोकों की उत्पत्ति, (१२) उषाओं के निर्माता सूर्य के समान कल्पों का प्रारम्भक प्रभु। (१३) चेतन आत्मा का यज्ञाग्निवत् प्रतिपादन। (१४) सर्वोपरि शासक महान् प्रभु की स्तुति। (१५) आत्मा के लिये जगत् में दो मार्ग देवमार्ग और मर्त्य मार्ग। उनकी उपनिषदादि प्रोक्त देव मार्ग और पितृमार्ग से तुलना। (१६) माता पिता के बीच बालक के तुल्य भूमि आकाश के बीच व्यापक प्रभु का वर्णन। (१७) विवादास्पद प्रभु के सम्बन्ध में उसके साक्षात् ज्ञाता ही बतला सकते हैं। (१८) अग्नियों, और उषाओं और सूर्यों के सम्बन्ध में प्रश्न और समाधान। (१९) आपत्कालिक यज्ञाग्निवत् आत्म-साक्षात्कार तक आत्मोपासना का प्रतिपादन। (पृ० २९३–३०४)

सू० [८९]—इन्द्र और सोम। सर्वाध्यक्ष सम्राट् के तुल्य सर्व व्यापक, सर्वशक्तिमान्, महान् प्रभु का वर्णन। अध्यात्म में—आत्मा का वर्णन। (२) यन्त्रों के चालक शिल्पी के तुल्य जगत्-सञ्चालक सूर्यवत् प्रभु का वर्णन। (३) उपास्य प्रभु, एकरस सर्वव्यापक, अमित, महान् सर्वपालक, सर्वप्रिय प्रभु। (४) सर्वप्रेरक सर्वधारक प्रभु। (५) दुष्ट-

दण्डक, तेजस्वी, बलशाली, सर्वोत्पादक, सर्वोच्च महान् प्रभु। (६) सब से महान् शासक प्रभु। (७) परशु के समान महान् आत्मा का वर्णन। (८) परम धनी प्रभु। तलवार के तुल्य प्रभु पाप-नाशक। (९) सर्वोपरि शासक प्रभु के दण्ड का मार्ग कौन २ व्यक्ति हों। (१०) सर्वोपरि स्वामी प्रभु। (११) सबसे महान् प्रभु। (१२) वीर योद्धा के उत्तम शस्त्रवत् प्रभु की शक्तियों का आलंकारिक वर्णन। (१३) सूर्य के समान तेजस्वी की स्थिति। (१४) उसकी दुष्ट-दमनी शक्ति का प्रयोग। (१५) राजा को शत्रु दमन के कार्य आवश्यक। (१६) सर्व-स्तुत्य प्रभु। (१७) प्रभु से विनय कि उसकी महिमाओं के ज्ञान का उत्तम फल। (१८) उसकी स्तुति करनी आवश्यकीय। (पृ० ३९५–३१०)

सू० [९०]—पुरुष सूक्त। महान् पुरुष का वर्णन। (१) सर्वोपरि महान् प्रभु। (२) सर्वोपरि सर्वकारण पुरुष परमेश्वर (३) सबसे महान् अविनाशी प्रभु। (४) सर्वव्यापक, सर्वस्तंभक, धारक पुरुष। (५) ब्रह्माण्ड रूप विराट् के ऊपर पुरुष प्रभु। (६) महान् पुरुष का यज्ञ। (७) महान् पुरुष की यज्ञोपासना। (८) सर्वोत्पादक, सर्व-रचयिता प्रभु। (९, १०) वेदों का स्रष्टा प्रभु। (११, १२) वर्णमय पुरुष की कल्पना। (१३– १४) विराट् पुरुष की अंग कल्पना। लोक-सम्मित पुरुष। पुरुष सम्मित लोक, पुरुष का जगन्मय देह। (१५) देवयज्ञ का वर्णन। (१६) यज्ञ द्वारा प्रभु की उपासना। (पृ० ३१४–३२३)

सू०[९१]—अग्निः। अग्निवत् परमेश्वर और आत्मा का वर्णन। (२) अतिथिवत् परमेश्वर का वर्णन। (३) सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञानी, सर्वपोषक अद्वितीय। (४) अग्निवत् स्वयं प्रकाश आत्मा। गर्भ में प्रकट जीव के वा काष्ठ में अग्नि के तुल्य हृदय में आत्मा का प्रकट भाव।

(५) मेघस्थ बिजुलियों वा प्रभात की कान्तियों के तुल्य, आत्मा की ज्ञान-प्रवृत्तियां। (६) ओषधियों, मेघादि के दृष्टान्त से जीव के गर्भ में आने का वर्णन। (७) अग्नि के तुल्य, आत्मा का वर्णन। (८) तेजोमय, ज्ञानमय, प्रभु का वरण। उसीसे प्रार्थना। (९) सर्वस्तुत्य प्रभु। (१०) विद्वान् में समस्त ऋत्विक् पन। उसी प्रकार आत्मा और प्रभु में भी ऋत्विग् के गुण। (११) प्रभु की कृपा के पात्र। (१२) हमारी बुद्धि और वाणियों का लक्ष्य प्रभु। (१३) प्रभु के प्रति प्रेम का उद्रेक। पत्नी-प्रेमवत् प्रभु के प्रति अनन्य प्रेम। (१४) सर्वपालक प्रभु के प्रति आत्म-समर्पण। (१५) यज्ञाहुतिवत् तेजस्वी में कर आदि देना।

सू० [१२]—विश्वेदेव। अग्नि के दृष्टान्त में प्रभु का वर्णन। (२) जाठराग्निवत् चराचर का अत्ता और प्राणवत् प्रभु। (३) सत्यवाणी, सत्य ज्ञानमय प्रभु के ज्ञान और वाणी का चिन्तन कर्त्तव्य। उसमें आहुति, घोर तपस्वियों को अमृतत्व प्राप्ति। (४) सर्वोपरि शासक प्रभु। (५) विशाल रूप (प्रथम) प्रभु और देह में रुद्र प्राण। (६) देहगत रुद्र गण प्राण। (७) सर्वमनोरथ सर्वस्तुत्य रक्षक, (८) प्रभु के ऐश्वर्य, सामर्थ्य सर्वोपरि। (९) सर्वमनोरथ पूर्वक शक्तिशाली प्रभु। उससे विनय। (१०) गुरु परमेश्वरादि के जीव में अनेक सम्बन्ध। विद्वानों और पञ्चभूतों में तुलना। गुरुजनों के शिष्यों के प्रति कर्त्तव्य। (११) पूजा करने योग्य व्यक्ति। (१२) सर्वव्यापक प्रभु से अनेक प्रार्थनाएं। (१३) सर्वपोषक प्रभु से रक्षा की प्रार्थना। (१४) सर्वोपरि शास्ता प्रभु की स्तुति। (१५) सर्वप्रथम उपदेष्टा गुरु परमेश्वर। उसके द्रष्टा विद्वान् जन ही सन्मार्ग-प्रेरक हैं। (पृ० ३३१—३३९)

सू० [९३]—विश्वेदेव । स्त्री पुरुषों को उत्तम होने का उपदेश । वे बलवान्, रक्षक, शत्रुविजयी पुरुष की अनेक उपायों से रक्षा करें । (२) ज्ञान के लिये ज्ञानी लोगों की सेवा शुश्रूषा करें । (३) सदा मान-सत्कार के पात्र हों । (४) स्तुति और अमर यश के पात्र जन । (५) देह में चन्द्र सूर्यवत् दो प्राणों की गति । उसी प्रकार गृहस्थ में स्त्री पुरुष हों । (६) श्रेष्ठ स्त्री पुरुष सब की रक्षा करें, अन्यों को दुःखों से पार करें । (७) प्रजा को सुख देने वाले जन । (८) महान् प्रभु का वर्णन । उसका सर्वातिशायी आनन्द और बल है । (९) प्रभु से प्रार्थना, हम पापों से लज्जालु न हों । हम पर प्रभु का सत् नियन्त्रण हो । (१०) प्रमुख राजा, प्रजा और नेताओं के कर्त्तव्य । वे ज्ञान, प्रेम, धनादि की वृद्धि करें । (११) प्रभु से रक्षा की प्रार्थना । (१२) सूर्य के प्रकाश के तुल्य प्रभु-विषयक ज्ञान बढ़े । रथ के तुल्य हमारा शरीर दृढ़ हो । (१३) वाणी, उदारता वा अर्थसम्पत् से युक्त हों, पौरुष अविच्छिन्न हो । (१४) धनवानों में हम सदा ईश्वर की चर्चा किया करें । (१५) दैहिक ७७ केन्द्रों के ज्ञान का आदेश । (पृ० ३३९–३४५)

सू० [९४]—ग्रावा । विद्वान् जन । विद्वानों के कर्त्तव्य । वे भद्र वाणी बोलें । गुरुओं से ज्ञान प्राप्त करें । (२) सात्विक यजमान के दिये अन्न का भोग करें । (३) मुख से मधु रस के तुल्य वे ज्ञान-मधु का संग्रह करें । वेद का निरन्तर अभ्यास करें । (४) परमेश्वर की भक्ति में मग्न रहें, सब के साथ हर्षित हों । (५) सूर्य की किरणों के तुल्य सन्मार्गदर्शी, सदा प्रसन्न, और बल-वीर्यवान् हों । (६) प्राणों का वर्णन । वीरों के साथ प्राणों की तुलना । (७) दश अंगुलियों वा अंगों के समान दश प्राण । (८) यन्त्राधिपतियों के तुल्य प्राणों के कार्य । पक्षान्तर में विद्वानों के कर्त्तव्य । (९) विद्वानों का वाणी द्वारा आत्म-स्वरूप की प्राप्ति । उनकी वर्षक मेघ से तुल्यता । (१०) आत्मा के अमरत्व

के हेतु वीरों विद्वानों को अमर रहने का उपदेश। उनको सदाचार का उपदेश। (११) विद्वानों के उत्तम गुण। संशय मेटें, संगठित रहें, अनथक काम करें। न घबरावें, सदा निस्पृह हों, सदा काम में लगे रहें। (१२) विद्वानों और वीरों के दलपतियों के कर्त्तव्य। (१३) वे उपदेश के दाता हों। कृषकों के तुल्य उत्तम गुणों का बीज बोएं। उत्तम फल प्राप्त करें। (१४) सदा ईश्वरसेवी और बालकवत् निष्पाप, सुप्रसन्न, निष्प्रपंच रहें। (पृ० ३४५–३५३) इति चतुर्थोऽध्यायः॥

पञ्चमोऽध्यायः

सू० [९५]—पुरूरवा और उर्वशी। सेनापति प्रजा और राजा का पति-पत्नी के तुल्य संवाद। वे परस्पर मन्त्रणा कर के भविष्य के कार्य किया करें। (२) उषा के दृष्टान्त से वरवर्णिनी के कर्त्तव्यों का वर्णन। पक्षान्तर में—सेना के कर्त्तव्यों का वर्णन। (३) सेनापति कैसा हो? (४) उषा के तुल्य वधू के कर्त्तव्य। (५) सेना नायक का वर्णन। (६) वधू के कर्त्तव्य। उसके तुल्य सेना के कर्त्तव्य। (७) रणनायक के कर्त्तव्य। (८) सेना-सेनानायक के कर्त्तव्य। (९) सेना, सेनापतियों के तुल्य नायक और वधू आदि के कर्त्तव्य। (१०) विद्युत् के समान सेना और वधू का वर्णन। सेना का सेनापति के प्रति हित वचन। (१२) पिता माता पुत्रादि के कर्त्तव्यों के तुल्य सेनापति, सेना और राजा राष्ट्रादि के कर्त्तव्यों का वर्णन। (१३) प्रयाणोद्यत सेनापति के प्रति सेना का हित वचन। (१४) सेनापति को प्रमाद न करने का आदेश। (१५) उसे दुष्ट कुटिल पुरुषों से सावधान रहने का उपदेश। (१६) सेना का नायक के प्रति अपना कर्त्तव्य वर्णन। (१७) सेनापति की प्रतिज्ञा वा कर्त्तव्य। (१८) राजा वा राष्ट्रपति को पदानुरूप उपदेश। (पृ०३५३–३६२)

सू० [९६]—हरि-स्तुति। रथ के दो अश्वों के तुल्य प्रभु के दो रूपों की स्तुति। प्रभु के दो रूप ज्ञानमय और तेजोमय। (२) सर्वाश्रय प्रभु की स्तुति। (३) परमेश्वर तेजस्वी 'दुष्ट' दण्डकर्त्ता रूप। (४) प्रभु का कमनीय रूप। प्रभु हरि-शिप्र। (५) हरिकेश प्रभु का कमनीय रूप। (६) सर्वस्तुत्य प्रभु। (७) प्रभु और भक्तों का पारस्परिक आकर्षण, (८) सूर्यवत् तेजस्वी, सर्वरक्षक प्रभु। (९) प्रभु का व्यापक साम्राज्य। (१०) जगद्-भवन का स्वामी प्रभु। (११) ज्ञानप्रद प्रभु। (पृ० ३६२–३६९)

सू० [९७]—ओषधि-स्तुति। तीन युगों, तीनों ऋतुओं में उत्पन्न ओषधियों के ज्ञान का उपदेश। उन देह के ७०० मर्मानुसार उनके ७०० तेज। (२) ओषधियों के सैकड़ों सामर्थ्यों से रोगनाश का उपदेश। (३) रोगनाशक ओषधियों को सदा हरा भरा, तैयार रखने का उपदेश। पक्षान्तर में—अश्वसेनाओं के कर्त्तव्य। (४) ओषधियों का रश्मियों के तुल्य रोगनाशक गुण। पक्षान्तर में—शत्रुनाशक सेनाओं का वर्णन। (५) ओषधियों का आश्रय और जीवन का वैज्ञानिक रहस्य। सूर्यरश्मि आदि द्वारा प्रकाश वा रसादि को ग्रहण करने से ही उनमें रोगनाशक सामर्थ्य है। पक्षान्तर में—सेना के बल का वर्णन। (६) राजसभा में राजाओं के तुल्य देह में ओषधियों की स्थिति। भिषक् विप्र का लक्षण। (७) आरोग्यदायक ओषधियों के ४ प्रकार। अश्वावती, सोमवती, ऊर्जयन्ती, ओजस्विनी। पक्षान्तर में—राष्ट्ररक्षक सेना का गुण। (८) गोष्ठ में गौओं के तुल्य देह में ओषधियों का रस-बलाधायक गुण। (९) ओषधियों के रोगनाशक सामर्थ्य का तात्त्विक विवेचन। चोरों, डाकुओं के समान वेग से ओषधियों का रोगों पर आक्रमण करके देह को नीरोग करने का वर्णन। (११) ओषधियों के प्राप्त करने से रोगों का शिकारी से भयभीत पक्षियों के समान भागना। (१२) ओषधियों का

शरीर में व्याप कर रोगों को मध्यस्थ बलवान् द्वारा शत्रुवत् नष्ट करना। (१३) रोग का अपने तीव्र लक्षणों सहित नाश होना। (१४) ओषधियों का परस्पर रक्षक-पोषक होना। (१५) फलसहित, फलरहित, सपुष्प और अपुष्प आदि अनेक ओषधियों का वैद्यादि द्वारा रोग नाशक प्रयोग होना। (१६–१७) रोगों के विकट लक्षणों से मोचक ओषधियां का प्रयोग। शपथ्य, वरुण और देवकिल्विष तथा यम के पड्वीश का रहस्य। ओषधि शब्द का निरुक्तयर्थ। ओषधियों का रोगनाशक सामर्थ्य। (१८) उत्तम ओषधि का चुनाव। (१९–२०) ओषधि को प्राप्त करने और प्रयोग के समय विशेष सावधानी की आवश्यकता। पक्षान्तर में—सैन्य प्रयोग में सावधानता की आवश्यकता। (२१–२२) उत्तम ओषधियों के ज्ञान और संग्रह में उद्योग करने का उपदेश। (पृ० ३६९–३७८)

सू० [९८]—देवगण। विद्वान् राजा, स्वामी, प्रभु आदि के सूर्यवत् कर्त्तव्य वर्णन। (२) भक्त को देव के प्रति दत्तचित्त होने का आदेश। पक्षान्तर में देवापि-मेघ विद्युत् आदि विद्या का उपदेश। (३) प्रभु से सन्मार्ग दर्शन और सुखद वेदवाणी की प्रार्थना। पक्षान्तर में सूर्य के ताप, प्रकाश, जल, वृष्टि आदि की याचना। द्युमती वाक् का वर्णन। देवापि शन्तनु आदि का रहस्य। (४) देव की परम भक्ति का उपदेश। पक्षान्तर में—वृष्ट्यर्थ यज्ञादि का उपदेश। (५) प्रभु भक्त के प्रति आनन्द-वर्षी घन प्रभु की कृपा। मेघ-वृष्टि पक्ष में—मेघ-विद्यावान् का यज्ञों द्वारा आकाश से वृष्ट्युत्पादन। (६) सर्व सत्-फल प्रभु के आश्रित हैं। जितेन्द्रिय ही उनको पाते हैं। मेघ-वृष्टि-ज्ञान। (७) यज्ञार्थ विद्वान् का वरण, उसका यज्ञ का यथावत् सम्पादन और लोकोपकार। (८) भक्ति-प्रार्थनादि द्वारा उपासित प्रभु का जलद मेघ के तुल्य वर्णन। (९) प्रभु से अनेक ऐश्वर्यों की प्राप्ति। (१०) ज्ञान-प्रकाश आदि शक्तियों की याचना। (११) प्रभु के निमित्त स्वार्पण का

उपदेश । पक्षान्तर में मेघ-वृष्टि आदि के लिये ९० सहस्राहुतियों का महायज्ञ । (१२) प्रभु वा वीर पुरुष से दुष्टों के नाश की प्रार्थना । (१३) अग्नि द्वारा रोगादि नाश का उपदेश । आर्ष्टिषेण देवापि और शन्तनु के ऐतिह्य का स्पष्टीकरण । (पृ० २७८–२८५)

सू० [९९]—इन्द्र । प्रभु-विद्वान् और सूर्य की महिमा । (२) सर्वोपरि शासक प्रभु । अध्यात्म में आत्मा का वर्णन । (३) सदाचारी पुरुष को प्रतिष्ठा लाभ । (४) सूर्य के तुल्य और आत्मा और ईश्वर के कार्यों का वर्णन । (५) सूर्य के समान आत्मा का वर्णन । (६) वर्ष के स्वामी सूर्यवत् देह में आत्मा की स्थिति । त्रिशीर्षा षडक्ष, त्रित, वराह आदि का रहस्य । (७) दुष्ट-दमन के निमित्त शस्त्रों-अस्त्रों के प्रयोग का उपदेश । (८) मेघ के तुल्य राजा के कर्त्तव्य । (९) प्रभु की भक्त पर कृपा । (१०) सर्वदुःखनाशक प्रभु । (११) प्रभु-भक्ति से देह-बन्धन से मोक्ष प्राप्ति । (१२) भक्त की प्रभुप्राप्ति । जीव को सुखार्थ प्रभु का जगत्सर्ग । (पृ० ३८९–३९२)

सू० [१००]—विश्वेदेव । सर्वमंगल प्रभु का वरण । प्रभु से बल, रक्षा, ज्ञान, आदि की याचना । (२) विद्वानों से उत्तम ऐश्वर्य और उत्तम राजा की याचना । (३) प्रभु से बलादि की याचना, जिससे हम विद्वानों को तृप्त कर सकें । (४) अक्षुण्ण ऐश्वर्यवान् प्रभु से याचना । (५) सर्वपालक प्रभु का माता पिता के तुल्य वरण । (६) प्रभु सर्वशक्तिमान्, ज्ञानी, व्यापक की प्रार्थना । (७) पापत्याग की प्रार्थना । (८) पापादि से मुक्त होकर मङ्गलमय प्रभु का वरण । (९) द्वेषभाव त्याग कर सर्वोत्तम प्रभु का वरण । (१०) गौ के तुल्य परस्पर उपकारक होने का आदेश । (११) सूर्य, मेघ, वेदवाणी और स्तन के तुल्य सुखद प्रभु का वरण । (१२) प्रभु का अदम्य तेज, अपराजित कामनाएं हैं । रस्सी से पशु के तुल्य स्तुति द्वारा प्रभु के ज्ञान की प्राप्ति ।

सू० [१०१]—विश्वेदेव वा ऋत्विग् गण। एकचित्त होकर प्रभु-उपासना का उपदेश। (२) उत्तम स्तुति, कर्म, नौका, वेद का अभ्यास, शस्त्र, अन्न और यज्ञ करने का आदेश। (३) हल आदि से क्षेत्रा-कर्षण, अन्नोत्पादन, तथा अध्यात्म में—योग द्वारा साधना करने का आदेश। (४) हलादि द्वारा क्षेत्रकर्षण के तुल्य देहगत नाड़ियों द्वारा योग-साधना का उपदेश। (५) पशुओं के लिये जलपान-स्थान, रस्सी, कूप आदि बनाने का विधान। अध्यात्म में—अक्षय रससागर प्रभु की उपसना करने की आज्ञा। (६) उत्तम कूप और पक्षान्तर में—रस के उद्भव स्थान परमेश्वर का वर्णन। (७) अश्व-रथादि निर्माण तथा उत्तम सुदृढ़ कूप आदि बनाने का उपदेश। पक्षान्तर में—इन्द्रियजय, ईश्वरो-पासना और आत्म-साधना का उपदेश। (८) मार्ग, गोशाला, कवच, दृढ़ दुर्ग, नगर, चमसपात्र, आदि बनाने का उपदेश। पक्षान्तर में—इन्द्रियों, देह, पञ्च-कोश और देहादि को दृढ़ करने का उपदेश। (९) वेदवाणी को धारण करने का उपदेश। वेदवाणी की गौ से उपमा। (१०) हृदयपात्र में आनन्द रस का सेचन, वाणी रूप छेनियों से प्रभु की स्तुति रूप भूमिनिर्माण। सद्-दर्शनवृत्ति रूप रस्सियों से इन्द्रियों का दमन, और इन्द्रिय वर्ग रूप अश्वों का आत्मरथ में संयोज-नादि का श्लिष्ट वर्णन। (११) गृह में दो स्त्रियों के पति के तुल्य उभय इन्द्रियवर्गों के स्वामी आत्मा के साधनादि का वर्णन। (१२) सुखमय प्रभु की उपासना द्वारा आत्म-साधना का उपदेश। (पृ० ३९८—४०५)

सू० [१०२]—द्रुघण इन्द्र। परमेश्वर से रक्षा की प्रार्थना। (२) वीर पुरुष का कार्य। पक्षान्तर में वृष्टि द्वारा प्रजा-पोषण। (३) वीर पुरुष का रक्षा का कर्त्तव्य। (४) बरसते मेघ के तुल्य वीर पुरुष का कार्य। (५) वृष्टिप्रद मेघ के तुल्य स्तुत्य प्रभु का वर्णन। (६) दुःख-नाशार्थ प्रभु की स्तुति। प्रभु का आदेश, और उसका साक्षात् दर्शन।

(७) प्रभु की प्राप्ति। (८) सर्वव्यापक सर्वप्रबन्धक प्रभु। (९) देह में आत्मा के सदृश विश्व में व्यापक प्रभु। (१०) प्रभु का निष्पाप रूप। उसकी उपासना, सर्वधारक, सर्वतारक प्रभु। पक्षान्तर में–यन्त्र द्वारा संचालित वेगवान् रथादि का वर्णन। (११) नववधू के समान बुद्धि का वर्णन। कूप या मेघ के समान आत्मा का वर्णन। बुद्धि द्वारा ज्ञानोपार्जन और सुखानुभव। (१२) विश्व के चक्षु का भी चक्षु, परमेश्वर सर्वनियन्ता, सर्वद्रष्टा है। (पृ० ४०५–४११)

सू० [१०३]—इन्द्र, बृहस्पति, अप्वा इन्द्र वा मरुद्गण। सेनापति रूप इन्द्र का वर्णन, उसके गुण। पक्षान्तर में–व्यापक परमेश्वर का वर्णन। (२) वीर सेनापति के साथ मिलकर वीरों को संग्राम का आदेश। (३) सेनापति के कर्त्तव्यों का वर्णन। (४) युद्ध के प्रकार का निर्देश। अध्यात्म में इन्द्र आत्मा का वर्णन। (५) सेनापति के कर्त्तव्य। (६) सेनापति के प्रति सहयोगियों के कर्त्तव्य। (७) सेनापति कैसा हो। (८) सेनानायक और वीरों का वर्णन। (९) वीरों का बल, पराक्रम और नाद कैसा हो? (१०) सेनानायक का काम वीरों का प्रोत्साहन। (११) ध्वजाधारियों के साथ नायक और वीरों का विजय-कार्य। (१२) अजेय सेना अप्वा। उसके विशेष गुण और कर्त्तव्य। (१३) वीरों का प्रोत्साहन। (पृ० ४११–४१७)

सू० [१०४]—इन्द्र। प्रभु के तुल्य राजा के कर्त्तव्य। (२) प्रभु का सृष्टिजनक कर्म। (३) प्रभु की रक्षा की स्तुति। वह सर्वज्ञान-प्रद और दाता है। (४) भक्त प्रभु की सदा स्तुति करें। (५) विद्वानों और स्तोताओं के कर्त्तव्य। (६) सब ज्ञानों और यज्ञादि फलों का दाता प्रभु। (७) समस्त स्तुतियों का सर्वोपरि लक्ष्य प्रभु। (८) मोक्षदाता और पूर्ण जीवनदाता प्रभु। (९) मेघ से जलवर्षी अग्नि तत्ववत् मोक्षदाता, ज्ञानप्रकाशक, सर्वजीवनदाता प्रभु। (१०)

ज्ञानोपदेष्टा, प्राणों का नायक, स्तुत्य, प्रकाशक प्रभु। (११) सर्वप्रार्थना सुनने हारे प्रभु की पुकार। (पृ० ४१७—४२२)

सू० [१०५]—इन्द्र। जल-निरोध के दृष्टान्त से चित्तनिरोध का उपदेश। पक्षान्तर में वर्षा-विज्ञान का उपदेश। (२) सूर्य के समान पुरुष का वर्णन। (३) श्रमी पुरुष के तुल्य आत्मा का वर्णन। (४) उसके कर्त्तव्य। (५) वीर शासक प्रभु का वर्णन। (६) ईश्वर का ज्ञानोपदेश और जगत्-सर्जन। (७) प्रभु की दमन-शक्ति। (८) पापनाश की प्रार्थना। दुष्टों के नाश की प्रार्थना। मन्त्रों से यज्ञ करने का उपदेश। (९) प्रभु की त्रिलोक-व्यापिनी शक्ति। (१०) प्रभु की शक्तियों के उपलक्षण। (११) अच्छों बुरों सबों का स्तुतिपात्र प्रभु। (पृ० ४२२—४२७)

सू० [१०६]—दो अश्वी। उत्तम स्त्री-पुरुषों को उनके कर्त्तव्यों का उपदेश। (२) उनके उपदेष्टा के प्रति कर्त्तव्य। (३) नाना दृष्टान्तों से उनको परस्पर सहयोगी, स्नेही, यज्ञवान्, सुसंगत रहने का उपदेश। (४) वे पालक, राजा-रानीवत्, ज्ञान-प्रकाशक हों। (६) स्त्री-पुरुषों को अनेक उपयोगी उपदेश। (८) सात्विक भोजन करें, दीर्घायु हों। (९) ऐश्वर्य प्राप्त करें। (१०) मधुरभाषी हों, श्रमशील हों। (पृ० ४२७—४३३)

सू० [१०७]—दक्षिणा और दक्षिणा के दाता। प्रभु का महान् सामर्थ्य। सबके दुःख छूटने की कामना। अन्नोत्पत्ति, दानशीलता का मार्गदर्शन। (२) दानशीलों की उन्नत स्थिति। (३) विद्वानों के पालन का उत्तम उपाय दक्षिणा। (४) दक्षिणा की वायु से तुलना। दानशीलों का सत्-साहस और उद्योग। वे भूमि को दोहते हैं। (५) अन्नदाता की प्रतिष्ठा। (६) दक्षिणादाता के प्रतिष्ठा-पद। (७) दक्षिणा

दाता और प्रतिगृहीता दोनों की उत्तमता। (८) सर्वपालकों का मान्य पद। (९–११) रक्षक पुरुषों के लौकिक ऐश्वर्य।

सू० [१०८]—सरमा और पणिगण। सरमा नाम आत्मशक्ति चेतनाशक्ति का वर्णन। (२) पणिगण इन्द्रियगण का चेतना से सम्बन्ध। बुद्धि का वाणी रूप में प्रकटीभाव। सर्वरक्षक ब्रह्मज्ञान, उसके आधार पर आत्मशक्ति का देहमय पार्थिव बन्धन से तरण। (३) आत्मा, चितिशक्ति, दर्शनशक्ति के सम्बन्ध में प्रश्न। (४) इन प्रश्नों के उत्तर, वह आत्मा अविनाशी, सर्ववशी। (५) पणि-इन्द्रियगणों का चित्त-भूमि और देह पर वश। (६) उन पर भी चेतना और इच्छाशक्ति का प्रबल अधिकार। (७) प्राणों का देह पर वश। (८) प्राणों का इन्द्रियों पर वश। (९) चेतनाशक्ति से उनका सम्बन्ध। (१०) सर्वेश्वर आत्मा का पद। चेतना पर प्राणों का आवरण। चेतना का प्रकटीभाव। (११) वेद वा ज्ञानवाणियों का प्रादुर्भाव। (पृ० ४३९–४४४)

सू० [१०९]—विश्वे देव। परमेश्वर की सर्वतोमुख्य आश्रय रूप शक्ति। (२) सर्वोत्पादक प्रभु सोम। (३) प्रकृति ब्रह्मजाया का वर्णन। (४) सात ऋषि, सात देवगण, सात प्राण, प्रकृति की महती शक्ति और परमेश्वर की ओमृशक्ति द्वारा प्रकृति का धारण। (५) व्यापक, परमेश्वर प्रकृति में उसका स्वामी है। (६) प्रकृति का विद्वानों द्वारा पुनः २ त्याग। पुनः २ आत्मा की मुक्ति और बन्ध। (७) पुनः २ निष्पाप हो प्रभु की उपासना कर पुनः २ मोक्षप्राप्ति। पक्षान्तर में—आश्रमान्तर ग्रहण की ध्वनि। (पृ० ४४४–४४७)

सू० [११०]—आप्रीगण। अग्निवत् गृहपति-ज्ञानी आत्मा का वर्णन। विद्वान् ज्ञानी पुरुष के कर्त्तव्य। (२) देहपतन होने देने वाले

आत्मा का वर्णन। हिंसारहित यज्ञ का प्रतिपादन। (३) अग्नि, विद्वान् शिष्य-आचार्य का समादर। (४) सबसे पूर्व प्राप्त ज्ञानमय वेदों का वर्णन। (५) गृहदेवियों, वेदवाणियों का द्वारों के तुल्य वर्णन। (६) दिन-रात्रिवत् उत्तम स्त्री पुरुषों के कर्त्तव्य का वर्णन। ज्ञानदाता वा अन्नदाता विद्वानों के कर्त्तव्य। (८) भारती, इडा, सरस्वती तीन देवियों का आदर। (९) द्यौ-पृथिवीवत् माता पिता का आदर। (१०) वनस्पति रूप जितेन्द्रिय तेजस्वी का आदर। (११) अग्निवत् अग्रणी पुरुष का आदर। (पृ० ४४७—४५३)

सू० [१११]—इन्द्र। इन्द्र प्रभु की स्तुति। (२) वृषभ रूप से प्रकृति के स्वामी जगद्-उत्पादक प्रभु का वर्णन। पक्षान्तर में—जल-धारक मेघ का वर्णन। (३) ज्ञानदाता सूर्य भूमि का पालक, प्रभु। (४) मेघ से वृष्टिवत् प्रकृति से जगत्-स ॅ का व ॅन। (५) सर्वातिशायी परमेश्वर, सर्वदुःखनाशक, विश्व को थामने वाला है। स्कम्भ का रहस्य। (६) अज्ञाननाशक प्रभु, अति वीर्यशाली प्रभु। (७) उषा सूर्य के दृष्टान्त से आत्मा इन्द्रियों का वर्णन। (८) मूल प्रकृति (आपः) का व्यापक सूक्ष्म रूप। उसकी व्यवस्था। (९) मेघ से निकलती जलधाराओं के तुल्य प्रकृति-बन्धन में आने वा उससे निकलने वाले आत्माओं का वर्णन। सिन्धु रूप से जीवात्माओं की गति का वर्णन। (१०) बहती नदियों के साथ बड़े नद के तुल्य आत्माओं के बीच प्रभु का वर्णन। (पृ० ४५३—४५८)

सू० [११२]—इन्द्र। सर्वप्रथम उपास्य प्रभु। (२) प्रभु का प्रेम पूर्वक आह्वान। (३) सूर्यवत् प्रभु का स्मरण। अध्यात्म में-देहगत आत्मा की सूर्यवत् स्थिति। (४) भक्त और प्रभु का परस्पर स्नेह। (५) प्रभु का वीर के समान स्मरण। (६) आत्मा का ब्रह्मानन्द-रस रूप सोमपान। (७) कृषक के समान प्रभु के उपासकों का

व्यवहार। (८) प्रभु के गुणों और अद्भुत कर्मों पर भक्तों का मुग्ध होना और उससे अज्ञान के नाश की प्रार्थना। (९) गणपति का वर्णन। (१०) प्रभु से, राजा से प्रजा की ज्ञान, ऐश्वर्य और न्याय की याचना। (पृ० ४५८—४६४)

सू० [११३]—इन्द्र। सूर्यवत् प्रमुख शासक के कर्त्तव्यों का वर्णन। (२) प्रजा ही राजा के वैभव को बतलाती है। (३) संग्राम क्यों किया जाय? उस समय प्रजा का कर्त्तव्य। (४) युद्ध से बल परिक्षा और बल से शत्रुविजय और स्वराज्य का दृढ़ीकरण। (५) राजा के कर्त्तव्य। राजसभा आदि पर प्रशासन, शस्त्रबल पर यश, मित्रवर्ग पर अनुग्रह। (६) शत्रुनाश के उत्तम फल। राजा के आतंक का परिणाम। (७) स्पर्द्धाशील पक्षों में से एक के विजय हो जाने पर उसके स्वामित्व की स्थिति। (८) पराजित शत्रु का नाश और प्रजाद्वारा विजयी राजा की वृद्धि। (९) राजा के प्रति प्रजा के सद्-बन्धन और राजा का ध्यानाकर्षण। (१०) प्रभु वा आत्मा से ज्ञान-बल याचना, वा पाप-कष्टादि से पार करने की प्रार्थना। (पृ० ४६४—४६८)

सू० [११४]—विश्वेदेव। अग्नि सूर्यवत् जीव प्रभु, प्रजा राजा, और स्त्री पुरुषों के कर्त्तव्य। (२) गुरु जनों से ज्ञानोपार्जन का प्रकार। (३) चार शिखा वाली वेदवाणी। (४) सर्वजगत् साक्षी अद्वितीय प्रभु का वर्णन। (५) एक अद्वितीय प्रभु के १२ रूप। (६) यज्ञ विधि में कहे ४० ग्रहों का स्पष्टीकरण। (७) प्रभु के १४ महान् सामर्थ्य उनका मुख से वर्णन। (८) प्रजापति के १५ रूप—(९) वेदज्ञ विद्वान् के सम्बन्ध में प्रश्न। (१०) रथ में धुरों के संभालने वाले अश्वों के तुल्य विद्वानों के कर्त्तव्य। (पृ० ४६९—४७४)

सू० [११५]—अग्नि। बालक के समान प्रभु का वर्णन। उसका जगत्-पोषण कार्य। (२) सर्वोपरि स्वामी तेजस्वी अग्नि। (३) पक्षी

के तुल्य प्रभु का वर्णन। (४) पापनाशक सर्वाधार प्रभु। (५) सर्वतारक प्रभु। (६) सर्वोपरि रक्षक बलशाली प्रभु। (७) सूर्यरश्मि-वत् नियुक्त पुरुषों के कर्त्तव्य। (८) प्रभु की स्तुति। (९) उसके भक्तों की प्रभु पिता से पुत्रवत् याचनाएं। पुत्रों के तुल्य ऐश्वर्यादि याचना। (पृ० ४७४—४७९)

सू० [११६]—इन्द्र। राजा के कर्त्तव्य। वह प्रजा को पिता के समान पाले। (२) प्रजा उससे न्यायादि की याचना कर मधुर अन्न जल लें, सब पर सुख बरसावे। (३) सोम के बल पर राजा ऐश्वर्य का भोग करे। चार प्रकार के सोम। मेघ सूर्यवत् राजा के प्रजा के प्रति कर्त्तव्य। (४) राजा का कार्य शत्रुविजय। राजा उनके दुर्गों का नाश करे। (५) राजा अपना बल स्थिर रूप से फैलावे। (६) उसके बल पर शत्रु को काटे। (७) राजा के प्रति प्रजा का स्वकर-दान। (७) सर्वदुःख तारक की नाव के तुल्य स्तुति। विद्वानों से उत्तम ऐश्वर्यादि की याचना।

सू० [११७]—इन्द्र। धन और अन्नदान की प्रशंसा। भूखा मारने के दण्ड का निषेध। दान दिये का नाश नहीं होता। (२) निर्बल पीड़ित और अतिथि आदि को अन्नादि न देनेवाले की भविष्य में दुर्गति। (३) दाता की सद्गति। (४) अदानशीलता से हानि और दान के लाभ। (५) धनादि की अस्थिरता होने से समर्थ को अन्यों के पालन का उपदेश। (६) क्षुद्र पुरुष की व्यर्थ धन की प्राप्ति। (७) फाली और पैरों के दृष्टान्त से सत्कार्य करने वालों की प्रशंसा। ज्ञानादि का दाता अदाता से कहीं अच्छा है। (८) साधनों के सिवाय सामर्थ्य, दानशीलता का महत्त्व। (९) दान-सामर्थ्यादि की विषमता। (पृ० ४८३—४८७)

सू० [११८]—रक्षोहा अग्नि। इन्द्रिय दमन, और दुष्टों के दमन का उपदेश। (२) आहुतिप्राप्त अग्नि के तुल्य तेजस्वी को उत्तम

वचनों से प्रसन्न होने का उपदेश। (३) अग्निवत् वाणी द्वारा प्रकट आत्मा का वर्णन। (४) घृत से प्रज्वलित अग्निवत् ज्ञानी और तेजस्वी हो। (५) विद्वान् ज्ञानोपदेश से प्रकाशित हो। (६) मनुष्यों को विद्वान् की परिचर्या का उपदेश। (७) तेजस्वी दुष्टों का नाश करे, न्याय की रक्षा करे। (८) पीड़ादायक विपत्तियों वा व्यक्तियों को दूर करे। (९) विद्वान् की उपासना का उपदेश। (पृ० ४८७–४९९)

सू० [११९]—आत्मस्तुति। आत्मतुष्ट पुरुष के उदार भावों का प्रकाश। (२) सोमपान अर्थात् आत्मानन्द रस, ऐश्वर्य, ज्ञान आदि की प्राप्ति, आत्मा की शक्ति का उद्रेक। (४) आत्मदर्शन रूप सोमपान से ज्ञानवृद्धि। (५) आनन्द-रस प्राप्त्यर्थं ज्ञानस्वरूप प्रभु की उपासना। (६) ज्ञानरस-पान से इन्द्रियदमन। (७) वीर्य रक्षा से प्रचुर बलप्राप्ति। (१२) परमेश्वर के महान् सामर्थ्यों का वर्णन। (पृ० ४९०–४९४) इति षष्ठोऽध्यायः।

सप्तमोऽध्यायः

सू० [१२०]—इन्द्र। सर्वोत्पादक जगत्स्रष्टा परमेश्वर का वर्णन। पक्षान्तर में ज्येष्ठ ब्राह्मणवर्ग का वर्णन। (२) सर्वशरण्य प्रभु। (३) सर्वोपास्य प्रभु। (४) प्रजापालक राज्य के कर्त्तव्य। (५) बलवान् सहायक राजा के सहयोग में प्रजावर्ग को उत्साह। (६) आप्तों से श्रेष्ठ आप्त आत्मा की प्राप्ति, उसके सामर्थ्य का वर्णन। (७) आत्मा के सामर्थ्य और कर्म। (८) प्रभु के बल, सुख आदि का वर्णन। (९) परमेश्वर का विराट् रूप। (पृ० ४९४–४९८)

सू० [१२१]—प्रजापति का वर्णन। हिरण्यगर्भ परमेश्वर।

पृथिवी आदि का धारक। (२) सर्वोपास्य शरण्य मुक्तिप्रद प्रभु। (३) सब चराचर का राजा प्रभु। (४) समस्त विश्व विभूतियों का स्वामी प्रभु। (५) महान् बलशाली प्रभु। (६) सर्वाश्रय प्रभु। (७) सर्वाश्रय, सर्वजीवनदाता प्रभु। (८) सर्वासाक्षी प्रभु। (९) परमेश्वर के अनेक लक्षण। (१०) सर्वव्यापक प्रभु से ऐश्वर्यों की याचना। (पृ० ४९८–५०३)

सू० [११२]—अग्नि। प्रभु और विद्वान् की स्तुति और उपासना। परमेश्वर के अनेक गुण और वह विश्व का स्वामी है। (२) सर्वज्ञ प्रभु से ज्ञान की याचना। (३) सर्वव्यापक, ऐश्वर्यप्रद प्रभु की शरण-ग्रहण और उससे अनुग्रह याचना। (४) ज्ञानमय तेजोमय, सुखरसवर्षी, प्रभु की उपासना। (५) भक्त्यर्थ प्रभु की स्तुति। (६) विश्वपोषक गौवत् प्रभुवाणी से इष्ट कामना करते हुए परमेश्वर की उपासना करना। (७) प्रातः-उपासना होमादि का विधान। उनके अभिप्राय। (८) प्रकाश स्वरूप प्रभु की उपसना, और उससे ऐश्वर्य की याचना। (पृ० ५०३–५०७)

सू० [१२३]—वेन। प्रकाशस्वरूप जगत्स्रष्टा का वर्णन। (२) समुद्र से तरंग, सूर्य से उषा आदि दृष्टान्तों से प्रभु से ज्ञानप्राप्ति का वर्णन। (३) वेदवाणियों का परमप्रतिपाद्य प्रभु। (४) विद्वानों द्वारा स्तुत्यपद। उपासक और उपास्य में चातक मेघ का-सा सम्बन्ध। नाविक जैसे समुद्र में प्रवेश करता है वैसे सिन्धु रूप प्रभु को प्राप्त होना। (५) उपास्य-उपासक का दाम्पत्य का-सा विशुद्ध स्नेह। (६) सूर्यवत् तेजोमय, अज्ञानावरण का नाशक, सर्वशक्ति सर्वपोषक प्रभु का साक्षात् दर्शन। (७) सर्वोपरि शासक प्रभु। गन्धर्व परमेश्वर का देहरूप विश्व कवच है। (८) आत्मा का तेजोमय प्रभु में प्रवेश (पृ० ५००–५१२)

सू० [१२४]—अग्नि, वरुण सोम। यज्ञ में आत्मा का चिन्तन। (२) अमृतत्व की प्राप्ति। आत्मसाक्षात्कार। (३) प्रभु से मोक्ष-याचना। (४) आत्मा का स्वतः मोक्षमार्ग-दर्शन। (५) दोनों आत्माओं का साक्षात् योग-दर्शन। (६) आत्म-साक्षात्कार, आत्मा सुखमय और प्रकाशमय। (७) विश्वस्रष्टा का अद्भुत कर्म और स्वाभाविक व्यापन। प्रकृति में ब्रह्मबीजोत्सर्ग। (८) प्रकृति का ईश्वराश्रय, गर्भ-ग्रहण और जगत्प्रसव। (९) परमेश्वर वा आत्मा का शुद्ध रस स्वरूप (१०) मैत्रीभाव से उसका साक्षात्कार। (पृ० ५१२—५१९)

सू० [१२५]—वाग् आम्भृणी। परमात्मा का आत्मशक्ति वर्णन। आत्म विभूति-प्रकाश। (पृ० ५१७—५२०)

सू० [१२६]—विश्वेदेव। पाप से रक्षा। सत्संग द्वारा सज्जनों की कृपा से पाप से पार होना, सब बुराइयों से छूटना। (पृ० ५२१—५२४)

सू० [१२७]—रात्रिस्तव। रात्रि के दृष्टान्त से जगत्-शासिका प्रभुशक्ति का वर्णन। (६—८) प्रभुशक्ति का वर्णन। (पृ० ५२४—५२७)

सू० [१२८] विश्वेदेव। तेजस्वी पुरुष, अग्रनायक, सेनापति, और राजा के कर्त्तव्य। सेना, प्रजा आदि प्रधान व्यक्ति को चमकावें, उसका मान-आदर, सत्कार और शक्ति-वर्धन करें। (२) इन्द्र वा स्वामी वा नायक पति का अधीनों के प्रति आदेश। (३) उसकी शुभ कामना और आज्ञाएं। (४) ६ प्रकार की विशाल शक्तियां। उनके सदृश ६ प्रकार के पूज्य व्यक्ति। अध्यात्म में—षड्धातु। विद्वानों के कर्त्तव्य प्रभु से प्रार्थना। (६) रक्षक के कर्त्तव्य। (७) प्रभु से प्रार्थना। (८) प्रधान तेजस्वी पुरुषों के कर्त्तव्य, (९) प्रधान पुरुष की अन्य वीरों, विद्वानों से प्रार्थना। (पृ० ३२७—५३४)

सू० [१२९]—नासदीय सूक्त। भाववृत्त। जगत्सर्ग के पूर्व प्रलय

अवस्था में अव्यक्त दशा का वर्णन। अम्भस् तत्त्व का वर्णन। (२) सब से अधिक सूक्ष्म परम शक्ति तत्त्व का रूप। (३) सृष्टि के पूर्व क्या था? तमस्तत्त्व का वर्णन। (४) ईश्वरीय जगत् सर्ग, संकल्प रूप। (५) असत् अम्भस् सलिलादि का विस्तार, उसमें अन्य शक्तियां और प्रभु की स्वधा शक्ति। (६) जगत् का मूल कारण अज्ञेय, अव्यक्त। (७) मूल तत्त्व को जानने वाला है तो एकमात्र परमेश्वर ही है। (पृ० ५३१–५३४)

सू० [१३०]—भाववृत्त। १०० वर्षों के दीर्घ-यज्ञ का पट रूप में वयन, उसका स्पष्टीकरण। (२) परम पुरुष ही यज्ञ-पट तनता है, यज्ञ पट बुनने के अन्य साधनों की भी श्लिष्ट योजना। (३) उपास्य प्रभु के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न। देवयज्ञ के स्वरूप की जिज्ञासा। (४) छन्दोऽनुरूप देव गुणों का विभाग। (५) ऋषियों का छन्दोबल। (६) यज्ञ से ऋषि-मनुष्यादि का प्रादुर्भाव। (७) पूर्व-पुरुषाओं की परिपाटी के अनुसरण का उपदेश। अध्यात्म में प्राणगण ७ ऋषि। आत्मा प्रजापति। जीवन रूप शतवार्षिक यज्ञ। (पृ० ५३४–५३७)

सू० [१३१]—इन्द्र, अश्विगण। राजा के कर्त्तव्य। दुष्ट शत्रुओं को दूर करे। (२) कृषिवत् नियम से प्रभु भक्ति करने वालों की रक्षा प्रार्थना। (३) उत्तम बैलों वाली गाड़ी के तुल्य बलवान् प्रभु से जगत्-सर्ग और दृढ़ पुरुषों से गृहस्थ संपादन करने का उद्देश्य। (४) जितेन्द्रिय गृहस्थ स्थिर पुरुषों के कर्त्तव्य। (५) मां बाप के बीच पुत्रवत् राजा की दशा। वह सेना शक्तियों और प्रजाओं के बीच बढ़े। (६–७) राजा अपनी पालक शक्तियों से प्रजा में अभय स्थापन करे और प्रजाएं उसके अधीन द्वेषरहित होकर रहें। (पृ० ४३७)

सू० [१३२]—लिङ्गोक्त। ज्ञानी लोगों के सहयोग में यज्ञशील पुरुष की वृद्धि। (२-३) उसके प्रति अन्यों के कर्त्तव्य। वे उसको

सदा वृद्धि करें। उत्तम स्त्री पुरुषों के कर्त्तव्य। वे ऐश्वर्य की खूब वृद्धि करें। (४) सभापति का कर्त्तव्य। (५) उपरिस्थित शासकों के छोटे २ दोष भी अधीनों में अधिक हानि उत्पन्न करते हैं। (६) माता वा आचार्य के कर्त्तव्य और उनके प्रति पुत्रों वा शिष्यों का कर्त्तव्य उनका प्रियाचरण। (७) उत्तम स्त्रीपुरुष उत्तम रथ आदि पर विराजें सेनापतिवत् शक्तिशाली पुरुष प्रजा की सदा रक्षा करें। (पृ० ५४१—५४४)

सू० [१३३]—इन्द्र। बलवान् सेनापति की प्रतिष्ठा। उसके कर्त्तव्य। (२) शत्रु के प्रति उसके नाश के लिये उचित भावना। (३-५) दण्डनीय पुरुषों को उचित दण्ड। (६) प्रधान नायक के कर्त्तव्य। (७) शासक ज्ञानी के कर्त्तव्य। वह अधीनों को उत्तम शिक्षा दे। (पृ० ५४४—५४७)

सू० [१३४]—इन्द्र। माता पिता के तुल्य परमेश्वर प्रकृति का जगत्-सर्जन। (२) दुष्टों के दण्ड करने की प्रार्थना। (३) उत्तम अन्न-सम्पदाओं के पाने की प्रार्थना। (४) ऐश्वर्य की प्रार्थना। (५) हमें कैसे तेजस्वी शस्त्रास्त्र प्राप्त हों और कैसे हमारे शत्रु दुष्ट नाश हों इसमें घृतविन्दु और तृण के दृष्टान्त। (६) व्यापक प्रकृति को धारण करने में अज के दृष्टान्त से सर्वनियन्ता के कार्य का वर्णन। (७) विधि विधानानुसार यज्ञादि कार्य करने का आदेश। (पृ० ५४७—५५०)

सू० [१३५]—यम। देह द्वारा कर्मफल भोग का वर्णन। (२) पुनः पापाचरण करने वाले पर निन्दा और दयादृष्टि से देखने का उपदेश। अथवा अधः-पतन होने में चित्त की निर्बलता। (३) देह-यन्त्र का रहस्य। ज्ञानी अज्ञानी जीव का देह-रथ में आना। (४) वह देह में आत्मज्ञान को प्राप्त करे। (५) जीव के सम्बन्ध में कुछ जिज्ञासाएं। (६) मन से प्रतिक्षण श्वासानुश्वास-क्रिया के तुल्य संकल्प-मय प्रभु से जगत् की उत्पत्ति और संहार का होना। (७) पाञ्चभौतिक

देह-नियन्ता आत्मा का आश्रय है। देह में स्थित वाणी, राजा की रण-भेरी के तुल्य है। (पृ० ५५०–५५३)

सू० [१३६]—जूति, वातजूति, विप्रजूति, वृषाणक, करिक्रत एतश, ऋष्यशृंग और केशिगण। ज्योतिर्मय प्रभु केशी। (२) देह में इन्द्रिय प्राणों की जागृत और चेतन दशा में भेद। (३) देह में प्राणों के सूक्ष्म और स्थूल रूप। (४) देहाश्रम में स्थित आत्ममुनि का वर्णन। दो समुद्र के बीच उसका सुन्दर आश्रम। आलंकारिक सत्यता का स्पष्टीकरण। (६) ज्ञानी का विवरण। आत्मा का विवरण, सूर्य के जलपान के समान आत्मा का विविध विषय का भोग। विद्युत् के समान वाणी के कार्य (पृ० ५५३–५५७)

सू० [१३७]—विश्वेदेव। विद्वानों, तेजस्वी पुरुषों के कर्त्तव्य। जलों को रश्मियों के तुल्य नीचे गिरों को बार २ उठावें। अन्यों को जीवन प्रदान करें। (२) विशाल जगत् में दो प्रकार के प्रबल वातों का वर्णन। देह में श्वास-निश्वास का वर्णन। (३) रोगनाशक वायु का वर्णन। (४) शान्तिदायक मृत्युनाशक उपायों से अन्नादि देने और रोग नाश करने का उपदेश। (५) रक्षा के उपायों से रक्षा प्राप्ति का उपदेश। (६) रोगनाशक जलों का वर्णन। (७) रोगनाश के लिये वाणी के प्रयोग के साथ हाथों की दशों अंगुलियों के स्पर्श का प्रयोग। (पृ० ५५७–५५९)

सू० [१३८]—इन्द्र। प्रभु के मैत्रीभाव में मननशील पुरुषों का अज्ञान नाश। पक्षान्तर में जगत् में सूर्य के सहयोग में वायुओं का मेघ वर्षणादि कार्य। (२) भौतिक जगत् में सूर्य के कार्यों का वर्णन। तदनुसार प्रभु के कर्मों का वर्णन। (३) भौतिक जगत् में सूर्य और विद्युत् के अनेक कर्म। तत्सदृश तेजस्वी पुरुष के कर्त्तव्यों का वर्णन।

(४) सूर्यवत् राष्ट्र में राजा के कर्त्तव्यो का वर्णन । शत्रु से करादान, दण्ड-ग्रहण की व्यवस्था । (५) विना युद्ध के विजय करने का आदेश । कण्टकशोधन करने का उपदेश । (६) शत्रुनाश के कार्य में सेनापति के कर्त्तव्य । पक्षान्तर में परमेश्वर के महान् कार्य । (पृ० ५६०–५६४)

सू० [१३९]—सविता, और विश्वावसु । जीवनप्रद प्राभातिक सूर्योदय के समान परमेश्वर के जगत्सर्जन के अद्भुत कार्यों का वर्णन । (२) मध्यान्हकालिक सूर्य के समान विद्वान् के कर्त्तव्य । (३) सूर्य के समान धर्माध्यक्ष का वर्णन । (४) सूर्य के प्रति जाते हुए वाष्पमय जलों के तुल्य प्रभु के प्रति जाते हुए उपासकों का वर्णन । सूर्यानुसारी वायु के समान प्रभु का देवानुगमन । (५) दिव्य गन्धर्व परमेश्वर का वर्णन । उससे ज्ञान की याचना । (६) विद्वान् गन्धर्व का वर्णन । ज्ञान-प्रवचन, उसका कर्त्तव्य । पक्षान्तर में मेघ सूर्यादि का वर्णन । (पृ० ५६४–५६७)

सू० [१४०]—अग्नि । प्रकाशस्वरूप प्रभु की स्तुति । (२) माता पिता के तुल्य प्रभु का प्रजापालन । (३) सर्वाश्रय, सर्वपालक प्रभु । पक्षान्तर में यज्ञाग्नि का वर्णन । (४) पालक राजा और प्रभु का वर्णन । उससे ऐश्वर्य-वृद्धि की प्रार्थना । (५) महान् दाता यज्ञकर्त्ता प्रभु का वर्णन । (६) दर्शनीय, विश्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वदाता प्रभु वा विद्वान् की उपासना और साक्षिता । (पृ० ५६७–५७०)

सू० [१४१]—विश्वेदेव । विद्वान् तेजस्वी पुरुष वा प्रभु से शुभ चित्त होने और प्राप्त होने की विनति । (२) न्यायकारी से न्याय, वेदज्ञ से ज्ञान, विदुषी से वा भूमि से नाना ऐश्वर्यादि का याचना । (३) सोम राजा, विद्वान् शासक प्रभु, विद्वानों, और वेदज्ञों की और धनसम्पन्नों की उचित प्रार्थना । (४) उनका राष्ट्र में सादर आमन्त्रण और सबकी शुभ चित्तता की आशा । (५) राष्ट्र के बड़े २ आदरणीय पुरुषों को

दानशील उदार होने की प्रार्थना। (६) राजा को प्रेरणा कि वह अन्य शासकों से दानी, उदार होने की प्रेरणा करे। (पृ० ५७०—५७२)

सू० [१४२]—अग्नि। त्रिभूमिक गृह के समान प्रभु शरण्य को प्राप्त कर परम मोक्ष और उसकी बन्धुता प्राप्ति और उससे दया की याचना। (२) वशी आत्मा का वर्णन। (३) भोक्ता आत्मा। (४) कर्मफल भोक्ता का तृणादि दाहक अग्नि के तुल्य वर्णन। (५) अग्नि, सेना, वायु आदि के तुल्य आत्मा का वर्णन। (६) सेनापति के समान आत्मा का वर्णन। (७) विद्वान् का अग्निवत् वर्णन। (८) आत्मा का इस वा अन्य लोकों में आने जाने का वर्णन। लोकों में रहने विहरने योग्य स्थानों का वर्णन। (पृ० ५७२—५७६) इति सप्तमोऽध्यायः॥

अष्टमोऽध्यायः

सू० [१४३]—दो अश्विगण। प्रधान प्रकृति और परमेश्वर का वर्णन। उनका कार्य जीव को पुनः जन्म देना। कक्षीवान् जीव। (२) जीव पर प्राण-कोशोंका बन्धन। उसके मोक्ष देने में कारण प्रकृति और परमेश्वर। (३) दोनों जीव को ज्ञान देते हैं। (४) दोनों की जीव पर कृपा। (५) रजः-समुद्र में बहते डूबते जीव पर दोनों की कृपा। (६) दोनों ज्ञानदाता और कामनापूरक है। (पृ० ५७६—५७९)

सू० [१४४]—इन्द्र। जीव की उर्ध्वगति। मोक्षमार्ग। (२) ऊर्ध्वकृशन आत्मा। उसकी सब बाधाओं को दूर करने वाला प्रभु। (३) प्रकाशमय आत्मा का वर्णन। (४) जितेन्द्रिय दीर्घजीवी साधक। (५) ब्रह्मचर्य पूर्वक धारित, रक्षित वीर्य का महत्व। वीर्य सन्ततिवर्धक और दीर्घ जीवन-कारक है। (पृ० ५७९—५८१)

सू० [१४५]—उपनिषत्-सपत्नीबाधन। सपत्नीबाधक, पति-प्रापक ओषधि, पापदाहक, प्रभुप्रापक ब्रह्मविद्या। (२) अविद्या दूर करने की प्रार्थना। (३) ब्रह्मविद्या की सर्वोत्तमता। (४) अविद्या-नाश का वर्णन। (५) सौत के तुल्य अविद्यानाश का उपदेश। (६) अविद्या नाशक ब्रह्मविद्या के प्रति मनका बछड़े के समान आना। (पृ० ५८१—५८४)

सू० [१४६]—अरण्यानी। वानप्रस्थ पुरुष की पत्नी के कर्त्तव्य। (२) वानप्रस्थ पुरुष के कर्त्तव्य। (३) वानप्रस्थ का कर्त्तव्य ज्ञाना-भ्यास, वेदाभ्यास। (४) अरण्यानी ऋणों से मुक्त दशा। उसमें ईश्वरोपासना का कर्त्तव्य। उसकी अहिंसा व्रत की साधना। अरण्यवास का अध्यात्म रहस्य। (पृ० ५८४—५८७)

सू० [१४७]—इन्द्र। विश्वधारक प्रभु परमेश्वर का वर्णन। प्रभु के मेघ और विद्युत् के तुल्य कृपालु और उग्ररूप। (३) बल, ज्ञान, ऐश्वर्य पुत्र पौत्र धन आदि के लिये भी स्तुत्य प्रभु। (४) इन्द्र विद्युत् की साधना उससे अनेक रथादि का निर्माण। (५) ऐश्वर्यवान् पुरुष के कर्त्तव्यों का उपदेश। (पृ० ५८७—५८९)

सू० [१४८]—इन्द्र। धन समृद्धि आदि के लिये परमेश्वर की प्रार्थना। (२) महान् प्रभु की उपासना और ध्यान-धारणा। (३) आत्मा की उपासना। (४) और रक्षा की याचना। (५) प्रभु की उपासना। (पृ० ५८९—५९२)

सू० [१४९]—सविता। सर्वजगत् का उत्पादक और संचालक परमेश्वर। (२) परमेश्वर से सृष्टि का प्रकट रूप से उत्पन्न होना। उसमें परमेश्वर की सूर्य के साथ तुलना। (३) परमेश्वर के महान् सामर्थ्य से, संयोग-विभाग से जगत् की उत्पत्ति। उससे सूर्य की उत्पत्ति। (४) गौ, योद्धा, गौवत्स पति-पत्नी आदि के समान प्रभु के प्रति।

प्रेम-प्रदर्शन । प्रभु के प्रति नित्य जागृतचित्त होकर रहना । (पृ० ५९२–५९५)

सू० [१५०]—अग्नि । सर्वोपसित प्रभु से सुख की प्रार्थना । (२) प्रकाशस्वरूप प्रभु की उपासना । (४) देवों का पुरोहितवत् साक्षी प्रभु । सर्वोपास्य यज्ञाग्निवत् उसी को हृदय में प्रज्वलित करना । सर्वरक्षक प्रभु सच्चा सहायक, सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपास्य है । (पृ० ५९५–५९७)

सू० [१५१]—श्रद्धासूक्त । श्रद्धा से करने योग्य कनेक कर्त्तव्यों का उपदेश । (३) श्रद्धा योग्य वचन होने की प्रार्थना । श्रद्धापूर्वक उपासना करने का उपदेश । 'श्रद्धा' नामक सत्यधारक प्रभु की शक्ति की उपासना । (पृ० ५९७–५९९)

सू० [१५२]—इन्द्र । विश्व का बड़ा भारी शासक परमेश्वर । (२) वह सर्वकल्याणकारक, सर्वपालक, बलवान्, अभयदाता है । (३) उससे विघ्ननाश आदि की प्रार्थना । (४) इन्द्र, वीर सेनापति से भी शत्रुनाश की प्रार्थना । (पृ० ५९९–६०१)

सू० [१५३]—इन्द्र । सेनापति का वर्णन । (२) इन्द्र अध्यक्ष की उत्पत्ति । (३) उसका विशेष पराक्रम । (४) सैन्यों के प्रति उसका कर्त्तव्य । वह उसे तीव्र बनाये रखे । उसका वशकारी सामर्थ्य (पृ० (६०१–६०३)

सू० [१५४]—भाववृत्त । ज्ञानोपासक आत्मा वा शिष्य को सन्मार्गोपदेश । 'सोम' आत्मा की निरुक्ति । (२) मोक्षगामी तपस्वियों की ओर जाने का आदेश । (३) युद्धवीरों और दानशीलों के प्रति जाने का उपदेश । (४) सत्य, न्याय, तपादि के उपासकों, गुरु जनों के प्रति जाने का उपदेश । (५) वेदवाणियों के निष्ठ, ज्ञाता, कवि ऋषियों के प्रति जाने का उपदेश । सूक्त के विनियोग पर विवेक । (पृ० ६०३–६०५)

सू० [१५५]—अलक्ष्मीघ्न सूक्त । ब्रह्मणस्पति, विश्वेदेव । परशत्रु, सैन्य और जलादि न देने वाली दुर्भिक्ष कालिक दशा, इन दोनों के नाश का उपाय । (२) बृहस्पति सेनापति को परशत्रु सैन्य के नाश का उपदेश । (३) सागरादि तरने के लिये नौका, जहाज़ आदि का उपदेश । (४) शत्रुनाशक, गोली छोड़ने वाले (मशीनगन आदि) यन्त्रों का उपदेश । (५) अजेय वीर । (पृ० ६०५–६०८)

सू० [१५६]—अग्नि । सेना द्वारा वीरों का ऐश्वर्य विजय । (३) नायक के कर्त्तव्य । पक्षान्तर में गुरु के कर्त्तव्य और आत्मा का वर्णन । (४) परमेश्वर का सूर्य-स्थापन रूप अद्भुत कार्य । (५) प्रकाशक प्रभु का सर्वोच्च पद । (पृ० ६०८–६१०)

सू० [१५७]—विश्वेदेव । जीवों आदि का भुवनों को प्राप्त होना । (२) आदित्यों सहित इन्द्र के महान् सामर्थ्य । (३) आदित्यों की शासकों से तुलना । उनका शरीरों आदि की रक्षा करने का गुण । (४) विजेयच्छुक के कर्त्तव्य । (५) पक्षान्तर में साधकों का चिति शक्ति का दर्शन । (पृ० ६१०–६१२)

सू० [१५८]—सूर्य । सबका संचालक प्रभु सूर्य । उससे रक्षा की प्रार्थना । (२ ३) सर्वोत्पादक सविता प्रभु, उससे रक्षा, प्रकाश, चक्षु आदि प्राप्ति की प्रार्थना । (पृ० ६१२–६१३)

सू० [१५९]—शची पौलोमी । सेना और स्त्री का आत्मपति-वरण और उद्योग-उत्साहयुक्त भाव । दोनों के पतियों के कर्त्तव्य । (३) माता के सन्मानों के प्रति उत्तम भाव (४) पति के प्रति उत्तम भाव । (५ ६) वीर सेना और वीराङ्गना की विजयादि की महत्त्वा कांक्षा ।

सू० [१६०]—इन्द्र । सेनापति के कर्त्तव्य । (४) समर्थ होकर

दानशील पर प्रभु की कृपा। उसका निष्कण्टक मार्ग। (५) ऐश्वर्य प्राप्त्यर्थ प्रभु की स्तुति। (पृ० ६१६–६१८)

सू० [१६१]—राजयक्ष्मघ्न सूक्त। राजयक्ष्मा और ग्राही नामक रोगों को दूर करने के लिये अग्नि और विद्युत् के प्रयोग का उपदेश। (२) मृत्यु-मुख में पड़े रोगी की रक्षा का उपदेश। (३) शतवर्ष आयुष्कर ओषधि का उपदेश। 'इन्द्र' की वैदिक निरुक्ति। (४) वीर्य द्वारा १०० वर्ष के जीवन की शक्ति प्राप्ति का उपदेश। (५) रोगी को रोगमोचन, दीर्घ-जीवन दान को प्राप्त कराने का उपदेश, वैद्य के कर्त्तव्य। (पृ० ६१८–६२०)

सू० [१६२]—गर्भ-संस्राव में प्रायश्चित्त सूक्त। गर्भनाशक कारणों के नाश करने के उपायों का उपदेश। (पृ० ६२०–६२२)

सू० [१६३]—यक्ष्मघ्न सूक्त। रोगी के आंख, नाक, कान, ठुड्डी, मस्तिष्क, बाहु, धमनियों, और अस्थियों गुदा, आंतों, आदि पेट के भीतरी अंगों से और जांघों, पैरों, टांगों, एड़ियों, पंजों, नितम्बों से, मूत्र, मलादि द्वारों और अन्य अनेक जोड़ों से राजयक्ष्मादि नाश करने का उपदेश। (पृ० ६२०–६२४)

सू० [१६४]—दुःस्वप्नघ्न सूक्त। मन के दुःसंकल्प को दूर करने का उपदेश। (२) मन को सन्मार्ग में लगाने का उत्तम उपाय। ईश्वराराधन में कल्याण-दर्शन। (३) दूर करने योग्य बुरी वासनाएं। (४) पारस्परिक द्रोह भाव को दूर करने की प्रार्थना। (६) विजय और सफलता की भावना। (पृ० ६२४–६२६)

सू० [१६५]—कपोतोपहति पर वैश्वदेव प्रायश्चित्त। वक्ता का ठीक तात्पर्य दर्शाने वाला चतुर दूत वा उपदेष्टा कपोत। उसके आदर सत्कार का उपदेश। (२) परदूतों का आदर-सत्कार करने का

उपदेश। (३) दूत सदा प्रजा की सुख शान्ति का ध्यान रखें। ऊलूक और कपोत दो प्रकार के दूतों का वर्णन, उनके लक्षण और भेद। (५) कपोत वर्ग के दूत के साथ व्यवहार का उपदेश। (पृ० ६२६–६२९)

सू० [१६६]—सपत्नघ्न सूक्त। सर्वश्रेष्ठ होने की प्रार्थना। (२) स्वयं अहिंसक होकर शत्रु को पददलित करने का संकल्प। (३) शस्त्र-बल और मन्त्र-बल दोनों से शत्रु को अधीन करने का उपदेश। (४) शत्रु वा प्रजा के समान कर्मों वा समितियों आदि पर राजा को वश करने का उपदेश। (५) राजा को शिरोमणि होने का उपदेश। जलों में मेंडक के तुल्य सर्वोपरि और स्वच्छन्द, निर्भय होने का उपदेश। (पृ० ६२९–६३१)

सू० [१६७]—इन्द्र और लिङ्गोक्त देवता। राजा के समान आत्मा का वर्णन। (२) विजयी आत्मा से समस्त कामनाओं की पूर्त्ति की अभिलाषा। (३) सर्वशासक प्रभु के अधीन रह कर हम सब ऐश्वर्य का भोग करें। (४) आत्मा को स्वच्छ कर उसके दर्शन का उपदेश। (पृ० ६३१–६३३)

सू० [१६८]—वायु। वायुवत् महारथी का वर्णन। (२) वायु और स्त्रियों के तुल्य सेनापति और सेनाओं के कर्त्तव्य। अध्यात्म में आत्मा और प्राणों का वर्णन। (३) वायुवत् तेजस्वी राजा का वर्णन। (४) प्राणात्मा का वर्णन। परमेश्वर के पक्ष में योजना का स्पष्टीकरण। (पृ० ६३३–६३६)

सू० [१६९]—गौएं। गो-सम्पत्ति के प्रति शुभ कामना। परमेश्वर से उनके लिये सुख दया याचना। श्लेष से गौओं, भूमियों का वर्णन। पक्षान्तर में आचार्य की वाणियों का वर्णन। (४) प्रभु से गौओं, वाणियों द्वारा उत्तम ज्ञान, सन्तान, सुख आदि की याचना। (पृ० ६३६–६३८)

सू० [१७०]—सूर्यवत् प्रभु से पोषण की प्रार्थना। (२) ज्योतिर्मय प्रभु का वर्णन। (पृ० ६३८–६४०)

सू० [१७१]—इन्द्र । प्रभु से रक्षा की प्रार्थना । (२) प्रभु से दुष्टों को दण्ड देने की प्रार्थना । (४) गिरे को पुनः उठाने की प्रार्थना । (पृ० ६४०–६४१)

सू० [१७२]—उषा । उत्तम गृहिणी के कर्त्तव्यों का उपदेश । गृहस्थ यज्ञ का उपदेश । (३) प्रजातन्तु को धारण करने का उपदेश । स्त्री को उषावत् गृह को सुप्रसन्न बनाए रखने का उपदेश । (पृ० ६४१–६४२)

सू० [१७३]—राजा की स्तुति । राजा का सर्वत्र भ्रमण, उसकी स्थापना उसका द्रढीकरण । राजा को स्थिर, दृढ़ होने का उपदेश । (३) उसको उत्तम वेदज्ञ का उपदेश । (४) प्रजाओं के धारक राजा को ध्रुव होने का उपदेश । (५) राष्ट्र के धारण करने वाले पुरुष का वर्णन । (६) राजा के सहयोगी बलाध्यक्ष का कर्त्तव्य । (पृ० ६४२–६४४)

सू० [१७४]—राजा की स्तुति । अभीवर्त्त हविष् का वर्णन । राज्यकर्म के साधक सेनापति, महारथ, सैन्यादि अभीवर्त्त हैं । (२) उनके है कर्त्तव्य, प्रयाण । (३) राजा का अभीवर्त्त स्वरूप । (४) शत्रु-रहित ऐश्वर्य होने का साधन । (५) शत्रु पराजयकारी होने का लक्ष्य । भीतरी ६ शत्रुओं पर विजय का उपदेश । सूक्त की अध्यात्म योजना । (पृ० ६४५–६४७)

सू० [१७५]—ग्रावगण । उत्तम विद्वानों और वीरों के कर्त्तव्य । वे योग्य पदों पर नियुक्त हों । (२) वे अज्ञान और दुर्बुद्धि का नाश करें, बल धारण करें । (४) प्रजा के हितार्थ राजा उन वीरों विद्वानों को सन्मार्ग में चलावे । (पृ० ६४७–६४८)

सू० [१७६]—ऋभुगण । सूर्य की किरणों के तुल्य विद्वानों के

कर्त्तव्य का वर्णन । (२-३) अग्नि जातवेदा । वेदज्ञ विद्वान् का अग्नि के समान वर्णन । (पृ० ६४७—६५०)

सू० [१७७]—माया-भेद । जगन्निर्मात्री शक्ति से व्यक्त हुए परमेश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार । (२) आत्मा का वर्णन । उसका गुरु द्वारा शिष्य को उपदेश । रक्षक प्रभु वा आत्मा का दर्शन । (पृ० ६५०—६५२)

सू० [१७८]—तार्क्ष्य । विद्युत्-तत्त्व का निरूपण । पक्षान्तर में योग्य नेता का वर्णन। प्रभु के तुल्य गुण। विद्युत् के द्वारा यन्त्रों का प्रयोग उनसे आकाश स्थलादि का विवरण । अतिशीघ्र अदम्य वेगवान् विद्युत् का वर्णन । पक्षान्तर में तार्क्ष्य आत्मा । पांच कृष्टि पांच इन्द्रियगण । शर्या युवति का रहस्य । (पृ० ६५२—६५४)

सू० [१७९]—इन्द्र । राजा के कर की व्यवस्था । (२) राजा का मित्र राजाओं के साथ व्यवहार । गृहस्थ की भोजन-व्यवस्था । (३) मध्याह्न सूर्यवत् राजा के कर-ग्रहण का प्रकार । (पृ० ६५४—६५५)

सू० [१८०]—इन्द्र । राजा का शत्रु-विजय । (२) शत्रुनाश का प्रकार । (पृ० ६५५—६५९)

सू० [१८१]—विश्वेदेव । मेघ से विद्युत् आदि प्राप्ति का उपदेश । ज्ञान-पक्ष में गुरु से विद्या प्राप्ति का उपदेश । (२-३) प्रभु और गुरुओं से ज्ञान-प्राप्ति । (पृ० ६५७—६५८)

सू० [१८२]—बृहस्पति । महान् ब्रह्माण्ड के प्रभु से संकटमोचन की प्रार्थना । इसी प्रकार राज्यपालक प्रभु के कर्त्तव्य । (२) मार्ग-दर्शक के कर्त्तव्य । अग्रणी नेता के कर्त्तव्य । (पृ० ६५९—६६०)

सू० [१८३]—यजमान पत्नी । होत्राशिषः । (१-२) पुत्र-कामना

वाले पति और पत्नी के परस्पर उत्तम पुत्र-प्राप्ति के आदेश । जाया का स्वरूप । (३) पति का सन्तानोत्पत्ति का कर्त्तव्य । (पृ० ६६०–६६२)

सू० [१८४]—विष्णु आदि लिङ्गोक्त देवता । पुत्रोत्पादक पुरुष के कर्त्तव्य । (२) गर्भधारण करने वाली स्त्री और वीर्याधानकर्त्ता पुरुष के गर्भाधान-कालिक कर्त्तव्य । सिनीवाली की निरुक्ति । (३) दो अरणियों के तुल्य पति-पत्नि का अग्निवत् पुत्रोत्पादन का कार्य । (पृ० ६६२–६६३)

सू० [१८५]—अदिति । स्वस्त्ययन सूक्त । मित्र, अर्यमा, वरुण आदि से रक्षित तेजस्वी पुरुष का प्रखर तेज और बल । शत्रु आदि की उसके प्रति तुच्छता । (पृ० ६६३–६६४)

सू० [१८६]—वायु । वायु के सदृश परमात्मा प्रभु का वर्णन । (२) परमात्मा पिता, भ्राता, सखा, आदि की भावना । (३) प्रभु अमृत का निधि । (पृ० ६६४–६६५)

सू० [१८७]—अग्नि । उदार प्रभु की उपासना का उपदेश । परमपार प्रभु । (२-३) बलशाली सुखों का वर्षक, दुष्टनाशक प्रभु । सर्वद्रष्टा प्रभु । निरञ्जन, स्वयंप्रकाश प्रभु । वह हमें पापों से पार करे । (पृ० ६६५–६६७)

सू० [१८८]—जातवेदा अग्नि । आत्मा और परमात्मा की उपासना (२) देह-धारण-शील आत्मा का वर्णन । विप्र वीर प्रभु की उपासना । (३) जातवेदा आत्मा का वर्णन । (पृ० ६६७–६६८)

सू० [१८९]—सार्पराज्ञी और सूर्य । चन्द्र, पृथिवी आदि लोकों का भ्रमण । उनकी गोवत्सादि से उपमा । अध्यात्म में ज्ञानार्थी को प्रभु की शरण-ग्रहण । (२) प्रभु का शक्तिप्रकाश । आत्मा के प्राणापान कर्म । (३) सूर्य के ३० धाम । अध्यात्म योजना । (पृ० ६६८–६७०)

सू० [१९०]—भाववृत्त । अघमर्षण सूक्त । तप से ऋत, सत्य की उत्पत्ति । उससे जगत् का प्रादुर्भाव । प्रभु का अनादि प्रवाहयुक्त जगत्सर्ग (पृ० ६७०–६७१)

सू० [१९१]—अग्नि । संज्ञान । प्रभु का वेदवाणी रूप में प्रकाश । ऐश्वर्यों की याचना । (२) मनुष्यों को मिलकर चलने, एक समान मन वाणी रखने, और एक समान देवोपासना करने आदि का उपदेश । (३-४) सबके विचार, संगति, ज्ञान, संकल्प, मन के अभिप्राय, हृदय और बैठना आदि सब एक समान रहने का उपदेश । (पृ० ६७१–६७३) इत्यष्टमोऽध्यायः । इत्यष्टमोष्टकः ॥ इति दशमं मण्डलम् ॥

इति ऋग्वेद-विषयसूची समाप्ता ॥

भाष्यकर्त्तुरुपसंहारवचनम् (१-२)

शुद्धि-पत्रम्

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
१०	१५	(वनीवानाः)	(वनीवानः)
१७	१६	स्नेहमया	स्नेहमयी ।
४५	८	(तत् मोघं न)	(तत् मोघं)
५७	१८	मापु	मो पु
,,	२१	मा सु	मो सु
६८	१५	करे ।	करे तो
७२	१९	(होतुः)	(होतः)
८०	५	बनकर	खनकर
,,	७	(बलम्)	(वलम्)
९०	१०	(दुर्वित्राम्)	(दुर्विदत्राम्)
७६	१०	पोपक	पोषक
१०३	०	अ० ५ । सू० १० । ६	अ० ५ । सू० ६५ । ६ ॥
१०८	६	वाला	वाली
११६	१९	(नः)	(नः पिता)
१३९	१९	मण्डिलियों	मण्डलियों
१५४	१९	तर्कावितर्क	तर्कवितर्क
१६१	१४	(य)	(यत्)
१७२	१४	प्रकाशमान्	प्रकाशमान
२१३	१७	ऋत्	ऋत
२२४	७	(चक्षुः पिता)	(चक्षुषः पिता)

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
२३८	३	'सरि'	'सरिर'
२४१	१८	साम	सोम
२८५	६	यातुधानान्	यातुधानात्
३००	१९	अतनयन्	अजनयन्
,,	२३	(बहन्तं तविषम्) महान् बलवान् है ।	(बृहन्तं तविषं अमिनत्) महान् बलवान् जाना जाता है ।
३०४	०	४०४	३०४
३४७	२४	भगनीवत्	भगिनीवत्
३५९	१४	पति पत्नी	पति पत्नी को
३७९	१८	ग्राणियों	प्राणियों
४००	०	४४०	४००
४०५	१५	सारथी	साथी
४१४	२१	भेदक !	भेदक
४२३	७	जगत् को देह में बसाने	जगत् को बसाने वा देह में बसने
२६२	१४	उाच्चरण	उच्चारण
५०९	१८	पपहुंचती	पहुंचती
५१२	१०	मोमानां	सोमानां
५२४	४	सौभराः	सौभरो
५२५	२१	पद्वयं	पदद्वयं
५३१	६	(अधिधराजं)	(अधिराजम्)
५३३	८	तपस्	तमस्
५५०	५	करें ।	करें और (मन्त्रश्रुत्यं चरामसि) वेद मन्त्रों के उपदेशानुसार विचारपूर्वक आचरण करें ।

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
५६०	८	सख्थेषु	सख्येषु
५७६	७	बता	बना
५८३	१५	भूत्व	भूत्वी
६३९	११	(जज्ञे प्रकट	(जज्ञे) प्रकट
६४१	४	मनुष्य के	मनुष्य को
६६०	२	व्यास्या	व्याख्या

टि०—(१) वर्ग, पूर्ण, अभ्यर्थना, सूर्य, अर्णव, वर्षण, आकर्षण, समर्थ, विथुर्यति, प्रार्थना, सर्व, मार्ग, अनर्थ, ऐश्वर्य आदि शब्दों में रकार सहित अक्षरों में कहीं २ (ॅ) मात्र शेष रह गया है वहां पूर्ण शब्द ऊहा से जान लेना।

(२) संदृश, वीरं, सुसंगत आदि शब्दों में अनुस्वार सहित अक्षरों में कहीं २ (ं) शेष रहा है वहां भी पूर्ण अक्षर जानना।

अवशिष्टांश

[पृ० २८६ सू० ८७। मन्त्र १२ का भाष्य]

भा०—(देवाः) युद्ध विजयी, विजिगीषु वीर पुरुष (अद्य) आज, तुरन्त (वृजिनं) पापाचारी पुरुष को (पराश्रृणन्त) दूर से ही नाश करें। वे (तृष्टाः) अति तीक्ष्ण होकर (शपथा) आक्रोश, निन्दा-योग्य वचन कहते हुए (एनं प्रत्यक् यन्तु) इसके प्रति आक्रमण करें। (वाचास्तेनं) वाणी द्वारा अन्य के सत्य पक्ष आदि का लोप कर चोरी करने वा वाणी द्वारा आक्रमण करने वाले को (मर्मन्) उसके मर्मस्थल पर (शरवः) अनेक पीड़ादायक बाण (ऋच्छन्तु) प्राप्त हों। (यातुधानः) पीड़ादायक साधनों का प्रयोग करने वाला पुरुष (विश्वस्य) सबके हितार्थ (प्रसितिम् एतु) अच्छे दृढ़ बन्धन को प्राप्त हो।

॥ ओ३म् ॥

ऋग्वेद-संहिता

अथाष्टमेऽष्टके प्रथमोऽध्यायः ।

(दशमे मण्डले चतुर्थेऽनुवाके)

[४६]

वत्सप्रिर्ऋषिः ॥ अग्निर्देवता ॥ छन्दः—१, २ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ३, ५ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ४, ८, १० त्रिष्टुप् । ६ आर्ची भुरिक् त्रिष्टुप् । ७ विराट् त्रिष्टुप् । ९ निचृत् त्रिष्टुप् ॥ दशर्चं सूक्तम् ॥

प्र होता॑ जा॒तो म॒हान्न॑भो॒विन्नृ॒षद्वा॑ सीदद॒पामु॒पस्थे॑ ।
दधि॒र्यो धायि॒ स ते॒ वयां॑सि य॒न्ता वसू॑नि विध॒ते त॑नू॒पाः ॥ १ ॥

भा०—(यः) जो अग्नि (महान्) गुणों और बलों में महान्, (होता) होम का करने वाला, अपने में ग्रहण करने और अन्यों को देने वाला, सब को अपने प्रति आदरपूर्वक बुलाने वाला, (नभः-वित्) अग्नि के तुल्य आदित्य तक का ज्ञान कराने वाला, वा न प्रकट होने वाले अज्ञान, अविदित, अव्यक्त, अन्धकार-अज्ञान में छुपे तत्वों को भी जानने और अन्यों को बतलाने वाला, (नृसद्वा) प्राणों के बीच आत्मा और मनुष्यों के बीच

राजा के समान समस्त मनुष्यों के बीच सखा और शास्ता रूप से विराजमान होकर (अपाम् उपस्थे सीदत्) जलों के ऊपर नौकावत् सर्वतारक होकर समस्त लोकों के ऊपर अध्यक्षवत् विराजता है, (यः दधिः धायि) जो सबको धारण करने वाले रूप से स्थापित है। (सः) वह (ते) तुझे (वयांसि) ज्ञानों, नाना बलों और जीवनों को (यन्ता) देने वाला और सब को नियम में रखने वाला, सर्व-व्यवस्थापक है। वह ही (वसूनि) नाना लोक और ऐश्वर्य भी (विधते) कर्म करने वाले भक्त जीव को देनेहारा है। वही (तनूपाः) सबके देहों का पालन करने वाला है।

इमं विधन्तो अपां सधस्थे पशुं न नष्टं पदैरनु ग्मन्।
गुहा चतन्तमुशिजो नमोभिरिच्छन्तो धीरा भृगवोऽविन्दन् ॥२॥

भा०—जिस प्रकार यज्ञ में विद्वान् लोग जलों के समीप यज्ञाग्नि को उत्पन्न कर उसकी परिचर्या करते हैं ठीक इसी प्रकार (इमं) इस आत्मा को (अपां सधस्थे) लोकों, प्रकृति के सूक्ष्म २ परमाणुओं के साथ २ और आत्मा को देह में रक्त-नाड़ियों में बहते रुधिर के साथ २ (विधन्तः) विशेष रूप से विधान, परिचरण आदि करते हुए, (नष्टम् पशुं न पदैः) खोये पशु को जिस प्रकार उसके चरण-चिन्हों से उसके पीछे २ जाते और पता लगाते हैं उसी प्रकार (नष्टं) सर्वव्यापक, वा आंखों से ओझल, अदृश्य, (पशुं) सर्वजगत् के द्रष्टा, प्रभु और आत्मा को (पदैः) वेद-प्रतिपादित ज्ञानमय पदों, वचनों से (अनु ग्मन्) मनन, दर्शन और निदिध्यासन आदि ज्ञान-साधनों से भी अनुक्रम से ज्ञान करते हैं। (उशिजः) उसके चाहने वाले, उसके प्रेमी भक्त, (गुहा चतन्तं) गुहा में, वाणी, और हृदय में गुप्त रूप से विद्यमान को (नमोभिः) नमन, विनययुक्त वचनों से (इच्छन्तः) चाहते हुए (धीराः) धीर, बुद्धिमान्, (भृगवः) समस्त पापों को भून देने वाले, तपस्वी जन (अनु अविन्दन्) अनेक साधनों के पश्चात् प्राप्त करते हैं।

इमं त्रितो भूर्यविन्दद्दिच्छन्वैभूवसो मूर्धन्यघ्न्यायाः।
स शेवृधो जात आ हर्म्येषु नाभिर्युवा भवति रोचनस्य ॥ ३ ॥

भा०—(इमं) इस ज्ञानमय, परम अग्नि को (वैभूवसः) व्यापक महान् शक्तिमान् प्रभु में बसने वाला, (त्रितः) तीनों लोकों, वेदों और अपने तीन जन्मों को जानने वाला वा तीनों दुःखों से पार उतरा हुआ मुक्त जीव, (इच्छन्) चाहता हुआ ही उसे (भूरि) बहुत २ (अविन्दत्) पा लेता है। तब (सः) वह (शेवृधः) उस शान्तिमय प्रभु में शक्ति से बढ़कर शक्तिशाली होकर (हर्म्येषु जातः) बड़े २ प्रासादों में उत्पन्न राजपुत्र के तुल्य बड़े २ लोकों में भी (युवा) बलवान् युवावत् होकर (रोचनस्य) अति तेज का (नाभिः) सूर्यवत् केन्द्र होजाता है।

मन्द्रं होतारमुशिजो नमोभिः प्राञ्चं यज्ञं नेतारमध्वराणाम्।
विशामकृण्वन्नरतिं पावकं हव्यवाहं दधतो मानुषेषु ॥ ४ ॥

भा०—(मन्द्रम्) अति आनन्ददायक, (होतारम्) सब को सुख देने वाले, सबको अपने भीतर लेने और अपने प्रति बुलाने वाले, (प्राञ्चम्) अति पूज्य, (यज्ञम्) सर्वदाता, सर्वोपास्य, सत्सङ्ग के योग्य, (अध्वराणां नेतारम्) न नष्ट होने वाले, नित्य तत्व के सञ्चालन करने वाले, (विशाम्) देह में प्रवेश करने वाले समस्त जीव-प्रजाओं के (अरतिम्) स्वामी, (पावकं) परम पावन, (हव्यवाहं) ग्राह्य विषय रूप जगत् को अपने शक्ति सामर्थ्य से उठाने और सञ्चालन करने वाले प्रभु को (मानुषेषु) मननशील पुरुषों के बीच में, वेदि में यज्ञाग्निवत् धारण स्थापन करने वाले (उशिजः) वशी, उसके चाहने वाले विद्वान् जन उसको (नमोभिः) विनययुक्त वचनों से (प्राञ्चं) प्रकट, व्यक्त, साक्षात् कर लेते हैं। उसी प्रकार हम भी करें।

प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरा अमूरं पुरां दर्माणम् ।
नयन्तो गर्भं वनां धियं धुर्हिरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चम् ॥ ५ ॥ १ ॥

भा०—(भूः-जयन्तं) समस्त भुवनों को अपने वश करने वाले, विजेता राजावत्, (महान्) बड़े, (विपः-धाम्) नाना ज्ञानों और कर्मों को धारण करने वाले, (अमूरम्) कभी मृत्यु, नाश या मोह को प्राप्त न होने वाले, (पुरां दर्माणाम्) देहादि पुरों और नाना लोकों को भी प्रलय या मोक्षावसर में तोड़ने वाले, (गर्भम्) सब को अपने भीतर ग्रहण करने वाले, (वनाम्) परम सेवनीय, वा (वनां गर्भम्) तेजों के धारक, सूर्यवत् हिरण्यगर्भ, (हिरि-श्मश्रुम्) अति मनोहर, लोमवत् तेजों वाले, तेजस्वी, (अर्वाणं न धनर्चम्) अश्व के तुल्य शत्रुहिंसक, वीर के तुल्य धनैश्वर्यों से अर्चनीय, पूजनीय, उस प्रभु को लक्ष्य कर उसी की ओर (धियं नयन्तः) अपनी स्तुति और बुद्धि को लेजाते हुए (मूराः) नाशवान् प्राणी, एवं मोही अज्ञानी लोग उसको ही अपने में (धुः) धारण करें ॥ इति प्रथमो वर्गः ॥

नि पस्त्यासु त्रितः स्तभूयन्परिवीतो योनौ सीददन्तः ।
अतः सङ्गृभ्या विशां दमूना विधर्मणायन्त्रैरीयते नॄन् ॥ ६ ॥

भा०—(त्रितः) जिस प्रकार तीनों ऋणों से बद्ध माता पिता और गुरु इन के बीच स्थित, शिष्य (पस्त्यासु) गृहों के बीच, (स्तभूयन्) अपने बल, वीर्य और इन्द्रियों का स्तम्भन अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करने की इच्छा करता हुआ (योनौ) आचार्य गृह में, योनि अर्थात् मातृगर्भ में बालक के समान (परि-वीतः) सुरक्षित, यज्ञोपवीत से युक्त वा मेखला, अजिन से उपवीत होकर (अन्तः सीदन्) विद्या-गृह या गुरुगृह में रहता है और (अतः संगृभ्य) वहां से ज्ञान को भली प्रकार सञ्चय करके, (दमूनाः) इन्द्रिय और चित्त को वश करके, (विशाम् वि-धर्मणा) प्रजाओं

के बीच विशेष धर्म से (अयन्त्रैः) विशेष यन्त्रणा और नियन्त्रणों के विना ही (नॄन्) पूर्व नेता, माता पिता आदि के प्रति ले जाया जाता है, उसी प्रकार यह जीव रूप अग्नि, (पस्त्यासु) प्राणों के बीच या गृहवत् इन देहों में (स्तभूयन्) अपने को स्थिर करने की इच्छा करता हुआ, (योनौ परि-वीतः सीदत्) मातृगर्भ में चारों ओर से जेर से आवृत होकर नगर या कोट आदि से घिरे राजा के समान घिर जाता है। वह चित्त वा इन्द्रिय-सामर्थ्यों को एकत्र कर (वि-धर्मणा) विशेष धारक प्रयत्न से (अयन्त्रैः) विना पीड़ा के ही (नॄन् ईयते) प्राणों को प्राप्त कर लेता है। कला कौशल पक्ष में-'त्रित नाम' अग्नि तीन स्थानों पर है सूर्य, विद्युत् और अग्नि। वह अपने (योनौ) मूलकारण या आश्रय रूप विद्युद्-घट आदि में सुरक्षित होकर भीतर रहता है। वह विशेष धारण-प्रयत्न से जलों से संग्रह किया जाकर (यन्त्रैः) यन्त्रों द्वारा चालक साधनों को प्राप्त करता है। 'यन्त्रैः' इति पदपाठः सायणाभिमतः ॥ 'अयन्त्रैः' इति पदपाठः शाकलाभिमतः।

अस्याजरासो दमामरित्रा अर्चद्धूमासो अग्नयः पावकाः।
श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः॥७॥

भा०—(अस्य) इसको अग्निवत् तेजस्वी विद्वान् पुरुष के अधीन, अन्य (अग्नयः) अग्निवत् तेजस्वी, और देह में विनय से झुकने वाले शिष्यों के तुल्य विनयी, (अजरासः) जरावस्था से रहित, युवा वा कुमार (दमाम् अरित्राः) दमन करने योग्य कर्त्तव्यों, प्रजाओं के बीच, (अरित्राः) नाव के चप्पुओं के तुल्य कार्यसाधक, वा (अरित्राः) शत्रुओं से बचाने वाले, (अर्चद्-धूमासः) अग्नियों ज्वालाओं के तुल्य धूमवत् शत्रुओं को कंपाने वाले, बल की अर्चना-याचना करने वाले, (पावकाः) देहवत् राष्ट्र के शोधन करने वाले, (श्वितीचयः) शुद्ध ज्ञान, यश वा द्रव्य

का सञ्चय करने वाले, (ध्रात्रासः) अति क्षिप्रकारी, अप्रमादी, (भुरण्यवः) प्रजाओं के पालक (वनः-सदः) ऐश्वर्यों और वनों में विराजने वाले, (वायवः) वायु तुल्य बलवान् एवं (सोमाः) दीक्षाभिषिक्त जनों के तुल्य वीर्यवान्, विद्यादि से स्नात, पदाभिषिक्त नाना पुरुष हों।

प्र जि॒ह्वया॑ भरते॒ वेपो॑ अ॒ग्निः प्र व॒युना॑नि॒ चेत॑सा पृथि॒व्याः।
तमा॒यवः॑ शुचय॑न्तं पाव॒कं म॒न्द्रं होता॑रं दधिरे॒ यजि॑ष्ठम् ॥ ८ ॥

भा०—जो (अग्निः) अग्निवत् तेजस्वी पुरुष, विद्वान्, वा नायक (जिह्वया) वाणी द्वारा (वेपः प्र भरते) कर्म और ज्ञान को धारण कराता है और (पृथिव्याः वयुनानि) पृथिवी के ज्ञानों को (चेतसा प्र भरते) अपने चित्त वा ज्ञान से धारण करता है, (तम्) उस (पावकम्) परम पावन (मन्द्रम्) अति स्तुत्य, हर्षदायी, (होतारम्) सर्वैश्वर्यों के दाता, (यजिष्ठम्) अति पूजनीय को देववत् (आयवः) समस्त मनुष्य (दधिरे) धारण करते हैं वा करें।

द्यावा॒ यम॒ग्निं पृ॑थि॒वी जनि॑ष्टा॒मापस्त्वष्टा॒ भृग॑वो॒ यं सहो॑भिः।
ई॒ळेन्यं॑ प्रथ॒मं मा॑त॒रिश्वा॑ दे॒वास्त॑तक्षु॒र्मन॑वे॒ यज॑त्रम् ॥ ९ ॥

भा०—(यम्) जिस (अग्निम्) अग्निवत् तेजस्वी, ज्ञानी पुरुष को (द्यावा पृथिवी जनिष्टाम्) आकाश और सूर्य जतलाते, बतलाते वा प्रकट करते हैं, और (यं) जिसको (सहोभिः) सब को पराजित करने वाले बलों, तेजों से (आपः) जल, प्राण, समुद्रादि, और आप्तजन, (त्वष्टा) सूर्य आदि तेजस्वी पुरुष और (भृगवः) पापों को भूनने वाले तपस्वी जन (जनिषत) प्रकट करते हैं और (मातरिश्वा) आकाश में चलने वाला वायु जिसको प्रकट करता है, उस (ईडेन्यं) सर्वस्तुत्य, (प्रथमं) मुख्य, (यजत्रम्) सर्वोपास्य को (देवाः) समस्त विद्वान्

वा समस्त सूर्य आदि देवगण, (मनवे) मनुष्य के हितार्थ (ततक्षुः) खोलकर बतलाते हैं।

यं त्वा देवा दधिरे हव्यवाहं पुरुस्पृहो मानुषासो यजत्रम्।
स यामन्नग्ने स्तुवते वयो धाः प्र देवयन् यशसः सं हि पूर्वीः॥१०॥२

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन्! ज्ञानवन्! प्रभो! आत्मन्! (यं) जिसको सूर्य की (देवाः) किरण तुल्य समस्त सूर्य पृथिवी आदि देवगण वा प्राणगण (पुरु-स्पृहः) अति स्नेहयुक्त होकर (देवाः मानुषासः) नाना विजयादि कामना करते हुए मननशील जन (यजत्रं दधिरे) उपास्य, सर्वदाता रूप से स्थापित करते हैं। (सः) वह तू (यामन्) इस महान् पथ अर्थात् जीवन वा शासन में (वयः धाः) दीर्घजीवन और बल धारण करा। वह (देवयन्) देव को चाहता हुआ भक्त (पूर्वीः यशसः) पूर्व की समस्त यशोवृद्धियों को (सं) इसी प्रकार प्राप्त हो। इति द्वितीयो वर्गः॥

[४७]

ऋषिः सप्तगुः॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः॥ छन्दः—१, ४, ७ त्रिष्टुप्। २ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप्। ३ भुरिक् त्रिष्टुप्। ५, ६, ८ निचृत् त्रिष्टुप्॥ अष्टर्चं सूक्तम्॥

जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः १

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! प्रभो! हे शत्रुनाशक राजन्! हम लोग (ते) तेरे (दक्षिणम्) दानशील, बलवान् एवं दायें (हस्ते) हाथ को (जगृभ्म) ग्रहण करते हैं, उसका अवलम्ब लेते हैं। हे (वसूनां वसुपते) समस्त लोकों, जीवों और धनैश्वर्यों के मालिक! हम

(वसूयवः) नाना लोकों और ऐश्वर्यों को चाहने वाले, जीवगण हे (शूर) दुःखों और दुष्टों के नाश करने हारे प्रभो! तुझको (गोनां गोपतिं विद्म) समस्त सूर्यों, वाणियों और भूमियों, रश्मियों और जीवों का गोपति, पालक, रक्षक करके जानते हैं। (अस्मभ्यं) हमें तू (चित्रं) अद्भुत, संग्राह्य, (वृषणं) सर्व-सुखवर्षक (रयिं दाः) ऐश्वर्य प्रदान कर।

स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुः समुद्रं धरुणं रयीणाम्।
चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ २ ॥

भा०—हे प्रभो ! हे राजन् ! हम तुझे (सु-आयुधम्) दुष्टों को भली प्रकार ताड़ना देनेहारा, उत्तम मनन साधनों से सम्पन्न, (सु-अव-सम्) उत्तम रक्षा करनेहारा, (सु-नीथम्) उत्तम नीति और उत्तम वाणी का ज्ञाता, (चतुः-समुद्रम्) चारों समुद्रों का शासक, (रयीगां धरुणम्) समस्त ऐश्वर्यों का आश्रय, (चर्कृत्यम्) समस्त जगत् का बनाने वाला, (शंस्यम्) प्रशंसनीय वा सर्वोपदेष्टा, (भूरि-वारम्) बहुत से कष्टों वा दुष्टों का वारण करने वाला जानते हैं। तू (अस्मभ्यं) हमें (वृषणं चित्रं रयिं दाः) सर्वसुखवर्षी, अद्भुत, संग्रह योग्य ऐश्वर्य प्रदान कर। इन सब द्वितीयान्त पदों के साथ 'विद्म' क्रिया का सम्बन्ध करना चाहिये।

सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र।
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥३॥

भा०—हे (इन्द्र) प्रभो ! हे वीर राजन् ! हम तुझे (सु-ब्रह्माणं) उत्तम, महान्, स्वामी, चारों वेदों का जानने वाला, (देववन्तम्) लोकों, दिव्य पदार्थों और देवों, विद्वानों का स्वामी, (बृहन्तम्) महान्, (उरुं) बड़ा भारी, (गभीरं) गंभीर, अगाध, (पृथु-बुध्नम्) विशाल आश्रय

वाला (श्रुत-ऋषिम्) ज्ञानदर्शी गुरु, शिष्यों द्वारा श्रवण करने योग्य वा, ऋषिजनों के ज्ञानों का श्रवण करने वाला, बहुश्रुत, (उग्रम्) दुष्टों को भय देने वाला, (अभिमाति-सहम्) अभिमानी, दुष्टों का मद चूर्ण करने वाला जानते हैं। ऐसे २ उक्त विशेषणों से युक्त तुझ को हम सदा पावें। तू (अस्मभ्यं) हमें (चित्रं वृषणं रयिं दाः) ज्ञानप्रद, सुखप्रद धनैश्वर्य दे।

सनद्वाजं विप्रवीरं तरुत्रं धनस्पृतं शूशुवांसं सुदक्षम्।
दस्युहनं पूर्भिदमिन्द्र सत्यमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! ऐश्वर्यप्रद ! हम तुझे (सनद्-वाजं) ज्ञान-ऐश्वर्य, बल, वेग के देने वाला, (विप्रवीरं) विशेष, सर्वोत्कृष्ट बलवान्, परम मेधावी, (तरुत्रम्) भवसागर से तारने वाला, वृक्ष के समान त्राण करने वाला, (धन-स्पृतं) धन से पालने वाला, (शुशुवांसम्) सदा बढ़ने वाला, महान्, (सु-दक्षम्) उत्तम बलशाली, (दस्यु-हनम्) दुष्ट दस्युओं का नाश करने वाला, (पूः-भिदम्) शत्रु के नगरों को तोड़ने वाला, वा (पूर्भिदं) देहपुरी को तोड़कर जीव को मुक्त करने वाला, (सत्यं विद्म) सत्य ही जानते हैं। तू (अस्मभ्यम् चित्रं वृषणं रयिं दाः) हमें अद्भुत, सुखद धनैश्वर्य दे।

अश्वावन्तं रथिनं वीरवन्तं सहस्रिणं शतिनं वाजमिन्द्र।
भद्रव्रातं विप्रवीरं स्वर्षामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ५ ॥ ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! प्रभो ! स्वामिन् ! हम तुझे (अश्वावन्तं) अश्वों का स्वामी, समस्त जीवों का मालिक, (रथिनम्) रथी, महारथी, ब्रह्माण्ड रथ वा परमानन्द रस का स्वामी, (वीरवन्तं) वीरों, विद्वानों का स्वामी, (सहस्रिणं) बलवान्, हजारों जनों, धनों का स्वामी,

(शतिनं) शत २ जनों, धनों, ग्रामों, नगरों का स्वामी, (वाजम्) बलवान्, (भद्र-व्रातम्) कल्याणकारी जनसमूहों का नायक, (विप्रवीरं) अति उत्कृष्ट वीर वा मेधावी (स्वर्षाम्) सब को समस्त सुखदाता करके जानते हैं, तुझको हमारी मति स्तुति प्राप्त होती है, तू (अस्मभ्यं) हमें (चित्रं वृषणं रयिं दाः) अद्भुत, संग्राह्य, सर्वसुखवर्षी ऐश्वर्य प्रदान कर। इति तृतीयो व र्गः ॥

प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति।
य आङ्गिरसो नमसोपसद्योऽस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो (आङ्गिरसः) अग्नि के समान स्वप्रकाश, समस्त पदार्थों में बलस्वरूप, (नमसा उपसद्यः) विनयपूर्वक प्राप्त होने योग्य है उस (सप्त-गुम्) सात रश्मियों, सप्त प्राण सूर्य और आत्मा के सदृश विश्व के आत्मा, (ऋत-धीतिम्) सत्यकर्मा, सत्य ज्ञान के धारक, (सु-मेधाम्) उत्तम बुद्धि, ज्ञानवाणी और दुष्टनाशिनी शक्ति वाले, (बृहस्पतिम्) वेदवाणी और बड़ी भारी शक्ति और ब्रह्माण्ड के स्वामी प्रभु को (मतिः) ज्ञानवती बुद्धि या मननशील मनुष्य (अच्छ जिगाति) साक्षात् प्राप्त हो। हे प्रभो ! तू (अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः) हमें अद्भुत, सर्वसुखप्रद, बलशाली ऐश्वर्य दे।

वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः।
हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥७॥

भा०—(वनीवानाः) याचना, प्रार्थना से युक्त (सु-मतीः इयानाः) शुभ बुद्धियों को प्राप्त वा उनको चाहने वाले, (मम स्तोमाः) मेरे स्तुति-गण (दूतासः) स्तुतिशील दूतों के समान (हृदि-स्पृशः) हृदय में पहुंचे हुए, (मनसा) मन से, ज्ञानपूर्वक (वच्यमानाः) उच्चारण किये हुए, (इन्द्रं चरन्ति) उस ऐश्वर्यवान् प्रभु तक पहुंचें, हे प्रभो ! (अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः) हमें सर्व-सुखवर्षक, आश्चर्यकारी ऐश्वर्य प्रदान कर।

यत्त्वा यामि दद्धि तन्न इन्द्र बृहन्तं क्षयमसमं जनानाम् ।
अभि तद्द्यावापृथिवी गृणीतामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥८।४॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (त्वा यत् यामि) मैं तुझ से जिस पदार्थ की याचना करूं, तू (नः तत् दद्धि) हमें वह प्रदान कर । और तू हमें (बृहन्तं क्षयम्) बड़ा भारी ऐश्वर्य, (जनानां असमम्) जो समस्त जनों में सब से अधिक हो, दे । (तत् द्यावा पृथिवी अभि गृणीताम्) उसकी सूर्य और पृथिवी वा माता पिता, राजा, प्रजागण सर्वत्र स्तुति करें । (अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः) हमें सर्वसुखदायक अद्भुत, ज्ञानप्रद, बलयुक्त ऐश्वर्य प्रदान कर । इति चतुर्थो वर्गः ॥

[४८]

इन्द्रो वैकुण्ठ ऋषिः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—१, ३ पादनिचृज्जगती । २, ८ जगती । ४ निचृज्जगती । ५ विराड् जगती । ६, ६ आर्ची स्वराड् जगती । ७ विराट् त्रिष्टुप् । १०, ११ त्रिष्टुप् ॥ एकादशर्चं सूक्तम् ॥

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः ।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम् ॥१॥

भा०—परमेश्वर कहता है । (अहं) मैं (वसुनः) जिसमें समस्त जीव बस रहे हैं उस जगत् का (पूर्व्यः पतिः भुवं) सब से पूर्व, एवं पूर्ण पालक, स्वामी हूँ । (अहं) मैं (शश्वतः धनानि) अनेक धनों, ऐश्वर्यों को (सं जयामि) एक साथ सबसे अधिक विजय करता हूँ । सब ऐश्वर्यों का सर्वोपरि स्वामी हूँ । (जन्तवः) समस्त जन्तु, जीवगण (मां) मुझ को (पितरं न हवन्ते) माता पिता के समान और आदर भक्ति से बुलाते हैं । (अहं दाशुषे) मैं दानशील, आत्मसमर्पक भक्त वा दाता को

(भोजनम् वि भजामि) समस्त भोग्य ऐश्वर्य, अन्न और सर्व-पालक बल विशेष रूप से देता हूँ।

अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि।
अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमाददे गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने २

भा०—(अहम्) मैं (अथर्वणः) अहिंसक, विचारशील, सर्व-पालक जन को (रोधः) शत्रुओं के भी बाधक शक्तियों को भी रोक देने वाला बल (वक्षः) प्रदान करता हूँ। मैं (त्रिताय) तीनों आश्रमों में स्थित जनों को उपदेष्टावत् (गाः) वेदवाणियों को एवं तीन गुणों में बद्ध जीव के लिये नाना लोकों वा भूमियों को (अहेः अधि) सूर्य या मेघ पर आश्रित (अजनयम्) प्रकट करता हूँ। (अहम्) मैं (दस्युभ्यः) दुष्टों से (नृम्णम्) समस्त धन (आददे) ले लेता हूँ। और मैं (मातरिश्वने) माता के गर्भ में आने वाले (दधीचे) ध्यान-धारणावान् जीव को (गोत्रा शिक्षन्) इन्द्रियों वा वाणियों के प्रयोग की शिक्षा देता हूँ।

मह्यं त्वष्टा वज्रमतक्षदायसं मयि देवासोऽवृजन्नपि क्रतुम्।
ममानीकं सूर्यस्येव दुष्टरं मामार्यन्ति कृतेन कर्त्वेन च ॥ ३ ॥

भा०—(त्वष्टा) उत्तम शिल्पी, वा तेजस्वी जन वा सूर्यादि (मह्यम्) मेरे ही (वज्रम्) बल को (अतक्षत्) प्रकट करता है। (मयि) मेरे आश्रय होकर (देवासः) विद्वान् ज्ञानी जन (क्रतुम् अपि अवृजन्) अपने समस्त कर्म मेरे लिये त्यागते वा करते हैं। (मम अनीकम्) मेरा स्वरूप वा बल, (सूर्यस्य इव दुस्तरं) सू ् के समान दुस्तर, असह्य है। समस्त लोक (कृतेन कर्त्वेन च) किये सत् कर्म से (माम् आर्यन्ति) मुझे ही प्राप्त होते हैं।

अहमेतं गव्ययमश्व्यं पशुं पुरीषिणं सायकेना हिरण्ययम्।
परू सहस्रा नि शिशामि दाशुषे यन्मा सोमास उक्थिनो अमन्दिषुः ४

भा०—(यत्) जब (उक्थिनः सोमासः) उक्थ अर्थात् वेद-वचन को जानने वाले वीर्यवान्, उत्तम उपदेष्टा विद्वान् ब्रह्मचारी पुरुष (मा) मुझको (अमन्दिषुः) प्रसन्न करते, मुझ से प्रार्थना करते हैं तब मैं (पुरु सहस्रा) अनेक सहस्रों ऐश्वर्य (दाशुषे नि शिशामि) दानशील आत्मसमर्पक के लाभार्थ प्रदान करता हूँ। और (अहम्) मैं (एतं) इस (गव्ययम्) वाणियों, ज्ञानेन्द्रियों के स्वामी, वा स्वयं भोक्ता रूप, (पुरीषिणं) नाना ऐश्वर्यों के स्वामी रूप, (हिरण्ययम्) सुवर्णवत् उज्ज्वल तेजःस्वरूप (पशुं) द्रष्टा आत्मा को (सायकेन) बाण के समान तीक्ष्ण, अज्ञान का अन्त कर देने वाले ज्ञान से युक्त करता हूँ।

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन॥५॥

भा०—(अहम् इन्द्रः) मैं इन्द्र, ऐश्वर्यवान्, प्रभु (धनं न इत् परा जिग्ये) धन को कभी हार नहीं सकता। और (न मृत्यवे अव तस्थे) न मृत्यु के नीचे कभी अपने को हारा हुआ पाता हूँ। हे विद्वन्! जो आप लोग (सोमं सुन्वन्तः) सर्वोत्पादक, सर्वशासक प्रभु की उपासना करते हुए भी (मा इत् याचत) मुझ से नाना याचना किया करते हो। हे (पूरवः) मनुष्यो! आप लोग (मे सख्ये न रिषाथन) मेरे सख्य-भाव में रहके कभी विनाश को प्राप्त न होवो। इति पञ्चमो वर्गः॥

अहमेताञ्छाश्वसतो द्वाद्वेन्द्रं ये वज्रं युधयेऽकृण्वत।
आह्वयमानाँ अव हन्मनाहनं दृळ्हा वदन्ननमस्युर्नमस्विनः॥६॥

भा०—(ये) जो (द्वा-द्वा) दो दो मिलकर (युधये) युद्ध करने के लिये (इन्द्रं वज्रं) शत्रु के नाश करने वाले बल, वीर्य वा युद्धोपयोगी शस्त्र-समूह को (अकृण्वत) तैयार कर लेते हैं (एतान्) उन (शाश्वसतः)

सांस लेने वाले, (आ-ह्वयमानान्) दूसरों को ललकारने वाले, (नमस्विनः) शस्त्र बल से सम्पन्न जनों के प्रति भी कभी (अनमस्युः) न झुक कर (दृढ़ा वदन्) दृढ़ सत्य वचन कहता हुआ उनको (हन्मना) हनन करने वाले उपाय से (अव अहनम्) नीचे मार गिराता और दण्ड देता हूँ ।

अभी३दमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति ।
खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः ७

भा०—मैं (निः-षाट्) शत्रुओं को सर्वथा पराजित करने वाला (इदम् एकः एकम् अभि अस्मि) अकेला ही यह, एक के प्रति एक, पराजित करने में समर्थ हूँ । (एकम् माम् अभि) अकेले के प्रति (द्वा किमु त्रयः करिष्यन्ति) दो या तीन भी क्या कर सकेंगे ? मैं (पर्षान्) कठोर शत्रुओं को (खलेन) खलिहान में पड़े सूखे जौ गेहूं के पौदों के समान (भूरि प्रतिहन्मि) बहुतों को मुकाबले पर बहुत ताड़ित करूं । (अनिन्द्राः) ऐश्वर्यहीन, शत्रुनाशक स्वामी वा दृढ़ नायक से रहित (शत्रवः) शत्रु लोग (मा किं निन्दन्ति) मेरी क्या निन्दा करते हैं ?

अहं गुङ्गुभ्यो अतिथिग्वमिष्करमिषं न वृत्रतुरं विक्षु धारयम् ।
यत्पर्णयघ्न उत वा करञ्जहे प्राहं महे वृत्रहत्ये अशुश्रवि ॥ ८ ॥

भा०—(अहम्) मैं (गुंगुभ्यः) भूमि पर विचरने वाले जनों के हितार्थ उनमें से (अतिथिग्वम्) अतिथि के तुल्य आने वाले (इष्करम्) अन्न उत्पादक (वृत्र-तुरम्) विघ्नकारी के नाशक पुरुष को (इषं न) सेना के तुल्य (विक्षु) प्रजाओं के बीच (धारयम्) धारण करता हूं । (यत्) जिससे (पर्णयघ्ने) पालक पुरुष के नाश करने वाले (उत वा) और (करंजहे) सहायक वा करावलम्ब देने योग्य आश्रित का हाथ छोड़ देने वाले के विनाश के लिये (महे) बड़े भारी (वृत्र-हत्ये) दुष्ट के नाश के कार्य में मैं (अशुश्रवि) प्रसिद्ध होगया हूं ।

प्र मे नमी साप्य इषे भुजे भूद्गवामेषे सख्या कृणुत द्विता ।
दिद्युं यदस्य समिथेषु मंहयमादिदेनं शंस्यमुकथ्यं करम् ॥ ९ ॥

भा०—(मे) मेरे आगे (नमी) विनयशील पुरुष (साप्यः) समवाय बनाने में कुशल, संघ का हितैषी (इषे भुजे) अन्न बल को प्राप्त करने और भोगने के लिये और (गवाम् एषे) गौओं और वेदवाणियों को प्राप्त करने के लिये (प्र भूत्) खूब समर्थ होता है। हे विद्वान् पुरुष ! आप लोग भी (द्विता सख्या कृणुत) दो प्रकार की मित्रता किया करो। (यत्) जो मैं (अस्य समिथेषु) इसको संग्रामों के अवसर पर (दिद्युम् मंहयम्) शत्रुखण्डक बड़ा भारी बल वा शस्त्रास्त्र प्रदान करता हूं, (आत् इत् एनं शंस्यम् उक्थम् करम्) और अनन्तर इसको मैं अति स्तुत्य और प्रसिद्ध कर देता हूं। बल और यश दोनों के लिये मेरे से मित्रता करो।

प्रनेमस्मिन्ददृशे सोमो अन्तर्गोपा नेममाविरस्था कृणोति ।
स तिग्मशृङ्गं वृषभं युयुत्सन् द्रुहस्तस्थौ बहुले बद्धो अन्तः॥१०॥

भा०—(नेमस्मिन्) एक स्थान में (सोमः अन्तः प्र ददृशे) सोम, शासक भीतर दीखता है, और (नेमम्) दूसरे को वह (गोपाः) रक्षक अध्यक्ष (अस्था) अपने विक्षेपक बल से (आविः कृणोति) अपने को प्रकट करता है। (सः) वह (बहुले अन्तः बद्धः) बहुत भारी सैन्य के बीच बद्ध होकर भी (तिग्म-शृंगम् वृषभम् युयुत्सन्) तीखे सींग वाले बैल के समान शस्त्रास्त्र-सम्पन्न बलवान् शत्रु से युद्ध करता हुआ भी (द्रुहः) सब द्रोह युक्त भावों, वा पुरुषों को (तस्थौ) दबा कर उनपर विराजता है।

आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम ।
ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमषाळहम् ॥११॥६॥

भा०—मैं (आदित्यानां) भूमि वा सूर्य के पुत्र के तुल्य उसके उपासक,

(वसूनां) बसने वाले और (रुद्रियाणां) उत्तम उपदेष्टा, अन्यों की पीड़ा को हरने वाले, (देवानां) विद्वान् जनों के बीच (देवः) सर्वशक्तिप्रद होकर (धाम न मिनोमि) उनके तेज का नाश नहीं करता। वे (मा) मुझ को (भद्राय शवसे) कल्याण रूप सम्पादन के लिये (अपराजितं) अपराजित, (अस्तृतं) अहिंसित, (अषाढं) अतिरस्कृत रूप से (ततक्षुः) बनावें। इति षष्ठो व ः ॥

[४६]

इन्द्र वैकुण्ठ ऋषिः ॥ देवता—वैकुण्ठः । छन्दः—१ आर्ची भुरिग् जगती । ३, ९ विराड् जगती । ४ जगती । ५, ६, ८ निचृज्जगती । ७ आर्ची स्वराड् जगती । १० पादनिचृज्जगती । २ विराट् त्रिष्टुप् । ११ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् ॥ एकादशर्चं सूक्तम् ॥

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम् ।
अहं भुवं यजमानस्य चोदितायज्वनः साक्षि विश्वस्मिन्भरे ॥१॥

भा०—(अहं) मैं (गृणते) स्तुति करने हारे को (पूर्व्यं वसु दाम्) सनातन ऐश्वर्य, और निवास के योग्य लोक मोक्ष वा ज्ञान प्रदान करता हूं। (अहं ब्रह्म कृणवम्) मैं परम ब्रह्मज्ञान, वेद और इस महान् जगत् को उत्पन्न करता हूं। (मह्यं वर्धनम्) यह समस्त वेद मेरी ही महिमा वा वृद्धि करने वाला है। (अहं यजमानस्य चोदिता) यज्ञ और दान, सत्संग करने वाले को सन्मार्ग में आदेश करने वाला मैं ही हूं। मैं (विश्वस्मिन् भरे) समस्त युद्ध में (अयज्वनः) न देने वाले, कुसंगी, अयज्ञशील जनों को ही (साक्षि) पराजित करता, उनको दण्डित करता हूं।

मां धुरिन्द्रं नाम॑ दे॒वता॑ दि॒वश्च॒ ग्मश्चा॒पां च॑ ज॒न्तवः॑ ।
अ॒हं हरी॒ वृष॑णा॒ विव्र॑ता र॒घू अ॒हं वज्रं॒ शव॑से धृ॒ष्ण्वा द॑दे ॥२॥

भा०—(मां इन्द्रं) मुझ ऐश्वर्यवान् तेजस्वी को ही (दिवः ग्मः च अपां च) सूर्य पृथिवी, जल वा अन्तरिक्ष इन स्थानों के समस्त (जन्तवः) उत्पन्न हुए प्राणी और लोक-वर्ग (देवता नाम धुः) देव, सर्वशक्तिप्रद, उपास्य रूप से धारण करते हैं। (अहं) मैं ही (वृषणा) बलवान्, जल-वर्षी, मेघ और वायुवत् (वि-व्रता) विविध कर्म करने वाले, (रघू) बलवान् वेगवान् (हरी) स्त्री-पुरुष दो शक्तियों को, अश्वों के तुल्य (आ ददे) वश करता हूँ। और (शवसे) बल कर्म करने के लिये (अहम्) मैं (धृष्णु) धर्षक, शत्रुपराजयकारी (वज्रं) वज्र, खड्गवत् बल-वीर्य को धारण करता हूँ।

अ॒हमत्कं॑ क॒वये॑ शिश्नथं॒ हथै॑र॒हं कुत्स॑माव॒मा॒भिरू॒तिभिः॑ ।
अ॒हं शुष्ण॑स्य॒ श्नथि॑ता॒ वध॑र्यमं॒ न यो र॒र आर्यं॒ नाम॒ दस्य॑वे ॥३॥

भा०—(अहम्) मैं (कवये) विद्वान् जन के (अत्कं) आच्छादक अज्ञान आवरण को (हथैः शिश्नथम्) उसके नाशक साधन रूप ज्ञानों से शिथिल करता हूँ। और (आभिः ऊतिभिः) इन नाना प्रकार की रक्षा-कारिणी, ज्ञानदात्री, स्नेहमया प्रवृत्तियों से (कुत्सम्) वेदमन्त्रों और स्तुतियों के अभ्यासी जन की (आवम्) रक्षा करता हूं। (अहं) मैं (शुष्णस्य) शोषण करने वाले दुष्ट स्वभाव को (श्नथिता) शिथिल करता हूं। और (वधः) वधकारी हिंसादि स्वभाव को (यमम्) रोकता हूं, अहिंसा का पालन करता हूं। मैं वह हूं (यः) जो (दस्यवे) नाश-कारी दुष्टजन को कभी (आर्यं नाम न ररे) आर्य श्रेष्ठ नाम वा यश प्रदान नहीं करता अथवा, मैं श्रेष्ठ पुरुष को दुष्ट के हाथ में नहीं देता।

अ॒हं पि॒तेव॑ वे॒तसूँ॑र॒भिष्ट॑ये॒ तुग्रं॒ कुत्सा॑य॒ स्मदि॑भं च रन्धयम् ।
अ॒हं भु॑वं॒ यज॑मानस्य रा॒जनि॒ प्र यद्भरे॒ तुज॑ये॒ न प्रि॒याधृषे॑ ॥४॥

भा०—(अहं) मैं (पिता इव) पिता के समान (अभिष्टये) उत्तम अभिलाषा करने वाले (कुत्साय) बल सम्पादन वा उत्तम स्तुतिशील जन के लिये (वेतसून्) वेतस दण्ड के समान उद्धत वा धन प्राप्त करने वाले और (तुग्रम्) उग्र, हिंसाशील, (स्मदिभम्) उत्तम गजवत् अहंकारी पुरुष को भी (रन्धयम्) वश करता हूं। (अहं यजमानस्य राजनि) मैं यजमान, दानशील, यज्ञार्थी के तेजःप्रकाशक के लिये (भुवम्) हूं। (यत्) जो मैं (तुजये) हिंसाशील (आ धृषे) धर्षणकारी ढीठ पुरुष के लिये (प्रिया न भरे) प्रिय पदार्थों को आहरण नहीं करता अथवा—(तुजये न) पालन योग्य पुत्रवत् शत्रुधर्षक प्रजापालक के लिये ही मैं नाना प्रिय पदार्थ प्राप्त कराता हूं।

अहं रन्धयं मृगयं श्रुतर्वणे यन्माजिहीत वयुना चनानुषक्।
अहं वेशं नम्रमायवेऽकरमहं सव्याय पड्गृभिमरन्धयम् ॥५।७॥

भा०—(अहं) मैं (श्रुतर्वणे) श्रुत, वेदोपदेश पर चलने वाले वा (श्रुतर्वणे) नाना मार्गों में जिसका इन्द्रियगण और मन बह जाता हो ऐसे शिष्य आदि के (मृगयं) इधर उधर विषय विलास खोजने वाली प्रवृत्ति को (रन्धयम्) वश करता हूं। (यत्) जिससे कि वह (वयुना चन) अपने ज्ञान से और कर्म से (आनुषक्) निरन्तर (मा अजिहीत) मेरी ओर ही आवे। वह इधर उधर न भटके। (अहम्) मैं (आयवे) अपनी ओर आने वाले के (वेशम्) अन्तः प्रविष्ट आत्मा को (नम्रम् अकरम्) विनयशील करता हूँ। और (अहम्) मैं (सख्याय) पुत्र के तुल्य शिष्य के लाभार्थ ही उसको (पड्गृभिम्) गुरु जनों के चरण पकड़ने वाला, नम्र बनाकर (रन्धयम्) वश करता हूं। इति सप्तमो वर्गः ॥

अहं स यो नववास्त्वं बृहद्रथं सं वृत्रेव दासं वृत्रहारुजम्।
यद्वर्धयन्तं प्रथयन्तमानुषग्दूरे पारे रजसो रोचनाकरम् ॥ ६ ॥

भा०—(सः) वह जो (अहम्) मैं (वृत्रहा) समस्त विघ्नों का

नाश करने वाला, अज्ञान को दूर करने वाला हूं। वह मैं (नव-वास्त्वम्) नव गृह वाले, नये ही मेरे पास बसने वाले, (बृहद्रथं) महान् ब्रह्म वा वेद ज्ञान में रमण करने वाले, (दासं) सेवक के समान सेवा-शुश्रूषा करने वाले को (अरुजम् अकरम्) पीड़ारहित सुखी कर देता हूं। और (आनुषक्) समीप (दूरे) और दूर (वर्धयन्तम् प्रथयन्तम्) ज्ञान और कीर्ति बढ़ाते और फैलाते हुए को (रजसः पारे) रजोगुण से भी पार, वा इस लोक से भी पार (रोचना अकरम्) अति तेजस्वी, सर्वप्रिय बना देता हूं। तरादेने से इसी कारण गुरु को 'तीर्थ' कहते हैं।

अथवा—नये गृहों के स्वामी, बड़े रथवान् को भी, यदि वह (दासं) प्रजा का नाशकारी है तो उसको (अरुजम्) तोड़ डालता हूं। (रजसः प्रथयन्तं वर्धयन्तं) इस लोक में प्राणियों को बढ़ाने वा फैलाने वाले को मैं दूर वा पास सर्वत्र सर्वप्रिय बना देता हूं।

अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा।
यन्मा सावो मनुष आह निर्णिज ऋधक्कृषे दासं कृत्व्यं हथैः॥७॥

भा०—(यत्) जब (सावः मनुषः) स्तुतिशील, प्रार्थी मनुष्य (मा) मुझसे (निर्-निजे) सर्वथा अपने आत्म-शोधन के लिये, अपने स्वरूप ज्ञान के लिये (आह) प्रार्थना करता है तब मैं (कृत्व्यम्) नाश करने योग्य (दासं) नाशकारी अंश को (हथैः) नाना दण्डों द्वारा (ऋधक् कृषे) दूर करता हूं। अथवा-(कृत्व्यं दासं) काम करने और अपनाने योग्य सेवक को (हथैः) उत्तम साधनों से (ऋधक् कृषे) समृद्ध करता हूं। (अहम्) मैं (आशुभिः एतशैः) शीघ्रगामी अश्वों से (सूर्यस्य ओजसा) सूर्य के तेज, बल और पराक्रम सहित (प्र परि यामि) आगे बढ़ता हूं।

अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः प्राश्रावयं शवसा तुर्वशं यदुम् ।
अहं न्य१न्यं सहसा सहस्करं नव व्राधतो नवतिं च वक्षयम्॥८॥

भा०—(अहं) मैं (सप्तहा) वेग से जाने वाले अश्वों द्वारा गमन करने वाला, मैं सातों शिरोगत प्राणों, आंख, नांक आदि द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाला, (नहुषः) राष्ट्र का उत्तम प्रबन्धक, (नहुष्टरः) श्रेष्ठ मनुष्य होकर (शवसा) बल और ज्ञान से (अन्यम् तुर्वशुं यदुम्) अन्य चारों पुरुषार्थों को चाहने वाले यत्नशील पुरुष को (प्र अश्रवयम्) उत्तम ज्ञान श्रवण कराऊं । और (अन्यम्) दूसरे को अपने (सहसा) बल से (सहः नि अकरम्) बलवान् करूं । और शत्रु को बल से नीचा करूं । और (व्राधतः) बढ़ते हुए पूज्य जनों वा गुणों को (नव नवतिं च) ९९ वर्ष तक अपने जीवन भर (वक्षयम्) मैं धारण करूं ।

अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि ।
अहमर्णांसि वि तिरामि सुक्रतुर्युधा विदं मनवे गातुमिष्टये ॥९॥

भा०—(अहम्) मैं (सप्त स्रवतः) सात बहते प्राणगण को (वृषा) बलवान् होकर (धारयम्) धारण करूं । उन पर वश करूं, और (पृथिव्यां) पृथिवी पर (द्रवित्न्वः) बहती (सीराः) नदियों के तुल्य, पार्थिव देह में बहती रक्तनाड़ियों को भी (धारयम्) धारण करूं । (अहम्) मैं आत्मा (सु-क्रतुः) उत्तम क्रियावान् होकर जैसे शरीर में (अर्णांसि वि तिरामि) रक्त रूप जलों को उचित रूप से पुष्ट वा प्रदान करता हूं उसी प्रकार जन समाज में (अर्णांसि वि तिरामि) नाना धनों को बढ़ाऊं और वितीर्ण करूं । और (इष्टये) यज्ञ वा इच्छानुसार फल प्राप्त करने के लिये (मनवे) मनुष्य को मैं (युधा) ताड़नापूर्वक दुर्गुणों को दूर करके (विदं गातुम् वि तिरामि) ज्ञानमय मार्ग का उपदेश प्रदान करूं । लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः ॥

अहं तदासु धारयं यदासु न देवश्चन त्वष्टाधारयद्रुशत् ।
स्पार्हं गवामूधःसु वक्षणास्वा मधोर्मधु श्वात्र्यं सोममाशिरम् १०

भा०—(अहम्) मैं (आसु) इन नाड़ियों या इन्द्रियों में (तत्) ऐसे रस, बल वा ज्ञान को भी (धारयम्) धारण करता हूं (यत्) जिसको (देवः चन त्वष्टा) इनको गढ़कर बनाने वाला शिल्पी वा तेजस्वी सूर्य भी (न अधारयत्) धारण न कर सका। (गवाम् ऊधःसु) गौओं के थनों में जिस प्रकार दूध रहता है, और जिस प्रकार (वक्षणासु) नदियों में (श्वात्र्यं मधु) वेग से बहने वाला जल होता है उसी प्रकार मैं आत्मा (वक्षणासु) इन निरन्तर प्रवाहित नाड़ियों में (स्पार्हं) अति स्पृहणीय, जीवन प्रिय, (मधोः मधु) मधु से भी अधिक मधु, प्रिय वा जलों का और अन्नों का भी सारभूत रक्त, (श्वात्र्यं) अति वेग से नाड़ियों में दौड़ने वाला, (सोमम्) अपनी सन्तति को भी उत्पन्न करने वाला वीर्य रूप (आशिरम्) शरीर का आश्रय रूप, शरीर की स्थिति और जीवन को बनाने वाला शुक्र तत्त्व है उसको भी मैं आत्मा, देह में धारण करता हूं।

एवा देवाँ इन्द्रो विव्ये नॄन् प्र च्यौत्नेन मघवा सत्यराधाः ।
विश्वेत्ता ते हरिवः शचीवोऽभि तुरासः स्वयशो गृणन्ति ॥११।८॥

भा०—(इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान्, इन सब में भी अपना ऐश्वर्य बल प्रदान करने वाला आत्मा, (मघवा) श्रेष्ठ वीर्य से सम्पन्न, (सत्य राधाः) सत्य बल से वश करने वाला (च्यौत्नेन) देह में क्षरणशील, प्रावाहिक बल से (नॄन्) ज्ञान रसको प्राप्त कराने वाले (देवान्) अर्थों के प्रकाशक इन्द्रियगण वा प्राणों को (प्र विव्ये एव) बड़ी उत्तमता से प्रकाशित करता, रक्षा करता और जाल में बांधता और चलाता है, हे (हरिवः) इन्द्रिय रूप अश्वों के स्वामिन्! हे (शचीवः) शक्ति और वाणी के

स्वामिन् ! उनसे ही (ते ता विश्वा इत्) तेरे वे नाना प्रकार के समस्त कर्म होजाते हैं। और (तुरासः) ये वेगसे जाने वाले अश्व, आदि पशु और श्येनादि पक्षी एवं चक्षुः आदि इन्द्रिय गण और सूर्यादि लोक सभी (ते स्वयशः अभि गृणन्ति) तेरा ही यश कहते हैं। इसी प्रकार यह सूक्त राजा, गुरु और प्रभु-परक भी लगता है। इत्यष्टमो वर्गः ॥

[५०]

इन्द्रो वैकुण्ठ ऋषिः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—१ निचृज्जगती । २ आर्ची स्वराड् जगती । ६, ७ पादनिचृज्जगती । ३ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ४ विराट् त्रिष्टुप् । ५ त्रिष्टुप् ॥ सप्तर्चं सूक्तम् ॥

प्र वो॑ म॒हे मन्द॑मानाया॒न्धसो॒ऽर्चा॑ वि॒श्वान॑राय विश्व॒भुवे॑ ।
इन्द्र॑स्य॒ यस्य॒ सुम॑खं॒ सहो॒ महि॒ श्रवो॑ नृ॒म्णं च॒ रोद॑सी सप॒र्यत॑ः॥१॥

भा०—हे विद्वानो ! (वः) आप लोगों में (अन्धसः मन्दमानाय) प्राणधारक अन्न से तृप्ति लाभ करने वाले, (विश्वानराय) सब के नेता, सर्वोपरि सञ्चालक, प्रत्यक्षवत् विद्यमान (विश्वाभुवे) समस्त जगत् में व्यापक, सबके उत्पादक प्रभु उपास्य (महे) महान् की (अर्च) स्तुति करो। (यस्य इन्द्रस्य) जिस ऐश्वर्यवान् प्रभु का (सु-मखम्) उत्तम महायज्ञ, (महि श्रवः) महान् ज्ञान, अन्न और (सहः) बल, और (नृम्णं च) धन-ऐश्वर्य (रोदसी सपर्यतः) सूर्य, भूमि, अकाश, भूमि, नरनारी, माता पिता सभी उपासना कर रहे हैं।

सो चि॒न्नु स॒ख्या नर्य॑ इ॒नः स्तु॒तश्च॒र्कृत्य॒ इन्द्रो॒ माव॑ते॒ नरे॑ ।
विश्वा॑सु धू॒र्षु वा॑ज॒कृत्ये॑षु सत्पते वृ॒त्रे वा॒प्स्व१॒॑भि शू॑र मन्दसे ॥२॥

भा०—(सो चित् नु इन्द्रः) वह ही परमैश्वर्यवान् प्रभु (नर्यः)

समस्त जीवों, मनुष्यों का हितैषी, (इनः) सबका स्वामी, और (सख्या) सख्यभाव से (मावते नरे) मेरे जैसे मनुष्यों के लिये भी (स्तुतः) स्तुत होकर (चर्कृत्यः) सेवा करने योग्य है। हे (सत्-पते) समस्त सत्पदार्थों और सत्पुरुषों के पालक ! तू (वाज-कृत्येषु) ज्ञान, बल, वेगादि से करने योग्य कार्यों में और (विश्वासु धूर्षु) समस्त धारण करने योग्य पदों पर हे (शूर) शूरवीर (अप्सु वृत्रे वा) अन्तरिक्ष में चन्द्र वा मेघस्थ ज्योति, प्रकाश के तुल्य बढ़ते बल सैन्य के बीच, जल में कमल के तुल्य (अभि प्रमन्दसे) सब ओर खूब प्रसन्न रहता और खिलता और सबको सुखी करता है।

के ते नर॑ इन्द्र॒ ये त॑ इ॒षे ये ते॑ सु॒म्नं स॑ध॒न्य१॒॑मिय॑क्षान् ।
के ते॒ वाजा॑यासु॒र्या॑य हिन्वि॒रे के अ॒प्सु स्वासू॒र्वरा॑सु॒ पौंस्ये॑ ॥३॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् प्रभो ! (ते के नरः) वे कौन से मनुष्य हैं (ये) जो (ते इषे) तेरी प्रेरणा पाने वाले हैं, तेरे दिये अन्न, वृष्टि आदि के लिये चाहते रहते हैं और (ये) जो (स-धन्यम्) ऐश्वर्य सहित (ते सुम्नम्) तेरे सुख को (इयक्षान्) प्राप्त होते हैं। और (के) वे कौन हैं जो (ते असुर्याय वाजाय) प्राणों को धारण करने और दुष्टों के नाशकारी तेरे बलैश्वर्य के लाभ के लिये (हिन्विरे) यत्न करते हैं ? और वे (के) कौन हैं जो (अप्सु) प्राणों वा प्रजाओं के बीच वा धर्म से प्राप्त (स्वासु उर्वरासु) अपनी ऊर्वरा भूमियों में (पौंस्ये) अपने पुरुषोचित वीर्य वा पराक्रम के बल पर, उत्तम गृहपति के तुल्य प्रजापति होकर धनधान्य, ऐश्वर्य और सन्तान आदि से (हिन्विरे) बढ़ते हैं।

भुव॒स्त्वमि॑न्द्र॒ ब्रह्म॑णा म॒हान्भुवो॒ विश्वे॑षु॒ सव॑नेषु य॒ज्ञियः॑ ।
भुवो॒ नॄँश्च्यौ॒त्नो विश्व॑स्मि॒न्भरे॒ ज्येष्ठ॑श्च॒ मन्त्रो॑ विश्वचर्षणे ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (त्वं ब्रह्मणा महान् भुवः) तू अपने

महान् सामर्थ्य से महान् है। तू (विश्वेषु सवनेषु यज्ञियः भुवः) समस्त ऐश्वर्यों और अधिकारों पर पूजनीय है। तू (विश्वस्मिन् भरे) समस्त पालनीय जगत् में (नॄन् च्यौत्नः) समस्त, नायकों को भी चलाने वाला है। तू (ज्येष्ठः च) सब से ज्येष्ठ है, और हे (विश्व-चर्षणे) समस्त विश्व के द्रष्टः ! तू सब के लिये (मन्त्रः च) मनन करने योग्य है।

अवा नु कं ज्यायान् यज्ञवनसो महीं त ओमात्रां कृष्टयो विदुः।
असो नु कमजरो वर्धाश्च विश्वेदेता सवना तूतुमा कृषे ॥ ५ ॥

भा०—हे प्रभो ! (नुकम्) अवश्य तू (यज्ञ-वनसः) सर्वोपास्य प्रभु के भजन करने वालों की (अव) रक्षा कर। (कृष्टयः) समस्त मनुष्य ही (ते) तेरी (ओमात्रां महीं विदुः) बड़ी भारी रक्षण-शक्ति को जानते हैं, वा जानें। तू (नु कम् अजरः असः) निश्चय ही अजर है, तू कभी न बूढ़ा होता, न नाश को प्राप्त होता है। (विश्वा इत् च वर्धाः) तू सब को बढ़ा। तू (तूतुमा सवना एता कृषे) अति शीघ्र ही सब ऐश्वर्यों को उत्पन्न करता है। आ तू ही शीघ्र ही इन सब उत्पन्न होने वाले लोकों और चराचर प्राणियों को उत्पन्न करता है।

एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे।
वराय ते पात्रं धर्मणे तना यज्ञो मन्त्रो ब्रह्मोद्यतं वचः ॥ ६ ॥

भा०—(एता विश्वा सवना) इन समस्त यज्ञों, ऐश्वर्यों और चलाने योग्य लोकों और जीवों को (तू तुमा स्वयं कृषे) तू अतिशीघ्रगामी स्वयं रचता और चलाता है। हे (सहसः सूनो) बल, सर्वातिशायी शक्ति के प्रेरक ! तू (यानि दधिषे) जिन को भी धारण करता है उन लोकों, भुवनों को भी तू ही अति वेग से चला रहा है। (वराय ते पात्रे) दुःखों के वारण करने के लिये ही तेरा पालनकारी बल हो। और (तना धर्मणे) तेरे धन, धर्मकार्यों और जीव-जगत् को धारण करने के लिये हैं। (यज्ञः) यह महान् यज्ञ

(मन्त्रः) मनन करने योग्य है। वा तू ही (यज्ञः मन्त्रः) सर्वोपरि उपास्य और मननीय है। तेरी (वचः) वाणी ही (ब्रह्म उद्यतम्) ब्रह्म अर्थात् सबसे उत्तम, महान् , वेदमय विद्यमान है।

ये ते विप्र ब्रह्मकृतः सुते सचा वसूनां च वसुनश्च दावने।
प्र ते सुम्नस्य मनसा पथा भुवन्मदे सुतस्य सोम्यस्यान्धसः॥७॥९

भा०—हे (विप्र) मेधाविन् ! जगत् को विशेष रूप से सुखों से पूर्ण करने हारे ! (सुते) इस उत्पन्न जगत् में (ब्रह्म-कृतः) वेद के उपदेश करने वाले जन (सचा) एक संघ बनाकर (वसूनां च वसुनः च दावने) समस्त जीवों को वास योग्य धन और ऐश्वर्य प्रदान करने वाले (ते) तेरी परिचर्या के लिये ही हैं और वे (ते) तेरे दिये (सुम्नस्य) सुख के लाभ के लिये और (सुतस्य सोम्यस्य अन्धसः) ते प्रदान किये बल-वीर्यप्रद अन्न के द्वारा (मदे) तृप्ति लाभ होने पर (मनसा) चित्त से (ते पथा) तेरे उपदिष्ट मार्ग से ही (प्र भुवन्) उत्तम पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इति नवमो वर्गः॥

[५१]

१, ३, ५, ७, ९ देवा ऋषयः। २, ४, ६, ८ अग्निः सौचीक ऋषिः॥ देवता—१, ३, ५, ७, ९ अग्निः सौचीकः। २, ४, ६, ८ देवाः॥ छन्दः—१, ३ निचृत् त्रिष्टुप्। २, ५, ६ विराट् त्रिष्टुप्। ४, ७ त्रिष्टुप्। ८, ९ भुरिक् त्रिष्टुप्॥ नवर्चं सूक्तम्॥

महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीद्येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः।
विश्वा अपश्यद् बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः॥१॥

भा०—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप, हे (जातवेदः) प्रत्येक उत्पन्न

देह में विद्यमान ! (तत्) वह (उल्वं) आवरण (महत् स्थविरम्) बड़ा ही स्थूल होता है (येन आवेष्टितः) जिससे घिरकर तू (अपः) जलों में स्थित बालकवत्, देहिक प्राणों के बीच (प्र विवेशिथ) प्रवेश किये हुए है। (ते तन्वः) तेरी देह की (विश्वाः) समस्त क्रियाओं को अथवा (ते विश्वाः तन्वः) तेरे समस्त देहों को (एकः देवः) एक देव प्रभु जिसने ये सब तुझ को दी हैं वही (बहुधा) बहुत प्रकार से (अपश्यत्) देखा करता है। देहों के द्रष्टा का वर्णन अगले मन्त्र में है।

को मा॑ ददर्श कत॒मः स दे॒वो यो मे॑ त॒न्वो॑ बहु॒धा प॒र्यप॑श्यत् ।
क्वाह॑ मित्रावरुणा क्षियन्त्य॒ग्नेर्विश्वा॑ः स॒मिधो॑ देव॒यानी॑ः ॥ २ ॥

भा०—(मा कः ददर्श) मुझ को कौन देखता है ? (सः देवः कतमः) वह सुखस्वरूप सर्वसुखदाता कौन सा है (यः) जो (मे तन्वः) मेरे देहों और समस्त अंगों को (बहुधा परि अपश्यत्) बहुत प्रकार से वा प्रायः देखता है ? हे (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण, स्नेहवान् और सर्वश्रेष्ठ माता पिता के तुल्य जनो ! (अग्नेः) प्रकाशस्वरूप मेरी (विश्वाः) समस्त (देवयानीः समिधः) उस प्रभु को प्राप्त होने वाली मेरी दीप्तियां (क्व क्षियन्ति अह) कहां विद्यमान हैं ? कहां सम्पन्न, ऐश्वर्य युक्त होती हैं ?

ऐच्छा॑म त्वा बहु॒धा जा॑तवेद॒ः प्रवि॑ष्टमग्ने अ॒प्स्वोष॑धीषु ।
तं त्वा॑ य॒मो अ॑चिके॒च्चित्रभानो दशान्तरु॒ष्याद॑ति॒रोच॑मानम् ॥३॥

भा०—हे (जातवेदः) उत्पन्न प्राणि शरीरों और स्थावरों में भी विद्यमान ! (अग्ने) अग्निवत् स्वभाव वाले, तापयुक्त ! (ओषधीषु) ताप को धारण करने वाली (अप्सु) जलवत् तरल, रक्तवाहिनी नाड़ियों के बीच में (प्रविष्टं त्वा) प्रवेश किये हुए तुझ को हम (बहुधा ऐच्छाम) बहुत २ चाहते हैं। हे (चित्र-भानो) चिति, संज्ञा-दायक कान्तियुक्त आत्मन् !

(दश-अन्तः-उष्यात्) दश प्राणों के भीतर गुप्त निवास योग्य अन्तःकरण से (अति-रोचमानम्) खूब प्रकाश युक्त होते हुए (त्वा) तुझ को (यमः) वह सर्वनियन्ता प्रभु ही (अचिकेत्) जानता वा तेरी समस्त व्यथाओं को दूर करता है ।

होत्रादहं वरुण बिभ्यदायं नेदेव मा युनजन्नत्र देवाः ।
तस्य मे तन्वो बहुधा निविष्टा एतमर्थं न चिकेताहमग्निः ॥ ४ ॥

भा०—(अत्र) यहां (देवाः) नाना इन्द्रियगण (न इत् एव मा युनजन्) न मुझे जोड़लें, इस कारण से (बिभ्यत्) भय करता हुआ हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! (अहम्) मैं अपने (होत्रात्) बुलाने वाले वा ज्ञानदाता प्रभु से पृथक् होकर (आयम्) आगया हूं । (तस्य मे) उस मेरे (बहुधा तन्वः निविष्टाः)बहुत से देह मेरे गले पड़ गये । (अहम् अग्निः) मैं अग्नि रूप जीव (एतम् अर्थम्) उस तात्पर्य को, या इस मूलकारण या गन्तव्य परम पद को (न चिकेत) नहीं जानता । न चिकेत इति 'नचिकेताः' जो नहीं जानता अथवा जिसके रोग-दुःख दूर नहीं होते वह अल्पज्ञानी, बद्ध जीव 'न चिकेता' है और सर्वनियन्ता, दुःखहारी 'यम' है । कठोपनिषद् में प्रोक्त नाचिकेतोपाख्यान का यह मन्त्र मूल है ।

एहि मनुर्देवयुर्यज्ञकामोऽरङ्कृत्या तमसि क्षेष्यग्ने ।
सुगान्पथः कृणुहि देवयानान्वह हव्यानि सुमनस्यमानः॥५॥१०॥

भा०—देह में आने का कारण । हे (अग्ने) अंग २ में, प्रत्येक देह में व्यापक जीव ! तू (मनुः) मननशील, संकल्प विकल्पवान् और (देव-युः) देवों, प्राणों या सुखप्रद पदार्थों की कामना वाला होकर और (यज्ञ-कामः) अपने प्राणों से संगति चाहता हुआ यजमान के (अरं कृत्य) अपने को सुशोभित करके, अन्धकार में दीपक के तुल्य (तमसि) अज्ञानमय अन्धकार

में, (क्षेषि) निवास करता है । तू (सुमनस्यमानः) सुखी, सद्भावयुक्त चित्त होकर (हव्यानि) ग्राह्य ज्ञानों को (वह) धारण कर और (देव-यानान्) विद्वानों और प्राणों द्वारा जाने योग्य (पथः सुगान् कृणुहि) मार्गों को सुखप्रद बना । इति दशमो वर्गः ॥

अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थमेतं रथीवाध्वानमन्वावरीवुः ।
तस्माद् भिया वरुण दूरमायं गौरो न क्षेप्नोरविजे ज्यायाः ॥६॥

भा०—(रथी इव अध्वानम्) रथी जिस प्रकार मार्ग को तय करता है, उसी प्रकार (अग्नेः भ्रातरः) अग्नि आत्मा को धारण करने वाले (पूर्वे) पूर्व के विद्वान् जन (एतम् अर्थम्) उस प्राप्तव्य सन्मार्ग को ही (अनु आवरीवुः) एक के पीछे एक चलते रहते हैं । परन्तु हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! मैं तो (भिया दूरम् आयम्) भय से दूर आचुका हूं, मेरा कोई साथी नहीं रहा, मैं किस के पीछे जाऊं ? (तस्मात्) इसलिये (क्षेप्नोः ज्यायाः गौरः न) धनुष्धारी की डोरी से भयभीत मृग के समान (अविजे) बहुत ही भयभीत, घबराया हुआ हूं ।

कुर्मस्त आयुरजरं यदग्ने यथा युक्तो जातवेदो न रिष्याः ।
अथा वहासि सुमनस्यमानो भागं देवेभ्यो हविषः सुजात ॥७॥

भा०—हे (अग्ने) देहवान् जीव ! (यत्) जो (अजरं आयुः) आयु जरारहित है हम वही (ते कुर्मः) तेरी करें (यथा) जिससे (युक्तः) युक्त होकर हे (जात-वेदः) उत्पन्न देह में विद्यमान ! तू (न रिष्याः) न मरे । और तू हे (सु-जात) उत्तम गुरुओं से प्रकट होने वाले ! सुपुत्र ! (अथ) अनन्तर तू (सु-मनस्यमानः) सुप्रसन्नचित्त होकर (देवेभ्यः) देवों, इन्द्रियों और विद्वानों के लिये (हविषः भागं वह) अन्न का सेवनीय अंश प्राप्त कर और (देवेभ्यः हविषः भागं) देवों, विद्वानों से दिव्य पदार्थों

से अन्नवत् ग्राह्य पदार्थ वा ज्ञान का (भागं) सेव्य, उत्तम अंश (वहासि) प्राप्त कर।

प्रयाजान्मे अनुयाजांश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम्।
घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः ॥ ८ ॥

भा०—हे (देवाः) दानशील, विद्वान् जनो ! (मे) मुझे (प्रयाजान्) उत्तम २ दान और (केवलान्) केवल, असाधारण (अनुयाजान्) कर्मानुरूप उत्तम दातव्य फल तथा (हविषः ऊर्जस्वन्तम् भागम्) अन्न का बल युक्त वह अंश जो (घृतम्) तेजोयुक्त हो और (अपां च ओषधीनां च पुरुषम्) देहस्थ रसों और तापधारक तत्वों के बीच पुरुष अर्थात् बहुतसी इन्द्रियों में विभक्त तेज (दत्त) प्रदान करो। जिससे (अग्नेः च) इस देह में प्राप्त जीव का (आयुः) आयु (दीर्घं) दीर्घ हो।

तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः।
तवाग्ने यज्ञो३ऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः ॥६॥११॥

भा०—हे (अग्ने) देहान्तर्गत अग्ने ! जीव ! (तव) तेरे (केवले) असाधारण (प्रयाजाः अनुयाजाः) प्रयाज, अनुयाज और (हविषः ऊर्जस्वन्तः भागाः) हवि, अन्न के बलशाली भाग, (सन्तु) हों। (अयं सर्वः यज्ञः तव अस्तु) यह समस्त यज्ञ तेरा ही हो। (तुभ्यं चतस्रः प्रदिशः नमन्ताम्) तेरे आगे चारों दिशाएं झुकें। तुझे आदर से देखें। यज्ञ में अग्नि के प्रयाज अनुयाज और हवि के भागों के समान इस जीव के लिये उत्तम ज्ञानदातागण हैं, वे 'प्रयाज' और अनुकूल मित्रवर्ग अनुगामी हैं वे 'अनुयाज' और ज्ञान सेवी बलवान्, सहयोगी 'ऊर्जस्वान्' पुरुष हों। इत्येकादशो वर्गः ॥

[५२]

अग्निः सौचीक ऋषिः ॥ देवा देवताः॥ छन्दः—१ त्रिष्टुप्। २—४ निचृत् त्रिष्टुप्। ५, ६ विराट् त्रिष्टुप् ॥ षडृचं सूक्तम् ॥

विश्वे देवाः शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्निषद्य ।
प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानि ॥ १ ॥

भा०—(विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुषो ! (मा शास्तन) मुझे ऐसी रीति से शासन करो (यथा) जिससे (इह) इस लोक में (होता) ज्ञान ग्रहण करने वाला, शिष्य रूप से (वृतः) वरण किया जाकर भी (यत्) जो मैं (नि-सद्य) गुरु के समीप बैठकर (मनवै) ज्ञान प्राप्त कर सकूं । (यथा वः भागधेयम्) जिस प्रकार आप लोगों का भजन या सेवन करने योग्य, शिष्यों द्वारा धारण करने योग्य ज्ञान है वह (मे प्र ब्रवीत) मुझे प्रवचन द्वारा उपदेश करो । और मुझे यह भी बतलाओ (येन पथा) जिस मार्ग से (वः हव्यम्) आप लोगों के उपादेय ज्ञान-राशि को मैं (आ वहानि) सब प्रकार से धारण कर सकूं ॥

अहं होता न्यसीदं यजीयान् विश्वे देवा मरुतो मा जुनन्ति ।
अहरहरश्विनाध्वर्यवं वां ब्रह्मा समिद्भवति साहुतिर्वाम् ॥ २ ॥

भा०—(अहम्) मैं अल्पशक्ति, अल्पज्ञानी जीव, (होता) ज्ञान और शक्ति का लेने हारा और (यजीयान्) सर्वोत्कृष्ट सत्-संगति करनेहारा होकर (नि असीदम्) स्थिर होकर बैठूं । और (विश्वे देवाः) समस्त देव, ज्ञान को प्रकाशित करने और प्रदान करने वाले (मरुतः) विद्वान् जन (मा जुनन्ति) मुझे प्रेरित या उपदेश करें । हे (अश्विनौ) दिन रात्रिवत् ज्ञाननिष्ठ और कर्मनिष्ठ पुरुषो ! माता पिता वा हे जितेन्द्रिय गुरु उपदेशक जनो ! (अहरहः) दिन रात ही (वाम् आध्वर्यवम् भवति) आप दोनों का यज्ञ में अध्वर्यु के समान शासन एवं अविनाशी यज्ञ वा ब्रह्मरूप अध्वर-सम्बन्धी ज्ञानोपदेश हो । और (ब्रह्मा सम्-इत् भवति) महान् प्रभु वा चतुर्वेदज्ञ विद्वान् पुरुष होकर ज्ञान को भली प्रकार प्रकाशित करने

वाला हो। और तत्र (वाम् सा आहुतिः) आप दोनों की वह ज्ञान, बल आदि की आहुति अर्थात् ब्रह्मदान सफल हो।

अ॒यं यो होता॒ कि॒रु स य॒मस्य॒ कम॒प्यू॑हे॒ यत्स॑म॒ञ्जन्ति॑ दे॒वाः ।
अह॑रहर्जायते मा॒सिमा॒स्यथा॑ दे॒वा द॑धिरे हव्य॒वाह॑म् ।

भा०—(अयम्) यह (यः) जो (होता) ज्ञान को गुरु से ग्रहण करता है (किः उ सः) वह भला किस प्रकार का हो? उसकी कैसी स्थिति होनी उचित है? (देवाः यत् सम् अञ्जन्ति) देव विद्वान्गण उसको जो कुछ भी ज्ञान प्रकाशित करते हैं उससे (सः) वह (यमस्य) उस महान् नियन्ता प्रभु वा गुरु के (कम् अपि ऊहे) महान् सामर्थ्य के कुछ अंश को ही तर्क द्वारा जान पाता है। यह दशा शिष्य वा जिज्ञासु की सूर्य-चन्द्रवत् है। जैसे सूर्य (अहः अहः जायते) प्रतिदिन खूब उज्ज्वल रूप में प्रकट होता है, (अथ) और (देवाः) सूर्य के प्रकाशक किरण (मासि-मासि) चन्द्रमा में मास २ में (हव्य-वाहम् दधिरे) प्रकाशमय तेज को धारण कराते हैं. उसी प्रकार वह परमेश्वर वा गुरु सूर्य के समान अपार ज्ञानमय है परन्तु देव, विद्वान्गण वा इन्द्रियादि प्राणगण (मासि मासि) प्रत्येक जिज्ञासु में (हव्य-वाहम्) ग्रहण करने योग्य ज्ञान के धारक तेजोमय अग्नि को धारण कराते हैं, नया जीवन प्रदान करते हैं, उसे ज्ञानधारण में समर्थ करते हैं।

मां दे॒वा द॑धिरे हव्य॒वाह॒मप॑म्लुक्तं ब॒हु कृ॒च्छ्रा चर॑न्तम् ।
अ॒ग्निर्वि॒द्वान्य॒ज्ञं नः॑ कल्पयाति॒ पञ्च॑याम॒ं त्रि॒वृतं॑ स॒प्ततं॑न्तुम् ॥४॥

भा०—(देवाः) सूर्य के किरण जिस प्रकार (हव्य-वाहं दधिरे) अग्नि को अपने में धारते और पुनः उत्पन्न कर देते हैं उसी प्रकार (देवाः) विद्वान्गण (हव्य-वाहम्) अन्नग्राही, और ज्ञानधारक (बहु कृच्छ्रा

चरन्तं) बहुत से कठिन व्रतों का आचरण करने वाले और समस्त पापों से मुक्त हुए मुझको (दधिरे) धारण करते, वा वे मुझ को ज्ञानधारी बना देते हैं। (विद्वान् अग्निः) विद्वान्, अग्निवत् तेजस्वी पुरुष (नः यज्ञं कल्पयाति) हमारा वह सात्विक यज्ञ करता है, और वह यज्ञ (पञ्च-यामम्) पांच मार्गों से करने योग्य पाच जनों से यन्त्रित करने योग्य, देह में पांचों इन्द्रियों के समवाय से करने योग्य, (त्रि-वृतम्) मन, वाणी, कर्म तीन प्रकार से करने योग्य और (सप्त-सन्तुम्) सात छन्दों, से वा सात शीर्षण्य प्राणों से करने योग्य होता है।

आ वो यक्ष्यमृतत्वं सुवीरं यथा वो देवा वरिवः कराणि।
आ बाह्वोर्वज्रमिन्द्रस्य धेयामथेमा विश्वाः पृतना जयाति ॥५॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् जनो ! हे प्राणगण ! (वः यथा वरिवः कृणोमि) मैं आप लोगों की जैसी २ सेवा करता हूं उतना ही मैं (वः) आप लोगों के (सु-वीरम्) उत्तम बलवीर्य सम्पन्न (अमृतत्वं आ यक्षि) अमृतत्व, अविनाशी भाव को प्राप्त करता हूं। मैं ही (इन्द्रस्य) आत्मा, वा महान् ऐश्वर्यवान् प्रभु के (वज्रम्) बल वीर्य को (बाह्वोः आ धेयाम्) बाहुओं में धारण करूं। (अथ) और अनन्तर (इमा-विश्वाः पृतनाः) इन समस्त शत्रु सेनाओं वा संग्रामों को भी (जयाति) वह जीत लेता है।

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन्घृतैरस्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥६।१२॥

भा०—(त्रीणि शता त्री सहस्राणि त्रिंशत् च) ३३३० [तेंतीस हज़ार तीन सौ तीस] देवगण विजय के इच्छुक वीर (अग्निम्) सर्वाग्रणी की (असपर्यन्) सेवा, करते हैं, उसकी सेवा में लगे हैं। वे (अस्मै) इसके लिये (बर्हिः अस्तृणन्) आसनवत् इस लोक प्रजाजन वा संघ को

यज्ञ में कुशाओं के समान बिछा देते हैं। और उस अग्रणी को (घृतैः औक्षन्) जलों से अभिषेक करते हैं और (आत् इत्) अनन्तर उस (होतारम्) बल, वीर्य, ऐश्वर्य के ग्रहीता को (नि असादयन्त) नियम पूर्वक स्थापित करते हैं। इसी प्रकार इस बर्हिरूप देह में ३३३० दिव्य शक्तियां आत्मा को प्राप्त हैं जो उसको इस देह में स्थिर किये हैं। इति द्वादशो वर्गः ॥

[५३]

ऋषिः—१—३, ६, ११ देवाः। ४, ५ अग्निः सौचीकः॥ देवता—१—३, ६—११ अग्निः सौचीकः। ४, ५ देवाः॥ छन्दः—१, ३, ८ त्रिष्टुप् २, ४ त्रिष्टुप्। ५ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप्। ६, ७, ९ निचृज्जगती। १० विराड् जगती। ११ पादनिचृज्जगती॥ दशर्चं सूक्तम्॥

यमैच्छा॑म॒ मन॑सा॒ सो॒३॑ऽयमागा॑द्य॒ज्ञस्य॑ वि॒द्वान्परु॑षश्चिकि॒त्वान्।
स नो॑ यक्षद्दे॒वता॑ता॒ यजी॑यान्नि हि षत्स॒दन्त॑रः॒ पूर्वो॑ अ॒स्मत्॥१॥

भा०—(मनसा) मन से, वा ज्ञान के कारण हम लोग (यम् ऐच्छाम) जिसको चाहते हैं (सः अयम्) वह यह (यज्ञस्य परुषः) यज्ञ के पोरु २ या अंग २ को (चिकित्वान्) जानने वाला (विद्वान्) विद्यावान् पुरुष (आ अगात्) आवे। (देवताता) उत्तम ज्ञान के इच्छुकों के हितार्थ, उनके बीच (यजीयान्) अति पूज्य, ज्ञानप्रद होकर (सः नः यक्षत्) वह हमें ज्ञान प्रदान करे। वह (अन्तरः) हमारा अन्तरतम, प्रिय होकर (पूर्वः) हमसे पूर्व ज्ञानवान्, हमारे ज्ञान का कारण हो। और वह (अस्मत्) हमारे बीच (नि सत्सत्) विराजे।

अरा॑धि॒ होता॑ नि॒षदा॒ यजी॑यानभि प्रयां॑सि॒ सुधि॑तानि॒ हि ख्यत्।
यजा॑महै य॒ज्ञिया॒न्हन्त॑ दे॒वाँ ईळा॑महा॒ ईड्याँ॒ आज्ये॑न॥ २॥

भा०—उत्तम, अति अधिक ज्ञान देनेहारा, (होता) प्रेम से बुलानेहारा, गुरुवत् पूज्य पुरुष (नि-सदा) उत्तम आसन पर बैठकर नित्य देववत् आराधना करने योग्य है । क्योंकि वह (सु-धितानि) उत्तम, स्थिर, हित ज्ञानों को (अभि ख्यत्) साक्षात् करके आप्तवत् अन्यों को उन्हीं स्थिर सत्यों का उपदेश करता है । (हन्त) यह बड़े सौभाग्य का विषय है कि हम (यज्ञियान् देवान्) दान, मान पूजा सत्कारादि से आदरणीय विद्वान् पुरुषों की (यजामहै) पूजा कर सकें और (ईड्यान्) स्तुति करने योग्य जनों की हम लोग (आज्येन) प्रकट, व्यक्त वचन से वा जल वा घृतादि पदार्थों से (ईडामहै) सत्कार करें ।

साध्वीमकर्देववीतिं नो अद्य यज्ञस्य जिह्वामविदाम गुह्याम् ।
स आयुरागात्सुरभिर्वसानो भद्रामकर्देवहूतिं नो अद्य ॥ ३ ॥

भा०—(अद्य) आज हम लोग (यज्ञस्य) उपास्य प्रभु की (जिह्वाम्) वाणी को (अविदाम) प्राप्त करें, जानें। यह विद्वान् (नः) हमारे को (साध्वीम् देव-वीतिम्) देव, शुभ विद्वान् के प्रकाश, ज्ञान गुणादि की प्राप्ति को (अकः) उत्तम, सफल करता है । (सः) वह (सुरभिः) सुगन्धित यज्ञाग्नि के समान सदाचारयुक्त श्रेष्ठ कर्म करनेहारा (आयुः वसानः) दीर्घ जीवन को धारण करता हुआ (आ अगात्) प्राप्त होता है, वह अवश्य (नः देव-हूतिम्) हमें उत्तम २ विद्वानों, उत्तम उत्तम पदार्थों की प्राप्ति (अकः) करावे ।

तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम ।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम् ॥ ४ ॥

भा०—हम लोग (वाचः) वेदवाणी के आश्रय रूप (प्रथमम्) सर्वश्रेष्ठ को (मसीय) मनन द्वारा प्राप्त हों, उसे जानें, (येन) जिससे

हम (देवाः) उत्तम विद्वान् जन (असुरान् अभि असाम) केवल प्राणपोषी, विघ्नकारी पुरुषों को पराजित करें। (ऊर्जादः) बलयुक्त अन्न को खाने वाले और (यज्ञियासः) यज्ञ करने योग्य, पूज्य, (पञ्च जनाः) आप पांचों जन (मम होत्रम्) मेरे वचन या हवन, आह्वान वा उपदेश को (जुषध्वम्) सेवन करो।

पञ्च जना मम॑ होत्रं जु॑षन्तां गोजा॑ता उत ये य॒ज्ञिया॑सः ।
पृथि॒वी नः॒ पार्थि॑वात्पा॒त्वंह॑सो॒ऽन्तरि॑क्षं दि॒व्यात्पा॑त्व॒स्मान् ५।१३

भा०—(गो-जाताः) पृथिवी पर उत्पन्न वा गौ, वेदवाणी, उस में उत्पन्न, निष्णात (उत ये) और जो (यज्ञियासः) यज्ञ के योग्य, पूज्य हैं वे (पञ्च जना) पांचों जन (मम होत्रं) मेरे यज्ञ, आह्वान, या वचनों को प्रेमपूर्वक स्वीकार करें। (पृथिवी) विस्तृत पृथिवी, देवी माता (नः) हमें (पार्थिवात् अंहसः) पृथिवी के सम्बन्धी, पापों वा कष्ट से (पातु) बचावे और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, तद्वत् ऊपर गुरु, प्रभु, पिता आदि (अस्मान्) हमें (दिव्यात्) दिव्य (अंहसः) आकाश से आने वाले कष्ट से (पातु) बचावे। इति त्रयोदशो वर्गः ॥

तन्तुं॑ त॒न्वन्रज॑सो भा॒नुमन्वि॑हि॒ ज्योति॑ष्मतः प॒थो र॑क्ष धि॒या कृ॒तान् ।
अ॒नु॒ल्ब॒णं व॑यत॒ जोगु॑वा॒मपो॒ मनु॑र्भव ज॒नया॒ दैव्यं॒ जन॑म् ॥ ६ ॥

भा०—हे मनुष्य! तू (तन्तुम् तन्वन्) प्रजा शिष्य आदि सन्तान रूप तन्तु को उत्पन्न करता हुआ (रजसः भानुम्) ज्ञान प्रकाशक, समस्त लोक के प्रकाशक, सूर्यवत् तेजस्वी गुरु वा प्रभु को (इहि) अनुगमन कर। और (धिया कृतान्) हम को सत्कार और बुद्धि से बनाये गये (ज्योतिष्मतः पथः) सूर्य के उज्ज्वल मार्गों की (रक्ष) रक्षा कर, अथवा, (धिया) बुद्धि वा यत्न से तू (कृतान् पथः) बनाये गये मार्गों को

(ज्योतिष्मतः) प्रकाश से युक्त बनाये रख, मार्गों पर अन्धेरा न होने दे। (जोगुवाम्) उपदेष्टा जनों के (अनुल्बणं) अति सुखदायी, कभी कष्ट न देने वाले (अपः) सत्कर्म को (वयत) कर। तू सदा (मनुः भव) मननशील हो। और (जनं दैव्यं जनय) मनुष्यों को देव, प्रभु का उपासक बना।

अक्षानहो नह्यतनोत सोम्या इष्कृणुध्वं रशना ओत पिंशत।
अष्टावन्धुरं वहताभितो रथं येन देवासो अनयन्नभि प्रियम् ॥७॥

भा०—हे (सोम्याः) सौम्य स्वभाव वाले एवं सोम, शिष्य जनो, वीर्यवान् शासक जनो ! (अक्ष-नहः नह्यतन) जिस प्रकार अक्ष, धुरा में लगाने योग्य अश्वों को खूब अच्छी प्रकार बांधा जाता है, उसी प्रकार आप लोग (अक्ष-नहः) अध्यक्ष पद पर सम्बन्धित करने योग्य उत्तम जनों को (नह्यत) बांधो, उनको उत्तम पद पर पदबद्ध, कर्त्तव्य-बद्ध, वचन-बद्ध करो। (रशनाः इष्कृणुध्वम्) जिस प्रकार रथी अपने अश्वों की रासों को ठीक रखता है उसी प्रकार तुम लोग भी (रशनाः) राष्ट्र में भोग सामग्रियों को (इष्कृणुध्वम्) अन्नोत्पादक उपायों से उत्पन्न करो। (उत) और अपने आप के आत्मा वा गृहस्थ रथ को (अष्टावन्धुरं आ पिंशत) आठों शीर्षगत प्राणों को बांध कर सुरूप, सौम्य बनावें, (येन देवासः) जिससे विद्वान् जन (प्रियम् अभि) प्रिय इष्ट आत्मा के प्रति (रथं अनयन्) अपने वेगवान् मन को लजाते हैं।

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥८॥

भा०—(अश्मन्वती रीयते) व्यापक आत्म-शक्ति से युक्त नदी के समान यह अनादि प्रवाह बराबर गति कर रहा है। हे विद्वान् पुरुषो !

(सं रभध्वम्) मिलकर एक साथ उद्योग करो। (उत् तिष्ठत) उत्तम स्थिति प्राप्त करो। हे (सखायः) मित्रो ! (ये) जो (अशेवाः) अकल्याण, मल, पाप, एवं दुःखदायी कारण हैं उनको (अत्र) यहां (जहाम) त्याग दें। और (शिवान् वाजान् अभि) कल्याणकारी, सुखदायी ऐश्वर्यों और ज्ञानों को लक्ष्य कर, प्राप्त कर (वयम्) हम (उत् तरेम) उत्तम पद पर पहुंचें।

त्वष्टा माया वेदपसामपस्तमो बिभ्रत्पात्रा देवपानानि शन्तमा।
शिशीते नूनं परशुं स्वायसं येन वृश्चादेतशो ब्रह्मणस्पतिः ॥ ९ ॥

भा०—(अपसाम् अपस्तमः) सब कर्म करने वालों में श्रेष्ठ, सर्वोत्तम कर्म-सम्पादन करने वाला, (त्वष्टा) जगत् का बनाने वाला प्रभु परमेश्वर (मायाः) जगत् निर्माण करने वाली समस्त शक्तियों और बुद्धियों और कर्मों को (वेत्) जानता है। वह ही (देव-पानानि) सूर्य, पृथिवी चन्द्र आदि लोकों, चक्षु आदि इन्द्रियों और विद्वानों को पालन करने वाले नाना (शं-तमा पात्रा) अति शान्तिकारक पालन करने के साधनों, वा उपायों को (बिभ्रत्) धारण करता है। वह ही (ब्रह्मणः पतिः) महान् ब्रह्माण्ड का स्वामी, ब्रह्मज्ञान का पालक ही (सु-आयसम् परशुम् शिशीते) उत्तम लोहसार के बने परशु को विज्ञ शिल्पी के समान (सु-आयसम् परशुम्) सुख प्राप्त कराने वाले, परम पद तक पहुंचाने वाले ज्ञान रूप वज्र को (शिशीते) तीक्ष्ण करता है। (येन) जिससे (एतशः) यह शुक्रकर्मा जीव वा ज्ञानी पुरुष (वृश्चात्) इन समस्त कर्म-बन्धों को काट डालता है। उपनिषदों में जिस प्रकार ओंकार रूप औपनिषद् महास्त्र का वर्णन (मुण्डक उप मु० २। ख० २। मं० ३। में) है उसी प्रकार यहां 'सुआयस परशु' का वर्णन है।

सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः॥१०॥

भा०—हे (कवयः) विद्वान् क्रान्तदर्शी पुरुषो! आप लोग (याभिः वाशीभिः) उत्तम उपदेशप्रद वाणियों, और इन्द्रियादि को वश करने वाली जिन साधनाओं से (अमृताय) मोक्ष प्राप्ति के लिये (गुह्यानि) बुद्धिगम्य, रहस्य युक्त (पदा) उत्तम २ ज्ञानों को (तक्षथ) अभ्यास करसको उनको (सतः) सत्, ज्ञानवान् पुरुष से (संशिशीत) प्राप्त करके खूब अभ्यास द्वारा तीक्ष्ण करो। हे (विद्वांसः) विद्यावान् पुरुषो और आप लोग! (गुह्यानि पदानि) उन बुद्धिगम्य ज्ञानों का (कर्त्तन) सम्पादन करो (येन) जिससे (देवासः) ज्ञानी पुरुष (अमृतत्वम्) अमृतमय मोक्ष पद को (आनशुः) प्राप्त करते हैं। यह तीक्ष्ण करने का भाव भी उपनिषदों में वेद से लिया है। जैसे–'धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं संधयीत॥ (मुण्डक २।२।३)

गर्भे योषामदधुर्वत्समासन्यपीच्येन मनसोत जिह्वया।
स विश्वाहा सुमना योग्या अभि सिषासनिर्वनते कार इज्जितिम्
॥११॥१४॥

भा०—(योषाम् गर्भे वत्सम्) स्त्री के गर्भ में बालक के तुल्य सुरक्षित रूप से विद्वान् लोग (अपीच्येन मनसा) तद्गत चित्त और (जिह्वया) वाणी से (आसनि) मुख में (वत्सम् अदधुः) बोलने योग्य उत्तम वचन को धारण करते हैं। (सः कारः इत् जितिं वनते) वह कार्य करने वाला, समर्थ पुरुष ही विजय को प्राप्त करता है जो (सुमनाः) उत्तम चित्तवान् होकर (योग्याः अभि) योग्य, अर्थात् सहयोग करने वाली प्रजाओं और सेनाओं को (सिषासनिः) निरन्तर ऐश्वर्य विभक्त करता और उनको उचित रीति से वेतन देता और उनको प्राप्त करता है॥ इति चतुर्दशो वर्गः॥

[५४]

बृहदुक्थो वामदेव्यः। इन्द्रो देवता॥ छन्दः—१, ६ त्रिष्टुप्। २ विराट् त्रिष्टुप्। ३, ४ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप्। ५ पादनिचृत् त्रिष्टुप्॥
षडृचं सूक्तम्॥

तां सु ते कीर्तिं मघवन्महित्वा यत्त्वा भीते रोदसी अह्वयेताम्।
प्रावो देवाँ आतिरो दासमोजः प्रजायै त्वस्यै यदशिक्ष इन्द्र ॥१॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्! राजन्! (ते) तेरी (ताम्) उस अलौकिक (महित्वा) महान् सामर्थ्य से प्राप्त कीर्त्ति को जानूं (यम्) जो (भीते रोदसी) भयभीत आकाश और पृथिवीवत् राजा और प्रजा दोनों वर्ग (त्वा अह्वयेताम्) तुझे अपनी रक्षार्थ बुलाते हैं। और तू (यत्) जो (देवान् प्र आवः) विद्वान्, ज्ञानार्थी, धनार्थी और शरणार्थी की अच्छी प्रकार रक्षा करता, और (दासम् आ अतिरः) विनाशकारी प्रजाघातक का सब प्रकार से नाश करता और (त्वस्मै प्रजायै) एक मात्र प्रजा को (ओजः अशिक्षः) बल-पराक्रम प्रदान करता और उसकी उसको शिक्षा भी करता है।

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥ २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (यत्) जो तू (बलानि) अपने बलों, सैन्यों को (वा वृधानः) बढ़ाता हुआ, (तन्वा) बड़ी भारी सेना के साथ (अचरः) विचरता और भारी राष्ट्र का भोग करता है, और जो तू (जनेषु प्रब्रुवाणः अचरः) मनुष्यों को भी उत्तम उपदेश करता हुआ विचरता है और लोग जो (ते यानि युद्धानि आहुः) तेरे नाना युद्धों का व र्न करते हैं (सा ते माया इत्) वह सब तेरी बुद्धि

और निर्मात्री वा शत्रु विनाशकारिणी, संहारक शक्ति ही है, तू (न अद्य शत्रुं विवित्से) न आज शत्रु को पाता है (न नु पुरा विवित्से) न पहले ही तू किसी को अपना शत्रु प्राप्त कर सका। तेरी महती शक्ति से भयभीत होकर, तेरी बुद्धि से चकित होकर तेरा शत्रु न पहले रहा, न अब है। वे युद्धादि वर्णन भी तेरे बुद्धि-कौशलों का ही आविष्कार रहा।

क उ नु ते महिमनः समस्यास्मत्पूर्व ऋषयोऽन्तमापुः।
यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्वः स्वायाः॥ ३॥

भा०—हे ऐश्वर्यवन्! प्रभो! (के उ नु ऋषयः) वे कौन से तत्वदर्शी मन्त्रद्रष्टा जन हैं जो (अस्मत् पूर्वे) हम से पूर्व होकर भी (ते समस्य महिमनः) तेरी समस्त महिमा के (अन्तम् आपुः) अन्त तक पहुंचे हों। कोई भी तेरे महान् सामर्थ्य का पार न पा सके? (यत्) क्योंकि तू ही (मातरं च पितरं च) माता और पिता, सूर्य और भूमि दोनों को (स्वायाः तन्वः) अपने देह में से एक साथ ही (अजनयथाः) उत्पन्न करता है। प्रजापति ने अपने देह को गिरा कर उसे ही स्त्री-पुरुष दो खण्ड में किया, ऐसा बृहदारण्यक का वचन है। और इसी अपनी हिरण्यगर्भतनु में से आकाश भूमि रचे ऐसा वेद स्वयं कहता है। ये वचन विचारने योग्य हैं। इनका तात्पर्य यह है कि उस परमात्मा में मातृपितृ दोनों शक्तियां विद्यमान हैं। इसी प्रकार आत्मा में ही मातृदेह और पितृ-देह दोनों को रचने का सामर्थ्य है।

चत्वारि ते असुर्याणि नामादाभ्यानि महिषस्य सन्ति।
त्वमङ्ग तानि विश्वानि वित्से येभिः कर्माणि मघवञ्चकर्थ॥ ४॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्! (ते महिषस्य) तुझ महान् प्रभु के (चत्वारि) चार (नाम) नाम, रूप ही (अदाभ्यानि) कभी नाश

न होने योग्य, अविनाशी हैं। (अङ्ग) हे प्रभो! (त्वं तानि विश्वानि वित्से) तू उन सबको जानता है (येभिः) जिन से तू (कर्माणि चकर्थ) समस्त कर्म, जगत् आदि निर्माण करता है।

ब्रह्म के ४ पाद ४ अदाभ्य नाम हैं जो 'असुर्य' हैं अर्थात् असु प्राणों में रमण करने वालों या जीवों में भी प्रकट होते हैं, जीवों में प्रकट होने वाली उन चार दशाओं के अनुसार ही ब्रह्म में भी उन चार दशाओं का वर्णन किया जाता है। वे चार दशाएं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और अमात्रा तुरीया दशा। तदनुसार सृष्टि, स्थिति, लय और परमा दशा है।

त्वं विश्वा दधिषे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि।
काममिन्मे मघवन्मा वि तारीस्त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता॥५॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! प्रभो! (त्वम्) तू (विश्वा) समस्त, (केवलानि) असाधारण, अपने आप स्वयं धारण करने योग्य, (वसूनि) ऐश्वर्यों को धारण कर रहा है (या च गुहा) जो अभी अप्रकट गुप्त रूप में है, और (यानि आविः) जो प्रकट भी हैं हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्! तू (मे कामम् इत्) मेरे अभिलाष को ही कभी (मा वि तारीः) विनष्ट न होने दे, प्रत्युत (त्वम् आज्ञाता) तू ही आज्ञा देने वाला, अध्यक्ष है और हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! तू ही (दाता असि) देने हारा है। अस्य दाता इति इन्द्रः। इदम् राति इति वा इन्द्रः।

यो अदधाज्ज्योतिषि ज्योतिरन्तर्यो असृजन्मधुना सं मधूनि।
अध प्रियं शूषमिन्द्राय मन्म ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादवाचि॥६॥१५॥

भा०—(यः) जो (ज्योतिषि अन्तः ज्योतिः अदधात्) सूर्य आदि ज्योतियों के बीच में प्रकाश को धारण कराता है, (यः) जो (मधुना) मधुर रस से समस्त (मधूनि सम् असृजत्) पदार्थों को संयुक्त करता है, उस

(इन्द्राय) महान् ऐश्वर्य वाले प्रभु के (प्रियं) अति प्रिय, (मन्म) मनन करने योग्य, (शूषम्) बलको (ब्रह्म-कृतः) ब्रह्म, वेद के उपदेश करने वाले (बृहदुक्थात्) विशाल वेद के ज्ञानवान् पुरुष से (अवाचि) प्राप्त करके कहा या उपदेश किया जाता है । इति पञ्चदशो वर्गः ॥

[५५]

बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ८ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ५ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ३, ४, ६ त्रिष्टुप् । ७ विराट् त्रिष्टुप् ॥ अष्टर्चं सूक्तम् ॥

दूरे तन्नाम गुह्यं पराचैर्यत्त्वा भीते अह्वयेतां वयोधै ।
उदस्तभ्नाः पृथिवीं द्यामभीके भ्रातुः पुत्रान्मघवन्तित्विषाणः ॥१॥

भा०—(यत्) जो (त्वा) तुझ को (भीते) भय से डरते हुए आकाश और पृथिवी, वा तत्स्थ जीववर्ग (वयः-धै) बल धारण कराने या देने के लिये (अह्वयेताम्) बुलाती सी हैं और तू (पृथिवीं द्याम्) पृथिवी और आकाश वा सूर्य दोनों को (अभीके) समीप २ वा निर्भय रूप से (उत् अस्तभ्नाः) ऊपर थामे रहता है और (भ्रातुः) समस्त जीवों को भरण पोषण करने वाले सूर्य वा मेघ के (पुत्रान्) अनेकों को पालन करने में समर्थ किरणों वा जल-धाराओं को (तित्विषाणः) तेज वा विद्युत् से प्रकाशित किया करता है तेरा (तत् नाम) वह स्वरूप, जो जगत् को थामता और पालन करता रहता है वह भी, (पराचैः) पराङ्मुखों से (गुह्यं) छुपा और दूर दूर रहता है । विमुख जन उसको जान वा अनुभव नहीं कर सकते ।

महत्तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृग्येन भूतं जनयो येन भव्यम् ।
प्रत्नं जातं ज्योतिर्यदस्य प्रियं प्रियाः समविशन्त पञ्च ॥ २ ॥

भा०—(महत् तुत् गुह्यं नाम) वह महान् गुप्ततम रूप है (पुरु स्पृक्) जिस को अनेक जीवगण प्रेम करते हैं, (येन) जिससे (भूतम्) इस उत्पन्न जगत् को तू (जनयः) उत्पन्न करता है, और (येन भव्यम् जनयः) जिस अपने सामर्थ्य से तू भविष्यत् को भी उत्पन्न करता है, और (यत्) यह कि जो (अस्य) इसका (प्रत्नं) अति पुरातन (ज्योतिः) प्रकाशमय रूप भी (अस्य प्रियं जातम्) इस उत्पन्न जीवसर्ग को प्रिय, पोषक पालक रूप से प्रकट हुआ। इसी प्रिय ज्योति को प्राप्त होकर (पञ्च सम् अविशन्त) आत्मा में पांचों प्राणों के तुल्य पांचों महाभूत आश्रय करते हैं। इस प्रकार पूर्व सूक्त में कहे ४ रूप प्रभु के हैं। १ जगत्स्तम्भनकारी, २ जगत्-प्रेरक, ३ जगत्-जनक और ४ सर्वप्रिय।

आ रोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त।
चतुस्त्रिंशता पुरुधा वि चष्टे सरूपेण ज्योतिषा विव्रतेन ॥ ३ ॥

भा०—वह (रोदसी) भूमि और आकाश को पू[र्ण] कर रहा है। (उत मध्यम् अपृणात्) और वह दोनों के बीच के भाग को भी पूर्ण कर रहा है, ऊपर नीचे, आकाश, भूमि और मध्य अन्तरिक्ष इस स्थान पर बसे समस्त लोकों को भी पाल रहा है। वह (ऋतुशः) ऋतु रूप में विद्यमान (पञ्च देवान्) पांच प्रकार के किरणों, वर्गों या ऋतु-उत्पादक प्रकाशों को सूर्य के समान पांच भूतों और पांच प्राणों को (अपृणात्) पूर्ण करता है, उनमें भी व्यापता और उनको भी प्रकाशित, गतिमान् करता है। वह (वि-व्रतेन) विविध कर्म के जनक (चतुस्त्रिंशता) ३४ प्रकार के विकारों से (स-रूपेण ज्योतिषा) एक समान तेज से भी (पुरु-धा विचष्टे) नाना प्रकार का दीखता है। ८ वसु, १२ आदित्य, ११ रुद्र, प्रजापति, वषट्कार और विराट् ये चौंतीस हैं।

यदु॑ष॒ औच्छः॑ प्रथ॒मा वि॒भाना॒मज॑नयो॒ येन॑ पु॒ष्टस्य॑ पु॒ष्टम् ।
यत्ते॑ जामि॒त्वमव॑रं॒ पर॑स्या म॒हन्म॑ह॒त्या अ॑सुर॒त्वमेक॑म् ॥ ४ ॥

भा०—हे प्रभो ! हे (उषः) सर्ववशकारिणी ! प्रकाशवति कान्तिमति ! प्रभु शक्ति ! (यत्) जो तू (विभानाम् प्रथमा) विशेष चमकने वाले सूर्यादि के बीच में भी प्रभात के तुल्य सर्वप्रथम (औच्छः) प्रकट होती है और तमोमय प्रलय काल में से प्रथम तेजोमय रूप को प्रकट करती है, (येन) जिससे (पुष्टस्य) परिपोषण योग्य जगत् रूप पुत्र के (पुष्टम्) पोषण युक्त महान् देह को (अजनयः) प्रकट करती है, और (यत्) जो (ते) तुझ (परस्याः) परम शक्ति का भी (अवरम्) हम लोगों के भी प्रत्यक्ष होने वाला मातृतुल्य सम्बन्ध है वह (महत्या) तुझ महती परमेश्वरी माता का (एकम्) एक, अद्वितीय (महत् असुरत्वम्) बड़ा भारी जीवन-दाता होने का प्रमाण है ।

वि॒धुं द॑द्रा॒णं सम॑ने बहू॒नां युवा॑नं॒ सन्तं॑ पलि॒तो ज॑गार ।
दे॒वस्य॑ पश्य॒ काव्यं॑ महि॒त्वाद्या म॒मार॒ स ह्यः॒ समा॑न ॥ ५ ॥ १६ ॥

भा०—(विधुं) शत्रुओं को विशेष रूप से कंपाने वाले, विविध चेष्टा करने वाले, वा नाना कार्यों को करने वाले, (समने) संग्राम वा संगति काल में (बहूनां दद्राणं) बहुतों को बल से भगाने में समर्थ (युवानं सन्तं) युवा, बलवान् पुरुष को भी एक (पलितः) वृद्धतुल्य, व्यापक सूर्य जैसे (विधुं) चन्द्र को, वैसे ही वह पुराना काल (जगार) निगल जाता है । (देवस्य) उस प्रभु के (महित्वा) महान् सामर्थ्य से युक्त (काव्यं पश्य) महान् क्रान्तदर्शिता वा बुद्धिमत्ता से बनाये गये इस जगत् रूप काव्य को (पश्य) देख, (अद्य ममार) जो आज मरता है, (सः ह्यः) वह कल, आने वाले या गये को भी किसी दिन (समान) भली प्रकार प्राण लेता था और आगे भी पुनः उत्पन्न होगा । इति षोडशो वर्गः ॥

शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीळः ।
यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता ॥ ६ ॥

भा०—वह परमेश्वर (शाक्मना शाकः) अपनी महती शक्ति से शक्तिशाली है। वह (अरुणः) तेजोमय (सुपर्णः) सुख से सबका पालक है। (यः) जो वह (महः) महान् (शूरः) दुष्टों का नाशक, (सनात्) सनातन, (अनीडाः) किसी विशेष स्थान पर न होकर, सर्वव्यापक है। वह (यत् चिकेत) जो कुछ भी जानता है, (सत्यम् इत् तत्) वह सब सत्य ही है। (तत् मोघं न) वह कभी व्यर्थ, निष्फल (वसु न जेता ऐश्वर्य को नहीं जीतता (उत न दाता) और व्यर्थ नहीं देता है।

ऐभिर्ददे वृष्ण्या पौंस्यानि येभिरौक्षद्वृत्रहत्याय वज्री ।
ये कर्मणः क्रियमाणस्य मह्न ऋतेकर्ममुदजायन्त देवाः ॥ ७ ॥

भा०—जिस प्रकार (देवाः) किरण वा वायुगण (क्रियमाणस्य कर्मणः मन्हा) किये जाने वाले कर्म, यज्ञादि के महान् सामर्थ्य से प्रेरित होकर (ऋते कर्मम् उत् अजायन्त) जलों के निमित्त कर्म को करने के लिये उठते और उदित होते हैं जिनसे (वृत्र-हत्याय) मेघको छिन्न भिन्न करने के लिये (वज्री) तेजस्वी सूर्य (पौंस्यानि औक्षत्) नाना बल-कर्म वा जल धारता वा सेंचता है (एभिः) उनसे ही वह (वृष्ण्या पौंस्यानि आददे) वृष्टिकारक जलों को भी धारण करता है। उसी प्रकार (ये देवाः) जो देवनशील, तेजस्वी वीर पुरुष (क्रियमाणस्य कर्मणः मह्ना) किये जाने वाले कर्म के महान् सामर्थ्य से (ऋते कर्मम्) सत्य ज्ञान के आश्रय पर जगत् को रचने वाले प्रभु को भी (उत् अजायन्त) प्राप्त करते हैं (येभिः) जिनके द्वारा (वज्री) तेज, बल, पाप-निवारक बल का स्वामी प्रभु (वृत्र-हत्याय) विघ्नकारी अज्ञान और दुष्ट पुरुषों के विनाश और (वृत्र-हत्याय) नाना धनैश्वर्यों को प्राप्त करने के लिये (पौंस्यानि) नाना

बलों और जीवों के हितकारी कर्मों को (औक्षत्) धारण करता और प्राप्त कराता है (एभिः) उनके ही द्वारा वह (वृष्ण्या) सब सुखों के देने वाले बलों को भी (आ दधे) धारण और प्रदान करता है ।

युजा कर्माणि जनयन्विश्वौजा अशस्तिहा विश्वमनास्तुराषाट् ।
पीत्वी सोमस्य दिव आ वृधानः शूरो निर्युधाधमद्दस्यून् ॥८॥१७॥

भा०—(विश्व-ओजाः) समस्त प्रकार के बल पराक्रमों को करने वाला, प्रभु (युजा) संयोग, वा सहकारी कारण, उपादान, रूप प्रकृति के द्वारा (कर्माणि जनयन्) नाना कर्मों को करता हुआ (अशस्ति-हा) न कहने योग्य, अव्यक्त दशा का नाश करता हुआ, (विश्व-मनाः) सब ज्ञानों का स्वामी, सर्वज्ञ, (तुरा-षाट्) वेग से सब से अधिक, सर्वशक्तिमान् प्रभु (सोमस्य पीत्वी) बल वीर्य रूप जगद्-उत्पादक रूप सामर्थ्य का पालन या धारण करके, (आवृधानः) बढ़ता हुआ वा शिल्पी के समान (दिवः आवृधानः) तेजोमय सूर्य आदि लोकों को बनाता हुआ (युधा) प्रहार से (शूरः) शूरवत्, (दस्यून्) नाशकारणों को (निर् अधमत्) दूर कर देता है । इति सप्तदशो वर्गः ॥

[५६]

बृहदुक्थो वामदेव्यः । विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः—१, ३ निचृत् त्रिष्टुप् । २ विराट् त्रिष्टुप् । ७ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ४ पादनिचृज्जगती । ५ विराड् जगती । ६ आर्ची भुरिग् जगती ॥ सप्तर्चं सूक्तम् ॥

इदं त एकं पर ऊं त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व ।
संवेशने तन्वश्चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥ १ ॥

भा०—(इदं ते एकं) यह तेरे लिये एक ज्योति है । (ते एकं परः)

तेरे लिये एक यह परम ज्योति है। तू (तृतीयेन) तृतीय, सर्वोत्कृष्ट (ज्योतिषा) ज्योति के साथ (संविशस्व) मग्न होकर रह। (तन्वः) आत्मा, देह के और तू (देवानां परमे जनित्रे) समस्त दिव्य शक्तियों, सूर्यादि लोकों और विद्वानों के उत्पादक (परमे) सर्वश्रेष्ठ (संवेशने) सेज के तुल्य सब को आश्रय देने वाले, प्रभु में (चारुः) सर्वत्र विचरण करता हुआ, (प्रियः) सर्वप्रिय होकर (तन्वः संविशस्व) नाना देहों और विस्तृत लोकों में भी प्रवेश कर और (एधि) रह।

तनूष्टे वाजिन्तन्वं नयन्ती वाममस्मभ्यं धातु शर्म तुभ्यम्।
अह्रुतो महो धरुणाय देवान्दिवीव ज्योतिः स्वमामिमीयाः ॥ २ ॥

भा०—हे (वाजिन्) ज्ञानवन्! (तनूः) तेरी एक काया (तन्वम् नयन्ती) तुझे दूसरे देह को प्राप्त कराती हुई (अस्मभ्यम् वामम् धातु) हमें उत्तम ज्ञान दे और (तुभ्यम् शर्म धातु) तुझे सुख प्रदान करे। तू (अह्रुतः) अकुटिल मार्ग पर चलता हुआ, सरल आचरणवान् होकर (महः देवान् धरुणाय) बड़े शक्तिशाली देवों को धारण करने वाले प्रभु परमेश्वर को प्राप्त करने के लिये (दिवि इव) आकाश में (स्वम् ज्योतिः) सूर्यवत् स्वप्रकाश अपनी, वा सर्वोत्पादक (ज्योतिः आ मिमीयाः) परम ज्योति को प्राप्त कर।

वाज्यसि वाजिनेना सुवेनीः सुवितः स्तोमं सुवितो दिवं गाः।
सुवितो धर्मं प्रथमानु सत्या सुवितो देवान्त्सुवितोऽनु पत्म ॥३॥

भा०—हे आत्मन्! विद्वन्! तू (वाजिनेन वाजी असि) बल से ही बलशाली, और ज्ञान से ज्ञानवान् है। तू (सुवेनीः) उत्तम कान्तिमान्, शुभ २ पदार्थों की कामना वाला होकर (सुवितः) शुभ मार्ग में गमन करके, (स्तोमम् गाः) उत्तम स्तुति, और स्तुत्य पद को प्राप्त कर। और

(सुवितः) उत्तम सुखजनक मार्ग में चल कर ही तू (दिवं गाः) उस प्रकाश ज्ञान और तन्मय प्रभु को प्राप्त कर । (सुवितः) उत्तम पथ में, उत्तम आचरण में रह कर ही तू (धर्म गाः) सब के धारक प्रभु वा बल को प्राप्त कर । (सुवितः अनु सत्या प्रथमा) उत्तम पथ में चल कर ही पश्चात् सर्वश्रेष्ठ सत्य फलों को, सत्य तत्वों को प्राप्त कर ।(सुवितः देवान्) शुभ कर्म में चल कर ही तू देवों, विद्वानों और शुभ गुणों, शुभ लोकों को प्राप्त कर ।(सुवितः अनु पत्म) उत्तम शुभ मार्ग में रह कर ही तू चलने योग्य सन्मार्ग तथा ऐश्वर्यमय पद को भी प्राप्त कर ।

महिम्न एषां पितरश्चनेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् ।
समविव्यचुरुत यान्यत्विषुरैषां तनूषु नि विविशुः पुनः ॥ ४ ॥

भा०—(देवाः पितरः) तेजस्वी, दानशील, माता पिता के तुल्य सब का पालन करने वाले, (एषां महिम्नः ईशिरे) इन प्राणों वा लोकों के महान् सामर्थ्य और ऐश्वर्य के भी स्वामी होजाते हैं । वे (देवेषु) उन दिव्य लोकों और विद्वानों के बीच (क्रतुम् अदधुः) कर्म सामर्थ्य को धारण करते, वा (देवेषु क्रतुम् अदधुः) ज्ञानाभिलाषी शिष्यों में अपने ज्ञान को प्रदान करते हैं । (उत) और (यानि अत्विषुः) जो ज्योतियां वा ज्योतिर्मय लोक खूब चमकते हैं वे उनको (अविव्यचुः) प्राप्त करते हैं । और (एषां) उनमें वे (तनूषु पुनः नि विविशुः) देहों में पुनः प्रवेश करते हैं ।

सहोभिर्विश्वं परि चक्रमू रजः पूर्वा धामान्यमिता मिमानाः ।
तनूषु विश्वा भुवना नि येमिरे प्रासारयन्त पुरुध प्रजा अनु ॥५॥

भा०—वे (पूर्वा) पूर्व के, सर्वोत्तम, (अमिता) अपरिमित, अनेक (धामा) लोकों, तेजों को (मिमानाः) प्राप्त होते हुए, (विश्वं रजः परि चक्रमुः) समस्त लोकों को परिभ्रमण करते हैं, और (तनूषु) शरीरों में

रह कर ही (विश्वा भुवना नियेमिरे) समस्त लोकों को नियम में रखते, उनका सञ्चालन करते हैं। और (अनु) तदनुसार ही (पुरुध प्रजाः प्र असारयन्त) बहुत प्रकार से प्रजाओं का प्रसार करते, बढ़ाते, फैलाते और उनको उत्कृष्ट मार्ग में चलाते हैं।

द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम् ॥ ६ ॥

भा०—(सूनवः) प्रजाओं को सन्मार्ग में चलाने वाले या देहों में प्रजा-रूप से उत्पन्न होने वाले जीवगण, (स्वः-विदम् असुरम्) तेज, सुख के प्राप्त कराने वाले, प्राणों में रमण करने वाले वीर्य को (तृतीयेन कर्मणा) तीसरे श्रेष्ठ कर्म द्वारा (द्विधा) दो भाग करके (स्वाम् प्रजाम् आ अस्थापयन्त) अपनी प्रजा को स्थापन करते हैं। वे (पितरः) पालक पिता होकर (अवरेषु) अपने से आगे आने वालों में (पित्र्यं सहः) पिता के बल, तेज, परा-क्रम वा धन और (आततम् तन्तुम्) अभी तक चले आये, अविच्छिन्न प्रजा रूप तन्तु को (आ अदधुः) स्थापित करते हैं, वे उन पर ही प्रजोत्पादन का कर्त्तव्य धर जाते हैं। दो प्रकार की प्रजा पुत्र और शिष्य होती हैं।

अथवा—(सूनवः) पुत्र लोग (स्वार्विदम्) तृतीयाश्रम भोगी (असुरं) अपने प्राणदाता पिता को (तृतीयेन कर्मणा) सर्वश्रेष्ठ मोक्ष साधन कर्म दो रूपों में पिता वा शिक्षक के रूप में स्थापित करते हैं। और पिता लोग (अवरेषु) आगे बढ़ने वालों पर (स्वां प्रजां) स्वप्रजा और (पित्र्यं सहः) पित्र्य धन को और (आततं तन्तुं) अविच्छिन्न वंशतन्तु को (अदधुः) स्थापित करते हैं।

'अयं ह्यातस्तन्तुर्यत् प्रजाः, इति ब्राह्मणम्। प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी रित्यादेशः (तै ० ५ । ६ । ६ । ४ ॥) तन्तुं तन्वन् इत्यस्या ब्राह्मणं प्रजा वै तन्तुरिति ॥ ऐ० ब्रा० ३ । ११ ॥

नावा न क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा ।
स्वां प्रजां बृहदुक्थो महित्वावरेष्वदधादा परेषु ॥ ७ ॥ १८ ॥

भा०—(नावा क्षोदः न) नाव से जिस प्रकार जल को तरा जाता है, उसी प्रकार (स्वस्तिभिः) उत्तम कल्याणकारक उपायों से (पृथिव्याः) पृथिवी, भूमि या इस लोक की (प्र-दिशः) समस्त दिशाओं को (विश्वा दुर्गाणि अति) और समस्त दुखदायी कष्टों को पार करके (बृहद्-उक्थः) बड़े भारी ज्ञान को जानने वाला विद्वान् (महित्वा) अपने महान् सामर्थ्य से (परेषु अवरेषु) आगे आने वालों और उत्तम जनों में, पास और दूर के लोकों में भी (स्वां प्रजाम् आ अदधात्) अपनी प्रजा को उत्पन्न करे । इत्यष्टादशो वर्गः ॥

[५७]

बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायनाः ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः—
१ गायत्री । २—६ निचृद् गायत्री ॥ षड्चं सूक्तम् ॥

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥ १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! विद्या, ज्ञान, प्रकाश के देने हारे सूर्यवत् ! (वयं) हम लोग (सोमिनः) उत्तम शासन वाले होकर (पथः) गमन करने योग्य सन्मार्ग और (यज्ञात्) उपासनीय यज्ञ रूप प्रभु से (मा प्र गाम) दूर न हों । (अरातयः) ज्ञान, धनादि देने वाले शत्रु, स्वार्थी, लोभी (नः अन्तः मा तस्थुः) हमारे बीच में न रहें ।

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः ।
तमाहुतं नशीमहि ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (यज्ञस्य) यज्ञ और उपास्य प्रभु की (प्र-साधनः)

उत्तम रीति से साधना करने वाला (तन्तुः) सूत्रवत् अविच्छिन्न, वंशधर के तुल्य (देवेषु आततः) विद्वानों के बीच, प्राणों में आत्मा के समान विद्यमान है (तम् आहुतम्) उस उत्तम शिक्षा व्रत आदि से परिगृहीत, स्वीकृत को हम (नशीमहि) प्राप्त करें ।

मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन ।
पितॄणां च मन्मभिः ॥ ३ ॥

भा०—हम (नाराशंसेन सोमेन) मनुष्यों द्वारा प्रशंसनीय, उत्तम सन्मार्ग में प्रणेता द्वारा स्तुति, उपदेश करने योग्य (सोमेन) उत्तम सौम्य गुणों से युक्त पुरुष वा शिष्य पुत्रादि से हम लोग (नु) अब अपने (मनः आ हुवामहे) चित्त वा ज्ञान को सब ओर प्राप्त करावें । और (पितॄणां मन्मभिः) ज्ञान के पालक गुरु जनों के मनन करने योग्य वचनों द्वारा उन सहित भी हम (मनः आ हुवामहे) सब ओर ज्ञान और चित्त को ले जावें ।

आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (ते मनः) तेरा मन (पुनः) पुनः २ (क्रत्वे दक्षाय) कर्म करने और बल प्राप्त करने के लिये वा अपान और प्राण के लिये और (जीवसे) जीवन के लिये और (ज्योक् च दृशे) चिरकाल तक दर्शन करने के लिये (सूर्यं) सूर्य के प्रति चक्षु के तुल्य सर्वप्रेरक सर्व बलशाली प्रभु की ओर (पुनः आहुतः) फिर २ प्राप्त हो । शयन में विलीन होने के उपरान्त भी पुनः २ जागृत दशा में हो ।

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः ।
जीवं व्रातं सचेमहि ॥ ५ ॥

भा०—(नः पितरः) हमारे पालन करने वाले नाना सूर्य, पृथिवी,

वायु, प्राण आदि पदार्थ (नः मनः ददतु) हमें फिर २ मन को प्रदान करें। और (दैव्यः जनः) देवतुल्य सूर्यवत् तेजस्वी जन भी हमें पुनः २ मन वा ज्ञान का प्रदान करें। जिससे हम बार २ (जीवं व्रातं सचेमहि) जीवन युक्त प्राणगण को प्राप्त हों।

वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः।
प्रजावन्तः सचेमहि ॥ ६ ॥ १६ ॥

भा०—हे (सोम) सर्वशासक! सर्वोत्पादक प्रभो! (तव व्रते) तेरे व्रत के निमित्त (वयम्) हम लोग (तनूषु मनः बिभ्रतः) अपने देहों में मन को एवं विस्तृत यज्ञों में ज्ञान को धारण करते हुए (प्रजा वन्तः सचेमहि) उत्तम प्रजायुक्त होकर प्राप्त हों। इत्येकोनविंशो वर्गः ॥

[५८]

बन्ध्वादयो गौपायना ऋषयः ॥ देवता—मन आवर्तनम् ॥ निचृदनुष्टुप् छन्दः ॥
द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ १ ॥

भा०—हे मनुष्य! (यत् ते मनः) जो तेरा मन (दूरकम्) दूर तक (वैववस्वतं यमं) विविध लोकों और ऐश्वर्यों के स्वामी, सर्वनियन्ता प्रभु को भी (जगाम) पहुंच जाता है (ते) तेरे (तत्) उसको भी हम लोग (इह क्षयाय जीवसे) यहां रहने और जीवन लाभ करने के लिये (आ वर्त्तयामसि) पुनः लौटता पाते हैं।

यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ २ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (यत् ते मनः) जो तेरा मन (दिवं पृथिवीम् दूरकं जगाम) आकाश, भूमि को वा दूरस्थ पदार्थ तक भी चला जाता है, उसको भी (इह जीवसे क्षयाय) यहां जीवन लाभ करने और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (आ वर्त्तयामसि) पुनः लौटा लेते हैं ।

यत्ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ३ ॥

भा०—हे जीव ! (यत् ते मनः चतुर्भृष्टिम् भूमिम् दूरकम् जगाम) चारों ओर से अंश वाली, गोल भूमि अथवा चारों पुरुषार्थों को बहुत २ प्रदान करने वाले उत्पादक लोक को भी प्राप्त करके दूर चला जाता है, (तत्) उसको हम (इह क्षयाय) यहां ऐश्वर्य और निवास तथा (जीवसे) जीवन प्राप्त करने के लिये (ते आ वर्त्तयामसि) तेरे मन को हम लौटा लेवें ।

यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ४ ॥

भा०—(यत् ते मनः) जो तेरा मन (चतस्रः प्रदिशः दूरम् जगाम) चारों दिशाओं में दूर भी चला जावे (ते तत्) तेरे उस मन को भी (इह क्षयाय जीवसे) यहां ऐश्वर्य, निवास जीवन आदि लाभ के लिये (आ वर्त्तयामसि) लौटा लेवें, लौटता पावें ।

यत्ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ५ ॥

भा०—(यत् ते मनः अर्णवं दूरकं जगाम तत्ते०) जो तेरा मन समुद्र तक भी दूर चला जाता है उसको भी हम यहां के ऐश्वर्य, निवास और जीवन सुख के लिये पुनः २ स्नेह वश लौटा लेवें, लौटता पावें ।

यत्ते मरीचीः प्रवतो मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ६ ॥ २० ॥

भा०—(यत् ते मनः प्रवतः मरीचीः दूरकं जगाम) जो तेरा मन दूर की किरणों वा व्यर्थ आशावाली मरुमरीचिका तुल्य तृष्णाओं को प्राप्त कर दूर २ चला जाता है उसको भी (इह क्षयाय जीवसे) यहां सत्पथ में रहने और सुख से जीवन व्यतीत करने के लिये (आ वर्त्तयामसि) पुनः लौटा लेवें । इति विंशो वर्गः ॥

यत्ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ७ ॥

भा०—(यत् ते मनः अपः ओषधीः दूरकं जगाम) जो तेरा मन जलों, प्राणों, ओषधियों वा तत्-तुल्य शरीरों वा सुखों को प्राप्त करने की आशा से दूर २ तक जाता है उसको भी हम (इह क्षयाय जीवसे) यहां रहने और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये (आवर्त्तयामसि) लौटा लेवें ।

यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ८ ॥

भा०—(यत् ते मनः सूर्यं उषसम् दूरकम् जगाम) जो तेरा मन सूर्य वा प्रभातिक वेला को वा तुझे चाहनेवाले किसी व्यक्ति को लक्ष्य कर दूर चला जाता है, उसको भी (इह क्षयाय जीवसे तत् ते आवर्त्तयामसि) यहां ऐश्वर्य प्राप्ति, निवास एवं सुखमय जीवन के लाभार्थ पुनः प्राप्त करें ।

यत्ते पर्वतान्बृहतो मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ९ ॥

भा०—(यत् ते मनः बृहतः पर्वतान् दूरकं जगाम) जो तेरा मन बड़े २ पर्वतों को भी लक्ष्य कर दूर २ तक जाता है (ते तत् इह क्षयाय

जीवसे) उसको भी यहां रहने और जीवन लाभ के लिये (आवर्त्तयामसि) लौटा लेवें।

यत्ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ १० ॥

भा०—(यत् ते मनः इदं विश्वं दूरकं जगाम) जो तेरा मन इस विश्व को लक्ष्य कर दूर तक भी चला जाता है उसको भी (तत् इह क्षयाय जीवसे आ वर्त्तयामसि) हम यहां रहने और जीवन के लिये पुनः लौटा लेवें।

यत्ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ११ ॥

भा०—(यत् ते मनः पराः परावतः दूरकं जगाम) जो तेरा मन दूर २ के देशों को लक्ष्य करके भी दूर तक चला जाता है (ते तत् इह क्षयाय जीवसे) तेरे उस चित्त को भी हम यहां रहने और जीने के लिये लौटाते हैं।

यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ १२ ॥ २१ ॥

भा०—(यत् ते मनः भूतं भव्यं च दूरकं जगाम) जो तेरा मन भूत और भविष्य काल के मार्ग में भी दूर तक चला जाता है (ते तत् इह क्षयाय जीवसे) तेरे उस मन को यहां दीर्घकाल तक रहने और जीवन व्यतीत करने के लिये (आवर्त्तयामसि) लौटा लेते हैं।

अस्थिर चित्त वाले पुरुष का चित्त अस्थिरता की दशा में इधर उधर दूर २ तक मनोहारी पदार्थों को देखकर भटकता है, उसको व्यर्थ न भटका कर यहां उत्तम ऐश्वर्य सुखप्रद निवास और जीवन की सफलता के लिये ही पुनः आवर्त्तन कर लेना चाहिये। इसी को 'प्रत्याहार' का अभ्यास कहा जाता

है। अन्यथा मन के विद्रुत होजाने पर मनुष्य भटक कर उपस्थित सुखों का नाश करता, संकटों में पड़कर जीवन का भी नाश कर लेता है। इत्येकविंशो वर्गः ॥

[५९]

बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—१—३ निर्ऋतिः । ४ निर्ऋतिः सोमश्च । ५, ६ असुनीतिः । लिङ्गोक्ताः । ८, ९, १० द्यावापृथिव्यौ । १० द्यावापृथिव्याविन्द्रश्च ॥ छन्दः—१ विराट् त्रिष्टुप् । २, ४—६ निचृत् त्रिष्टुप् । ३, ७ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ८ भुरिक् पंक्तिः । ९ जगती । १० विराड् जगती ॥ दशर्चं सूक्तम् ॥

प्र तार्यायुः प्रतरं नवीयः स्थातारेव क्रतुमता रथस्य ।
अध च्यवान उत्तवीत्यर्थं परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥ १ ॥

भा०—(नवीयः) अति नवीन, नवोत्पन्न बालक की (आयुः) आयु, जीवन, (प्र तारि) खूब बढ़े, (प्रतरं तारि) और भी खूब खूब बढ़े। (क्रतुमता) कर्म और ज्ञान से युक्त (रथस्य स्थातारा इव) रथ के ऊपर बैठने वाले रथी सारथी के समान गृहस्थ के स्त्री पुरुष दोनों (परातरम्) खूब दूर २ तक (सु-जिहीताम्) सुख से गमन किया करें। (अध) और (च्यवानः) रथ से जाने वाला पुरुष (अर्थम्) प्राप्त करने योग्य उद्देश्य को (उत्तवीति) उत्तम रीति से प्राप्त करे और (निर्ऋतिः) कष्ट-दशा (परातरम् जिहीताम्) खूब दूर होजाय। अथवा (निर्ऋतिः) अशेष आनन्द-सुखों को देने वाली भूमि (परातरां सुजिहीताम्) खूब दूर तक की हमें प्राप्त हो।

सामन्नु राये निधिमन्न्वन्नं करामहे सु पुरुध श्रवांसि ।
ता नो विश्वानि जरिता ममत्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥ २ ॥

भा०—हम लोग (राये) ऐश्वर्य धन को प्राप्त करने के लिये (सामन्)

भूमि के सम भाग में (निधिमत् अन्नं नु) धन सहित अन्न को उत्पन्न करें। और (नः जरिता) हमारा उपदेष्टा विद्वान् पुरुष (नः) हमारे (ता) उन (विश्वानि श्रवांसि) समस्त अन्नों का (पुरुध ममत्तु) बहुत प्रकार से आस्वाद ले। अथवा वे समस्त अन्न (पुरुध जरिता) नाना प्रकार से जीर्ण होकर (नः ममत्तु) हमें हर्ष, तृप्ति सुख प्रदान करें (निर्ऋतिः) भूख, पीड़ा, कष्ट आदि (परातरं सुजिहीताम्) अच्छी प्रकार दूर हो।

अभी ष्वर्यः पौंस्यैर्भवेम द्यौर्न भूमिं गिरयो नाज्रान्।
ता नो विश्वानि जरिता चिकेत परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम्॥३॥

भा०—हम लोग (पौंस्यैः) नाना पौरुष कर्मों से (अर्यः सु अभि भवेम) शत्रुओं को अच्छी प्रकार पराजित करें, उनको कड़ी हार दें। (द्यौः भूमिम्) सूर्य जैसे पृथिवी को प्राप्त होता है और (गिरयः अज्रान् न) मेघ जिस प्रकार अपने प्रेरक वायुओं को प्राप्त करता और चलाता है उसी प्रकार (जरिता) हमारा विद्वान् उपदेष्टा (नः) हमें प्राप्त हो, हमें ज्ञान से प्रकाशित करे, सन्मार्ग में चलावे और (नः) हमें (विश्वानि ता) उन नाना प्रकार के पदार्थों को (चिकेत) स्वयं जाने और हमें बतलावे। इस प्रकार (निर्ऋतिः) कष्टदशा, दुःख दारिद्र्य आदि (परातरं सु जिहीताम्) खूब अच्छी प्रकार से दूर हो।

मा षु णः सोम मृत्यवे परा दाः पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्।
द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम्॥४॥

भा०—हे (सोम) उत्तम मार्ग में चलाने वाले विद्वन्! हे शासक! प्रभो! हे वीर्य! तू (नः मृत्यवे मा सु परा दाः) हमें मृत्यु प्राप्त करने के लिये कभी मत छोड़, मौत के ंह में मत त्याग। हम (सूर्यं उत् च नु पश्येम) उदय होते, ऊपर आकाश में जाते सूर्य को सदा देखें।

और (द्युभिः) दिनों वा प्रकाशों से (नः जरिमा सुहितः अस्तु) हमारी वृद्ध-अवस्था भी सुखदायक हितकारी हो। और (निर्ऋतिः परातरम् सु जिहीताम्) कष्ट की दशा खूब अच्छी प्रकार से दूर रहे।

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः।
रारन्धि नः सूर्यस्य सन्दृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व॥ ५॥ २२॥

भा०—(असु-नीते) प्राणों को प्राप्त करने वाले, असु अर्थात् प्राणधारी जीवों को सन्मार्ग में चलाने वाले! तू (जीवातवे) जीवन धारण करने के लिये (अस्मासु मनः धारय) हम में मन, ज्ञान, संकल्प-विकल्प करने का सामर्थ्य धारण करा। और (नः आयुः सु प्र तिर) हमारे जीवन की खूब वृद्धि कर। (सूर्यस्य सं-दृशि नः रारन्धि) सूर्य के उत्तम दर्शन करने कराने वाले प्रकाश में हमें खूब हर्ष आनन्द प्रदान कर। तू (घृतेन) घृत, जल और प्रकाश से (नः तन्वं) हमारे शरीर को (वर्धयस्व) बढ़ा। इति द्वाविंशो वर्गः॥

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥ ६ ॥

भा०—हे (असु-नीते) प्राणों को प्रदान करने वाले! तू (अस्मासु) (पुनः चक्षुः, पुनः प्राणम् धेहि) हम में पुनः चक्षु, ज्ञान और प्राण प्रदान कर और रख। (इह नः भोगं धेहि) इस लोक में हमें उत्तम २ भोग योग्य अन्न, ऐश्वर्य और रक्षण प्राप्त करा। हम (उच्चरन्तं सूर्यं ज्योक् पश्येम) ऊपर आकाश में आते सूर्य को चिरकाल तक देखें। हे (अनु-मते) अनुकूल बुद्धि देनेहारे विद्वन् प्रभो! तू (नः स्वस्ति मृडय) हमें सुख प्रदान कर, हम पर कृपा कर।

पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां३ या स्वस्तिः॥७॥

भा०—(पृथिवी) भूमिवत् सर्वाश्रय प्रभु (नः पुनः असुम् ददातु)

हमें पुनः २ जीवन प्रदान करे। (देवी द्यौः) सुखदात्री, तेजोमय सूर्यवत् प्रभु शक्ति, (पुनः) हमें बार २ प्राण दे। (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षवत् विशाल अन्तर्यामी प्रभु (पुनः) पुनः २ हमें प्राण, जीवन प्रदान करता है। (सोमः) सर्वोत्पादक प्रभु (नः तन्वं पुनः ददातु) हमें बार २ देह प्रदान करता है, (पूषा) सर्वपोषक प्रभु (नः पथ्याम्) हमें सत्पथ प्रदान करें (याः स्वस्तिः) जो सुख-कल्याणकारक हों।

शं रोद॑सी सु॒बन्ध॑वे य॒ह्वी ऋ॒तस्य॑ मा॒तरा॑।
भर॑ता॒मप॒ यद्र॒पो द्यौः पृ॑थिवि क्ष॒मा र॒पो मो षु ते॒ किं च॒नाम॑मत्॥८॥

भा०—(सु-बन्धवे) सुख के बन्धन वाले, उत्तम सम्बन्ध से युक्त, जीव के हितार्थ, उसकी रक्षा के लिये, (यह्वी रोदसी) महान् भूमि सूर्यवत् वा दो सीमाओं के तुल्य दुर्मार्गों से उसे रोकने बचाने वाले माता पिता गुरु आदि (ऋतस्य मातरा) जल, अन्न, प्रकाश और सत्योपदेश-ज्ञान को देने वाले माता पिता के सदृश (शम्) कल्याणकारी शान्तिदायक हों। हे (द्यौः पृथिवि) हे सूर्यवत् कान्तियुक्त प्रकाश देनेहारे! पितः। हे (पृथिवि) पृथिवी के तुल्य सर्वाश्रय मातः! आप दोनों (क्षमा) क्षमाशील होकर (यत् रपः) जो जो भी हमारे पाप हों उनको (अप भरताम्) दूर करो। (ते) तेरा (किंचन) कुछ भी (मो सु आममत्) हमें कष्टदायी न हो।

अव॑ द्व॒के अव॑ त्रि॒का दि॒वश्च॑रन्ति भेष॒जा।
क्ष॒मा च॑रि॒ष्ण्वे॑क॒कं भर॑ता॒मप॒ यद्र॒पो द्यौः पृ॑थिवि क्ष॒मा र॒पो मो षु ते॒ किं च॒नाम॑मत्॥ ६॥

भा०—(दिवः) आकाश से (द्वके) दो दो और (त्रिका) तीन२ (भेषजा) रोग दूर करने वाली शक्तियां भूमि की ओर आती हैं, और (क्षमा) भूमि में (एककम् चरिष्णु) एक चरने योग्य, खाने योग्य अन्न

रूप भेषज है। हे (द्यौः पृथिवि क्षमा) सूर्य भूमि के तुल्य समर्थ जनो! (यत् रपः अप भरताम्) जो हमारा पाप दुःखादि हो उसे दूर करो और (ते किं चन रपः मोसु आममत्) तेरा कुछ भी पाप या कष्टदायी पदार्थ हमें कष्ट न दे।

समिन्द्रेरय गामनड्वाहं य आवहदुशीनराण्या अनः।
भरतामप यद्रपो द्यौःपृथिवि क्षमा रपो मो षु ते किं चनाममत्१०।२३

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (यः) जो (उशीनराण्याः) कान्ति एवं कामनायुक्त वधू के (अनः आ वहत्) शकट को उठाता है ऐसे (अनड्वाहं गाम्) शकटवाही बैलों को (सम् ईरय) अच्छी प्रकार चला। इसी प्रकार उशीनराणी यह पृथिवी है इसके ऊपर जो सूर्य (अवः) प्राण जीवन शक्ति को प्राप्त कराता है उस जीवनदायक (गाम्) किरण समूह को हे (इन्द्र) जल तेज के दाता सूर्य! तू अच्छी प्रकार प्रदान कर। हे (सूर्य और पृथिवि) जो (यत् रपः अपभरताम्) हमारा जो पाप, कष्ट हो उसे दूर करो। (ते रपः किंचन मो सु आममत्) तेरा दोष, मल ताप आदि हमें कुछ भी कष्ट न दे। असुनीतिः असून् नयति। निरु०।। इति त्रयोविंशो वर्गः॥

[६०]

बन्ध्वादयो गौपायनाः। ६ अगस्त्यस्य स्वसैषां माता॥ देवता—१—४, ६ असमाता राजा। ५ इन्द्रः। ७—११ सुबन्धोर्जीविताह्वानम्। १२ मरुतः॥ छन्दः—१—३ गायत्री। ४, ५ निचृद् गायत्री। ६ पादनिचृदनुष्टुप्। ७, १०, १२ निचृदनुष्टुप्। ११ आर्च्यनुष्टुप्। ८, ९ निचृत् पंक्तिः॥ द्वादशर्चं सूक्तम्॥

आ जनं त्वेषसंदृशं माहीनानामुपस्तुतम्।
अगन्म बिभ्रतो नमः॥ १॥

भा०—हम (नमः बिभ्रतः) नमस्कार विनय वा अन्न को धारण करते हुए (त्वेष-सन्दृशम्) कान्ति तेज से युक्त सब के दर्शन करने वाले (माहीनानाम्) बड़े बड़ों के बीच में (उप-स्तुतम्) स्तुति प्राप्त करने वाले (जनम्) जन को हम (आ अगन्म) प्राप्त करें।

असमातिं नितोशनं त्वेषं निययिनं रथम्।
भजेरथस्य सत्पतिम् ॥ २ ॥

भा०—(असमातिम्) असाधारण मान और आदर के योग्य,(नित्तोशनं) शत्रुओं का नाश करने वाले, (त्वेषं) दीप्तियुक्त, (नि-ययिनं) निश्चय से प्रयाण करने वाले (रथम्) वेग से जाने वाले, रथवत् लक्ष्यतक अन्यों को पहुंचाने वाले, और (भजे रथस्य सत्पतिम्) शत्रु भंजक रथ, सैन्य वा सज्जनों के उत्तम पालक रथाध्यक्ष को (अगन्म) प्राप्त करें।

यो जनान्महिषाँ इवातितस्थौ पवीरवान्।
उतापवीरवान्युधा ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (महिषान् इव जनान्) बड़े २ भैसों को सिंह के समान (वीरवान्) वज्रवत् खड्गवान् होकर (जनान् अति तस्थौ) बड़े २ जनों, जनपदों को भी विजय करता है (उत) और जो (युधा) युद्ध से (अप-वीरवान्) विपरीत शब्द बोलने वाले शत्रुओं को दूर कर देता है।

यस्येक्ष्वाकुरुप व्रते रेवान्मराय्येधते दिवीव पञ्च कृष्टयः॥४॥

भा०—(यस्य) जिस राष्ट्र के (व्रते) शासन के कार्य में (इक्ष्वाकुः) गन्ने के समान मधुर रसयुक्त वाणी से बोलने वाला, वा दर्शन करके वाणी का प्रयोग करने वाला विवेकी पुरुष (रेवान्) धनवान्, (मरायी) शत्रुमारक,

राजा (उप एधते) वृद्धि प्राप्त करता है, उस राज्य में (दिवि-इव) सूर्य सदृश तेजस्वी राजा के नीचे (पञ्च कृष्टयः) पांचों प्रजाजन वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

इन्द्र क्षत्रासमातिषु रथप्रोष्ठेषु धारय।
दिवीव सूर्यं दृशे ॥ ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) शत्रुओं के नाशकारिन् ! हे ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! तू (रथ-प्रोष्ठेषु) रथों पर आगे बढ़ने वाले, (असमातिषु) असाधारण बलशाली जनों के आश्रय पर, उनके बीच (दिवि-इव सूर्यम्) आकाश में सूर्य के समान (क्षत्रा धारय) नाना बलों और ऐश्वर्यों को धारण कर।

अगस्त्यस्य नद्भ्यः सप्ती युनक्षि रोहिता।
पणीन्न्यक्रमीरभि विश्वान्राजन्नराधसः ॥ ६ ॥ २४ ॥

भा०—हे (राजन्) दीप्तियुक्त तेजस्विन् ! राजन् ! तू (अगस्त्यस्य) वृक्षों और पर्वतों को भी उखाड़ देने में समर्थ बलशाली के (नद्भ्यः) अभिनन्दक प्रजाओं के लिये (रोहिता सप्ती युनक्षि) वेग से जाने वाले लाल दो अश्वों के तुल्य (रोहिता) अनुरक्त वा वृद्धिशील प्रजा वर्गों को (युनक्षि) सन्मार्ग पर चला। और (विश्वान्) समस्त (अराधसः पणीन्) निर्धन, आराधना न करने वाले व्यवहारवानों को (नि अक्रमीः) नीचे कर। राजा के दो अश्व, एक गृहस्थ बसे प्रजा जन, दूसरा कर्म में नियुक्त समस्त वेतनबद्ध राज्य कर्मचारी, (ऐत० अ० १३ । ३ ॥)

अराधसम् अनाराधयन्तम्। निरु० ५।३।५ ॥ इति चतुर्विंशो वर्गः ॥

अयं मातायं पितायं जीवातुरागमत्।
इदं तव प्रसर्पणं सुबन्धवेहि निरिहि ॥ ७ ॥

भा०—(अयं माता अयं पिता) यह मातावत् राष्ट्र का बनाने वाला,

(अयं पिता) यह पिता के तुल्य पालक, (अयं जीवातुः आगमत्) यह जीवनदाता होकर प्राप्त होता है। हे (सुबन्धो) उत्तम सुप्रबन्धक राजन्! (इदं) यह तेरा (प्रसर्पणम्) आगे बढ़ना हो, (इहि) आ, (निर् इहि) निकल कर मैदान में आ।

यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरुणाय कम्।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥८॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (धरुणाय) धारण करने वाले दण्ड के (युगं) जुए को (वरत्रया नह्यन्ति) रस्सी से बांधते हैं (एवं) उसी प्रकार हे मनुष्य (ते मनः दाधार) तेरे मन रूप लगाम को आत्मा (जीवातवे) जीवन के लिये धारण करता है, (न मृत्यवे) मृत्यु के लिये नहीं (अथो अरिष्टतातये) बल्कि मङ्गल, सुख के लिये धारण करे। राष्ट्र में मनस्तम्भक बल है।

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान्वनस्पतीन्।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥९॥

भा०—(यथा इयं पृथिवी) जिस प्रकार यह पृथिवी (मही) बड़ी विशाल होकर भी (इमान् वनस्पतीन् दाधार) इन महावृक्षों को धारण करता है। इसी प्रकार (पृथिवी) सर्वाश्रय बड़ा प्रभु (जीवातवे) जीवन के लिये (ते मनः) तेरे मन, वा धारक बल को लगाम के तुल्य (दाधार) धारण करे, थामे, (न मृत्यवे) तेरे मौत के लिये नहीं (अथो अरिष्टतातये) बल्कि कल्याण के लिये हो।

यमादहं वैवस्वतात्सुबन्धोर्मन आभरम्।
जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥ १० ॥

भा०—(अहं) मैं (यमात्) सब के नियन्ता, व्यवस्थापक

(वैवस्वतात्) विविध लोकों, ऐश्वर्यों के स्वामी, (सुबन्धोः) उत्तम बन्धु रूप प्रेमी प्रभु से (मनः आभरम्) मन, वा ज्ञान, संकल्प विकल्प शक्ति को प्राप्त करता हूँ। वह (जीवातवे न मृत्यवे) जीवन के लिये हो, मृत्यु के लिये न हो, वह (अरिष्टतातये) सदा कल्याण के लिये हो।

न्यग्वातोऽव वाति न्यक्तपति सूर्यः।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग्भवतु ते रपः॥ ११॥

भा०—(वातः न्यग् अव वाति) वायु अधीन होकर विनम्रभाव से बहता है, (सूर्यः न्यक् तपति) सूर्य उसके नीचे विनीत होकर तपता है, (अघ्न्या नीचीनं दुहे) गौ भी नीचे होकर पालक को दूध देती है (न्यक् भवतु ते रपः) हे जाव ! तेरा भी दुःख और पाप नीचे ही छूट जावे।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥ १२॥ २५॥ ४॥

भा०—(अयं मे हस्तः भगवान्) यह मेरा हाथ ऐश्वर्यवान् हो (अयं मे भगवत्-तरः) यह मेरा दूसरा दायां अंग और भी अधिक ऐश्वर्यवान् हो। यह मेरा हाथ (विश्व-भेषजः) सब रोगों को ओषधिवत् दूर करने वाला हो। (अयं शिवाभिमर्शनः) यह मेरा हाथ सुखयुक्त स्पर्श वाला हो। इति पञ्चविंशो वर्गः॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः॥

[६१]

नाभानेदिष्ठो मानवः॥ विश्वेदेवा देवताः॥ छन्दः—१, ८—१०, १५, १६ १८, १९, २१ निचृत् त्रिष्टुप्। २, ७, ११, १२, २० विराट् त्रिष्टुप्। ३, २६ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप्। ४, १४, १७, २२, २३, २५ पादनिचृत् त्रिष्टुप्। ५, ६, १३ त्रिष्टुप्। २४, २७ आर्ची भुरिक् त्रिष्टुप्॥ सप्तविंशत्यृचं सूक्तम्॥

इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा ब्रह्म क्रत्वा शच्यामन्तराजौ ।
क्राणा यदस्य पितरा मंहनेष्ठाः पर्षत्पक्थे अहन्ना सप्त होतॄन् ॥१॥

भा०—(गूर्त्त-वचाः) श्रमपूर्वक वेदवाणी का अभ्यासी पुरुष (इदम्) इस (इत्था) सत्य (रौद्रम् ब्रह्म) सब कष्टों को दूर करने वाले, उत्तम उपदेश वा ज्ञानप्रद वेदज्ञान का (शच्याम्) कर्म और वाणी में, (क्रत्वा) यज्ञ या बुद्धि द्वारा (आजौ अन्तः) विजय करने योग्य वा संघर्ष के अवसर में उपदेश करता है, तब (यत्) जो (अस्य) इसके (पितरा) माता और पिता (क्राणा) कार्य कर रहे हैं और (अस्य) इसके जो कार्य (मंहने-स्थाः) पूज्य पद पर विराजने वाले करते हैं उस में वह (पक्थे अहन्) पाक करने योग्य दिन में (सप्त होतॄन्) सात विद्वानों के (पर्षत्) पार करता या पूर्ण करता है अर्थात् वह पुरुष ही सातों होता यज्ञ कर्त्ताओं में ब्रह्मा का पद पूर्ण करता है ।

(२) मेघ (रौद्रं ब्रह्म क्रत्वा आजौ अन्तः करोति) रुद्र अर्थात् सब प्राणियों के दुःखों को दूर करने वाले अन्न अपने कर्म से पृथिवी पर उत्पन्न करता है जिसको कि उसके पिता भूमि और सूर्य दोनों उत्पन्न करते हैं और जिसको (मंहनेष्ठाः) दान कार्य में स्थित मरुद्गण वा कृषक आदि मनुष्य उत्पन्न करते हैं उसी अन्न को वह भी (पक्थे अहनि) पकने के दिन तक पालन करता है और उससे वह (सप्त होतॄन्) सातों प्राणों को (पर्षत्) पालन करता है ।

स इद्दानाय दभ्याय वन्वञ्च्यवानः सूदैरमिमीत वेदिम् ।
तूर्वयाणो गूर्तवचस्तमः क्षोदो न रेत इतऊति सिञ्चत् ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार (च्यवानः) गतिशील सूर्य, (दानाय) जलों के देने और (दभ्याय) मेघों को शत्रुवत् छिन्न भिन्न करने के लिये

(वन्वन्) मेघों को ताड़ता हुआ (सूदैः वेदिम् अमिमीत) क्षरणशील मेघों से पृथिवी को अन्न से सम्पन्न करता है। और (गूर्त्त-वचः-तमः) खूब गर्जना करता हुआ (तूर्व-याणः) शीघ्र गति से जाता हुआ (क्षोदः सिंचत्) जल वर्षाता है उसी प्रकार राजा प्रभु, विद्वान् (दानाय) प्रजाओं को सुख देने के लिये और (दभ्याय) दुष्टों के नाश करने के लिये (च्यवानः) शत्रुओं को पराजित करता हुआ (सः इत्) वह ही (सूदैः) हिंसाकारी शस्त्रों से (वेदिम्) भूमि को (अमिमीत) मांप लेता है, उसे अपने वश करता है और (तूर्व-याणः) शीघ्रगामी रथों से (गूर्त्त-वचः-तमः) सर्वोपरि उद्यत शासन होकर (इतः-ऊती) एक स्थान पर ही रक्षा साधन करके (क्षोदः न रेतः सिंचत्) जल के तुल्य बल, धन, तेज को प्रदान करता है ।

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता ।
आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णो अस्याश्रीणीतादिशं गभस्तौ ॥ ३ ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! (यः) जो (तुवि-नृम्णः) बहुत से धनों का स्वामी होकर (गभस्तौ) अपने हाथ में (शर्याभिः) शर, बाण आदि हिंसाकारी साधनों से (अस्य) इस राष्ट्र के (आदिशम्) आदेश वा शासन करने के लिये (अश्रीणीत) उद्योग करे उस (विपः) विशेष पालक स्वामी की (शच्या) शक्ति और वाणी से प्रेरित होकर (येषु हवनेषु) जिन ग्रहणीय पदार्थों में (मनः न तिग्मम्) मन के समान तीक्ष्ण होकर (द्रवन्ता) जाते हो उनमें भी उसके (आदिशम् वनुथः) आदेश का सेवन करो ।

कृष्णा यद् गोष्वरुणीषु सीदद्दिवो नपाताश्विना हुवे वाम् ।
वीतं मे यज्ञमागतं मे अन्नं ववन्वांसा नेषमस्मृतध्रू ॥ ४ ॥

भा०—हे (दिवः नपाता) सूर्य के पुत्र पुत्रीवत् दिन रात्रि के

तुल्य ! (दिवः नपाता) ज्ञान के नाश न होने देने वाले स्त्री पुरुषो ! वा ज्ञानी पुरुष के पुत्र के समान शिष्य शिष्याओ ! हे (अश्विना) जितेन्द्रिय जनो ! (यत्) जब (अरुणीषु गोषु) अरुण वर्ण की सूर्य किरणों में (कृष्णा असीदत्) अन्धकारमयी रात्रि विराजती हो, तभी मैं (वाम् हुवे) आप दोनों को बुलाता हूँ । आप दोनों (मे यज्ञं वीतम्) मेरे यज्ञ विद्या-दान सत्संग आदि को प्राप्त हों, उसको मन से चाहें और (आगतम्) आवें, (मे अन्नम्) मेरे अन्न को (इषं न) इष्ट आज्ञा प्रेरणा के समान (ववन्वांसा) निरन्तर सेवन करते हुए (अस्मृतध्रू) परस्पर द्रोह के भाव को कभी याद भी न करके प्रेमपूर्वक रहो ।

प्रथिष्ट यस्य वीरकर्ममिष्णदनुष्ठितं नु नर्यो अपौहत् ।
पुनस्तदा वृहति यत्कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा ॥ ५ ॥२६॥

भा०—(यत्) जो पुरुष (कनायाः) अति कमनीय, कान्तियुक्त (दुहितुः) दूर देश में हितकारिणी एवं पुरुष की कामनाओं को पूर्ण करने वाली स्त्री के गर्भ में (अनु-भृतम् आः) विवाह के अनन्तर धारण किया सन्तान हो (तत्) उसको भी (अनर्वा) सर्वश्रेष्ठ, अहिंसक होकर (आ वृहति) आदर पूर्वक प्रेम से धारण करता है और (यस्य) जिसका (इष्णत्) इच्छायुक्त (अनुष्ठितं) अनुष्ठान किया हुआ (वीर कर्मम्) वीर कर्म, वा पुत्रोत्पादनादि कार्य वा सन्तान आदि (प्रथिष्ट) विस्तृत हो जाय वह (नर्यः) मनुष्य, सर्वहितैषी होकर (पुनः अप औहत) फिर भी उस भार को त्याग सकता है । अर्थात् वह सन्तान का विस्तार अर्थात् पुत्र के पुत्र का मुख देख कर गृह त्याग कर वनस्थ हो जावे । इति षड्विंशो वर्गः ॥

मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम् ।
मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ ॥ ६ ॥

भा०—(युवत्याम्) युवती, युवावस्था में वर्त्तमान स्त्री में (कामं) अभिलाषा (कृण्वानं) करते हुए (पितरि) पिता, सन्तानोत्पादक और पालक पुरुष के आश्रय (मध्या) उन दोनों के बीच में और (अभीके) उन दोनों के समीप भी (यत् कर्त्वम् अभवत्) जो गृहस्थ कर्म होता है उसमें वे (वियन्ता) विशेष रूप से एक दूसरे को प्राप्त होते हुए (सानौ) भोग्य देह में (निषिक्तम्) निषेक किये हुए (रेतः) वीर्य को (सुकृतस्य योनौ) पुण्य के आश्रयभूत गृह में (मनानक्) कम से कम एक तो अवश्य (जहतुः) अपने पीछे उत्तराधिकारी रूप में छोड़ें। कम से कम उनका एक पुत्र अवश्य होना उचित है।

पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्दक्ष्मया रेतः सञ्जग्मानो निषिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन्ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् ॥ ७ ॥

भा०—(यत्) जो (पिता) पिता (क्ष्मया सं-जग्मानः) अपनी भूमि, स्त्री से संगत होकर (रेतः निषिञ्चित्) वीर्य का आधान करता है और वह (स्वाम् दुहितरं) अपनी कन्या को ही (अधि-स्कन्) पुत्रवत् प्राप्त करे। (सु-आध्यः देवाः) उत्तम ध्यानी, ज्ञानी विद्वान् पुरुषों ने (ब्रह्म अजनयन्) यही वेद-ज्ञान प्रकट किया है कि वे ऐसे समय में (स्वां दुहितरम्) अपनी कन्या को या उससे ही (वास्तोः पतिम्) गृह का स्वामी और (व्रत-पाम्) सब कार्यों के पालक रूप उत्तराधिकारी पुत्र को (निर अतक्षन्) प्राप्त करें। अर्थात् उससे उत्पन्न नाती ही पिता के धन का वारिस बने। 'शासद् वन्हिः'० इत्यादि मन्त्रों में भी यही भाव यास्क आदि विद्वानों ने प्रकट किया है।

स ईं वृषा न फेनमस्यदाजौ स्मदा परैदप दभ्रचेताः।
सरत्पदा न दक्षिणा परावृङ् न ता नु मे पृशन्यो जगृभ्रे ॥ ८ ॥

भा०—उस कन्या से विवाहित पुरुष के अधिकार ? (सः) वह (ईम्) इस कन्या को प्राप्त करके (आजौ) संगम काल में (वृषा न) बलवान् पुरुष के तुल्य (फेनम् अस्यत्) वीर्य का निक्षेप करे सही, परन्तु (स्मत्) हम से वह (आ परा एत्) दूर ही रहे। वह (दभ्र-चेताः) अल्पचित्त या श्वशुर के धन को मारने के चित्त वाला होकर (दक्षिणा) कन्या को दिये धन के प्रति (पदा न अपसरत्) पैर न बढ़ावे। प्रत्युत उसको (परा वृक्) दूर से ही त्याग दे। (मे) मुझ कन्या के पिता की (ताः पृशन्यः) उन सम्पत्तियों को भी वह (न जगृभ्रे) ग्रहण न करे।

मक्षू न वह्निः प्रजाया उपब्दिरग्निं न नग्न उप सीदूधः ।
सनितेध्मं सनितोत वाजं स धर्ता जज्ञे सहसा यवीयुत् ॥ ६ ॥

भा०—(अग्निम् नग्नः न) आग को जिस प्रकार कोई नग्न पुरुष सीधे चर्ममय हाथों से (न मक्षु उपसीदत्) सहसा नहीं प्राप्त कर सकता उसी प्रकार (उपब्दिः) पीड़ाकारी दुष्ट जन (प्रजायाः वह्निः) सन्तान को विवाह-विधि से ग्रहण करने वाला होकर (ऊधः) रात्रिकाल में (न उपसीदत्) हमें प्राप्त न हो। यदि कोई दुष्ट आवे भी तो वह भस्म हो जाय। क्योंकि (इध्मम् सनिता) जो अग्नि में समिधा को रखे, (उत वाजं सनिता) जो ऐश्वर्य या बल वीर्य प्रदान करे (सः) वह (यवीयुत्) सेना द्वारा युद्धकुशल पुरुष ही (सहसा) अपने बल से (धर्त्ता जज्ञे) भूमिवत् प्रजा का धारक पोषक होता है और जाना जाता है। दुष्ट पीड़क के हाथ में प्रजा और अपनी कन्या वा सम्पत्ति को न दें। वह रात्रिकाल में हम तक न पहुंच सके। प्रत्युत बल से सब को जीतने वाला यज्ञकर्त्ता, बलवान् धनप्रद ही प्रजा का राजा, वा स्वामी बने।

मक्षू कनायाः सख्यं नवंग्वा ऋतं वदन्त ऋतयुक्तिमग्मन् ।
द्विबर्हसो य उप गोपमागुरदक्षिणासो अच्युता दुदुक्षन् ॥१०॥२७

भा०—(ये नवग्वाः) जो नये ही वेद वाणियों की शिक्षा प्राप्त करने वाले जन हैं वे (मक्षु) शीघ्र ही (कनायाः) अति दीप्तियुक्त वेद वाणी के (सख्यम् अग्मन्) सख्य को प्राप्त करते हैं वे (ऋतं वदन्तः) सत्य वेद ज्ञान का प्रवचन करते हुए (ऋत-युक्तिम् अग्मन्) वेद-ज्ञान की योजना, संगति को भी (अग्मन्) प्राप्त करें । (द्वि-बर्हसः) माता, पिता ज्ञान और कर्म दोनों में बढ़ने वाले होकर (ये) जो (गोपम् उप आ अगुः) रक्षक, वाणियों के पालक गुरु को प्राप्त कर लेते हैं वे (प्र दक्षिणासः) दान-योग्य द्रव्यादि के प्रभाव से भी (अच्युता) अच्युत, अक्षय विज्ञानरूप फलों को (दुधुक्षन्) वेदवाणी रूप गौ से दोह लेते हैं।

(२) इसी प्रकार जो विद्वान् होकर (कनायाः सख्यं) कन्या का सख्य प्राप्त करते, सत्य वचन बोलते और (ऋत-युक्तिं) ऋतुकाल में भोग करते हैं वे अपने वंश के रक्षक पुत्र को प्राप्त करते हैं और अच्युत, अमोघ फल प्राप्त करते हैं । इति सप्तविंशो वर्गः ॥

मक्षू कनायाः सख्यं नवीयो राधो न रेत ऋतमित्तुरण्यन् ।
शुचि यत्ते रेक्ण आयजन्त सबर्दुघायाः पय उस्रियायाः ॥ ११ ॥

भा०—(मक्षु कनायाः) जो शीघ्र ही दीप्तियुक्त मधुर वाणी के (नवीयः सख्यम्) नये ही मैत्रीभाव को और (राधः न) द्रव्य के समान (रेतः) वीर्य को और (ऋतम्) सत्य ज्ञान को (इत्) भी (तुरण्यन्) प्राप्त कर लेते हैं वे मनुष्य हे आचार्य ! इन्द्र ! (ते शुचि रेक्णः) तेरे शुद्ध, पवित्र प्रदत्त ज्ञानरूप धन को ऐसे (सबर्दुघायाः उस्रिया याः पयः) अमृतवत् दूध देने वाली गौ के दूध के समान ही (आ अयजन्त) ग्रहण करते हैं । यजतिर्दानार्थः । आङ्पूर्वकश्चादानार्थः ।

(२) इसी प्रकार कन्या के नवीन सख्य, धनवत् ब्रह्मचर्य पालन द्वारा वीर्य और गुरु-शुश्रूषा से सत्य ज्ञान, को जो प्राप्त करते हैं वे ही गाय के दूध के समान (शुचि रेक्णः) शुद्ध सन्तति का भी लाभ करते हैं।

पश्वा यत्पश्चा वियुता बुधन्तेति ब्रवीति वक्तरी रराणः।
वसोर्वसुत्वा कारवोऽनेहा विश्वं विवेष्टि द्रविणमुप क्षु ॥ १२ ॥

भा०—(यत्) जब (पश्वा) ज्ञान के देखने वाले इन्द्रियगण से (वियुता) रहित स्थानों को (बुधन्त) जानते हैं तब (वक्तरि) उत्तम विद्वान् प्रवचन करने वाले गुरु के अधीन (वसोः) पितृ तुल्य गुरु वा आत्मा के (वसुत्वा) ज्ञान धन का स्वामी जन (रराणः) ज्ञान और बल में सुखी रहता हुआ (इति ब्रवीति) इस प्रकार कहता है कि हे (कारवः) स्तुतिकर्त्ता लोगो ! (अनेहा) निष्पाप मनुष्य ही (विश्वम् क्षु विश्वम् द्रविणम् उप विवेष्टि) समस्त अन्न और समस्त धन वा वीर्य को धारण करता है। अर्थात् शरीर में रहने वाला आत्मा यदि पाप नहीं करे तो देह की इन्द्रियों के आत्म-सामर्थ्य नष्ट नहीं होते।

तदिन्न्वस्य परिषद्वानो अग्मन्पुरू सदन्तो नार्षदं बिभित्सन्।
वि शुष्णस्य संग्रथितमनर्वा विदत्पुरुप्रजातस्य गुहा यत् ॥१३॥

भा०—(यत्) जब (पुरु-प्रजातस्य) इन्द्रियों में नानारूप होकर प्रकट हुए (शुष्णस्य) बलवान् प्राण के (गुहा) बुद्धि में (सं-ग्रथितम्) एकत्र हुए बल को (वि विदत्) जानता या प्राप्त करता है। जो (अस्य) इसके (परिसद्-वानः) चारों ओर वर्त्तमान सेवकों के तुल्य प्राणगण (पुरु सदन्तः) नाना इन्द्रिय स्थानों में बैठते हुए (नार्सदम्) आत्मा के विराजने के स्थान रूप देह को (विभित्सन्) भेदते हैं, और इन्द्रियों के छिद्रों को बना लेते हैं वे (अस्य तत् इत् नु अग्मन्) उसके

उस परम बल को प्राप्त करते हैं। और वह (अनर्वा) किसी अश्ववत् अन्य साधन की अपेक्षा न करने वाला आत्मा अर्थात् आत्मा मन में अपने समूहित प्राण बल को जानता है उस बल को ही अन्य इन्द्रियगण प्राप्त करते हैं, उसी बल से वे इन्द्रिय-छिद्रों को देह में बनाते हैं।

इसी प्रकार राजा के (परि-सद्वानः) चारों ओर बैठने वाले सर्दार गण (पुरं नार्सदम् सदन्तः) बहुत से दुर्ग को प्राप्त कर शत्रुगण को तोड़ते हैं। वह राजा (पुरु प्रजातस्य शुष्णः) बहुतों से उत्पन्न संघ बल को संग्रथित रूप से प्राप्त करें।

भर्गो ह नामोत यस्य देवाः स्व१र्णये त्रिषधस्थे निषेदुः।
अग्निर्ह नामोत जातवेदाः श्रुधी नो होतर्ऋतस्य होताध्रुक्॥१४॥

भा०—(ये) जो (देवाः) प्रकाशमान लोक (त्रि-सधस्थे) तीनों लोकों में विद्यमान हैं वे (यस्य निषेदुः) जिसके आश्रय पर रहते और जिसकी उपासना करते हैं वह (स्वः न) सूर्य के समान तेजोमय और सर्व-सुखस्वरूप (भर्गः ह नाम) सब पापों को भूनने वाला, और सब कर्मों का परिपाक करने वाला 'भर्ग' ऐसे नाम वा स्वरूप वाला है। वह (अग्निः ह नाम) निश्चय करके अग्निस्वरूप, ज्ञानवान्, प्रत्येक देह में विद्यमान है और (जातवेदाः) उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ को जानने वाला, उसमें विद्यमान, सब धनों और ज्ञानों का आश्रय है। हे (होतः) ज्ञान के ग्रहण करने और कराने वाले विद्वन्! तू (अध्रुक्) द्रोह बुद्धि न करके ही (नः ऋतस्य श्रुधि) हमारे सत्य ज्ञान का श्रवण कर और हमें करा।

उत त्या मे रौद्रावर्चिमन्ता नासत्याविन्द्र गूर्तये यजध्यै।
मनुष्वद्वृक्तबर्हिषे रराणा मन्दू हितप्रयसा विक्षु यज्यू॥१५॥२८॥

भा०—(उत) और (त्या) वे दोनों (रोद्रौ) कष्टों, दुःखों अज्ञाना को दूर करने वाले, गुरु के पुत्रवत् शिक्षित, (अर्चिमन्ता) ज्वाला, कान्ति, और आदर सत्कार योग्य गुणों वाले, (नासत्यौ) कभी असत्य आचरण, भाषण न करने वाले, स्त्री पुरुष, वा माता पिता (मे गूर्त्तये) मुझे उपदेश करने और ऊपर उठाने और (यजध्यै) ज्ञान धनादि देने, सत्संग करने के लिये प्राप्त हों। वे (मनुष्वत्) मननशील ज्ञानी, (वृक्त-बर्हिषि) कुशादि काट कर यज्ञ के लिये तैयार हुए पुरुष के समान उत्तम कार्य के लिये सन्नद्ध मुझ पुरुष के उपकार के लिये (रराणा) अति प्रसन्न वा नाना सुख देते हुए (मन्दू) अति हर्षवान् होकर (विक्षु) प्रजाओं के सुखार्थ (हित-प्रयसा) उत्तम ज्ञान, अन्न देने वाले वा यत्न करने वाले, (यज्यू) दान, सत्संग पूजादि के योग्य हों। इत्यष्टाविंशो वर्गः ॥

अयं स्तुतो राजा वन्दि वेधा अपश्च विप्रस्तरति स्वसेतुः ।
स कुक्षीवन्तं रेजयत्सो अग्निं नेमिं न चक्रमर्वतो रघुद्रु ॥१६॥

भा०—(अयम्) यह आत्मा, (स्तुतः राजा) प्रशंसित राजा के तुल्य तेजोमय (वेधाः) सब कार्यों का करने करने वाला, (विप्रः) ज्ञानवान्, (वन्दि) स्तुति किया जाता एवं पूज्यवत् उपासना करने योग्य है। वह (स्व-सेतुः) स्वयं अपने को देह में बांधने वाला, जगत् से पार उतरने के लिये स्वयं सेतु वा बन्ध के समान वा स्वयं अपने बल से प्राणों को, धन बल से भृत्यवत् बांधने वाले राजा के तुल्य होकर (अपः च रेजयत्) समस्त प्राणों और नाड़िगत जलों, रुधिरों, और प्रजाओं को राजावत् (तरति) व्यापता है। (सः) वह (कक्षीवन्तं) कक्ष्याओं या कोखों में विचरने वाले प्राणगण को (रेजयत्) चलाता है और (सः) वह ही (अग्निम्) जाठराग्नि को भी (रघुद्रु नेमिं चक्रं) अति वेग से चलने वाले नमन-

शील चक्र को (अर्वतः न) अश्वों के तुल्य वा (अर्वतः चक्रं) अरों वाले रथ के चक्र के समान चलाता है ।

स द्विबन्धुर्वैतरणो यष्टा सबर्धुं धेनुमस्वं दुहध्यै ।
सं यन्मित्रावरुणा वृञ्ज उक्थैर्ज्येष्ठेभिरर्यमणं वरूथैः ॥ १७ ॥

भा०—(सः) वह आत्मा, (द्वि-बन्धुः) दोनों लोकों में बन्धु के समान, वा दोनों लोकों को बांधने वाला, वा माता पिता दोनों को बांधने वाले बालक के तुल्य, (वैतरणः) इस लोक से विशेष रूप से तारने वाला, (यष्टा) ज्ञान, हर्ष का दाता (अस्वम्) कभी न उत्पन्न होने वाली अजा रूप (धेनुम्) गौ के तुल्य, (सबः-धुम्) आनन्दरस को देने वाली प्रभुरूप वाणी को (दुहध्यै) दोहन करने के लिये (यत्) जो (मित्रावरुणा) स्नेहवान्, और वरण करने योग्य श्रेष्ठ जनों को और (अर्यमणं) स्वामिवत् न्यायकारी, नियन्ता प्रभु को (ज्येष्ठैः) श्रेष्ठ २ (वरूथैः) उत्तम २ वचनों से (सं वृञ्जे) अच्छी प्रकार स्तुति करता और उनसे मिलकर सत्संग लाभ करता है ।

तद्बन्धुः सूरिर्दिवि ते धियन्धा नाभानेदिष्ठो रपति प्र वेनन् ।
सा नो नाभिः परमास्य वा घाहं तत्पश्चा कतिथश्चिदास ॥ १८ ॥

भा०—(वेनन्) प्रभु को चाहने वाला पुरुष (प्र रपति) अच्छी प्रकार विवेकी होकर कहता है, कि हे आत्मन् ! (ते) तेरा (तत् बन्धुः) वह परम बन्धु, प्रभु ही (दिवि सूरिः) आकाश में स्थित सूर्यवत् सब को सञ्चालन करनेहारा है । वही (ते धियं धाः) तुझे कर्म और बुद्धि का देनेहारा है । और वह (नाभा नेदिष्ठः) नाभि अर्थात् हृदय के बीच में अति समीप विराजता है । वास्तव में वह प्रभुरूप माता ही (नः परमा नाभिः) हमारी परम नाभि, केन्द्र, आश्रय स्थान २ सर्वोत्पादक और परस्पर भी

प्रेम में बांधने वाली मातृवत् है, (अस्य वा घ अहम्) और निश्चय से उस का ही मैं उपासक हूँ। (तत्) उसके (पश्चात्) और मैं फिर अन्ततः (कतिथः चित् आस) कितनों में एक हूँ।

इयं मे नाभिरिह मे सधस्थमिमे मे देवा अयमस्मि सर्वः।
द्विजा अह प्रथमजा ऋतस्येदं धेनुरदुहज्जायमाना ॥ १९ ॥

भा०—(इयम्) यह मातृवत् प्रकृति (मे नाभिः) मेरा आश्रय वा इस लोक में मुझे बांधने वाली है। (इह मे सधस्थं) इस में ही मेरा अन्य जीवों के साथ रहने का स्थान है। (इमे) ये (देवाः) देव, कामनावान् जीव भी (मे) मेरे सहयोगी हैं। (अयम् सर्वः अस्मि) यह मैं ही सब हूँ। मैं (द्विजाः) प्रभु परमेश्वर तथा प्रकृति दोनों से उसी प्रकार उत्पन्न हुआ हूँ जैसे पुत्र माता और पिता दोनों से उत्पन्न होता है। (जायमाना) व्यक्तरूप में आती हुई प्रकृति (धेनुः) सूती गौ के समान (प्रथमजाः) सर्व प्रथम, प्रभु परमेश्वर द्वारा व्यक्त होकर (ऋतस्य) परम सत् कारण के ही विकाररूप (इदं) इस जगत् को (अदुहत्) प्रदान और पूर्ण करती है।

अधासु मन्द्रो अरतिर्विभावाव स्यति द्विवर्तनिर्वनेषाट्।
ऊर्ध्वा यच्छ्रेणिर्न शिशुर्दन्मक्षु स्थिरं शेवृधं सूत माता ॥ २० ॥ २६ ॥

भा०—(अध) और (आसु) इन समस्त दिशाओं में (वि-भावा) विशेष कान्तियुक्त सूर्य के तुल्य इन नाड़ियों या जगत् की नाना पग-दण्डियों में (मन्द्रः) अति हर्ष लाभ करने वाला, (अरतिः) देह से देहान्तर में जाने वाला आत्मा, (वर्त्तनिः) दोनों लोक में रहने वाला, वा दोनों प्राण अपान से चेष्टा करने वाला, (अव स्यति) अवसान को प्राप्त करता है। वह (वनेषाट्) काष्ठ में अग्नि के तुल्य, वन में साधक वा

ऐश्वर्य में राजा के तुल्य, भोग्य ऐश्वर्यों के बीच उनको बलपूर्वक भोगनेहारा आत्मा है, (यत्) जिसके (ऊर्ध्वा श्रेणिः) उपस्थित नाना प्राणगण, शिरोभाग में होते हैं और जो (शिशुः न'दन्) बालक के समान ही अपने पर वश करता है। उस (स्थिरं) स्थिर (शेवृधम्) सुखों के वर्द्धक को (माता सुत) माता ही उत्पन्न करती है। एकोनत्रिंशो वर्गः॥

अधा गाव उपमातिं कनाया अनु श्वान्तस्य कस्य चित्परेयुः।
श्रुधि त्वं सुद्रविणो नस्त्वं याळाश्वघ्नस्य वावृधे सूनृताभिः॥२१॥

भा०—(कस्य चित् श्वान्तस्य) किसी महान् आत्मा की ही (गावः) वाणियां (कनायाः उपमातिम् अनु) सर्व स्तुति योग्य प्रभु के प्रति (परा ईयुः) जाती हैं। हे (सु-द्रविणः) उत्तम ऐश्वर्य-भूति के स्वामिन् प्रभो ! (त्वम् नः श्रुधि) तू हमारी प्रार्थना श्रवण कर। (त्वम् याट) तू हमें दे वा अन्यों से दिला। तू (आश्व-घ्नस्य) अपने अश्व समूह इन्द्रिय गणों को मारने या जीतने वाले वा (अश्व-घ्नस्य) कुक्कुरवत् लोभी इन्द्रियों को सब और से मारने वाले, जितेन्द्रिय की ही (सु-नृताभिः) उत्तम सत्य वाणियों से (ववृधे) वृद्धि को प्राप्त होता है।

अध त्वमिन्द्र विद्ध्य१स्मान्महो राये नृपते वज्रबाहुः।
रक्षा च नो मघोनः पाहि सूरीननेहसस्ते हरिवो अभिष्टौ॥ २२॥

भा०—(अध) और हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् प्रभो ! (त्वम्) तू (अस्मान् विद्धि) हम को प्राप्त कर, हमें जान। हे (नृपते) मनुष्यों के पालक ! राजा के तुल्य सर्व जीवों के स्वामिन् ! (वज्रबाहुः) वीर्ययुक्त बाहु वाला होकर (महः राये) बड़े भारी ऐश्वर्य के लिये (अस्मान्) हमारी (रक्ष) रक्षा कर। (नः मघोनः) ऐश्वर्यवानों और (नः सूरीन्) हम में से विद्वानों की (पाहि) रक्षा कर। हम (ते अभिष्टौ) तेरे अभीष्ट शासन में (अनेहसः) पाप आदि से रहित होकर रहें।

अध यद्राजाना गविष्टौ सरत्सरण्युः कारवे जरण्युः।
विप्रः प्रेष्ठः स ह्येषां बभूव परा च वक्षदुत पर्षदेनान् ॥ २३ ॥

भा०—हे (राजाना) विद्या और शक्ति से चन्द्र और सूर्यवत् प्रकाशवान् जनो ! (यत्) जो (सरण्युः) विचरणशील परिव्राजकवत् (गो-इष्टौ) अन्यों के उपकारार्थ ज्ञानवाणियों को देने या प्राप्त करने के लिये (सरत्) विचरता है वह (जरण्युः) स्तुतिशील, उपदेष्टा (विप्रः) बुद्धिमान् पुरुष ही (कारवे प्रेष्ठः) क्रियावान् पुरुष वा जगत्कर्त्ता को अतिप्रिय होता है। और (सः हि) वह ही (एषां प्रेष्ठः) इनका अतिप्रिय होकर (परा च वक्षत्) दूर २ देश तक उपदेश करता (उत) और (एनान् पर्षत्) उनको पार करता और पालता है।

अधा न्वस्य जेन्यस्य पुष्टौ वृथा रेभन्त ईमहे तदू नु।
सरण्युरस्य सूनुरश्वो विप्रश्चासि श्रवसश्च सातौ ॥ २४ ॥

भा०—(अध नु) और (अस्य जेन्यस्य) उस सर्वविजयी सर्वोपरि प्रभु के (पुष्टौ) पोषण को प्राप्त करने के लिये (रेभन्तः) उसका गुणगान करते हुए हम (वृथा) अनायास ही (ईमहे) याचना करते और अभिलषित पदार्थ प्राप्त करते हैं। (तत् उ नु) इसी कारण वह ही तू (सरण्युः) सर्वत्र व्यापक, (अस्य सूनुः) इस लोक का सञ्चालक, (अश्वः) इस जगत् का भोक्ता, और (श्रवसः च सातौ) ज्ञान-ऐश्वर्यादि विभाग करने में (विप्रः) बड़ा कुशल (असि) है।

युवोर्यदि सख्यायास्मे शर्धाय स्तोमं जुजुषे नमस्वान्।
विश्वत्र यस्मिन्ना गिरः समीचीः पूर्वीव गातुर्दाशत्सूनृतायै ॥२५॥

भा०—हे सूर्य चन्द्रवत् उत्तम तेजस्वी पुरुषो ! (यस्मिन् गिर समीचीः) जिसमें उत्तम २ वाणियां यथार्थ रूप से प्राप्त होती हैं, वह

प्रभु (यदि) यदि (युवोः सख्याय) तुम्हारे मित्रभाव को बढ़ाने और (अस्मे शर्धाय) हमारे बल वृद्धि के लिये (नमस्वान्) नमस्कारयुक्त वचन वाला होकर (स्तोमं जुजुषे) स्तुति समूह का सेवन करता है वह (विश्वत्र) सर्वत्र (गातुः) मार्ग के तुल्य उद्देश्य की ओर लेजाने वाला (सूनृतायै) उत्तम वाणी को प्राप्त करने के लिये, (पूर्वीः इव) सनातन वाणियों के तुल्य ही (सूनृतायै) उत्तम ज्ञानयुक्त वाणी और अन्न को प्राप्त करने के लिये (दाशत्) बहुत ऐश्वर्य दे।

स गृणानो अद्भिर्देववानिति सुबन्धुर्नमसा सूक्तैः।
वर्धदुक्थैर्वचोभिरा हि नूनं व्यध्वैति पयस उस्रियायाः ॥ २६ ॥

भा०—(सः) वह (अद्भिः) प्रजाओं और आप्त पुरुषों द्वारा (सूक्तै) वेद के मन्त्रों से (गृणानः) स्तुति किया जाता है कि (देववान् इति) वह देवों का स्वामी है। (सु उक्थैः वचोभिः) उत्तम वचनों, वक्ताओं द्वारा (नमसा) अति विनय वचनों से कहा जाता है कि (सुबन्धुः) तू बड़ा उत्तम बन्धु है। (नूनम्) निश्चय से (उस्रियायाः) दुधार गौ के तुल्य उत्तम ज्ञान स्रवण करने वाली वाणी का (पयः) ज्ञान-वचन रूप दुग्ध (वि अध्वा एति) विविध प्रकार से, नाना मार्गों की ओर जाता है। इसी प्रकार पात्र भेद और मुख भेद से एक ही विषय में नाना वाणियें होती हैं, उसी प्रकार एक वाणी भी अनेकार्थक होती है।

त ऊ षु णो महो यजत्रा भूत देवास ऊतये सजोषाः।
ये वाजाँ अनयता वियन्तो ये स्था निचेतारो अमूराः ॥२७॥३०॥१॥

भा०—हे (यजत्राः) यज्ञशील, (देवासः) विद्वान् जनो! (ये) जो (सजोषाः) उत्तम ज्ञान के सेवी प्रजा के प्रेमी होकर (वाजान् अनयत) ज्ञान ऐश्वर्यादि प्राप्त कराते हैं और जो (निचेतारः) निश्चय

करने में कुशल, (अमूराः) अमूढ, स्वच्छ मति हो वे आप लोग (नः महः सुभूत) हमें सुखकारी और महान् होवो ॥ इति त्रिंशो वर्गः ॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

द्वितीयोऽध्यायः

---

[६२]

नाभानेदिष्ठो मानव ऋषिः ॥ देवता—१—६ विश्वेदेवाअङ्गिरसो वा। ७ विश्वेदवाः। ८—११ सावर्ण्योर्दानस्तुतिः ।। छन्दः—१, २ विराड् जगती । ३ पादनिचृज्जगती । ४ निचृज्जगती । ५ अनुष्टुप् । ८, ९ निचृदनुष्टुप् । ६ बृहती । ७ विराट् पङ्क्तिः । १० गायत्री । ११ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश ।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥१॥

भा०—(ये) जो (यज्ञेन) यज्ञ से, ईश्वरोपासना से और (दक्षिणया) दक्षिणा वा उत्तम कर्म से (समक्ताः) सुप्रकाशित, विख्यात, और व्यक्त गुणों वाले होकर (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (सख्यम्) मित्रभाव, (अमृतत्वम्) मोक्षरूप, अमृत को (आनश) प्राप्त कर लेते हैं। हे (अंगिरसः) ज्ञानवान् तेजस्वी, पुरुषो ! वा प्राणो ! (तेभ्यः) उन के लिये (वः) आप लागों का (भद्रम्) सर्वसुखकारी कल्याण (अस्तु) हो अथवा—(तेभ्यः वः भद्रम् अस्तु) उनसे आप लोगों को सदा कल्याण प्राप्त हो। हे (सु-मेधसः) उत्तम ज्ञान और बुद्धि वाले जनो ! आप लोग (मानवं) मनुष्यों को (प्रति गृभ्णीत) अपने तईं स्वीकार करो। उन पर अनुग्रह कर उनको अपना शिष्य बना कर उपदेश करो।

य उदाजन्पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन्परिवत्सरे बलम् ।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥२॥

भा०—(ये) जो (पितरः) ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले जन (गोमयं वसु) वाङ्मय धन को भूमि के भीतर के सुवर्णादि के धन के समान बनकर (उत् आजन्) उत्तम रीति से प्राप्त करते हैं और (परिवत्सरे) चारों ओर बसने वाले शिष्यों से आवृत सूर्यवत् तेजस्वी आचार्य के अधीन रह कर (ऋतेन) ज्ञानमय तेज से (बलम्) आत्मा को धारने वाले अन्धकार को (अभिन्दन्) छिन्न भिन्न करते हैं । हे (अंगिरसः) ज्ञानवान् तेजस्वी जनो ! उन आप लोगों का (दीर्घायुत्वम् अस्तु) दीर्घ आयु हो । हे (सुमेध सः) उत्तम बुद्धिमान् जनो ! (मानवं प्रति गृभ्णीत) मनुष्यों के योग्य ज्ञान का प्रतिग्रहण करो । अथवा आप लोग मनुष्यों को अपने शरण में लो ।

य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन्पृथिवीं मातरं वि ।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥३॥

भा०—(ये) जो (ऋतेन) सत्य ज्ञान के बल से (दिवि) राजसभा के ऊपर (सूर्यम्) सूर्य के सदृश तेजस्वी पुरुष को (आ अरोहयन्) उन्नत पद पर स्थापित करते हैं और (मातरम्) माता के समान (पृथिवीम्) पृथिवी वासिनी प्रजा को (वि अप्रथयन्) विविध प्रकारों से प्रथित, विस्तृत, समृद्ध एवं व्यापक करते हैं हे (अंगिरसः) विद्वान्, तेजस्वी जनो ! (वः सुप्रजास्त्वम् अस्तु) आप लोगों की उत्तम सुखी प्रजाएं हों । हे (सु-मेधसः) उत्तम धारणा और उत्तम शत्रुनाशनी शक्ति सेना के स्वामी जनो ! आप लोग (मानवं प्रतिगृभ्णीत) मानव समूह को अपने वश या शरण में लेओ । (२) इसी प्रकार जो (ऋतेन) आत्म बल से

(सूर्यं दिवि आ) सूर्य नाम दक्षिण प्राण को ब्रह्माण्ड अर्थात् मूर्धा भाग में चढ़ा लेते हैं और (पृथिवीम् अप्रथयन्) गुदागत अपान को देह में विशेष रूप से व्याप्त कर लेते हैं वे (सुप्रजास्त्वम्) उत्तम प्रजा के पिता और उत्तम ज्ञानवान् होकर मननशील विद्वानों के ज्ञान-तत्त्व वा जीव के आत्मा के स्वरूप को ग्रहण, ज्ञान करते हैं, वे आत्मा तक पहुंचते हैं।

अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥ ४॥

भा०—हे (देव-पुत्राः) विद्वान् दानशील जनों के पुत्रो और शिष्यो! हे (ऋषयः) मन्त्रार्थ ज्ञान के द्रष्टा जनो! (अयम्) यह विद्वान् गुरु (वः) आप लोगों के (गृहे) गृह में वा आश्रम में, वा आप लोगों को शिष्यवत् स्वीकारार्थ ग्रहण करने के लिये (नाभा) नाभि अर्थात् केन्द्र में बांधने वाले, गुरुपद पर स्थिर होकर (वः) आप लोगों को (वल्गु वदति) उत्तम वचन कहता, उपदेश करता है। आप (तत् शृणोतन) उसको श्रवण करो। हे (अंगिरसः वः सुब्रह्मण्यम् अस्तु) विद्वान् जनो! आप लोगों को उत्तम वेदज्ञान और उत्तम ब्रह्मवर्चस् प्राप्त हो, आप (सु-मेधसः मानवं प्रति गृभ्णीत) उत्तम मेधा वाले होकर मनुष्योपयोगी समस्त ज्ञान को वा मानवीय जनसमूह को प्राप्त हो भिक्षा, अन्न आदि ग्रहण करो।

विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे॥ ५॥ १॥

भा०—(ऋषयः इत्) ऋषि, मन्त्रार्थों को देखने वाले तत्त्वदर्शी जन (वि-रूपासः इत्) विविध रूप वा रुचि वाले होते हैं। (ते इत् गम्भीर-वेपसः) वे गम्भीरता पूर्वक, कर्म करने वाले, विचारपूर्वक

आचरण करने वाले होते हैं। (ते अङ्गिरसः) वे अति उज्ज्वल, तेजस्वी, (अग्नेः) ज्ञानमय गुरु, प्रभु के (सूनवः) पुत्रों के तुल्य, उनके शासन में रहने वाले होते हैं। वे (अग्नेः परि जज्ञिरे) अग्निवत्, तेजोमय गुरु, आचार्य से उत्पन्न होते और उसकी सब ओर से उपासना करते हैं। इति प्रथमो वर्गः ॥

ये अग्नेः परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि ।
नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते ॥ ६ ॥

भा०—(ये) जो (अग्नेः) अग्निवत् तेजस्वी पुरुष के (परि) चारों ओर (दिवः परि) सूर्य के चारों ओर किरणों के समान (विरू-पासः) विविध रूप और कान्ति से युक्त होकर प्रकट होते हैं उन (देवेषु) विद्याभिलाषी जनों के बीच में (नवग्वः दशग्वः नु) नव या दश अमुख्य प्राणों में अध्यक्ष मुख्य प्राण के तुल्य नव या दश विद्याओं में गतिमान्, (अङ्गिरस्तमः) अति तेजस्वी होकर (सचा) सब के साथ विराज कर (मंहते) ज्ञान वितरण करता है।

इन्द्रेण युजा निः सृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम् ।
सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत ॥ ७ ॥

भा०—(वाघतः) ज्ञान को धारण करने वाले विद्वान् जन (इन्द्रेण-युजा) ज्ञानद्रष्टा गुरु रूप सहायक के साथ मिलकर (गोमन्तः) वाणी से युक्त और (अश्विनम्) कर्म में सिद्ध हस्तादि अवयवों से युक्त (व्रजम्) वाणी-समूह का (निः सृजन्त) उच्चारण करते हैं। (मे) मुझे (सहस्रं ददतः) हज़ारों ऋचाओं वा ज्ञानों को देने वाले (अष्ट-कर्ण्यः) व्यापक साधनवान् होकर (देवेषु) विद्वानों और विद्या के इच्छुक शिष्य वर्गों में (श्रवः) श्रवण योग्य ज्ञान को (अक्रत) प्रकट करते हैं।

प्र नूनं जायतामयं मनुस्तोक्मेव रोहतु ।
यः सहस्रं शताश्वं सद्यो दानाय मंहते ॥ ८ ॥

भा०—(अयं मनुः) यह मनुष्य वा जीव (तोक्मं) जल से भीजे बीज के समान (प्र जायताम्) अच्छी प्रकार उत्पन्न होता (प्र रोहतु) और उसी के समान अधिक उगता, बढ़ता और फलता फूलता है । यह वही है (यः) जो (सद्यः) शीघ्र ही (सहस्रं शताश्वं) हजारों सैकड़ों अश्ववद् शत सूर्य-संवत्सर से युक्त (सहस्रम्) बलवत् कालचक्र को (सद्यः) शीघ्र ही (दानाय) दान देने या त्यागने के लिये ही (मंहते) प्रदान करता है ।

न तमश्नोति कश्चन दिव इव सान्वारभम् ।
सावर्ण्यस्य दक्षिणा वि सिन्धुरिव पप्रथे ॥ ९ ॥

भा०—(तम्) उस (दिवः इव सानुम्) भूमि या आकाश में ऊंचे स्थान पर सूर्यवत् स्थित उसको (कः चन) कोई भी (आरभम् न अश्नोति) प्राप्त नहीं कर सकता । (सावर्ण्यस्य) समान रूप से वरण करने वाले शिष्यों के गुरु एवं एक समान चारों या पांचों वर्णों से वरण करने योग्य राजा की (दक्षिणा) बल, उत्साह, क्रियाशक्ति, दानशक्ति, पर-छन्दानुवर्त्तिता यह सब (सिन्धुः इव) बहती जलधारा, नद नदी, वा समुद्र के समान (पप्रथे) विस्तृत होती है ।

उत दासा परिविषे स्मद्दिष्टी गोपरीणसा ।
यदुस्तुर्वश्च मामहे ॥ १० ॥

भा०—(उत) और (दासा) भृत्य के तुल्य (स्मद्-दिष्टी) उत्तम भाग्यशाली, वा उत्तम कार्यों में आज्ञापूर्वक नियुक्त (गो-परीणसा) नाना पशु सम्पदाओं वाले, नाना वाणी, भूमि के स्वामी, वाग्मी भूपति

(यदुः तुर्वः च) यत्नवान् और शत्रुहिंसक प्रजाजन उसको (परि विषे) राष्ट्र विस्तार करने के लिये (ममहे) कर प्रदान करते हैं।

सहस्रदा ग्रामणीर्मा रिषन्मनुः सूर्येणास्य यतमानैतु दक्षिणा।
सावर्णेर्देवाः प्र तिरन्त्वायुर्यस्मिन्नश्रान्ता असनाम वाजम् ॥११॥२॥

भा०—(सहस्र-दाः) सहस्रों का देने वाला, (ग्राम-नीः) जन समूह, सैन्य-समूहों का नायक, (मनुः) विचारवान् मनुष्य (सूर्येण) सूर्य के तुल्य तेजस्वी होकर भी (मा रिषत्) स्वयं पीड़ित न हो, न अन्यों को पीड़ित करे। उस (सावर्णेः) समान रूप से वरण करने योग्य प्रजाजनों के पुत्र के तुल्य उन्हों से उत्पादित, वृत नायक की (दक्षिणा) क्रियाशीलता, उत्साह और दानशक्ति, (यतमाना) निरन्तर उद्योग, यत्न करती हुई ही (एतु) हमें प्राप्त हो। और (देवाः) दानशील और तेजस्वी पुरुष (आयुः प्रतिरन्तु) सूर्य की किरणों के तुल्य हमारे जीवनों को बढ़ावें। (यस्मिन्) जिसमें हम (अश्रान्ताः) कभी न थकते हुए (वाजम् असनाम) अन्न, बल, ज्ञान और ऐश्वर्य का भोग करें। इति द्वितीयो वर्गः ॥

[६३]

गयः प्लात ऋषिः। देवता—१—१४, १७ विश्वेदेवाः। १५, १६ पथ्यास्वस्तिः॥ छन्दः—१, ६, ८, ११—१३ विराड् जगती। १५ जगती त्रिष्टुब् वा। १६ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप्। १७ पादनिचृत् त्रिष्टुप्॥ सप्तदशर्चं सूक्तम्॥

परावतो ये दिधिषन्त आप्यं मनुप्रीतासो जनिमा विवस्वतः।
ययातेर्ये नहुष्यस्य बर्हिषि देवा आसते ते अधि ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

भा०—(ये) जो (मनु-प्रीतासः) मनुष्यों के प्रति प्रेमवान् एवं विचारवान् मनुष्यों को प्रेम करने वाले होकर (परावतः) दूर २

देश से आकर (आप्यम् दिधिषन्ते) बन्धुत्व, वा जलों द्वारा करने योग्य सत्कार और प्राप्त जन्म और आप्तजनों के बीच दीक्षादि धारण करते हैं। और जो (विवस्वतः) धन सम्पन्न जनों वा विविध ब्रह्मचारियों के स्वामी गुरु से (जनिषं दिधिषन्ते) उत्तम कोटि का विद्या जन्म, द्विजत्व दीक्षादि धारण करते हैं, और (ययातेः) यत्नशील वा दुष्टों के दमन करने वाले के (बर्हिषि) वृद्धियुक्त आसन, पर (आसते) विराजते हैं (ते देवाः) वे देव, विद्या, ज्ञान धनादि के दाता, और तेजस्वी, ज्ञानप्रकाशक जन (नः अधि ब्रुवन्तु) हमें उपदेश करें और हम पर शासन करें।

विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञियानि वः।
ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम् ॥२।

भा०—हे (देवाः) उत्तम ज्ञानादि के प्रकाशक, धनादि के दाता, तेजस्वी जनो ! (वः) आप लोगों के (विश्वा हि नामानि) समस्त नाम और दुष्टों को दबाने वाले बल (नमस्यानि) आदर करने योग्य और (वन्द्या) स्तुति योग्य हैं। (उत) और इसी प्रकार (वः यज्ञियानि नामानि) आप लोगों के पूजा, आदर, सत्कारोचित एवं यज्ञ, दीक्षा ज्ञानोपार्जन, सत्संग दान आदि के द्वारा उत्पन्न नाम भी (नमस्यानि वन्द्या) आदरणीय और स्तुत्य हैं। (ये अदितेः जाताः स्थ) आप लोगों में से जो माता पिता वा भूमि वा राजा आदि से उत्पन्न हुए हैं, (ये अद्भ्यः परि) जो उत्तम आप्त जनों और प्रजाओं द्वारा, उनके ऊपर नेतारूप से (जाताः स्थ) उत्पन्न और प्रकट हुए हैं (ये पृथिव्याः) जो पृथिवी के ऊपर प्रसिद्ध हुए हैं (ते मे इह हवं श्रुतं) वे मेरे आह्वान, पुकार, अभ्य ना और वचन का श्रवण करें।

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान्वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये।३।

भा०—(येभ्यः) जिनके लिये (माता) माता और यह जगत् को उत्पन्न करने वाली भूमि (मधुमत् पयः पिन्वते) मधुर गुणयुक्त दूध के समान, (मधुमत्) उत्तम अन्नयुक्त (पयः) जल को (पिन्वते) देती है। (द्यौः) तेजोयुक्त (अदितिः) कभी नाश न होने वाला पिता के तुल्य (अद्रि-बर्हाः) मेघों के उत्तम आच्छादनों से युक्त सूर्य के तुल्य आचार्य (पीयूषं) वृष्टि-जल के तुल्य नवजीवन-दायक ज्ञान प्रदान करता है, उन (उक्थ-शुष्मान्) अतिस्तुत्य बलशाली, उपदिष्ट वेद-ज्ञान से बली, (वृषभरान्) उत्तम बलयुक्त, पुत्रजनों के पोषण करने वाले (सु-अप्नसः) उत्तम रूपवान्, (तान् आदित्यान्) उन सूर्यसदृश तेजस्वियों की (स्वस्तये) उत्तम सुख-कल्याण के लिये (अनु मद) प्रार्थना कर।

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥४॥

भा०—(नृचक्षसः) समस्त मनुष्यों को ज्ञान का दर्शन कराने वाले सब के नेत्र के तुल्य, एवं सब को सूर्यकिरणवत् देखने वाले, (अनिमिषन्तः) कभी निमेष न करने वाले, सदा अप्रमादी, सावधान, (देवासः) तेजस्वी विद्वान् पुरुष, (अर्हणा) योग्य पूजा उपासना द्वारा ही (बृहत्) उस महान् (अमृतत्वम् आनशुः) अमृतमय पद, मोक्ष को प्राप्त करते हैं। वे (ज्योतिः-रथाः) ज्योतिर्मय बल वा रस को प्राप्त होकर वा तेजस्वी शरीर होकर (अहि-मायाः) अप्रतिहत बुद्धि, मेघ वा सूर्यवत् परोपकारक ज्ञान-प्रकाशक बुद्धि से युक्त और (अनागसः) निष्पाप होकर (दिवः) तेजोमय प्रभु के (वर्ष्माणं) परम स्थान को (स्वस्तये) सुख कल्याणार्थ (वसते) प्राप्त होते, उसी में रहते हैं।

सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये॥५॥३॥

भा०—(ये सम्राजः) जो अच्छी प्रकार दीप्तियुक्त, (सु-वृधः) उत्तम रीत से स्वयं बढ़ने और अन्यों को बढ़ाने वाले, (अपरि-ह्वृताः) अकुटिलाचारी, सुधार्मिक (यज्ञम् आ-ययुः) यज्ञ, आदरणीय पद वा सत्संग-योग्य मान को प्राप्त होते हैं और जो (दिवि) सूर्यवत् तेजस्वी, मूर्धन्य राजासभा आदि में (क्षयम् दधिरे) ऐश्वर्य को धारण करते हैं (तान्) उनकी (नमसा) नमस्कार और (सु-वृक्तिभिः) उत्तम वचनों द्वारा (आ विवास) परिचर्या कर । और उन (आदित्यान्) आदित्यसम तेजस्वी, ज्ञानी पुरुषों की और (अदितिं) अखण्ड व्रतधारी पुरुष वा प्रभु की (स्वस्तये आ विवास) कल्याण के लिये परिचर्या, सेवा किया कर । इति तृतीयो वर्गः ॥

को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन ।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये ॥ ६ ॥

भा०—हे (विश्वे देवासः) समस्त विद्वान्, ज्ञानाभिलाषी जनो ! (वः) आप लोगों के (स्तोमं) स्तवन करने योग्य, उपदेष्टव्य वेदज्ञान को (कः राधति) कौन उपदेश करता है (यं जुजोषथ) जिसकी आप लोग प्रेम से सेवा करते और उपासना करते हो । हे (मनुषः) मनन-शील पुरुषो ! हे (तुवि-जाताः) बहुत संख्या में विद्यमान जनो ! आप (यति स्थन) जितने भी हो आप लोगों के (अध्वरम्) यज्ञ को (कः अरं करत्) कौन सुभूषित करता है ? (स्वस्तये यः) जो इस परम सुख प्राप्ति कल्याण के लिये (नः अति पर्षत्) हमें दुःखसागर से पार कर दे ।

उत्तर—(कः) जगत् का कर्त्ता प्रजापति ।

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः ।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ।७।

भा०—(समिद्धाग्निः मनुः) अग्नि को प्रज्वलित कर लेने वाला, अग्नि-परिचारक ब्रह्मचारी वा आहिताग्नि गृहपति भी (मनसा) मन से

और (सप्त होतृभिः) सातों ज्ञान ग्रहण करने वाले इन्द्रियों वा शिरोगत प्राणगणों के छिद्रों द्वारा (येभ्यः) जिनके पास से (प्रथमां) सर्व-प्रथम अनादि सिद्ध, श्रेष्ठ, प्रसिद्ध (होत्राम्) वेदवाणी का (आयेजे) आदर पूर्वक ग्रहण करता है हे विद्वान् पुरुषो ! (ते आदित्याः) वे सूर्यवत् तेजस्वी आप लोग (नः शर्म यच्छत) हमें सुख-शरण प्रदान करो और (स्वस्तये) कल्याण सुख के लिये (नः पथा सुगा कर्त्त) हमारे लिये शुभ मार्गों का उपदेश करो वा हमारे मार्गों को सुगम करो।

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥ ८ ॥

भा०—(ये) जो (प्रचेतसः) उत्कृष्ट ज्ञान और हृदय वाले, और (मन्तवः) मननशील ज्ञानी पुरुष (विश्वस्य स्थातुः जगतः च भुवनस्य) स्थावर और जंगम समस्त भुवन वा जीव संसार के (ईशिरे) स्वामी, शासक होते हैं (ते) वे आप लोग (कृतात् अकृतात् एनसः) किये और न किये हुए पाप से, हे (देवासः) ज्ञान, धन, शक्ति आदि के देने और प्रकाश करने वाले जनो ! (स्वस्तये) सुख-कल्याण के लिये (अद्य नः परि पिपृत) आज हमें सब प्रकार से बचाकर परिपालन करो।

भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम्।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ॥ ९ ॥

भा०—हम (भरेषु) यज्ञों, संग्रामों तथा प्रजा के भरण-पोषण के कार्यों के निमित्त (स्वस्तये) प्रजा के योगक्षेम और कल्याण के लिये (सु-हवं) उत्तम नाम वाले, उत्तम पदार्थों को लेने देने वाले, सुखप्रद, (अंहः-मुचं) पापों से छुड़ाने वाले, (दैव्यं जनम्) देव पद के योग्य जन को और (अग्निं मित्रं वरुणं) अग्रणी, तपस्वी, तेजस्वी, स्नेही, प्राण-

रक्षक, सर्वश्रेष्ठ, और (भगं) ऐश्वर्यवान् और (द्यावापृथिवी) सूर्य भूमिवत् तेजस्वी, सर्वाधार, मातृवत् उत्पादक स्त्री पुरुषों और (मरुतः) वायुवत् बलवान्, व्यापारी एवं कृषक प्रजाजनों को हम (हवामहे) आदरपूर्वक बुलाते हैं। अथवा, इन्द्र, जन, अग्नि, मित्र, वरुण, द्यावा पृथिवा ये सब नाम प्रभु के हैं।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥१०॥४॥

भा०—(सु-त्रामाणं) उत्तम रीति से रक्षा करने वाली, (पृथिवीम्) अति विस्तृत, भूमि के समान विशाल, सर्वाश्रय, (द्याम्) सूर्यवत् तेजस्विनी, प्रकाशयुक्त, (अनेहसम्) मरणादि पाप, अनाचारों से रहित (सु-शर्माणम्) उत्तम सुखयुक्त, सुन्दर गृहवत्, (सु-अरित्राम्) सुन्दर चप्पुओं वाली, वा सुखपूर्वक दुष्टों से बचाने वाली, (अनागसम्) पाप कृत्यों से शून्य, संकटों से रहित, (अस्रवन्तीम्) न चूने वाली, भीतर पानी का प्रवेश न होने देने वाली, निश्छिद्र, (दैवीं नावम्) जल, अग्नि, भाप विद्युत् आदि से चलने वाली (नावम्) नौका के समान सुख से पार उतारने वाली प्रभुमयी नौका को हम (आरुहेम) आरोहण करें। इति चतुर्थो वर्गः ॥

विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः ।
सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ॥ ११ ॥

भा०—हे (विश्वे यजत्राः) समस्त सत्कार योग्य, एवं दानशील पुरुषो ! आप लोग (ऊतये) रक्षा के लिये (अधि वोचत) अध्यक्षवत् होकर शासन करो। (नः) हमें (दुरे-वायाः) दुःखदायी, आती हुई विपत्ति से (अभि-ह्रुतः) चारों ओर से नाश करने वाली कुटिल चाल से (नः त्रायध्वम्) हमारी रक्षा करो। हे (देवाः) विद्वान् तेजस्वी पुरुषो ! (वः

शृण्वतः) श्रवण करते हुए आप लोगों को हम (सत्यया) सत्य, विद्वानों के योग्य (देवहूत्या) आदरयुक्त आह्वान या वाणी द्वारा (स्वस्तये अवसे) कल्याण और रक्षार्थ (हुवेम) बुलाते हैं।

अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः।
आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये ॥ १२ ॥

भा०—आप लोग (नः) हम से (अमीवाम् अप युयोतन) रोग और रोगवत् पीड़क शत्रु को दूर करो। (विश्वाम् अनाहुतिम् अप) सब प्रकार की अदानशीलता को दूर करो, और (अघायतः) हम पर अत्याचार, पाप आदि करना चाहने वाले की (अरातिम्) न देने और (दुर्विदत्राम्) दुःख पहुंचाने की चाल को भी (अप) दूर करो और (स्वस्तये) जगत् के कल्याण के लिये (नः उरु शर्म यच्छत) हमें बहुत २ सुख प्रदान करो।

अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये॥१३॥

भा०—हे (आदित्यासः) आदित्य, सूर्य की किरणों के तुल्य प्रजा के हितार्थ अन्न, जल, कर आदि लेने हारो, ऋतुओं के सदृश प्रजा को जल अन्न, प्रकाश, ज्ञान आदि का वितरण करने वाले विद्वान् तेजस्वी, व्यापारी आदि पुरुषो! (यं) जिसको (स्वस्तये) कल्याणार्थ (सु-नीतिभिः) उत्तम नीतियों से (विश्वानि दुः-इता) समस्त दुःखों और दुराचरणों वा दुर्मार्गों से (परि अति नयथ) पार पहुंचा देते हो, वह (मर्त्तः) मनुष्य (विश्वः) विविध लोकों, स्थानों को जाने में समर्थ, (अरिष्टः) अहिंसित, अनिष्टों से रहित होकर (प्र एधते) खूब वृद्धि को प्राप्त होता है और (प्रजाभिः) प्रजाओं से (धर्मणः प्र जायते) धर्माचरण से उत्कृष्ट हो जाता है।

यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये॥ १४॥

भा०—हे (देवासः) विद्वान् जनो ! हे (मरुतः) वायुवद् बलवान् प्राणप्रद, वीर जनो ! आप लोग (वाज-सातौ) ज्ञान, ऐश्वर्य, बल आदि लाभ के संग्राम आदि अवसरों पर (यम् अवथ) जिसकी रक्षा करते हो, और (शूर-साता) वीर पुरुषों के करने योग्य संग्राम में (हिते धने) स्थिर धन को प्राप्त और उपभोग करने के लिये (यं अवथ) जिसकी रक्षा करते हो, हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! उस (रथम्) वेगवान् रथ के तुल्य उद्देश्य तक पहुंचाने वाले, (सानसिं) उत्तम रीति से सेवन करने योग्य, (अरिष्यन्तम्) किसी को पीड़ा न देने वाले, राष्ट्र में उत्तम पद या शासक वा प्रभु को हम (स्वस्तये) अपने कल्याणार्थ (आ रुहेम) अपना आश्रय करें।

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्य१प्सु वृजने स्वर्वति।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन॥ १५॥

भा०—हे (मरुतः) वृष्टि लाने वाले वायुगणों के तुल्य अन्न जलादि के प्राप्त कराने वाले वैश्य एवं वीर विद्वान्, बलवान् जनो ! (पथ्यासु नः स्वस्ति दधातन) मार्गों के योग्य देशों में हमें सुख प्रदान करो। (धन्वसु) जल से रहित देशों में भी (नः स्वस्ति दधातन) हमें कल्याण प्रदान करो। (अप्सु) जलों पर, समुद्र, नदी आदि में, (स्वः-वति वृजने) तेज, सुख आदि से युक्त मार्ग वा, सैन्यादि बल में (नः स्वस्ति) हमें सुख, कल्याण प्रदान करो। (पुत्र-कृथेषु योनिषु) पुत्र उत्पन्न करने वाले, गृहवत् गृहणी जनों में और (राये नः स्वस्ति दधातन) ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये हमें सुख प्रदान करो।

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा॥ १६॥

भा०—(प्रपथे) उत्तम मार्ग में चलने वाले का (स्वस्तिः) कल्याण हो। (श्रेष्ठा) सर्वश्रेष्ठ, अति प्रशंसायोग्य (रेक्णस्वती) उत्तम धन ऐश्वर्य और वीर्यवाली, (या) जो पृथिवीवत् (वामम् अभि एति) सेवनीय धन वा पुरुष आदि को प्राप्त होती है (सा अमा) वह सहचारिणी गृहवत् गृहणी हो। (सो) और वही, (नः) हमें (अरणे) जाने योग्य मार्ग, वा देश में, वा आनन्द सुखादि से रहित निर्जन स्थान में भी (पातु) हमारी सेनावत् रक्षा करे, वह (सु-आवेशा) सुखप्रद उत्तम आवेश अर्थात् निवास गृह से युक्त होकर (देवगोपा भवतु) उत्तम पुरुषों और उत्तम प्रिय पति से सुरक्षित हो।

एवा प्लतेः सूनुरवीवृधद्वो विश्व आदित्या अदिते मनीषी।
ईशानासो नरो अमर्त्येनास्तावि जनो दिव्यो गयेन॥ १७॥ ५॥

भा०—हे (विश्वे आदित्याः) समस्त तेजस्वी जनो! हे उत्तम माता पिता के उत्तम पुत्रो! हे भूमि के रक्षको! (एवं) इस प्रकार (प्लतेः) सुखों, धनों से पूर्ण करने वाले राष्ट्र का (सूनुः) शासक, (मनीषी) बुद्धिमान् पुरुष (वः अवीवृधत्) आप लोगों को बढ़ावे। हे (अदिते) मातृ पितृवत् पूज्य, सूर्यवत् तेजस्विन्! (अमर्त्येन) असाधारण (गयेन) उत्तम उपदेष्टा पुरुष द्वारा (ईशानासः) ऐश्वर्य वा शासनाधिकार करने वाले (नरः) नेताजन और (दिव्यः जनः) अन्य श्रेष्ठ जन भी (अस्तावि) उपदेश प्राप्त करे। इति पञ्चमो वर्गः॥

[६४]

गयः प्लातः॥ विश्वेदेवा देवताः॥ छन्दः—१, ४, ५, ६, १०, १३, १५ निचृज्जगती। २, ३, ७, ८, ११ विराड् जगती। ६, १४ जगती। १२ त्रिष्टुप्। १६ निचृत् त्रिष्टुप्। १७ पादनिचृत् त्रिष्टुप्॥ सप्तदशर्चं सूक्तम्॥

क॒था दे॒वाना॑ कत॒मस्य॒ याम॑नि सु॒मन्तु॒ नाम॑ शृण्व॒तां म॑नामहे ।
को मृ॑ळाति कत॒मो नो॒ मय॑स्करत्कत॒म ऊ॒ती अ॒भ्या व॑वर्तति ॥१॥

भा०—(यामनि) इस संसार मार्ग में (शृण्वतां देवानां) श्रवण करने वाले, ज्ञान के अभिलाषी जनों के बीच, वा हमारी वचन, स्तुति प्रार्थनादि सुनने वाले एवं ज्ञानादि देने वालों में से (कतमस्य) किस सर्व-श्रेष्ठ का और (कथा) किस प्रकार (सुमन्तु नाम) सुख से मनन करने योग्य नाम और स्वरूप का (मनामहे) मनन और ज्ञान करें ? (नः कः मृडाति) हमें कौन सुखी करता है, हम पर कौन दया करता है, (नः) हमारा (कतमः) कौनसा देव (मयः करत्) सुख सम्पादन एवं कल्याण करता है । और (कतमः) कौन सर्वश्रेष्ठ होकर (नः अभि आवर्त्तति) हमारे प्रति पुनः २ आता और हमें पुनः २ भेजता है वा हमें साक्षात् प्राप्त होता वा हमें पुनः २ बनाता या पैदा करता है । मृडतिरुपदयाकर्मा ।

क्र॒तू॒यन्ति॒ क्रत॑वो हृ॒त्सु धी॒तयो॒ वेन॑न्ति वे॒नाः प॒तय॒न्त्या दिशः॑ ।
न म॑र्डि॒ता वि॑द्यते अ॒न्य ए॑भ्यो दे॒वेषु॑ मे॒ अधि॒ कामा॑ अयंसत ॥२॥

भा०—(हृत्सु धीतयः) हृदयों में विद्यमान, (क्रतवः) हमारे नाना संकल्प या बुद्धियां अथवा (हृत्सु धीतयः) हृदयों में ज्ञान धारण करने वाले (क्रतवः) उत्तम कर्मकुशल जन (क्रतूयन्ति) उत्तम कर्म और ज्ञान का सम्पादन करना चाहा करते हैं। और (वेनाः) तेजस्वी, नाना कामनावान् जन (वेनन्ति) नाना कामनाएं करते हैं। वे (दिशः आ पतयन्ति) नाना दिशाओं में जाते हैं। (एभ्यः) इन उक्त कर्म करने की इच्छा करने वाले फलाकांक्षी जीवों के लिये (अन्यः मर्डिता न विद्यते) और दूसरा कोई दयालु भी नहीं है । (देवेषु अधि) आंख आदि इन्द्रियों, रूप आदि ग्राह्य विषयों, विद्वानों और दिव्य पदार्थों, सूर्य, विद्युदादि के निमित्त ही (मे कामाः) मेरी अभि-लाषाएं (अयंसत) बद्ध हो जाती हैं।

नराशंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा ।
सूर्यामासा चन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना ॥३॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष ! तू (गिरा) वाणी से (नराशंसम्) मनुष्यों द्वारा स्तुति करने योग्य (अगोह्यम्) सर्व प्रत्यक्ष और अन्यों से प्राप्य एवं इन्द्रियों से अगम्य (पूषणम्) सर्वपोषक और (देव-इद्धम्) विद्वानों, वा इन्द्रिय गणों से प्रकाशित, (अग्निम्) अग्नि के तुल्य प्रकाशस्वरूप परमेश्वर, आत्मा को (गिरा अभि अर्चसे) वाणी से साक्षात् वर्णन कर । और इसी प्रकार (सूर्यामासा चन्द्रमसा) सूर्य के समान प्रकाश वाले और चन्द्र के समान सर्वाह्लादक दोनों को, और (दिवि) आकाश में (यमम्) सब को व्यवस्थित और नियम में बांधने वाले (त्रितम्) तीनों स्थानों में व्याप्त (वातं) वायुवत् जीवनप्रद और (उषसम् अक्तुम्) प्रातःकाल और रात्रिकाल और (अश्विना) दिन रात्रिवत् गृहस्थ युगल की भी (गिरा अर्चसे) वाणी से स्तुति कर ।

कथा कविस्तुवीरवान्कया गिरा बृहस्पतिर्वावृधते सुवृक्तिभिः ।
अज एकपात्सुहवेभिर्ऋक्वभिरहिः शृणोतु बुध्न्यो३हवीमनि ॥४॥

भा०—(तुवीरवान् कविः) नाना ज्ञानों वाला, बहुदर्शी विद्वान् (कया-गिरा वव्रृधते) किस प्रकार की वाणी से वृद्धि को प्राप्त करता है । और (बृहस्पतिः) महान् विश्व, बड़े राष्ट्र का पालक (कया गिरा वव्रृधते) किस वाणी से बढ़ता है । (सु-वृक्तिभिः) उत्तम रीति से अज्ञान और शत्रुओं को दूर करने वाली वाणियों और सेनाओं से (एकपात् अजः) एक, अकेला, अद्वितीय ही जगत् या राष्ट्र को चलाने वाला, अकेला निर्भीक रण में जाने वाला, (अजः) शत्रुओं को उखाड़ फेंकने में समर्थ वा जगत् का सञ्चालक, अजन्मा (सुहवेभिः ऋक्वभिः) उत्तम ज्ञानप्रद, वा उत्तम रीति से बुलाने योग्य ऋचायुक्त मन्त्रों वा अर्चनादि युक्त कर्मों से (वव्रृधते) वृद्धि को प्राप्त है,

उसका गुणानुवाद होता है। वह (अहिः) अभ्यागत अतिथि के तुल्य वा अचल सूर्य वा मेघ के तुल्य, (बुध्न्यः) अन्तरिक्षवत् सर्वोपरि विराजमान, सर्वाश्रय एवं (बुध्न्यः) बोध, ज्ञान प्राप्त कराने वाला, (हवीमनि) आह्वान पर करने यज्ञादि में हमारे वचन श्रवण करें।

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।
अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु ॥५॥६॥

भा०—हे (अदिते) कभी नाश न होने वाले! (दक्षस्य) ज्ञान, क्रिया और उत्साह से युक्त तेरे (जन्मनि) जन्म होने पर (व्रते) अपने कर्म से (मित्रा वरुणौ) परस्पर स्नेही और वरण करने वाले स्त्री पुरुषों के तुल्य (राजाना) देह के राजावत् मुख्य प्राण और अपान दोनों को सूर्य चन्द्रवत् (आ विवाससि) प्रकट करता है। उनको कर्म में नियुक्त करता है। (अर्यमा) अरों को अपने से बांधने वाले, नाभिवत् गतिशील प्राणों और इन्द्रियों को संयम में रखने वाला, (अतूर्त-पन्थाः) अविच्छिन्न मार्ग से जाता हुआ, (पुरु-रथः) नाना इन्द्रियों में रमण या सुख भोग करता हुआ, महारथी के तुल्य, (सप्त-होता) सात ऋत्विजों के द्वारा यज्ञ के कर्त्ता यजमानवत् सातों प्राणों को धारण करने वाला होकर (विषु-रूपेषु जन्मसु आविवाससि) नाना प्रकार के जन्मों, देहों में जाता है। इति षष्ठो वर्गः ॥

ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः।
सहस्रसा मेधसाताविव त्मना महो ये धनं समिथेषु जभ्रिरे ॥६॥

भा०—(ये) जो (समिथे) संग्रामों में (महः धनं जभ्रिरे) बहुत सा धन और यश प्राप्त करते हैं और जो (त्मना) अपने सामर्थ्य से (मेधसाता सहस्रसा) यज्ञ में सहस्रों का दान करते हैं (ते) वे

(अर्वन्तः) ज्ञानी, आगे बढ़ने वाले (हवन-श्रुतः) ग्रहण करने योग्य ज्ञान और प्रजाओं के उत्तम आह्वान को श्रवण करनेहारे (मित-द्रवः) मित, ज्ञात मार्ग में द्रुतगति से जाने वाले, (वाजिनः) ज्ञानवान् बलवान् धनवान् पुरुष (विश्वे) सब (नः हवं शृण्वन्तु) हमारे आह्वान, पुकार एवं ग्राह्य वचन को श्रवण करें।

प्र वो वायुं रथयुजं पुरंधिं स्तोमैः कृणुध्वं सख्याय पूषणम्।
ते हि देवस्य सवितुः सवीमनि क्रतुं सचन्ते सचितः सचेतसः ७॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो! आप लोग (वायुं रथयुजं) रथ में लगने वाले वायु तत्व को और रथ को जोड़ कर वेग से चलने वाले वायुवद् बलवान् पुरुष को, और (पुरन्धिम्) पुर, देह के धारक आत्मावत् नगर के रक्षक को, और (पूषणम्) पोपक, स्वामी को (स्तोमैः) उत्तम स्तुत्य वचनों और पदों से (वः सख्याय कृणुध्वम्) अपने मित्र भाव के लिये चुनो। उनको अपना मित्र बनाओ। (ते हि) क्योंकि वे (देवस्य सवितुः) सर्वप्रकाशक, सर्वदाता, सर्वोत्पादक, सर्वशासक प्रभु स्वामी के (सवीमनि) शासन में (सचितः) ज्ञान से युक्त और (स-चेतसः) एकचित्त होकर (क्रतुं सचन्ते) यज्ञ तुल्य अपना कार्य करते हैं।

त्रिः सप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन्पर्वताँ अग्निमूतये।
कृशानुमस्तॄन्तिष्यं सधस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे ॥ ८ ॥

भा०—हम लोग (ऊतये) अपनी रक्षा, सुख, समृद्धि, अन्न, स्नेह वृद्धि आदि के लिये (त्रिः सप्त) २१ प्रकार की, (सस्राः) स्रवण करने वाली, बहने वाली (नद्यः) नदियों और (महीः अपः) विशाल जलों को (वनस्पतीन् पर्वतान्) वनस्पतियों और मेघों वा पर्वतों को (अग्निम्) अग्नि और अग्रणी को, (कृशानुम्) शत्रुओं के नाशक तेजस्वी पुरुष को

(अस्तृन्) शस्त्रास्त्रों के चलाने वाले वीरों और (तिष्यं) सन्तोषी वा तेजस्वी पुरुष को (सधस्थे) अपने एक साथ रहने के स्थान में (हवामहे) बुलाते हैं। और (रुद्रेषु) दुष्टों के रुलाने वाले जनों में श्रेष्ठ (रुद्रियम्) रुद्र पद के योग्य (रुद्रं) उत्तम आज्ञापक एवं दुष्टों के दण्डकर्त्ता को (आ हवामहे) आदर से बुलावें। तिष्यं—त्विषेस्तुषेर्वा क्यप् निपातनम्।

सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः।
देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत ॥ ९ ॥

भा०—(सरस्वती) उत्तम ज्ञान वाली, (सरयुः) उत्तम ज्ञान को चाहने वाली और (सिन्धुः) नदी के तुल्य वेग से धाराप्रवाह जाने वाली, (वक्षणीः देवीः) नदियों के सदृश उदार होकर वचन बोलने वाली, (महीः) पूज्य (आपः मातरः देवीः) आप्तजन, माताएं और ज्ञानप्रद देवियें (सूदयित्न्वः) ज्ञानरस प्रदान करती हुईं (महः अवसा) बड़े प्रेम से, (आयन्तु) आवें और (नः) हमें (घृतवत् पयः) घृत से युक्त पुष्टिकारक (मधुमत्) मधुर अन्न से युक्त भोजन के समान उत्तम ज्ञान (अर्चत) प्रदान करें।

उत माता बृहद्दिवा शृणोतु नस्त्वष्टा देवेभिर्जनिभिः पिता वचः।
ऋभुक्षा वाजो रथस्पतिर्भगो रण्वः शंसः शशमानस्य पातु नः
॥ १० ॥ ७ ॥

भा०—(उत) और (माता) माता के समान प्रिय, सब जगन्निर्माता, वा ज्ञानी (बृहद्-दिवा) बड़े दीप्ति से युक्त तेजस्विनी माता और (त्वष्टा पिता) सूर्यवत् तेजस्वी सर्वपालक प्रभु पिता (देवेभिः जनिभिः) उत्तम पुरुषों और उत्तम देवियों के सहित (नः शृणोतु) हमारी प्रार्थना सुनें। वह (ऋभुक्षाः) महान्, (वाजः) बलवान् (रथः-पतिः) सर्व रसों

का स्वामी, (रण्वः) अति रमणीय (भगः) सर्वैश्वर्यवान्, (शंसः) सर्वस्तुत्य, सर्वोपदेष्टा (नः शशमानस्य) हम में से उत्तम स्तुतिकर्त्ता की (पातु) रक्षा करे । इति सप्तमो वर्गः ॥

रण्वः सन्दृष्टौ पितुमाँ इव क्षयो भद्रा रुद्राणां मरुतामुपस्तुतिः ।
गोभिः ष्याम यशसो जनेष्वासदा देवास इळया सचेमहि ॥११॥

भा०—(सं-दृष्टौ) सम्यग् दर्शन होने पर वह परमेश्वर (पितुमान् क्षयः इव) अन्नादि से समृद्ध निवासगृह के समान (रण्वः) अति सुखदायी होता है । (रुद्राणां) दुःखों के दूर करने वाले और दुष्टों के रुलाने वा सबको उपदेश करने वाले मनुष्यों का (उप-स्तुतिः) उपदेश भी (भद्रा) अति कल्याणकारी होता है । हम लोग (जनेषु) मनुष्यों के बीच (गोभिः यशसः स्याम) वाणियों, भूमियों और पशु-सम्पदाओं से यशस्वी होवें । और हे (देवासः) उत्तम विद्वान् जनो ! हम (सदा) सदा (इषा सचेमहि) अन्न, भूमि और वाणी से सदा युक्त होवें ।

यां मे धियं मरुत इन्द्र देवा अददात वरुण मित्र यूयम् ।
तां पीपयत पयसेव धेनुं कुविद्गिरो अधि रथे वहाथ ॥ १२ ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान् पुरुषो ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् प्रभो ! वा ज्ञानदर्शिन् गुरो ! हे (देवाः) ज्ञान-प्रदाताओ ! हे (वरुण) श्रेष्ठ जन ! हे स्नेही वर्ग ! (यूयम् यां धियम्) आप लोग जिस बुद्धि और कर्म का (मे अददात) मुझे उपदेश करते हो, (ताम्) उसको (पयसा धेनुम् इव) दूध से गौ के समान (पीपयत) नाना फलों से युक्त करो । समृद्ध करो और (कुविद्) बहुत वार (रथे अधि) रथ पर (गिरः) विद्वान् पुरुषों को (अधि वहाथ) चढ़ा कर लाया करो ।

कुविदङ्ग प्रति यथा चिदस्य नः सजात्यस्य मरुतो बुबोधथ ।
नाभा यत्र प्रथमं संनसामहे तत्र जामित्वमदितिर्दधातु नः ॥ १३ ॥

भा०—(अंग मरुतः) हे विद्वान् वीर जनो ! (यथा चित्) जैसे भी हो, आप लोग (कुवित्) बहुत बार (नः सजात्यस्य) हमारे समान जाति-वर्ग, मनुष्य समूह को भी आप लोग (प्रति बुबोधथ) प्रति दिन ज्ञान प्रदान करो, उनकी भी खबर रक्खो, हम लोग (यत्र नाभा) जिस नाभि या मातृवत् एक ही देश में (प्रथमं संनसामहे) सब से प्रथम प्राप्त होते हैं (अदितिः) मातृतुल्य भूमि (तत्र जामित्वं नः दधातु) वहां हमारा परस्पर बंधुत्व पुष्ट करे ।

ते हि द्यावापृथिवी मातरा मही देवी देवाञ्जन्मना यज्ञिये इतः ।
उभे बिभृत उभयं भरीमभिः पुरू रेतांसि पितृभिश्च सिञ्चतः ॥१४॥

भा०—(ते हि द्यावा पृथिवी) वे सूर्य भूमि दोनों जिस प्रकार (देवान्) सब जीवों को (इतः) प्राप्त होते हैं (उभे) दोनों (उभयम्) स्थावर और जंगम दोनों को (भरीमभिः) भरण-पोषणकारी अन्न जलों से (बिभृतः) पोषण करते और (पितृभिः रेतांसि सिञ्चतः) पालक मेघों द्वारा जलों की वर्षा करते हैं उसी प्रकार (मातरा मही देवी) पूज्य माता पिता, सर्व सुखप्रद, (यज्ञिये) परस्पर एक यज्ञ, आदर-सत्कार, सत्संग पर आश्रित होकर हमें (जन्मना) जन्म द्वारा (देवान् इतः) हम जीवों को प्राप्त होते हैं । (भरीमभिः) धारक पोषक अन्नादि से (उभयं) छोटे बड़े सब को पालते हैं और (पितृभिः च) माता पिता रूपों से वे (पुरु) अनेक (रेतांसि सिञ्चतः) जलों का आदरार्थ और वीर्यों का सन्तानार्थ निषेक करते हैं ।

वि षा होत्रा विश्वमश्नोति वार्यं बृहस्पतिररमतिः पनीयसी ।
ग्रावा यत्र मधुषुदुच्यते बृहदवीवशन्त मतिभिर्मनीषिणः ॥१५॥

भा०—(सा होत्रा) वह सब पदार्थों के नामों और व्यवहारों को बतलाने वाली वा जिस द्वारा समस्त पदार्थ और भाव बतलाये या बुलाये

जाते हैं वह परम वाणी (विश्वम् वार्यम् अश्नोति) समस्त वरण करने योग्य इष्ट पदार्थ को व्याप रही है। वही (पनीयसी) उत्तम रीति से ज्ञान का उपदेश करने वाली है, (यत्र) जिसमें कुशल पुरुष (अरमतिः) बहुत बड़ी बुद्धि वाला (बृहस्पतिः) बड़ी वाणी का पालक कहा जाता है और (यत्र) जिसमें निष्ठ (ग्रावा) उपदेष्टा (मधुसुत्) मधुर ज्ञान ऋग्वेदादि का प्रवक्ता (उच्यते) कहा जाता है। (यत्र) और जिसमें, वा जिसके बल पर (मतिभिः) अपनी २ बुद्धियों के द्वारा (मनीषिणः) बुद्धिमान् पुरुष (बृहत् अवीवशन्त) उस महान् प्रभु की कामना करते हैं, उसकी उपासना करते हैं।

एवा कविस्तुवीरवाँ ऋतज्ञा द्रविणस्युर्द्रविणसश्चकानः ।
उक्थेभिरत्र मतिभिश्च विप्रोऽपीपयद् गयो दिव्यानि जन्म ॥१६॥

भ०—(एव कविः) इस प्रकार क्रान्तदर्शी (तुवीरवान्) बहुत ज्ञान, स्तुति से युक्त, (ऋत-ज्ञाः) सत्य तत्व वा ज्ञान का जानने वाला, (द्रविणस्युः) नाना ऐश्वर्य की कामना वाला होकर (द्रविणसः चकानः) नाना ऐश्वर्यों से तृप्त होता रहता है, वह (अत्र) इस लोक में (विप्रः) बुद्धिमान् (गयः) स्तुतिशील वा प्राणों वाला, देह-गृह का स्वामी होकर (उक्थेभिः मतिभिः च) उत्तम वचनों, बुद्धियों वा स्तुतियों से (दिव्यानि जन्म अपीपयत्) नाना दिव्य जन्मों को पुष्ट करता है।

एवा प्लतेः सूनुरवीवृधद्वो विश्व आदित्या अदिते मनीषी ।
ईशानासो नरो अमर्त्येनास्तावि जनो दिव्यो गयेन ॥ १७॥ ८ ॥

भा०—व्याख्या देखो (सू० ६३ । १७ ॥) इत्यष्टमो वर्गः ॥

[६५]

वसुकर्णो वासुक्रः ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः—१, ४, ६, १०, १२, १३ निचृज्जगती । ३, ७, ९ विराड् जगती । २, ८, ११ जगती । १४ त्रिष्टुप् । १५ विराट् त्रिष्टुप् ॥

अग्निरिन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा वायुः पूषा सरस्वती सजोषसः।
आदित्या विष्णुर्मरुतः स्वर्बृहत्सोमो रुद्रो अदितिर्ब्रह्मणस्पतिः ॥१॥

भा०—(अग्नि) अग्नि, (इन्द्रः) विद्युत्, (वरुणः) जल या मेघ, (मित्रः) अन्न, (अर्यमा) सूर्य, (वायुः) वायु, (पूषा) सर्व-पोषक पृथिवी, (सरस्वती) उत्तम जल से युक्त वेगवती नदी, (आदित्याः) १२ मास, (विष्णुः) व्यापक आकाश, (मरुतः) अन्तरिक्ष और वायुरूप तत्व एवं देहगत नाना प्राण-बल, (स्वः) तेजवा शब्द, (बृहत् सोमः) बड़ा बलशाली, ओषधिगण, (रुद्रः) दुष्टों को रुलाने वाला, प्राण (अदितिः) अखण्ड शक्तिमय प्रकृति और (ब्रह्मणः पतिः) महान् ब्रह्माण्ड का पालक प्रभु, ये सब (स-जोषसः) परस्पर समान प्रीति से युक्त, एक दूसरे के अनुकूल होकर विराजते हैं और इस महान् आकाश में सर्वत्र व्याप रहे हैं।

'अन्तरिक्षम् आपप्रुः' इत्युत्तरेण सम्बन्धः। इसी प्रकार राष्ट्र में और देह में भी ये नाना तत्व इस २ नाम से परस्पर सुव्यस्थित हैं।

इन्द्राग्नी वृत्रहत्येषु सत्पती मिथो हिन्वाना तन्वा३ समोकसा।
अन्तरिक्षं मह्या पप्रुरोजसा सोमो घृतश्रीर्महिमानमीरयन् ॥ २ ॥

भा०—(वृत्र-हत्येषु) धनों को प्राप्त करने और शत्रुओं का नाश करने के कार्यों में (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि, पवन और आग के तुल्य (सम्-ओकसा) एक ही स्थान पर रहते हुए, (सत्-पती) सज्जनों के पालक होकर (तन्वा) अपनी विस्तृत शक्ति से (मिथः हिन्वानाः) परस्पर को बढ़ाते हुए, (अन्तरिक्षं आ पप्रुः) अन्तरिक्ष को व्याप्त होते हैं। और (सोमः) सोम, ओषधिवर्ग भी (घृतश्रीः) जल के आश्रय पर रहकर (ओजसा) बल वीर्य से (महिमानम् ईरयन्) अपने महान्

सामर्थ्य को बतलाता हुआ सर्वत्र भूमि में व्याप रहा है। (२) राष्ट्र में इन्द्र सेनापति, अग्नि विद्वान् पुरोहित और सोम राजा है (३) गृहस्थ में, इन्द्र पति, अग्नि स्त्री और सोम पुत्र हैं।

तेषां हि मह्ना महतामनर्वणां स्तोमाँ इयर्म्यृतज्ञा ऋतावृधाम्।
ये अप्सवमर्णवं चित्रराधसस्ते नो रासन्तां महये सुमित्र्याः ॥३॥

भा०—मैं (ऋत-ज्ञाः) यथार्थ सत्य ज्ञान का जानने वाला (मह्ना महताम्) अपने महान् सामर्थ्य से महान्, उन (अनर्वणाम्) अन्य चालक की अपेक्षा न करने वाले, स्वयं गतिशील, (ऋत-वृधाम्) सत्य, बल, अन्न, ज्ञान, यज्ञ, तेज को बढ़ाने वाले वा उनसे स्वयं बढ़ने वाले (तेषाम्) उनके (स्तोमान् इयर्मि) स्तुत्य गुणों और स्तुति योग्य वचनों को कहता हूं। (ये) जो (चित्र-राधसः) बहुत धनों के स्वामी होकर (अप्सवम्) जलों के उत्पादक (अ र्णवम्) जलों से पूर्ण आकाश वा मेघ को उत्पन्न करते वा वर्षाते हैं ते (सुमित्र्याः) उत्तम मित्र कहाने योग्य हैं। (ते) वे (नः) हमें (महये) महान् सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये (रासन्ताम्) उपदेश करें और ऐश्वर्य प्रदान करें।

स्वर्णरमन्तरिक्षाणि रोचना द्यावाभूमी पृथिवीं स्कम्भुरोजसा।
पृक्षा इव महयन्तः सुरातयो देवाः स्तवन्ते मनुषाय सूरयः ॥४॥

भा०—(सु-रातयः) उत्तम शक्ति वाले, उदार, (देवाः) तेजस्वी, दानी, (पृक्षाः इव) अतिस्नेही बन्धुजनों के तुल्य (महयन्तः) नाना सुख प्रदान करते हुए (सूरयः) विद्वान् जन (मनुषाय स्तवन्ते) मनुष्य के हितार्थ उपदेश करते हैं। वे ही (ओजसा) अपने बल पराक्रम से (स्वः-नरम्) तेजस्वी नायक को और (रोचना अन्तरिक्षाणि) रुचिकारक, सर्वप्रिय अन्तःकरणों को, (द्यावा भूमी) सूर्य और भूमिवत्

राजा प्रजावर्गों को और (पृथिवीम्) समस्त पृथिवीवत् गृहस्थ को भी (स्कंभुः) थामते हैं, व्यवस्थित करते हैं। (२) विशाल विश्व में सूर्य आदि लोक ही परस्पर अपने बलों से सूर्यों, अन्तरिक्षस्थ वायुओं, आकाश और भूमि आदि को थामते हैं।

मित्राय शिक्ष वरुणाय दाशुषे या सम्राजा मनसा न प्रयुच्छतः।
ययोर्धाम धर्मणा रोचते बृहद्ययोरुभे रोदसी नाधसी वृतौ॥५।६॥

भा०—(दाशुषे मित्राय दाशुषे वरुणाय शिक्ष) वायु और जल के तुल्य दान देने वाले स्नेही, और दान देने वाले श्रेष्ठ जन के लिये तू भी प्रदान कर। (या) जो वे दोना (सम्राजा) गुणों से अच्छी प्रकार चमकने वाले सम्राट् के तुल्य होकर (मनसा) चित्त से कभी (न प्रयुच्छतः) प्रमाद नहीं करते, (ययोः धर्मणा) जिनके धारण सामर्थ्य से (बृहत् धाम) बड़ा भारी उनका तेजोमय शरीर या लोक, (रोचते) सूर्यवत् प्रकाशित होता और सबको प्रिय लगता है, और (ययोः) जिनके सामर्थ्य से (उभे रोदसी) दोनों ये लोक (नाधसी) नाना ऐश्वर्यों से युक्त (वृतौ) वर्त्तमान हैं। इति नवमो वर्गः॥

या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते॥६॥

भा०—(या) जो (गौः) भूमि, (निष्कृतम्) ठीक प्रकार से बने (वर्त्तनिम्) मार्ग को (परि एति) तय करती है, जो (पयः दुहाना) गौ के समान ही संसार के प्राणियों के लिये पुष्टिकारक जल प्रदान करती हुई (अवारतः) निरन्तर (व्रत-नीः) अन्न भी प्राप्त कराती है (सा) वह (वरुणाय) सर्वश्रेष्ठ, पतिवत् वरण करने योग्य (विवस्वते) विविध लोकों के स्वामी, (दाशुषे) प्रकाश, शक्ति आदि के देने वाले

महान् सूर्य के सामर्थ्य को (प्रब्रुवाणा) बतलाती हुई (देवेभ्यः) जीवों के लिये (हविषा) नाना अन्न से (दाशत्) जीवन प्रदान करती है। अर्थात् पृथिवी स्वयं आकाश परिभ्रमण से ही सूर्य के महान् सामर्थ्य का पता देती है, उसी भ्रमण से ऋतुएं और अनेक धन-धान्य, वनस्पति आदि उत्पन्न होती हैं जिनसे प्राणी अन्न, जल पाते और जीते हैं।

दिवक्षसो अग्निजिह्वा ऋतावृध ऋतस्य योनिं विमृशन्त आसते।
द्यां स्कभित्व्य१प आ चक्रुरोजसा यज्ञं जनित्वी तन्वी३ नि मामृजुः ७

भा०—(दिवक्षसः) सूर्य में रहने वाले सूर्य के किरण आकाश में व्यापते हैं, वे (अग्नि-जिह्वाः) अग्नितत्व की बनी जीभों के समान हैं, वे ही (ऋत-वृधः) अन्न और तेज की वृद्धि करते हैं, वे (ऋतस्य योनिं) तेज के मूल स्थान सूर्य, जल के स्थान मेघ, समुद्रादि और अन्न के स्थान भूतल को (वि-मृशन्तः आसते) विविध रूपों से स्पर्श करते हैं। वे (द्यां स्कभित्वी) आकाश और पृथिवी को व्याप कर (ओजसा) अपने तेजोबल से (आपः आ चक्रुः) जलों को ग्रहण करते हैं वे फिर (यज्ञं जनित्वी) उसका दान करके (तन्वि) विस्तृत पृथिवी पर वा जीवों के देहों में (नि मामृजुः) अन्न को सुभूषित करते हैं। इसी प्रकार सज्जन भी (दिवक्षसः) ज्ञान को धारण करने वाले, (अग्निजिह्वाः) अग्नि के तुल्य जिह्वा से ही ज्ञान का प्रकाश करने वाले, (ऋत-वृधः) सत्य ज्ञान और सत्य व्यवहार को बढ़ाने वाले, वे (ऋतस्य योनिम्) ज्ञान, सत्य के परम मूल कारण शास्त्र-योनिरूप परम ब्रह्म तत्व को (विमृशन्तः आसते) विमर्श, विचार करते रहते हैं। वे (द्यां) ज्ञान-विद्या को थाम कर, अपने (ओजसा) तप से (अपः चक्रुः) नाना सत् कर्म करते हैं। (यज्ञं जनित्वी) परस्पर संगति, विद्यादान और यज्ञ करके (तन्वि निमामृजुः) देह में चन्दनादिवत् उस महान् यज्ञमय उपास्य प्रभु को अपने

आत्मा में और अपने आत्मा को उस विस्तृत प्रभु में देखकर अपने को शुद्ध करते हैं।

परिक्षिता पितरा पूर्वजावरी ऋतस्य योना क्षयतः समोकसा।
द्यावापृथिवी वरुणाय सव्रते घृतवत्पयो महिषाय पिन्वतः ॥८॥

भा०—जिस प्रकार (द्यावा पृथिवी) आकाश और भूमि वा सूर्य और पृथिवी, (पूर्व-जावरी) सब से पूर्व उत्पन्न होकर (सम्-ओकसा) एक स्थान, अन्तरिक्ष में रहकर भी (परि-क्षिता) पृथक् रहते और (घृत-वत् पयः पिन्वते) जलयुक्त पुष्टिप्रद अन्न प्रदान करते हैं उसी प्रकार (पितरा) माता पिता और (पूर्व-जावरी) सन्तानों से पूर्व उत्पन्न एवं प्रसिद्ध हों, वे (समोकसा) एक स्थान पर रहते हुए (परि-क्षिता) खूब ऐश्वर्य युक्त होकर, (ऋतस्य योना क्षयतः) ऋत, सत्य व्यवहार के आश्रय होकर रहें। वे (स-व्रते) समान व्रत, कर्म, आचरण, अन्नादि करते हुए (महिषाय वरुणाय) अति सुख देने वाले, वरणीय पुत्रादि के लिये (घृतवत् पयः) जल, घृतादि से युक्त अन्न, दुग्धादि प्रदान करें।

पर्जन्यावाता वृषभा पुरीषिणेन्द्रवायू वरुणो मित्रो अर्यमा।
देवाँ आदित्याँ अदितिं हवामहे ये पार्थिवासो दिव्यासो अप्सु ये ९

भा०—(पर्जन्या वाता) मेघ और वायु ये दोनों (वृषभा) जल को बरसाने वाले और (पुरीषिणा) जल को धारण करने वाले होते हैं। ये दोनों ही (इन्द्र-वायू) इन्द्र और वायु नाम से हैं। और इसी प्रकार (वरुणः) श्रेष्ठ, (मित्रः) सर्वस्नेही, प्रजा को मरण से बचाने वाला, (अर्यमा) शत्रुओं का नियन्ता, न्यायकारी इन (देवान्) विद्वानों और (आदित्यान्) सूर्य की किरणों वा ऋतुओं के तुल्य उपकारक जनों और (अदितिम्) भूमि, सूर्यवत् जनों को भी (हवामहे) हम बतलाते हैं, (ये)

जो (पार्थिवासः) इस पृथिवी पर भी विद्यमान है (ये दिव्यासः) और जो आकाश में भी हैं, (ये अप्सु) जो अन्तरिक्ष में भी है।

अर्थात् ये देवगण स्थान-भेद और गुण-भेद से सर्वत्र परिभाषा रूप से कहे जाते हैं।

त्वष्टारं वायुमृभवो य ओहते दैव्या होतारा उषसं स्वस्तये।
बृहस्पतिं वृत्रखादं सुमेधसमिन्द्रियं सोमं धनसा उ ईमहे ॥१०॥१०

भा०—हे (ऋभवः) सत्य और प्रकाशित सामर्थ्यवान् जनो! (यः) जो (त्वष्टारम्) इस जगत् के बनाने वाले (वायुम्) वायुवत् व्यापक एवं बलवान् प्राणाधार को (ओहते) जानता और उस तक पहुंचाता है, उसका ज्ञान देता है वा सूर्य, विद्युत् और वायु तत्व को जानता है, और जो (दैव्या होतारा) विद्वानों के बीच शक्ति देने वाले, या नाना किरणों के देने वाले सूर्य, चन्द्र और इन्द्रियों में बल देने वाले, प्राण, उदान इनको (उषसं) उषावत् कान्तियुक्त, सूर्य की तापशक्ति, और कान्तियुक्त कामनावान् जीव को, (स्वस्तये ओहते) सुख कल्याण के लिये जानता और उनको प्राप्त कराता है, और जो (बृहस्पति) वेदवाणी, वा महान् विश्व के पालक (वृत्र-खादं) विघ्नों के नाशक, अज्ञानहारी (सुमेधसम्) उत्तम बुद्धिमान्, यज्ञमय, उत्तम अन्नादि सम्पन्न, (इन्द्रियं) ऐश्वर्यवन् प्रभु को जानता और जनाता और उसकी उपासना करता है, उस (सोमं) उत्तम शास्ता जन को हम (धन-साः) धनादि सम्पन्न होकर (ईमहे) ज्ञान की याचना करें।

ब्रह्म गामश्वं जनयन्त ओषधीर्वनस्पतीन्पृथिवीं पर्वताँ अपः।
सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि ११

भा०—(सु-दानवः) उत्तम दानशाली पुरुष (ब्रह्म) ब्रह्म ज्ञान,

अन्न, (गाम्) वाणी, पृथिवी और पशु-सम्पदा, (अश्वं) अश्व और वेग से जाने के यन्त्र, (ओषधीः वनस्पतीः) ओषधि और वनस्पतियों, (पृथिवीं पर्वतान् अपः) भूमियों, पर्वतों और नाना जलों को (जनयन्तः) उत्पन्न करते हुए और अन्यों के प्रति प्रकट करते हुए (दिवि सूर्यं रोहयन्तः) आकाश में सूर्यवत् ज्ञान-प्रकाश में प्रखर पुरुष को उन्नत पद पर स्थापित करते हुए (अधि क्षमि) भूमि पर (आर्या व्रता) नाना श्रेष्ठ वा वैश्य जनोचित अनेक व्यापारादि कार्य करते हुए धन प्रदान करते हैं।

भुज्युमंहसः पिपृथो निरश्विना श्यावं पुत्रं वध्रिमत्या अजिन्वतम्। कमद्युवं विमदायोहथुर्युवं विष्णाप्वं विश्वकायाव सृजथः ॥१२॥

भा०—हे (अश्विना) विद्वान् जितेन्द्रिय उत्तम स्त्री पुरुषो ! आप लोग (भुज्युम्) भोग करने की इच्छा वाले पुरुष को (अंहसः निः पिपृथः) पाप से परे रक्खो। और (वध्रिमत्याः) हिंसा की शक्ति वाली सेना के (श्यावं) वृद्धिकारक, (पुत्रं) बहुतों के रक्षक नायक पुरुष को (तिरः अजिन्वतम्) अच्छी प्रकार प्रसन्न, तृप्त रक्खो जिससे वह प्रजा का नाश न करे। (कम-द्युवम्) कान्ति एवं पुत्रादि कामना से चमकने वाली स्त्री और पुरुष को (वि-मदाय) विशेष आनन्द लाभ के लिये (ऊहथुः) परस्पर विवाहित करो। और (विष्णाप्वं) विविध विद्याओं और व्रतों में निष्णात पुरुष को (विश्वकाय) सबके उपकार के लिये (अव सृजथः) नियुक्त करो।

पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः। विश्वे देवासः शृणवन्वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्या १३

भा०—(पावीरवी) बाणों से युक्त सेना और देह आत्मादि को शोधन करने वाले नाना साधनों से युक्त (तन्यतुः) वाणी और

(एकपात् अजः) अजन्मा, सर्व सञ्चालक, एकमात्र व्यापक प्रभु, (दिवः धर्त्ता) ज्ञान और पृथिवी वा विश्व का धारक, (समुद्रियः सिन्धुः) समुद्र को जाने वाले महानद के समान प्रभु को प्राप्त होने वाला आत्मा वा (समुद्रियः आपः) आकाश से उत्पन्न जलधाराओं के तुल्य ये नाना सृष्टियें और (विश्वे देवासः) समस्त विद्वान्गण (पुरम्-ध्या) नाना प्रकार की देहपोषक बुद्धि से युक्त (धीभिः) नाना कर्मों वाला (सरस्वती) वेदवाणी, (मे वचांसि शृणवन्) मेरे वचनों को श्रवण करें ।

विश्वे॑ दे॒वाः स॒ह धीभिः पुर॑न्ध्या मनो॒र्यज॑त्रा अमृता॑ ऋत॒ज्ञाः ।
रा॒ति॒षाचो॑ अ॒भि॒षाचः॒ स्व॒र्विद॒ः स्व॑१र्गिरो॒ ब्रह्म॑ सू॒क्तं जु॑षेरत ॥१४॥

भा०—(विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् वा विद्यार्थीगण, (धीभिः सह) नाना बुद्धियों और कर्मों सहित, (पुरन्ध्या सह) नगर को धारण करने वाली विशेष बुद्धि और नीति सहित, (मनोः यजत्राः) मननशील मनुष्यगण के द्वारा पूज्य वा उनसे संगति करने वाले, उनके पूजक (अमृताः) दीर्घायु, (ऋत-ज्ञाः) सत्य विद्या के जानने वाले, (राति-साचः) दान को ग्रहण करने वाले, (अभि-साचः) सब प्रकार से संघ बना कर रहने वाले, (स्वः-विदः) सब प्रकार के ऐश्वर्य सुखों को जानने और प्राप्त कराने वाले, (स्वः-गिरः) सुख वा सब प्रकार की वाणियों में (सु-उक्तम्) उत्तम रीति से कहे, उपदिष्ट (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान को (जुषेरत) सेवन करें ।

दे॒वान्वसि॑ष्ठो अ॒मृता॒न्ववन्दे॒ ये विश्वा॒ भुव॑ना॒भि प्र॑त॒स्थुः ।
ते नो॑ रासन्तामुरु॒गा॒यम॒द्य यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒ः सदा॑ नः ॥१५॥११॥

भा०—(वसिष्ठः) ब्रह्मचर्यपूर्वक आश्रम में बसने वाले ब्रह्मचारी गण में सर्वश्रेष्ठ आचार्य (अमृतान्) पुत्र तुल्य चिरंजीव प्राणवान्, (देवान्) विद्या के अभिलाषियों को (ववन्दे) सदा उपदेश करे । (ये)

जो (विश्वा भुवना) समस्त लोकों में (अभि प्र-तस्थुः) जावें, (ते) वे (अद्य) अब सदा (नः) हमें (उरु-गायम् रासन्ताम्) बड़े भारी ज्ञानमय वेद का उपदेश करें। (यूयं स्वस्तिभिः नः सदा पात) ऐसे आप लोग सदा उत्तम कल्याणकारी साधनों से हमारी रक्षा करो। इत्येकादशो वर्गः ॥

[६६]

ऋषि वसुकर्णो वासुक्रः ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः—१, ३, ५—७ जगती। २, १०, १२, १३ निचृज्जगती। ४, ८, ११ विराड् जगती। ६ पाद० निचृज्जगती। १४ आर्ची स्वराड् जगती। १५ विराट् त्रिष्टुप् ॥ पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

देवान्हुवे बृहच्छ्रवसः स्वस्तये ज्योतिष्कृतो अध्वरस्य प्रचेतसः।
ये वावृधुः प्रतरं विश्ववेदस इन्द्रज्येष्ठासो अमृता ऋतावृधः ॥१॥

भा०—मैं (स्वस्तये) कल्याण के लिये (बृहत्-श्रवसः) बड़े ज्ञान वाले यशस्वी, (ज्योतिः-कृतः) प्रकाशवान् सूर्य के समान ज्ञान का सम्पादन करने वाले, और (अध्वरस्य प्र-चेतसः) हिंसारहित जगत्-पालन के कार्य को जानने वाले जनों को (हुवे) आदरपूर्वक बुलाता हूं। (ये) जो (विश्व-वेदसः) सब प्रकार का ज्ञान जानने वाले और समस्त धनों के स्वामी (इन्द्र-ज्येष्ठासः) इन्द्र, राजा और इन्द्र गुरु को अपने में सर्वश्रेष्ठ, प्रधान मानने वाले (अमृताः) दीर्घायु, चिरंजीव (ऋत-वृधः) सत्य ज्ञान, तेज, न्याय और ऐश्वर्य की वृद्धि करने वाले होकर (प्रतरं ववृधुः) खूब वृद्धि को प्राप्त करते हैं वा सब को तराने वाले स्वामी प्रभु की महिमा को बढ़ाते हैं।

इन्द्रप्रसूता वरुणप्रशिष्टा ये सूर्यस्य ज्योतिषो भागमानशुः।
मरुद्गणे वृजने मन्म धीमहि माघोने यज्ञं जनयन्त सूरयः ॥२॥

भा०—(ये) जो (इन्द्र-प्रसूताः) ऐश्वर्यवान् एवं तत्वज्ञानी जनों से प्रेरित और अनुशासित, (वरुण-प्रशिष्टाः) स्वयं वरण किये गुरु वा श्रेष्ठ पुरुष द्वारा उत्तम रीति से शिक्षित होकर (सूर्यस्य ज्योतिषः) सूर्य के तुल्य तेजस्वी पुरुष के ज्ञान प्रकाश के अंश को (आनशुः) प्राप्त होते हैं और जो (सूरयः) विद्वान् होकर (यज्ञं जनयन्त) यज्ञ करते व परस्पर संगत वा उपास्य प्रभु को प्रकट करते हैं उस (माघोने) ऐश्वर्यवान् प्रभु के उपासक (वृजने) बलवान् (मरुद्गणे) विद्वानों और वीर पुरुषों के समूह में विद्यमान (मन्म) मननीय ज्ञान को हम धारण करें। (२) इसी प्रकार जो वायुगण सूर्य से प्रेरित होते, मेघ या आकाश या रात्रि में उत्तम रीति से चलते, सूर्य के तेज को ग्रहण करते और जलदान को प्रकट करते, उन सूर्य सम्बन्धी वायुगण का हम ज्ञान सम्पादन करें।

इन्द्रो वसुभिः परि पातु नो गयमादित्यैर्नो अदितिः शर्म यच्छतु।
रुद्रो रुद्रेभिर्देवो मृळयाति नस्त्वष्टा नो ग्नाभिः सुविताय जिन्वतु॥२॥

भा०—(इन्द्रः नः वसुभिः नः गयम् परि पातु) ऐश्वर्यवान्, ऐश्वर्य देने वाला हमें नाना ऐश्वर्यों और राष्ट्र में बसे नाना जनों से हमारे गृह और प्राण की सब ओर से रक्षा करे। (अदितिः) सूर्य (आदित्यैः) मासों, ऋतुओं से और भूमि माता, भूमिवासी जनों वा वा भूमि के रक्षकों द्वारा (नः शर्म यच्छतु) हमें सुख प्रदान करे। (रुद्रः) दुष्टों को रुलाने और सब के दुःखों को दूर करने वाला, (देवः) तेजस्वी पुरुष (रुद्रेभिः नः मृडयाति) उसी प्रकार के उत्तम पुरुषों वा पीड़ा नाशक पदार्थों द्वारा हमें सुखी करे, हम पर कृपा करे। (त्वष्टा) सूर्यवत् तेजस्वी पुरुष (नः) हमें (सुविताय) सुख प्राप्ति के लिये, (ग्नाभिः) वाणियों से (जिन्वतु) प्रसन्न करे।

अदि॑ति॒र्द्यावा॑पृथि॒वी ऋ॒तं म॒हदिन्द्रा॒विष्णू॑ म॒रुतः॒ स्व॑र्बृ॒हत् ।
दे॒वाँ आ॑दि॒त्याँ अव॑से हवामहे॒ वसू॑न्रु॒द्रान्त्स॑वि॒तारं॑ सु॒दंस॑सम् ४

भा०—(अदितिः) कभी न दीन, न खण्डित, अविनाशी वा माता पितावत् प्रिय (द्यावा पृथिवी) भूमि, और सूर्यवत् तेजस्वी और आश्रयरूप जन, और (महत् ऋतं) महान्, सत्य ज्ञान, (इन्द्राविष्णू) ऐश्वर्यवान् और व्यापक सामर्थ्य वाला, (मरुतः) दुष्टों को मारने वाले जन, (बृहत् स्वः) बड़ा भारी तेज और प्रकाश सुख, (आदित्यान् देवान्) १२ ऋतु सुखप्रद और (वसून् रुद्रान्) आठ वसु, पृथिवी आदि और १२ प्राण और (सु-दंससं) उत्तम कर्म करने वाले (सवितारं) सब के प्रेरक और उत्पादक को हम (अवसे) रक्षा, ज्ञान, प्रेम और समृद्धि के लिये (हवामहे) प्राप्त करें और उनका आदर करें ।

सर॑स्वान्धी॒भिर्वरु॑णो धृ॒तव्र॑तः पू॒षा विष्णु॑र्महि॒मा वा॒युर॒श्विना॑ ।
ब्र॒ह्म॒कृतो॑ अ॒मृता॑ वि॒श्ववे॑दसः॒ शर्म॑ नो यंसन् त्रि॒वरू॑थ॒मंह॑सः॥५॥१२

भा०—(सरस्वान् धीभिः) उत्तम ज्ञान और बल वाला, अपनी बुद्धियों और कर्म-सामर्थ्यों से और (धृतव्रतः वरुणः) कर्म और व्रतों, नियमों का पालक श्रेष्ठ पुरुष, (विष्णुः) सब में प्रविष्ट प्रभु अपने (महिमा) महान् गुणों से और (वायुः) वायु और (अश्विना) विद्वान्, जितेन्द्रिय स्त्री पुरुष, और (अमृताः) अविनाशी, दीर्घजीवी, (विश्व-वेदसः) समस्त ज्ञान को जानने वाले, (ब्रह्म-कृतः) वेद ज्ञान का उपदेश करने वाले जन (नः) हमें (अंहसः) पाप का (शर्म) नाश करने वाला (त्रि-वरूथं) तीनों प्रकार के दुःखों का वारण करने वाला गृहवत् शरण प्रदान करें । इति द्वादशो वर्गः ॥

वृषा॑ य॒ज्ञो वृष॑णः सन्तु य॒ज्ञिया॒ वृष॑णो दे॒वा वृष॑णो हवि॒ष्कृतः॑ ।
वृष॑णा॒ द्यावा॑पृथि॒वी ऋ॒ताव॑री॒ वृषा॑ प॒र्जन्यो॒ वृष॑णो वृष॒स्तुभः॑ ॥६॥

भा०—(यज्ञः वृषा) यज्ञ हमारे ऊपर समस्त सुखों की वर्षा करने वाला हो । और (यज्ञः वृषा) हमारा यज्ञ, परस्पर सत्संगति, और दान बलयुक्त हो । (यज्ञिया देवाः वृषणः सन्तु) यज्ञ में आदर योग्य विद्वान् पुरुष सुखों के देने वाले और बलवान् हों । (हविः-कृतः वृषणः) अन्नों और साधनों के उत्पन्न करने वाले जन भी बलवान् हों । (द्यावा पृथिवी वृषणा) भूमि और सूर्यवत् स्त्री पुरुष भी बलवान् वीर्यवान् और (ऋतावरी) अन्न, जल और ज्ञान से श्रेष्ठ हों । (पर्जन्यः वृषा) मेघ के तुल्य शत्रु-पराजयकारी और धन बलोपार्जन करने वाला पुरुष भी सुखों का वर्षक और बलवान् हो । (वृषस्तुभः वृषणः सन्तु) उस सर्व-सुखदाता की स्तुति करने वाले भी बलवान् हों ।

अग्नीषोमा वृषणा वाजसातये पुरुप्रशस्ता वृषणा उप ब्रुवे ।
यावीजिरे वृषणो देवयज्यया ता नः शर्म त्रिवरूथं वि यंसतः ॥७॥

भा०—मैं (वाज-सातये) ज्ञान, बल, ऐश्वर्य और वेग को प्राप्त करने के लिये (अग्नी-सोमा) अग्नि और ओषधि वर्ग के तुल्य तेजस्वी और शान्तिदायक अग्नि, जल एवं विद्वानों को, (उप ब्रुवे) प्रार्थना करता हूं, वा अग्नि जल वा अग्नि ओषधियों का मैं अन्यों को उपदेश करता हूं । और इसी प्रयोजन से मैं (पुरु-प्रशस्ता) बहुतों में प्रशस्त, इन्द्रियगण में बहुत से ज्ञान को बतलाने वाले दो चक्षुओं के तुल्य (वृषणा) बलवान् प्रभु व जनों को (उप ब्रुवे) प्रार्थना करता हूँ, और (यौ) जिन दोनों को (वृषणः) बलवान् जन (देव-यज्यया) विद्वान् एवं तेजस्वी पुरुषों के आदर करने की रीति से (ईजिरे) आदर-आतिथ्य करते हैं (ता) वे दोनों (नः) हमें (त्रि-वरुथम्) तीनों प्रकार के संतापों को वारण करने वाला (शर्म) गृह एवं सुख (यंसतः) प्रदान करें ।

धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः ।
अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहोऽपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये ॥ ८ ॥

भा०—(धृतव्रताः) व्रतों, सत्कर्मों और नियमों को स्थिर रूप से रखने वाले, (क्षत्रियाः) बलवान्, (यज्ञ-निष्कृतः) यज्ञों को निःशेष अर्थात् पूर्ण रूप से करने वाले, (बृहद्-दिवाः) बड़े तेजस्वी, ज्ञानी, (अध्वराणाम्) न नाश होने वाले अजेय सैन्यों और युद्धों के बीच (अभि-श्रियः) सब प्रकार से शोभायुक्त, (अग्नि-होतारः) अग्नि में आहुति देने वाले याज्ञिकों के तुल्य अपने अग्रणी पुरुष को अपना आह्वाता, आज्ञापक मानने वाले, उसी के निमित्त अपनी आहुति देने वाले, (ऋत-सापः) सत्य प्रतिज्ञा-वचन पर समवाय, संघ बल को बनाने वाले (अद्रुहः) परस्पर वा किसी से द्रोह, या भेद-बुद्धि न रखने वाले होकर (वृत्र-तूर्ये) दुष्टों वा बढ़ते शत्रु को नाश करने के कार्य में (अनु) निरन्तर (अपः असृजन्) कर्म या उद्योग करते हैं ।

द्यावापृथिवी जनयन्नभि व्रताप ओषधीर्वनिनानि यज्ञिया ।
अन्तरिक्षं स्व१रा पप्रुरूतये वशं देवासस्तन्वी३ नि मामृजुः ॥ ९ ॥

भा०—विद्वान् लोग (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी इन दोनों के आश्रय पर (व्रता) अपने नाना उत्तम कर्मों द्वारा (आपः) जलों (ओषधीः) नाना ओषधियों को और (यज्ञिया वनिनानि) यज्ञोपयोगी वृक्षों से तथा वन अर्थात् जलों से सम्पन्न अन्नों को (जनयन्) उत्पन्न करें और वे (देवासः) विद्वान् (स्वः अन्तरिक्षम्) समस्त अन्तरिक्ष देश को (देवाः) तेजस्वी होकर (ऊतये) अपनी २ रक्षा के लिये घेर लें, उस पर भी अधिकार करें । (तन्वि) शरीर में विद्यमान वे (वशं नि मामृजुः) कान्तिमान् वा नाना कामना करने वाले आत्मा को परिष्कृत

करें। इसी प्रकार (देवासः) विजयार्थी लोग (तन्वि वशं नि मामृजुः) विस्तृत राष्ट्र में तेजस्वी, वशकारी पुरुष को अभिषिक्त करें।

धर्तारो दिव ऋभवः सुहस्ता वातापर्जन्या महिषस्य तन्यतोः।
आप ओषधीः प्र तिरन्तु नो गिरो भगो रातिर्वाजिनो यन्तु मे हवम् ॥ १० ॥ १३ ॥

भा०—(दिवः धर्तारः) ज्ञान, प्रकाश और, भूमि लोक और राजसभा को धारण करने वाले लोग (ऋभवः) सत्य और तेज से तेजस्वी, चमकने वाले एवं ज्ञान में प्रसिद्ध (सु-हस्ता) उत्तम हस्तक्रिया में कुशल और उत्तम साधनों से सम्पन्न और (वाता पर्जन्या) वायु-मेघवत् बलवान् विजेता सैन्य, नायकगण, (महिषस्य तन्यतोः) बड़े विस्तृत कार्य या शब्द के करने वाले हों। और (आपः) आप्त जन (ओषधीः) ओषधियों-वत् तेजोधारी जन (नः गिरः प्र तिरन्तु) हमारी वाणियों की वृद्धि करें। (रातिः भगः) दानशील, ऐश्वर्यवान् और (वाजिनः) अग्नि, वायु, सूर्य इन के तुल्य ज्ञान, बल और ऐश्वर्यवान् जन (मे हवं यन्तु) मेरे आह्वान को सुनकर प्राप्त हों। इति त्रयोदशो वर्गः ॥

समुद्रः सिन्धू रजो अन्तरिक्षमज एकपात्तनयित्नुरर्णवः।
अहिर्बुध्न्यः शृणवद्वचांसि मे विश्वे देवास उत सूरयो मम ॥ ११ ॥

भा०—(समुद्रः) समुद्र और उसके समान गंभीर जन, (सिन्धुः) महानद, (रजः) नाना लोक, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, (एकपात् अजः) विश्व का एकमात्र आश्रय, अजन्मा और सर्वचालक प्रभु, (तनयित्नुः) विद्युत्, (अर्णवः) समुद्र, (बुध्न्यः अहिः) जल लाने वाला वा आकाशस्थ सूर्य वा मेघ, ये और (विश्वेदेवासः) समस्त दिव्य पदार्थ (उत सूरयः) और सूर्य के किरणवत् विद्वान् जन(मे वचांसि शृणवत) मेरे वचन श्रवण करें अर्थात् सब मेरे वशवर्त्ती हों।

स्यामं वो मनंवो देववींतये प्राञ्चं नो यज्ञं प्रणंयत साधुया।
आदिंत्या रुद्रा वसंवः सुदांनव इमा ब्रह्मं शस्यमांनानि जिन्वत १२॥

भा०—हे (मनवः) मननशील विद्वान् पुरुषो ! हम लोग (वः) आप लोगों के (देव-वीतये) सुखप्रद नाना उत्तम पदार्थों और इन्द्रियों की रक्षा के लिये (स्याम) हों। (नः यज्ञं) हमारे यज्ञ (आत्मा) उपास्य जो (प्राञ्चं) स्वयं सब से अधिक पूजनीय है उसको (साधुया) साधना द्वारा (प्र नयत) अच्छी प्रकार प्राप्त करो। (आदित्याः रुद्राः वसवः) १२ मास, पृथिवी आदि लोक और १२ प्राण, ये सब (सु-दानवः) सुखप्रद होकर (इमा शस्यमानानि) इन उच्चारण किये वेद वचनों को वा प्रशंसनीय ब्रह्म अर्थात् विद्वान् जनों के कुलों को (प्र जिन्वत) बढ़ावें। अथवा ये सब पदार्थ (शस्य-मानानि) सस्य धान्य रूप से प्राप्त (इमा ब्रह्म) इन अन्नों की (प्र जिन्वत) खूब वृद्धि करें।

दैव्या होतांरा प्रथमा पुरोहिंत ऋतस्य पन्थामन्वैमि साधुया।
क्षेत्रंस्य पतिं प्रतिंवेशमीमहे विश्वान्देवाँ अमृताँ अप्रंयुच्छतः ॥१३॥

भा०—हे (प्रथमा) सबसे श्रेष्ठ, (पुरः हिता) आगे साक्षिवत् स्थापित, (दैव्या होतारा) देवों के बीच उनको शक्ति, ज्ञान देने वाले, उनको बुलाने वाले, उपदेष्टा गुरुजनो ! मैं (साधुया) उत्तम साधना-योग्य (ऋतस्य पन्थाम्) सत्यज्ञान युक्त, न्यायानुकूल, वेदोपादिष्ट मार्ग का (अनु एमि) अनुगमन करता हूं। और (क्षेत्रस्य पतिम्) क्षेत्र के पालक प्रकृति और देह के पालक आत्मा को जो (प्रति-वेशम्) प्रत्येक शरीर में प्रविष्ट है उसको और (अमृतान्) अमरणधर्मा, (अप्रयुच्छतः) अप्रमादी (विश्वान् देवान्) समस्त विद्वानों को (ईमहे) शरण जावें, उनसे ज्ञान, धन, सुखादि की याचना करें।

वसिष्ठासः पितृवद्वाचमक्रत देवाँ ईळाना ऋषिवत्स्वस्तये।
प्रीता इव ज्ञातयः काममेत्यास्मे देवासोऽव धूनुता वसु॥ १४ ॥

भा०—(वसिष्ठासः) उत्तम वसु, ब्रह्मचारियों में श्रेष्ठ गुरुजन (पितृवत्) पिता के समान ही (वाचम् अक्रत) वाणी, वेद का उपदेश करें। वे (देवान्) विद्याभिलाषियों को (स्वस्तये) सुख कल्याण के लिये (ऋषिवत्) तत्वार्थदर्शी के तुल्य (ईडानाः) स्तुति उपदेश करते हुए (ज्ञातयः प्रीता इव) प्रिय बन्धुओं के तुल्य ही प्रसिद्ध और ज्ञानवान् हाकर (देवासः) नाना दिव्य सुख देते हुए, (अस्मे वसु अव धूनुत) हमें नाना ऐश्वर्य प्रदान करें।

देवान्वसिष्ठो अमृतान्ववन्दे ये विश्वा भुवनाभि प्रतस्थुः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥१५॥१४

भा०—इस मन्त्र की व्याख्या (देखो सू० ६५ मन्त्र १५) इति चतुर्दशो वर्गः ॥

[६७]

अयास्य आंगिरस ऋषिः ॥ बृहस्पतिर्देवता ॥ छन्दः—१ विराट् त्रिष्टुप्। २—७, ११ निचृत् त्रिष्टुप्। ८—१०,१२ त्रिष्टुप् ॥ द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन् ॥१॥

भा०— (नः) हमारा पालक (ऋत-प्रजाताम्) सत्, परमकारण, सत्यभक्त ज्ञानमय तत्व से उत्पन्न (सप्त-शीर्ष्णीम्) सात शिरोंवाली (इमां) इस (धियं) बुद्धि वा वाणी, धारणवती (बृहतीम्) बड़ी भारी शक्ति को (अविन्दत्) प्राप्त करता है, और वह (विश्व-जन्यः) समस्त जनों या उत्पन्न प्राणियों और लोकों का हितकारी, (अयास्यः) देह में मुख्य

प्राणवत् प्रमुख होकर ही (इन्द्राय) इस तत्वदर्शी आत्मा को (उक्थम्) वचनोपदेश (शंसन्) करता हुआ (तुरीयं स्वित् जनयत्) तुरीय परमपद को भी प्रकट करता हुआ मुक्ति प्राप्त कराता है।

(२) अध्यात्म में—पिता आत्मा वा प्रभु है। ऋतप्रजाता सात शिरोंवाली देहधारिणी शक्ति चेतना है वह उसको प्राप्त करता है, मुख्य प्राण रूप आत्मा 'अयास्य' है वही इन्द्र प्रभु से स्तुति वचन कहता, प्रभु की स्तुति करता, मोक्ष का लाभ करता है। (३) यदि पिता परमेश्वर है तो इन्द्र जीव है तब वह जीव को गुरुवत् उपदेश कर मोक्षोपदेश करता है। राष्ट्र में विश्वजन्य अयास्य मुख्य पुरोहित है। इन्द्र राजा है सप्तशीर्णी बृहती सभा है उसका पति सभापति है। वही पिता है। ऐसी ही आगे भी योजना करना।

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥ २ ॥

भा०—(ऋतं शंसन्तः) 'ऋत' सत्य, न्याय और परम सत्य तत्व का उपदेश करते हुए (ऋजु दीध्यानाः) ऋजु, धर्म-मार्ग का ही दर्शन करते हुए, (दिवः असुरस्य) प्रकाशस्वरूप तेजस्वी, प्राणप्रद, बलवान् के (पुत्रासः) पुत्रवत् बहुतों के रक्षक (वीराः) वीर्यवान्, विविध विद्याओं के उपदेष्टा, (अङ्गिरसः) तेजस्वी, एवं ज्ञानी पुरुष (विप्रं पदं) विशेष ज्ञानप्रद 'पद' एवं ज्ञान को धारण करते हुए (यज्ञस्य) परम पूज्य प्रजापति के (प्रथमं) सर्वश्रेष्ठ (धाम) तेजस्वी रूप को (मनन्त) विचारते और मनन-निदिध्यासन, अभ्यास करते और अन्यों को उपदेश करते हैं।

हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन्।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद् गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अगायत् ॥३॥

भा०—(वावदद्भिः सखिभिः) निरन्तर वा पुनः २ स्पष्ट वचन कहते हुए (हंसैः इव) हंसों के समान विवेकी, निर्लेप मित्रों के साथ वह (बृहस्पतिः) बड़ी भारी वाणी का स्वामी, (अश्मन्मयानि नहना) पत्थरों से बने नाना बंधनों को (वि अस्यन्) विविध प्रकारों से फोड़ता तोड़ता हुआ, (गाः) नाना वाणियों या, इन्द्रियवृत्तियों और रश्मियों को सूर्य के तुल्य (अभि कनिक्रदत्) प्रकट करता है। (उत च) और वह (विद्वान्) ज्ञानवान्, विद्वान् होकर (गाः प्र अस्तौत् उत अगायत् च) वेदवाणियों का अन्यों को उपदेश करता और स्वयं उत्तम रीति से गान भी करता है। अध्यात्म में–'अश्मन्मय बंधन' यह देह है जिसमें अस्थि आदि अश्मा ही हैं। विद्वान् परम हंसों के सहाय से इन देहबन्धनों को दूर करे, वह प्रभु की स्तुति करे। (३) सूर्य के आगे मेघमय बन्धन आते हैं वह उनको छिन्न भिन्न करके किरणों का प्रकट करता है।

अवो द्वाभ्यां पुर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥४॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहती, वाणी या चेतना का पालक आत्मा, (गुहा तिष्ठन्तीः) गुहा, बुद्धि या इस देह-गह्वर में विद्यमान (गाः) इन्द्रियों या देह में प्रस्तुत रक्तधाराओं को (द्वाभ्याम् अवः एकया परः) नीचे के दो और ऊपर एक द्वार से प्रेरित करता है। वह (अनृतस्य सेतौ) ऋत, ज्ञान या चेतना से रहित, निश्चेतन जड़ तत्त्व के बने (सेतौ) बन्धन रूप इस देह में (तमसि) घोर अन्धकार में (ज्योतिः इच्छन्) प्रकाश चाहता हुआ, (उस्राः ऊत् आ अकः) ऊर्ध्व मार्ग की ओर जाने वाली किरणों के तुल्य वाणियों को ऊपर प्रेरित करता है वा उत्तम रीति से साक्षात् करता है। और (तिस्रः आवः) तीनों ऋक्, यजु, साम रूप वाणियों को प्रकट करता है।

विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत् ।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः ॥ ५ ॥

भा०—वह (बृहस्पतिः) बड़ी भारी शक्ति का पालक आत्मा (शयथे) शयनस्थान, गर्भ में (अपाचीम्) नीचे मुख कर लटकने वाली (ईम् पुरम् विभिद्य) इस पुर को विविध प्रकार से भेदन करके, (साकम्) एक साथ ही (उदधेः) जलाशय से तीन जलधारों के तुल्य (त्रीणि) तीन द्वारों को (निः अकृन्तत्) काटता है। तब वह (द्यौः स्तनयन् इव) गर्जते दीप्त विद्युत् के तुल्य (उषसम्) उषा, (सूर्यम्) सूर्य (गाम्) वाणी और (अर्कम्) प्राण वा अन्न आत्मा को (विवेद) प्राप्त करता है।

तीन द्वार मुख, नाक, कान। रुधिर रूप उदक का धारक यह देह या भीतर का हृदय जिससे तीन प्रमुख धमनियां निर्गत होती हैं।

इन्द्रो वलं रक्षितारं दुघानां करेणेव वि चकर्ता रवेण ।
स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानोऽरोदयत्पणिमा गा अमुष्णात् ॥ ६ ॥ १५

भा०—जिस प्रकार (इन्द्रः) मेघों और जलों को विदीर्ण करने वाला विद्युत् (दुघानां रक्षितारम्) रसों से पूर्ण जलधाराओं को रोक रखने वाले (बलम्) मेघ को (करेण-इव) हिंसा वा आघातकारी साधन के सदृश तीव्र, तदनुरूप (रवेण) तीव्र, ध्वनि से भी (वि चकर्त्त) विविध प्रकार से छिन्न भिन्न करता है, इसी प्रकार (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् शत्रुओं को विदीर्ण करने वाला सेनापति वा तेजस्वी राजा (दुघानां) दुधार गौओं के सदृश ऐश्वर्य से राज्य को पूर्ण करने वाली (विशः) प्रजाओं के (रक्षितारम्) रुकावट डालने वाले (बलं) घेरा लगाने वाले प्रति-रोधक वर्ग की (करेण इव) कर, टैक्स के समान वा हिंसाकारी अपने प्रबल हाथ वा शत्रुनाशक शस्त्रबल के तुल्य बलशाली अपने (रवेण) आज्ञा-वचन के गर्जन से ही (वि चकर्त्त) विविध प्रकार से छिन्न भिन्न करे। जिस प्रकार (आशिरम् इच्छमानः) जल की इच्छा करता हुआ सूर्य वा

विद्युत् (स्वेदांजिभिः) स्नेह गुण से युक्त जल को प्रकट करने वाली वा मेघोत्पादक किरणों से (आशिरम्) दूर २ तक फैलने वाले सूक्ष्म जलमय वाष्प की कामना करता हुआ (पणिम्) उस मेघ को (आरोदयत्) मानो रुलाता है, वर्षा करता है, जो उसके (गाः) तीव्र किरणों को (अमुष्णात्) चुरा लेता है। उसी प्रकार राजा भी (स्वेदांजिभिः) अपने अव्यक्त शासनों द्वारा वा स्नेह से प्रजा को बन्धनादि से छुड़ाने आदि से अपनी २ ख्याति वाले जनों के सहाय से (आशिरं) आशानुरूप ऐश्वर्य को प्राप्त करना चाहता हुआ (पणिम्) व्यवहारचतुर वैश्य वर्ग को वा व्यवहार के द्वारा प्रजावर्ग को खाने वाले जन वर्ग को (आरोदयत्) आंसू निकलवावे, उसको दण्डित करे, और जो (गाः अमुष्णात्) प्रजा की भूमियों और पशु आदि को चुरा लेता है, उनको देश से देशान्तर ले जाता है, अथवा—जो 'पणि' अर्थात् व्यवहार कुशल वैश्य वर्ग अपने अव्यक्त, गुप्त भाव वाले संकेत शब्दों से (आशिरम् इच्छमानः) ऐश्वर्य चाहता हुआ (दुघाः आरोदयत्) गौओं के सदृश प्रजाओं को रुलाता और अतिपीड़ित करता है, और (गाः) व्यापार के लोभ प्रजा की गौ आदि पशु सम्पदा को (अमुष्णात्) हर लेता है अर्थात् उनको द्रव्य के बदले ख़रीद कर देशान्तर भेजता है उसको राजा (करेण इव रवेण) कर, टैक्स और अपने 'रव' अर्थात् शासन से (वि चकर्त्त) विशेष रूप से काटे, उस पर अर्थदण्ड अर्थात् भारी टैक्स लगाकर उसको दण्डित करे। इति पञ्चदशो वर्गः ॥

स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं वि धनसैरदर्दः ।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् ॥ ७ ॥

भा०—(सः) वह (ईम्) सर्वत्र, (सत्येभिः) सज्जनों के हितैषी, सत्याचरणशील, सत्यभाषी, (शुचद्भिः) तेजस्वी, अन्यों को भी पवित्र करने वाले, (धनसैः) नाना धनों, ऐश्वर्यों के देने, भोगने और प्राप्त करने वाले, राजा के धन को बढ़ाने वाले वृत्तिभोगी, वेतनबद्ध,

(सखिभिः) राजा के समान आख्या वा नाम को धारण करने वाले अध्यक्षों से (इं गो-धायसम्) जलधाराओं को रखने वाले मेघ को सूर्य जैसे वैसे ही (गो-धायसं) भूमि को रोक रखने वाले शत्रु को (वि-अदर्दः) विशेष रूप से छिन्न भिन्न कर । वह राजा (ब्रह्मणः पतिः) महान् राष्ट्र का पालक राजा (वृषभिः) वर्षणशील (वराहैः) स्वाहाकार युक्त यज्ञों से वा मेघों से और (घर्म-स्वेदेभिः) तीक्ष्ण ताप से स्वेदयुक्त शरीरों के के तुल्य (घर्म-स्वेदेभिः) क्षरणशील जलसहित गर्जना करने वाले मेघों से (द्रविणं) वेग से बहते जल के सदृश, (वृषभिः) बलवान् (वराहैः) उत्तम वचन बोलने वाले, (घर्म-स्वेदेभिः) तेजस्ताप से प्रस्वेद बहाने योग्य तपस्वी और परिश्रमी जनों से (द्रविणं व्यानट्) उत्तम धनैश्वर्य प्राप्त करे ।

(२) इसी प्रकार आत्मा वृद्धिशील देह का स्वामी ब्रह्मणस्पति है । वह (गो-धायसं) इन्द्रियों के धारक देह को अपने सखिभूत शुद्ध प्राणों के द्वारा विदीर्ण कर उन से इन्द्रिय छिद्रों को उत्पन्न करता है । सुखादि देने से वही 'धनस' वा 'धनसनि' हैं । बलवान् सुखप्रद होने से 'वृष' है, श्रेष्ठ ज्ञान देने से 'वराह' और निरन्तर सेचन होने से वे स्वेद अर्थात् क्षरित होते हैं अतः 'घर्म स्वेद' है, उनसे वह 'द्रविण' अर्थात् वेग और ज्ञान प्राप्त करता है ।

ते सत्येन मनसा गोपतिं गा इयानास इषणयन्त धीभिः ।
बृहस्पतिर्मिथो अवद्यपेभिरुदुस्रिया असृजत स्वयुग्भिः ॥८॥

भा०——(ते) वे (गाः इयानासः) नाना भूमियों को प्राप्त करने वाले माण्डलिकों के समान (गाः इयानासः) वेदवाणियों को प्राप्त करने वा इन्द्रियगण को प्राप्त करने वाले (सत्येन मनसा) सत्य चित्त और ज्ञान से और (धीभिः) सत्कर्मों से (गो-पतिम्) वेद वाणियों

के स्वामी, प्रभु वा इन्द्रियों के स्वामी, आत्मा को प्रमुख राजा के तुल्य (इषणयन्त) चाहें । वह (बृहस्पतिः) बृहती वाणी वा स्थूल देह का पालक आत्मा, (मिथः अवद्यपेभिः) परस्पर एक दूसरे को निन्दनीय आचरण से बचाते हुए (स्व-युग्भिः) स्वयं अपने आप युक्त, स्वयं अपनी गति से प्रेरित प्राणों द्वारा ही (उस्त्रियाः) ऊपर की ओर गति करने वाली नाड़ियों को (उत्-असृजत) ऊपर की ओर भेजता है । (२) इसी प्रकार राजा भी परस्पर एक दूसरे को निन्दनीय कर्मों से बचाते हुए (स्व-युग्भिः) धन वा स्वयं के सद्भावों से नियुक्त होकर (उस्त्रियाः) उन्नतिशील प्रजाओं को (उत् असृजत) उत्तम बनाता और उनको दुःख-बन्धनों से मुक्त करता है । (३) जो भक्त प्रभु की कामना करता है यह स्व अर्थात् आत्मा द्वारा योग करने वाले महाशयों अर्थात् उन्नति के इच्छुकों को उन्नत करता है ।

तं वर्धयन्तो मतिभिः शिवाभिः सिंहमिव नानदतं सधस्थे ।
बृहस्पतिं वृषणं शूरसातौ भरेभरे अनु मदेम जिष्णुम् ॥ ६ ॥

भा०—हम प्रजागण, सभासद्गण (सध-स्थे) एक साथ बैठने योग्य राजसभा-भवन में (सिंहम् इव) सिंह के समान (नानदतं) निर्भय होकर गंभीर नाद करते हुए, गंभीर वचन कहते हुए (तं) उस राजा को (शिवाभिः मतिभिः) कल्याणकारिणी वाणियों और विचारों से (वर्धयन्तः) बढ़ाते हुए (शूर-सातौ) शूरवीर पुरुषों द्वारा करने योग्य संग्राम में (वृषणं) बलवान् शत्रुओं पर शरादि फेंकने वाले (बृहस्पतिम्) बड़ी सेना वा राष्ट्र-बल के स्वामी को (भरे-भरे) प्रत्येक युद्ध वा प्रजापालन के कार्य में (अनु मदेम) उसकी अनुकूलता से प्रसन्न करें और स्वयं भी उसके किये पर प्रसन्न हों । (२) इसी प्रकार इस देह में उत्साहवान्, सिंहवत् निर्भय आत्मा को हम प्राणों द्वारा उपभोग्य प्रत्येक कार्य में उत्तम

वाणियों द्वारा बढ़ावें, उसके उत्साह को कम न होने दें। प्रार्थनाएं उत्तम वाणियें, वेद मन्त्रादि सभी समय २ पर चित्त में उत्साह बढ़ाती हैं।

यदा वाजमसनद्विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म।
बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा ॥१०॥

भा०—(यदा) जब परमेश्वर (विश्व-रूपम्) समस्त विश्व के रूप वाले वा विश्व में रूपयुक्त, समस्त विश्व में रुचि, कान्ति और बाह्य रूप को प्रकट करने वाले (वाजम्) ज्ञान और ऐश्वर्य को प्रकाश के तुल्य (असनत्) प्रदान करता है तब भी जैसे प्रकाश देने वाला सूर्य (द्याम् आरुक्षत्) आकाश में ऊपर चढ़ता है उसी प्रकार वह प्रभु भी (उत्तराणि सद्म) उत्तम से उत्तम लोकों में भी (आ अरुक्षत्) व्यापता और विराजता है, वह सर्वत्र व्यापक रहता है। हम उस (बृहस्पतिम्) बड़े लोकों और ब्रह्माण्डों के स्वामी (वृषणं) सब सुखों के व र्ण करने वा देने वाले, उस प्रभु को (वर्धयन्तः) बढ़ाते हुए, उसकी महिमा का गान करते हुए (नाना संतः) अनेक जीव होते हुए भी (आसा) मुख से (ज्योतिः बिभ्रतः) ज्योति, तेज और ज्ञानमय प्रकाश को धारण करते हुए रहें। (२) इसी प्रकार राष्ट्रपति सब प्रकार का ऐश्वर्य, अन्न, घृत आदि अधीनस्थों को देता है तो वह स्वयं (द्याम् उत्तराणि सद्म) राजसभा को प्राप्त होता और उत्तम मान्य आसनों वा पदों को प्राप्त करता है, उस समय उसके अधीनस्थ सभासद् उसको बढ़ाते हुए, मुखों से तेज को धारण करें। (३) जब (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी का विद्वान् (वाजम् असनत्) शिष्यों को ज्ञान का प्रदान करे तब वह (द्याम्) प्रकाशमयी ज्ञान वाणी को धारण करे और उत्तम आसनों और स्थानों को आदर पूर्वक प्राप्त करे और अनेक शिष्यगण उसके मुख से निकलते ज्ञानप्रकाश को अपने मुख में धारण करें, उसका ज्ञान श्रवण करें, स्वयं भी विद्याभ्यासी हों। ज्ञान वचनों को कण्ठ में धारण करें।

सत्यामाशिषं कृणुता वयोधै कीरिं चिद्ध्यवथ स्वेभिरेवैः ।
पश्चा मृधो अप भवन्तु विश्वास्तद्रोदसी शृणुतं विश्वमिन्वे ॥११॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (वयोधै) दीर्घ जीवन, ज्ञान और बल को धारण करने के लिये (सत्याम् आशिषं) सत्य २ आशीष् आशीर्वाद और सत्य आशाको सफल करो। और (स्वेभिः एवैः) अपने २ ज्ञानों और उद्योगों से (कीरिम् चित्) उपदेष्टा, ज्ञानप्रद वा प्रार्थी पुरुष की (अवथ) रक्षा करो, उससे स्नेह करो। और (मृधः) हिंसक, दुःखदायी सब आपत्तियें (पश्चा) पीछे रह जावें और (विश्वाः) समस्त (अप भवन्तु) हम से दूर, पृथक् हों। हे (विश्वमिन्वे) सबको प्रसन्न एवं पुष्ट करने वाले स्त्री पुरुषो वा राजा प्रजा वर्गो ! हे (रोदसी) रुद्र दुष्टों के रुलाने वाले वा रोग दूर करने वाले वा उपदेष्टा, सेनापति, वैद्य, गुरु आदि उसकी आज्ञा की पालक सेना, विद्या वा शक्ति के तुल्य जनो ! आप (श्रृणुतम्) सुनो और तदनुसार कर्त्तव्य पालन करो।

इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य वि मूर्धानमभिनदर्बुदस्य ।
अहन्नहिमरिणात्सप्त सिन्धून्देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः ॥१२॥१६॥

भा०—(इन्द्रः) विद्युत् वा सूर्य वा वायु जिस प्रकार (महतः) बड़े भारी (अर्णवस्य) जल से भरे (अर्बुदस्य) मेघ के (मूर्धानं शिर के तुल्य उच्च भाग को भी (वि अभिनत्) विशेष रूप से छिन्न भिन्न करता है, और (अहिम् अहन्) मेघ को आघात करता है (सप्त सिन्धून् अरिणात्) सर्पणशील जलधाराओं को चला देता है, वे भूमि पर बह कर आती हैं। इसी प्रकार (इन्द्रः) आत्मा (मह्ना) अपने महान् सामर्थ्य से (महतः) महान् (अर्णवस्य) ज्ञान से पूर्ण (अर्बुदस्य) ज्ञान के देने वाले, अन्यों को ज्ञान देने वाले इस देह के (मूर्धानम्) शिर भाग को (अभिनत्) भेदन करता है और (अहिम् अहन्) अज्ञान

का नाश करता है, (सप्त सिन्धून्) सात प्राणों को (अरिणात्) सञ्चालित करता है, हे (द्यावा-पृथिवी) सूर्य पृथिवी के तुल्य आत्मा और देह आप दोनों (देवैः) ज्ञानप्रद प्राणों से (नः) हम जीवों की (प्र अवतम्) रक्षा करते हो। (२) राष्ट्र में द्यौ और पृथिवी, राजा प्रजा वर्ग हैं। उनकी सम्मिलित शक्तियां सब प्रजाओं की रक्षा करती हैं। वह महान् राजा हिंसक शत्रु के महान् सैन्य के शिरोनायक का नाश करता है, (अहिम्) सन्मुख आये शत्रु पर प्रहार करता और परसैन्यों को भगा देता है। (सप्त सिन्धून्) नदी-वेग से आगे बढ़ने वाले शत्रुसैन्यों को पराजित करे। इस प्रकार वे आकाश भूमि के समान आश्रय और रक्षक रूप से राजा और उसकी राज्यशासन व्यवस्था हमारी रक्षा करें। इति षोडशो वर्गः ॥

[६८]

अयास्य ऋषिः ॥ बृहस्पतिर्देवता ॥ छन्दः—१, १२ विराट्त्रिष्टुप्। २, ८—११ त्रिष्टुप्। ३—७ निचृत् त्रिष्टुप् ॥ द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्य१र्का अनावन् ॥ १ ॥

भा०—(मदन्तः) स्तुति करते हुए, अति प्रसन्न (अर्काः) स्तुति करने वाले भक्त जन, (बृहस्पतिम्) महान् ब्रह्माण्डों के पालक प्रभु परमेश्वर की ऐसे (अनावन्) उत्साहपूर्वक स्तुति करते हैं (उद-प्रुतः-वयः न) जिस प्रकार जल पर तैरने वाले, जलचर पक्षी, हंस कलकल करते हैं। जैसे (रक्षमाणाः) समय २ पर जिस प्रकार रक्षक, खेत के रखने वाले उच्च स्वर से हांका लगाते हैं। ऐसे जैसे (वावदतः न) परस्पर आलाप वा बातचीत करते हुए स्नेह के प्रवाह में बात करते ही

रहते हैं, ऐसे जैसे (अभ्रियस्य घोषाः न) मेघ के गर्जन होते हैं, ऐसे जैसे (गिरिभ्रजः ऊर्मयः न) मेघ से गिरने वाली जलधाराएं वा पर्वत से झरने वाले झरने अनवरत प्रवाह से बहते हैं। इन नाना प्रकारों से स्तुतिशील जन प्रभु की स्तुति करते हैं, स्तुति करने वालों के ध्वनि, विचार-प्रवाह और उपास्य-उपासक का साक्षाद्-भाव इन अनेक दृष्टान्तों से समझना चाहिये।

सं गोभि॑राङ्गिर॒सो नक्ष॑माणो॒ भग॑ इ॒वेद॑र्य॒मणं॑ निनाय।
जने॑ मि॒त्रो न दम्प॑ती अनक्ति॒ बृह॑स्पते वा॒जया॒शूँरि॑वा॒जौ ॥ २ ॥

भा०—(आंगिरसः) अंगारों में अग्नि जिस प्रकार (नक्षमाणः) तेज से फैलता हुआ (गोभिः सं निनाय) अपनी किरणों से मनुष्य को अन्धकार में भी सन्मार्ग पर लेजाता है, उसी प्रकार (आंगिरसः) अंगों में रसों के समान विद्यमान देह में व्यापक आत्मा वा अंगिरा ज्ञानवान् पुरुषों का प्रमुख विद्वान् (नक्षमाणः) विद्या-क्षेत्र में अधिक व्यापक ज्ञान रखता हुआ (गोभिः) वाणियों के द्वारा (सं निनाय) शिष्य को सन्मार्ग पर ले चले। और (भग इव इत् अर्यमणम्) सेव्य ऐश्वर्यवान् प्रभु जिस प्रकार (गोभिः) आज्ञावाणियों से सेवक को, उसी प्रकार प्रभु स्तुतिशील भक्त को (गोभिः सं निनाय) वेदवाणियों से सन्मार्ग पर लाता है। (मित्रः) वह सबका स्नेही, मृत्यु से बचाने वाला प्रभु (जने) इस जन्म में हमें सन्मार्ग से ले जाय। अथवा (जने) जन समूह में जिस प्रकार (मित्रः दम्पती अनक्ति) स्नेही पुरुष पुरोहित वर-वधू, जाया-पत्नी दोनों को (सम्) परस्पर एक दूसरे को आमने सामने कर स्नेह करने की प्रेरणा करता, दोनों को मिलाकर एक करता है उसी प्रकार (जने) इस जन्म में (मित्रः) ज्ञानवान्, मृत्यु-भय से त्राण करने वाला प्रभु (सम् अनक्तु) साक्षात् दर्शन दे।

(आजौ) संग्राम में जिस प्रकार वीर सेनापति (आशून्) वेगवान् अश्वों को (वाजयति) वेग से चलाता है उसी प्रकार (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी का पालक विद्वान् गुरु एवं ब्रह्माण्ड का स्वामी प्रभु (आजौ) जगत् रूप विजय के क्षेत्र में (आशून्) कर्म फल के भोक्ता जीवों को (वाजय) उत्तम अन्नवत् भोग्य कर्मफल प्रदान करे ।

साध्वर्या अतिथिनीरिषिराः स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः ।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः॥३॥

भा०—जिस प्रकार कृषक, परिश्रमी जन (पर्वतेभ्यः) पर्वतों से (गाः) गतिशील जलधाराओं को (वि-तूर्य) विशेष रूप से या विविध प्रकार से काटता है और (यवम् निः ऊपे जौ आदि धान्य बोता है और जिस प्रकार सूर्य वा विद्युत् पर्वतेभ्यः) मेघों से (गाः) जल-धाराओं को (वि-तूर्य) विशेष रूप से निकाल कर बिन्दु रूप से भूमियों पर डालता है, मानो भूमियों पर जौ छिटकाता है, उसी प्रकार (बृहस्पतिः) वह महान् ब्रह्माण्ड की बड़ी २ शक्तियों का स्वामी (स्थिविभ्यः) स्थिर, (पर्वतेभ्यः) पूर्ण और पालन शक्तियों से सम्पन्न सूर्यादि पदार्थों से जीवनशक्ति के तत्वों को (गाः निरूपे) अनेक भूमियों के प्रति ऐसे फेंकाता है जैसे भूमियों पर जौ छिटकाता हो । ये भूमियां कैसी हैं ? जैसे ये भूमियां (साधु-अर्याः) उत्तम स्वामियों और वैश्य जनों से युक्त हैं उसी प्रकार वे अनेक पृथिवियां भी (साधु-अर्याः) सूर्य सदृश उत्तम पालकों से युक्त हैं, (अतिथि-नीः) अपने ऊपर के अध्यक्ष कृषक को अन्न देती हैं, इसी प्रकार वे पृथिवियें भी (अतिथि-नीः) निरन्तर गति करने वाली (इषिराः) ये भूमियां अन्न आदि देने वाली, इसी प्रकार अनेक पृथिविएं (इषिराः) अन्य सूर्यादि प्रेरकों से प्रेरित होकर चलने वाली हैं । ये (स्पार्हाः) चाहने योग्य, (सु-वर्णाः) उत्तम वर्ण वाली, (अनवद्य-रूपाः) अनिन्दनीय रूप

वाली हैं। (१) इसी प्रकार वह बृहस्पति परमेश्वर (पर्वतेभ्यः स्थिविभ्यः) स्थिर पालकों के हाथ (गाः वितूर्य) अभिगमनीय वधुओं को प्रदान करके (यवम् इव) भूमियों में जौ के तुल्य ही सन्तानोत्पादक बीजों के निर्वाप करता है, और जीव सृष्टि को उत्पन्न करता है। वे स्त्रियां कैसी हों (साधु-अर्याः) उत्तम स्वामी वाली, (अतिथिनीः) अतिथियों को अन्न जल से सत्कार करने वाली वा अतिथि के तुल्य वर के प्रति ले जाये जाने योग्य, (इषिराः) इच्छा करनेहारी, (स्पार्हा) प्रेम करने योग्य, (सु-वर्णाः) उत्तम वर्ण वाली, (अनवद्य-रूपाः) अनिन्दित रूप, वर्ण, अंगों वाली हों।

आप्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥ ४ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी का स्वामी, विद्वान् (ऋतस्य योनिम्) सत्य ज्ञान के प्रदान करने के योग्य पात्र के (मधुना) ज्ञान-मय मधु से (आ-प्रुषायन्) सब प्रकार से इसी प्रकार पूर्ण करता है जैसे मेघ (ऋतस्य योनिम्) जलाशय को (मधुना) जल से पूर्ण करता है। वह (अर्कः) स्वयं पूजनीय, स्तुतियोग्य वा सत्य ज्ञान का उपदेष्टा ज्ञान का प्रकाश सत्पात्र को इस प्रकार देता है जैसे (अर्कः द्योः उल्काम् अवक्षिपन् इव) विद्युत् आकाश से चमकती धाराओं को नीचे डालती हैं। वह विद्वान् (अश्मनः) सर्वव्यापक प्रभु से वा उसकी (गाः) वेद-वाणियों को इस प्रकार (उत् हरन्) उत्तम रीति से ग्रहण करता है वा ऊपर से उदारता से प्रदान करता है जैसे (अश्मनः गाः) विशाल पर्वत से जल की धाराओं को वा जैसे मेघ से आती जलधाराओं को बड़ी उदारता से प्राप्त किया जाता है। जिस प्रकार (उद्ना) जलधारा वा उसके निमित्त से (भूम्याः) भूमि की (त्वचम्) ऊपर के आवरण-पृष्ठ को कोई

इनजिनियर पाटता है और नहर बना लेता है उसी प्रकार विद्वान् पुरुष भी (भूम्याः) ज्ञान धारण के योग्य उत्तम भूमि रूप शिष्य बुद्धि के (त्वचम्) अज्ञान के आवरण को (मधुना) ज्ञान से (वि बिभेद) विविध प्रकारों से दूर करे । (२) इसी प्रकार गुरु के समान प्रभु भी साधक को ऐश्वर्यादि प्रदान करता है और राजा प्रजा के प्रति ऐसा व्यवहार करता है ।

अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत् ।
बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः ॥ ५ ॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (ज्योतिषा) प्रकाश से (तमः) अन्धकार को (अप आजत्) दूर करता है और जिस प्रकार (वातः) तीव्र वायु (उद्नः) जल के पृष्ठ पर से (शीपालम् इव) सेवार या काई के आवरण को दूर करता है और जिस प्रकार (वातः) वेग वाला वायु (अभ्रम् इव अप) मेघ को दूर करता है उसी प्रकार (ज्योतिषा) ज्ञान के प्रकाश से (अन्तरिक्षात्) अपने शासन में स्थित शिष्य से (तमः) अज्ञान अन्धकार को (अप आजत्) दूर करता है। और (बृहस्पतिः) ज्ञानवाणी का पालक गुरु (वलस्य) आवरणकारी अज्ञान की मात्रा का (अनु-मृश्य) बलाबल विचार कर तदनुसार वह (आ चक्रे) वेदवाणियों का उपदेश करता है । (२) इसी प्रकार प्रभु साधक के अन्तःकरण से अज्ञान का आवरण दूर करता है । (३) इसी प्रकार प्रजा को घेरने वाले शत्रु को भी राजा दूर करता है ।

यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः ।
दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीँरकृणोदुस्रियाणाम् ॥६॥१७॥

भा०—(बृहस्पतिः) बड़ी भारी सेना और राज्यव्यवस्था का

पालक पुरुष (पीयतः) प्रजा के पीड़क (वलस्य) राष्ट्र को चारों ओर से घेरने वाले शत्रु के (जसुं भेत्) नाशकारी सैन्य वा शस्त्र-बल को भेदन करता है, उसमें फूट डालकर वा शस्त्रास्त्र बल से उनको तोड़ फोड़ देता है और जिस प्रकार (जिह्वा दद्भिः परिविष्टं) जीभ दांतों से पिसे अन्न को (आदत्) खा लेती है उसी प्रकार वह भी (अग्नितपोभिः) अग्नि वा सूर्य के समान अग्निमय अस्त्रों से शत्रु को संताप जनक (अर्कैः) किरणों, अस्त्रों वा तेजस्वी पुरुषों के सन्धि आदि वचनों से (परिविष्टम्) चारों तरफ फैले शत्रु को भी (आदत्) खा जावे, उनको ग्रस ले वा नष्ट करे और (उस्रियाणां) भूमियों के (निधीन्) अन्न, सुवर्णादि धातुओं और रत्नादि रूप खज़ानों को (आविः अकृणोत्) प्रकट करे। (२) उसी प्रकार वेदवाणी का पालक ज्ञानी पुरुष नाशकारी अज्ञान, मोह के विनाशक प्रभाव को छिन्न भिन्न कर अग्नि के तुल्य तपों वाले (अर्कैः) अर्चना योग्य वेद मन्त्रों द्वारा वाणी के तुल्य ही (परि-विष्टम्) सर्व-व्यापक प्रभु का (आदत्) ग्रहण करे, उसका ज्ञान प्राप्त करे और (उस्रियाणां निधीन्) वाणियों के परम निधियों रूप आश्रमों को (अकृणोत्) उत्पन्न करे। नाना शिष्यों को विद्वान् वेदनिधि बनावे।

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत्॥७॥

भा०—(बृहस्पतिः) वेदवाणियों का पालक गुरु, विद्वान् एवं प्रभु (स्वरीणां) स्वरपूर्वक शब्दोच्चारण से गाने योग्य (आसां) इन वाणियों के (त्यत् नाम अमत) उस स्वरूप को भी जानलेता है, (यत् गुहा) जो कि गुहा अर्थात् बुद्धि के भीतर चिन्तनीय रूप से होता है। (यत्) जिस प्रकार (शकुनस्य आण्डा इव भित्वा) पक्षी के अण्डों को फोड़ कर गर्भरूप बच्चों को प्रकट करता है उसी प्रकार (बृहस्पतिः) वेद का विद्वान्

पुरुष, (त्मना) अपने आत्म सामर्थ्य से (शकुनस्य) महान् शक्तिशाली सब जगत् को उठा कर सञ्चालित करने वाले प्रभु के (आण्डा भित्त्वा) अनेक ब्रह्माण्डों का अवयवशः ज्ञान करके (पर्वतस्य) सब के पालक प्रभु के (गर्भम्) जगत् के ग्रहण या वश करने के सामर्थ्य को जाने, (उस्रिया) जलधाराओं के तुल्य वा गौओं के तुल्य ज्ञान-रसधारा प्रदान करने वाली वाणियों को (उत् आजत्) प्राप्त करे।

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य ॥ ८ ॥

भा०—(दीने उदनि) अल्प, हीन, क्षीण वा बंधे जल में (क्षियन्तं मत्स्यं न) रहते हुए मत्स्य के समान व्याकुल (मधु) उस मधुर रसवान् आत्मा को विद्वान् ज्ञानी पुरुष (अश्ना अपिनद्धम्) सुख दुःखों के भोगप्रद देह के साथ बंधा हुआ (परि अपश्यत्) देखता है। (वृक्षात् चमसं न) वृक्ष से खाने योग्य फल के समान (तत्) उसको वह (विरवेण) विशेष शब्दमय ज्ञानभण्डार वा ओंकार-नाद से (वि-कृत्य) विशेष साधना करके उसके बंधे बन्धन को काट कर अपने को (निर्जभार) मुक्त कर ले। अर्थात् जिस प्रकार (विरवेण = विलवेन) विशेष काटने या छेदने योग्य शस्त्र से वृक्ष पर लगे फल को काटकर पृथक् कर लिया जाता है उसी प्रकार वह भी बंधे आत्मा के बन्धन को (विरवेण विकृत्य) विशेष ओंकार या वेदमय शब्द द्वारा विशेष परिष्कृत करके बन्धन से मुक्त करे। फल के मूल वृक्ष से अलग होने के दृष्टान्त मुक्त होने में अन्य भी हैं जैसे 'उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्यो मुक्षीयमामृतात्।' वह आत्मा मधु अशना-पिपासा से बंध कर इस देहरूप वृक्ष में बंधा रहता है। यहां वह छोटे से छप्पड़ में मच्छी के सदृश बड़ा व्याकुल होता है।

सोषामविन्दत्स स्वः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार ॥ ९ ॥

भा०—(सः) वह साधक (उषाम्) अपने साधना मार्ग में उषा = प्रभात वेला के तुल्य पापों वा कर्म-बन्धनों को भस्म कर देने वाली ऋतंभरा, ज्योतिष्मती, विशोका प्रज्ञा को (अविन्दत्) प्राप्त करे। (सः स्वः) वह सूर्यवत् तेजोमय आत्मा को प्राप्त करे। (सः अग्निम्) वह अग्नि के तुल्य स्वयं-प्रकाश रूप आत्मा को प्राप्त करे। (सः) वह (अर्केण) मन्त्ररूप ज्ञान के प्रकाश से अन्धकार के तुल्य (तमांसि वि बबाधे) अनेक अन्धकारों को विनष्ट करे। (बृहस्पतिः) बड़े भारी व्रत वा शक्ति का पालन करने वाला विद्वान् (गो-वपुषः) गौ, इन्द्रियों के सहित देहरूप में बने (वलस्य) आत्मा को आवरण करने वाले इस काय-बन्धन के (पर्वणः) एक २ पोरु में से अपने बद्ध आत्मा को (मज्जानं न निः जभार) ऐसे अलग करे जैसे पोरु २ में से मज्जा धातु को वा (वलस्य पर्वणः) फल को घेरने वाली गांठ वा गुठली वा अखरोट में से को मींगी निकाल लेते हैं।

हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद् वलो गाः।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः॥ १०॥

भा०—(हिमा इव पर्णा) हिम, पाला वा हेमन्त काल जिस प्रकार वृक्ष के पत्तों को झाड़ देता है उसी प्रकार (बृहस्पतिना) उस महान् शक्ति से (वनानि मुषिता) नाना भोग बन्धन वा बनों के समान उच्छेद्य बन्धन दूर किये जायं। (वलः) आवरणकारी यह देह-बन्धन उस समय (गाः) आत्मा की शक्तियों और इन्द्रिय सामर्थ्यों को भी (अकृपयत्) प्रदान करता है, त्याग देता है। साधक ऐसी साधना करे कि वह (अपुनः अननुकृत्यम्) पुनः जन्म-मरण में न फंसे और फिर दूसरी बार उसे उद्योग न करना पड़े अर्थात् दूसरी बार फिर बन्धन न काटने पड़ें (यात्) जब तक भी (सूर्यामासाः मिथः उत् चरातः) सूर्य और चन्द्र, दिन और

रात्रि उदय हों, अर्थात् यावच्चन्द्रदिवाकरौ पुनः फिर २ यत्न न करना पड़े। अर्थात् यह मुक्ति का काल भी एक महा कल्प के समान ही है।

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन्बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद् गाः॥११॥

भा०—जिस प्रकार लोग (श्यावं अश्वम्) लाल-काले रंग के, तेलिया कमैत या काले रंग के घोड़े को (कृशनेभिः अपिंशन्) नाना सुवर्ण-मय आभूषणों से सुशोभित करते हैं और (पितरः) विद्वान् लोग (नक्षत्रेभिः) नक्षत्रों से (द्याम् अपिंशन्) आकाश चक्र को विभक्त करते हैं, (रात्र्याम् अदधुः) रात्रिकाल में अन्धकार को विशेष लक्षण से स्थिर करते और (अहन् ज्योतिः अदधुः) दिन के समय में प्रकाश को विशेष लक्षण से स्थिर करते और (बृहस्पतिः) जिस प्रकार महान् आकाश का सूर्य वा भारी बलशाली विद्युत् वा वायु (अद्रिम् भिनत्) मेघ को छिन्न भिन्न करता है, और (गाः विदत्) सूर्य की किरणों और जलधाराओं को प्राप्त कराता है, उसी प्रकार (बृहस्पतिः) वेदवाणी का विद्वान् पुरुष (अद्रिम् भिनत्) विदीर्ण न होने वाले दृढ़ अज्ञानावरण को दूर करे और (गाः विदद्) वेदवाणियों को प्राप्त करे और अन्यों को भी बतलावे। (२) अध्यात्म में—विद्वान् जन (कृशनेभिः) नाना साधनों से, अश्ववत् भोक्ता और यावत् ज्ञानवान् आत्मा को भूषित करते हैं वे ही (पितरः) नाना यम-नियमों के पालक होकर (द्याम्) स्वप्रकाश रूप, इच्छावान् आत्मा को (नक्षत्रेभिः) दूर तक जाने वा व्यापने वाले अनेक इन्द्रिय-गत प्राणों से (अपिंशन्) भूषित करते, चमकाते और निरूपण करते हैं। उसकी रात्रि के समान निद्रावृत्ति में तमोगुण का और अहनि = दिन की प्रकाश दशा में ज्योतिर्मय सत्व का ही स्थिर निश्चय करते हैं, तब बृहती वाणी का पालक, मुनिवत् साधक अज्ञान-आवरण को नाश करके ज्ञान-

मय रश्मियों वा सत्य वाणियों को प्राप्त करता है। वह वाक्सिद्ध हो जाता है। (३) राष्ट्र पक्ष में—राष्ट्र के पालक, (अश्वं) राष्ट्र को नाना उद्योगों से, सुवर्णादि धन-सम्पदों से अश्व को आभूषणों से जैसे सुशोभित करें (द्याम्) वे नक्षत्रों से आकाशवत् भूमि को भी (नक्षत्रैः) स्थिर स्थायी दुर्गों, अविचल शासकों और अहिंसक रक्षकों को नदी, पर्वत आदि स्थिर चिन्हों से नाना विभागों में बांटे, विद्वान् लोग दिन रात का विभाग प्रकाश और अन्धकार से निर्णय करें और मुख्य नायक पर्वत वा जलमय मेघ के समान (अद्रिम् भिनत्) शत्रु के दृढ़ सैन्य को भेदें और (गाः विदत्) नाना पशु और भूमियां हस्तगत करें।

इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः सनृभिर्नो वयो धात्
॥ १२ ॥ १८ ॥ ५ ॥

भा०—जो विद्वान् (पूर्वीः) पूर्व आचार्यों की ज्ञान से पूर्ण और सनातन से विद्यमान वाणियों का (अनु आनोनवीति) एक के बाद एक परम्परा से शिष्यों को अभिमुख बैठा कर उपदेश करता है। (अभ्रियाय) मेघ के तुल्य इस प्रकार उदारता से गंभीरतापूर्वक उपदेष्टा के लिये (नमः अकर्म) हम नमस्कार, अन्नादि सत्कार करें। (सः) हमारे बीच में वह (गोभिः अश्वेभिः वीरेभिः) गौओं से, अश्वों से और वीरों से, (सः नृभिः) वह अन्य नायकों वा मनुष्यों द्वारा (नः वयः धात्) हम में बल और शक्ति प्रदान करे॥ इत्यष्टादशो वर्गः॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः॥

[६९]

सुमित्रो वाध्र्यश्वः॥ अग्निर्देवता॥ छन्दः—१ निचृज्जगती। २ विराड् जगती। ३, ७ त्रिष्टुप्। ४, ५, १२ निचृत् त्रिष्टुप्। ६ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप्। ८, १० पादनिचृत् त्रिष्टुप्। ९, ११ विराट् त्रिष्टुप्॥ द्वादशर्चं सूक्तम्॥

भद्रा अग्नेर्वध्र्यश्वस्य सन्दृशो वामी प्रणीतिः सुरणा उपेतयः ।
यदीं सुमित्रा विशो अग्र इन्धते घृतेनाहुतो जरते दविद्युतत् ॥१॥

भा०—(वध्र्यश्वस्य) घोड़ों के समान इन्द्रियों का वेग शान्त करके इन्द्रियों को वश करने वाले संयमी पुरुष की (अग्नेः) उस प्रकाश-स्वरूप ज्ञानवान्, सब के आदि सञ्चालक परमेश्वर के विषय में (सं-दृशः) अच्छी प्रकार से किये दर्शन (भद्राः) बहुत उत्तम, कल्याणकारक और सुखजनक होते हैं। उसकी (प्रणीतिः) उत्तम नीति, वाणी या व्यवहार भी (वामी) सब को सुखजनक होता है। उसके (उपेतयः) अन्यों के समीप आगमन भी (सुरणाः) सुखजनक उपदेश और हर्षदायक होते हैं। (यत्) जब (ईम्) इसको सब प्रकार से (सुमित्राः विशः) उत्तम स्नेही प्रजाएं उसके (अग्रे) सबसे प्रथम यज्ञाग्नि के तुल्य प्रमुख पद पर (इन्धते) प्रदीप्त या प्रतिष्ठित करते हैं, उसे विद्या और शील की शिक्षा से उज्ज्वल करते हैं। वह (आहुतः) आदर से स्वीकृत और आमन्त्रित होकर (घृतेन आहुतः) घी से आहुति प्राप्त अग्नि के सदृश, (घृतेन आहुतः) ज्ञान-प्रकाश से शिक्षित होकर (विद्युतम्) विशेष दीप्ति से चमकता हुआ, तेजस्वी होकर (जरते) ज्ञानोपदेश करता है। (२) राजा के पक्ष में—राजा स्वयं वध्र्यश्व है। 'वध्रि' अर्थात् तीव्र वेग से जाने वाले अश्वों का स्वामी वा 'वध्रि' शत्रुओं का वध करने वाले अश्व अर्थात् राष्ट्र-बल-सैन्य का स्वामी सेनापति वा राजा वहीं तेजस्वी अग्नि है। उसकी (दृशः भद्राः) सम्यक् दृष्टि सब प्रजाओं को सुख कल्याण-कारिणी हों। उसकी (प्र-नीतीः वामोः) उत्तम नीतियां सब को कल्याण-कारी हों। (उप-इतयः सुरणाः) उसके आगमन प्रजाओं के रक्त शोषण के लिये न हों प्रत्युत (सुरणाः) सुखप्रद, आनन्दोत्सव के लिये हो। (विशः सुमित्राः ईम् अग्रे इन्धते) प्रजाएं उसकी मित्र होकर उसको अग्रासन पर प्रकाशित करें। वह (घृतेन आहुतः) घृत से आहुति

प्राप्त अग्नि के तुल्य (घृतेन आहुत) तेज से व्याप्त होकर वा (घृतेन आहुतः) जल से अभिषिक्त होकर (दविद्युतत्) चमकता हुआ (जरते) प्रजा पर आज्ञा-दान आदि से शासन करे।

घृतम॒ग्नेर्व॑ध्र्य॒श्वस्य॒ वर्ध॑नं घृ॒तमन्नं॑ घृ॒तम्व॑स्य॒ मेद॑नम्।
घृतेनाहु॑त उर्वि॒या वि प॑प्रथे॒ सूर्य॑ इव रोचते स॒र्पिरा॑सुतिः॥२॥

भा०—जिस प्रकार (अग्नेः) अग्नि का (घृतम् वर्धनम्) घृत अर्थात् धारारूप से सेचन करने योग्य घी ही वृद्धि का कारण होता है, इसी प्रकार (वध्रि-अश्वस्य) शत्रु के वधकारी, वेगवान् अश्व, सैन्य रथादि का स्वामी, विजयी, अग्रणी नायक का भी (घृतम्) तेज ही (वर्धनम्) वृद्धि कारक और शत्रु को काट गिराने का साधन है। जिस प्रकार अग्नि का (घृतम् अन्नम्) घी ही अन्न के तुल्य खाद्य है उसी प्रकार सेनापति विजयी का भी (घृतम् अन्नम्) तेज ही प्राण धारण कराने वाला है। (घृतम् उ अस्य मेदनम्) घृत ही जिस प्रकार अग्नि का पोषणकारक है, उसी प्रकार (घृतम् उ अस्य मेदनम्) तेज ही इस सेनानायक दण्डाध्यक्ष का 'मेदन' अर्थात् अन्य शत्रुओं के साथ स्नेह वा संधिपूर्वक मिलने का कारण होता है, उसमें यह तेज न हो तो अन्य शत्रु उस पर चढ़ाई कर उससे विग्रह कर लें। (घृतेन आहुतः वि पप्रथे) घृत की आहुति पाकर जिस प्रकार अग्नि बढ़ता है उसी प्रकार वह भी अपने (घृतेन) तेज और अभिषेक से (आ-हुतः) आदरपूर्वक प्रमुख अध्यक्ष स्वीकृत होकर विशेष रूप से ख्याति लाभ करे। (सर्पिः-आसुतिः) जिस प्रकार अग्नि घृत की आहुति पाकर (सूर्यः इव रोचते) सूर्य के तुल्य दीप्ति से चमकता है उसी प्रकार राजा वा सेनाध्यक्ष (सर्पिः-सुतिः) सर्पण अर्थात् आगे बढ़ने वाले सैन्यों के बल से ऐश्वर्य को अपने चारों ओर लिये हुए, (सूर्यः इव) वेगवान् किरणों के ऐश्वर्य से युक्त सूर्य के समान (रोचते) शोभा देता है।

यत्ते मनुर्यदनीकं सुमित्रः समीधे अग्ने तदिदं नवीयः।
स रेवच्छोच स गिरो जुषस्व स वाजं दर्षि स इह श्रवो धाः ॥३॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन् ! अग्रणी,-सेना वा प्रजा को सन्मार्ग पर ले चलनेहारे राजन् ! (ते) तेरे (यत्) जिस (अनीकम्) मुख्य प्राणवत् बलयुक्त सैन्य का (मनुः) ज्ञानवान् और शत्रु की रोक थाम करने में कुशल पुरुष और (सु-मित्रः) सुखपूर्वक शत्रु से मारे जाने से बचाने वाला वीर पुरुष (सम्-ईधे) प्रदीप्त या प्रज्वलित करता है, (तत् इत्) वह बल ही (नवीयः) सबसे अधिक स्तुति योग्य होता है। (सः) वह तू (रेवत्) ऐश्वर्यवान् होकर (शोच) खूब २ चमक। (सः) वह तू (गिरः जुषस्व) ज्ञान वाणियों, स्तुतियों वा उत्तम उपदेष्टाओं को प्रेम से स्वीकार कर (सः) वह तू (वाजं दर्षि) ज्ञान, बल और ऐश्वर्य अन्यों को प्रदान कर और शत्रु के (वाजं दर्षि) बल आदि को विनष्ट कर। (सः) वह तू (इह) इस लोक में (श्रवः धाः) अन्न, यश और कीर्त्ति को धारण कर।

यं त्वा पूर्वमीळितो वध्र्यश्वः समीधे अग्ने स इदं जुषस्व।
स नः स्तिपा उत भवा तनूपा दात्रं रक्षस्व यदिदं ते अस्मे ॥४॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! स्वप्रकाश ! राजन् ! प्रभो ! (वध्रि-अश्वः) वेगवान्, बलवान् वशीभूत इन्द्रियों और अश्वादि से सम्पन्न जन भी (ईडितः) तुझे चाहता और तेरी स्तुति उपासना करनेहारा होकर (पूर्वम् यम् त्वा) पूर्व विद्यमान वा पू वा सर्वपालक तुझ को (सम् ईधे) प्रज्वलित करता है, (सः) वह तू (इदम् जुषस्व) इस जगत को राष्ट्रवत् स्वीकार कर। (उत) और तू (नः स्तिपाः भव) हमारे घरों, देहों का पालक हो। (उत) और तू

(नः तनूपाः भव) हमारे देहों वा पुत्र-पौत्रादि सन्तानों का भी पालक हो। (यत्) जो (इदं) यह जगत् भर (अस्मे) हमारे लिये (ते दात्रम्) तेरा उदार दान है, तू उसे हमारे लिये (रक्षस्व) बनाये रख। वा उस दान से हमारा पालन कर। अग्नि, तेज, प्रकाश, ताप, जल, विद्युत्, भूमि आदि समस्त प्राकृतिक ऐश्वर्य जीवों के प्रति प्रभु की देन हैं। जिनसे वह समस्त जीवों को पालता है उनसे ही संहार भी करता है। यहां पालने की प्रार्थना है। इसी प्रकार प्रजा की राजा से प्रार्थना भी है।

भवा॑ द्यु॒म्नी वा॑ध्र्यश्वो॒त गो॒पा मा त्वा॑ तारीद॒भिमा॑ति॒र्जना॑नाम्।
शूर॑ इव॒ धृ॒ष्णुश्च्यव॑नः सु॒मि॒त्रः प्र नु वो॑चं॒ वाध्र्य॑श्वस्य॒ नाम॑ ॥५॥

भा०—हे (वाध्र्यश्व) जितेन्द्रिय, एवं तेज, बलशाली अन्नादि साधनों से सम्पन्न पुरुषों के बीच में उत्पन्न एवं प्रतिष्ठित राजन्! प्रभो! तू (द्युम्नी) महान् ऐश्वर्य का स्वामी (भव) हो। (उत) और (गोपा) तू समस्त राष्ट्रैश्वर्य का रक्षक और भूमि का पालक हो। (अभि-मातिः) अभिमानी और सब ओर प्रजाओं का हिंसक शत्रु पुरुष (त्वा मा तारात्) तुझ तक प्राप्त न हो, तुझे न नाश करे, तुझे पराजित न करे। तू (जनानां) समस्त जनों का (शूरः इव) शूरवीर के समान (धृष्णुः) सब का धर्षण, पराजय करने वाला और (च्यवनः) सब में व्यापक, सब का सञ्चालक और (सु-मित्रः) सबका सुखदायी, शोभन स्नेही और सत्संगी हो। मैं (वध्रि-अश्वस्य) तुझ सूर्यवत् वेगवान् गतिशील पदार्थों के स्वामी का (नाम प्र नु वोचम्) नाम और स्वरूप का सदा प्रवचन, उपदेश अन्यों को करूं।

स॒मज्र्या॑ पर्व॒त्या॒३ वसू॑नि॒ दासा॑ वृ॒त्राण्यार्या॑ जिगेथ।
शूर॑ इव धृ॒ष्णुश्च्यव॑नो॒ जना॑नां॒ त्वम॑ग्ने पृत॒ना॒यूँर॒भि ष्या॑ः ॥६॥१६॥

भा०—हे प्रभो! स्वामिन्! तू (अज्रया) वेग से जाने वाले अश्वों और

सूर्य, वायु, तेज आदि पदार्थों से उत्पन्न (वसूनि) नाना ऐश्वर्यों और (पर्वत्या वसूनि) पर्वत और मेघ से प्राप्त होने वाले वृष्टि, जल, अन्न आदि ऐश्वर्यों को (सं जिगेथ) सूर्यवत् जीत और प्राप्त कर। तू (दासा) सेवकों और (अर्या) स्वामियों और (वृत्राणि) अनेक धनों को भी (सं जिगेथ) भली प्रकार प्राप्त कर। तू (शूरः इव धृष्णः) शूरवीर के समान शत्रु को पराजय करने वाला और (जनानां च्यवनः) मनुष्यों को सन्मार्ग में चलाने वाला शासक होकर हे (अग्ने) अग्रणी नायक! प्रभो! राजन्! तू (पृतनायून्) सेनाओं के द्वारा संग्राम करने वाले शत्रुओं को और (पृतनायून्) मनुष्यों को भी (अभि स्याः) पराजित कर। उन पर भी शासन कर। इत्येकोनविंशो वर्गः॥

दीर्घतन्तुर्बृहदुक्षायमग्निः सहस्रस्तरीः शतनीथ ऋभ्वा।
द्युमान् द्युमत्सु नृभिर्मृज्यमानः सुमित्रेषु दीदयो देवयत्सु॥७॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) तेजस्वी प्रभु वा स्वामी (दीर्घ-तन्तुः) बहुत लम्बी सन्तति-परम्परा वाला, (बृहत्-उक्षा) बड़े भारी राष्ट्र कार्य को उठाने में समर्थ, (सहस्र-स्तरीः) सहस्रों के मूल्य के वस्त्रों को धारण करने वाला अथवा (बृहदुक्षा, सहस्रस्तरी) जिस प्रकार हज़ारों गौओं के स्वामी के समान उन में बड़ा वीर्य सेचक सांड़ हो उसी प्रकार (सहस्रः-स्तरीः) सहस्रों बलशाली, आच्छादन करने वा घेरने वाली सहस्रों प्रजाओं वा सेनाओं को वा छात्र मण्डिलियों को गुरु के समान धारण करने वाला, (शत-नीथः) अनेक नीति मार्गों में कुशल वा अनेक वाणियों वा आज्ञाओं को देने वाला, (ऋभ्वा) सत्य, न्याय, तेज से चमकने वाला, और समर्थ, द्युमान् तेज और धन से सम्पन्न, (द्युमत्सु सुमित्रेषु) तेजस्वी, आढय, उत्तम मित्रों के बीच (देवयत्सु) उत्तम विद्वान् व युद्धविजयी वीरों, की आकांक्षा करने वालों के बीच (नृभिः) नेता पुरुषों द्वारा (मृज्यमानः)

सुशोभित और अभिषेक किया जाता हुआ (दीदयः) गुणों और सामर्थ्यों से प्रकाशित हो। (२) परमेश्वर महान् ब्रह्माण्ड को उठाने, धारण करने से 'बृहदुक्षा' है। दूर तक जगत्-सूत्र फैलाने से दीर्घतन्तु है, सहस्रों का आच्छादक पालक होने से 'सहस्रस्तरी', वेदवाणियों से शतनीथ वा सैकड़ों मार्गों से प्राप्य वा स्तुति होने से 'शतनीथ' है। वह स्नेहियों, प्रभु को चाहने वाले भक्त जनों के बीच परिमार्जित शुद्ध रूप में प्रकाशित होता है।

त्वे धेनुः सुदुघा जातवेदोऽसश्चतेव समना सबर्धुक्।
त्वं नृभिर्दक्षिणावद्भिरग्ने सुमित्रेभिरिध्यसे देवयद्भिः ॥ ८ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) समस्त उत्पन्न लोकों को जानने वाले, सब धनों के स्वामिन्! (सुदुघा धेनुः) सुख से दोहने योग्य, दुधार गौ के सदृश, (असश्चता) असंग, निःस्वार्थ तुझ से (समना) संगत समान चित्त हुई (सबर्-धुक्) परम रस का प्रदान करने वाली है, प्रभु के आश्रय प्रकृति, स्वामी के आश्रय प्रजा, पुरुष के आश्रय स्त्री और विद्वान् के आश्रय वेदवाणी है। हे (अग्ने) ज्ञानवन्! तेजस्विन्! नायक! (त्वं) तू (दक्षिणावद्भिः नृभिः) 'दक्षिणा' अर्थात् उत्साहजनक साधनों वाले, शक्तिशाली, अन्नादि से सम्पन्न (सु-मित्रेभिः) उत्तम स्नेही जनों के रक्षकों और (देवयद्भिः) विद्वानों, वीरों की कामना वाले पुरुषों द्वारा (त्वम् इध्यसे) तू प्रदीप्त किया जाता है। (२) इसी प्रकार देव अर्थात् प्रभु की कामना करने वाले, दक्षिणा, के दाता, स्नेही सत्पुरुषों से तू यज्ञ में अग्नि रूप से प्रज्वलित किया जाता है, और वह रस-ज्ञान की देने वाली (धेनुः) वाणी (असश्चता) अन्य कहीं भी न लगती हुई (त्वे समना) एकमात्र तेरे में ही संगत होती है। वेदवाणी की मुख्य संगति प्रभु में ही है।

देवाश्चित्ते अमृता जातवेदो महिमानं वाध्र्यश्व प्र वोचन्।
यत्सम्पृच्छं मानुषीर्विश आयन्त्वं नृभिरजयस्त्वावृधेभिः ॥ ९ ॥

भा०—हे (जातवेदः) समग्र उत्पन्न लोकों को जाननेहारे ! समस्त विद्या के दाता, समस्त उत्पन्न प्राणियों में विद्यमान स्वामिन् ! प्रभो ! (अमृताः देवाः चित्) कभी नाश न होने वाले आकाश, जल, पृथिवी, अग्नि, वायु आदि तत्त्व और नाना कामना करने वाले जीवगण एवं मुक्ति को प्राप्त विद्वान् जन (ते महिमानं प्र-वोचन्) तेरे महान् सामर्थ्य को बतलाते हैं । हे (वाध्र्यूश्व) जितेन्द्रियों से उपासित वा वेगवान् अश्ववत् गतिशील सूर्यादि के स्वामिन् ! (यत्) जिस (सम्पृच्छम्) प्रश्न करने योग्य, सदा जिज्ञासा के विषय, तुझ को (मानुषीः विशः) मननशील प्रजाएं (आयन्) प्राप्त होती हैं वह (त्वम्) तू (त्वा-वृधेभिः) तुझ से बढ़ने वाले (नृभिः) नेताओं से और प्राणों से आत्मा के तुल्य एवं सहयोगियों से राजा के तुल्य (अजयः) सब को जीतता, वश कर रहा है ।

पि॒तेव॑ पु॒त्रम॑बिभरु॒पस्थे॒ त्वाम॑ग्ने वध्र्य॒श्वः स॑प॒र्यन् ।
जु॒षा॒णो अ॑स्य स॒मिधं॑ यविष्ठो॒त पूर्वाँ॑ अवनो॒र्व्राध॑तश्चित् ॥१०॥

भा०—(पिता इव पुत्रं) पिता पुत्र को जिस प्रकार अपने पास रख कर भरण पोषण करता है उसी प्रकार हे (अग्ने) तेजस्विन् ! ज्ञानवन् ! (वध्रि-अश्वः) जितेन्द्रिय बलवान्, वेगवान् अश्वों और इन्द्रियों वाला व्यक्ति (सपर्यन्) तेरी पूजा, सेवा वा सत्कार करता हुआ (त्वाम् उपस्थे अबिभः) तुझ को सदा अपने समीप रखता और समीप में (त्वाम् सपर्ययन् अबिभः) तेरी सेवा परिचर्या करता हुआ भी तुझ से भय करता वा डरता रहे । वा अग्निवत् तुझको निरन्तर अपने भीतर पुष्ट करे, तेरे प्रति प्रेम और देवभाव से श्रद्धा की निरन्तर दृढ़ भावना करे । तु (अस्य) इस मुझ उपासक जीव की हे (यविष्ठ) वलिष्ठ ! शक्तिशालिन् ! (समिधम्) अति कान्तियुक्त उज्ज्वल तीव्र भावना को (जुषाणः) स्वीकार करता हुआ, (पूर्वान् व्राधतः चित्) पूर्व विद्यमान वाधक विघ्न कारणों वा वासना जालों को भी (अवनोः) विनष्ट कर ।

शश्वदग्निर्वध्र्यश्वस्य शत्रून्नृभिर्जिगाय सुतसोमवद्भिः।
समनं चिददहश्चित्रभानोऽव व्राधन्तमभिनद्वृधश्चित् ॥ ११ ॥

भा० (वध्र्यश्वस्य) वेगवान् अश्वादि साधनों से सम्पन्न तेजस्वी नायक (सुत-सोमवद्भिः) अभिषिक्त राष्ट्रैश्वर्य से सम्पन्न (नृभिः) नायकों वा शासकों द्वारा (शत्रून् शश्वत् जिगाय) शत्रुओं को निरन्तर जीत लेवे। (समनं चित्) यदि संगत या युक्त हो वा युद्ध हो तो हे (चित्र-भानो) अद्भुत तेज वाले! तू (व्राधन्तं चित्) पीड़ादायक पुरुष को (अदहः) दग्ध कर, भस्म कर और (वृधः चित्) स्वयं वृद्धिशील और शत्रु को काटने वाला होकर (व्राधन्तं चित् अव अभिनत्) पीड़ादायक को भी नीचे गिरा कर उसको भेद उपाय से फोड़ डाल।

अयमग्निर्वध्र्यश्वस्य वृत्रहा सनकात्प्रेद्धो नमसोपवाक्यः।
स नो अजामीरुत वा विजामीनभि तिष्ठ शर्धतो वाध्र्यश्व ॥१२॥२०॥

भा०—(वध्रि-अश्वस्य अयम् अग्निः) वेगवान् अश्वादि वा जितेन्द्रियों के नायक वह तेजस्वी पुरुष (वृत्रहा) दुष्ट पुरुषों का नाश करनेहारा, (सनकात् प्रेद्धः) सनातन से खूब तेजस्वी सूर्य के समान (सनकात्) राज्यकर-प्रद प्रजाजनों से भी (प्रेद्धः) खूब प्रदीप्त, सुशोभित और (नमसा उपवाक्यः) आदरयुक्त वचनों से स्तुति करने योग्य होता है, (सः) वह (अजामीन्) अबन्धुओं को और (नः) हमारे (वि-जामीन्) विपरीत शत्रुओं को जो (शर्धतः) हमारा नाश कर रहे हों, हे (वाध्र्य-श्व) जितेन्द्रियों के स्वामिन्! उनको (अभि तिष्ठ) लक्ष्य कर उठ और उनका मुकाबला कर। इति विंशो वर्गः ॥

[७०]

सुमित्रो वाध्र्यश्व ऋषिः ॥ आप्रियो देवताः ॥ छन्दः—१, २, ४, १० निचृत् त्रिष्टुप्। ३ पादनिचृत् त्रिष्टुप्। ५—७, ९, ११ त्रिष्टुप्। ८ विराट् त्रिष्टुप् ॥ एकादशर्चं सूक्तम् ॥

इमां मे अग्ने समिधं जुषस्वेळस्पदे प्रति हर्या घृताचीम् ।
वर्ष्मन्पृथिव्याः सुदिनत्वे अह्नामूर्ध्वो भव सुक्रतो देवयज्या ॥१॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्वी, ज्ञान का प्रकाश करने-हारे ! गुरो ! (मे) मेरी (इमाम्) इस (समिधम्) समिधा को (जुषस्व) स्वीकार कर यह मेरा आत्मा तेरे संग से, अग्नि के संग से काष्ठ के तुल्य प्रज्वलित हो, इसको अपना शिष्य स्वीकार कर । (इडः पदे) वेदवाणी के ज्ञान कराने के निमित्त, (घृताचीम्) सूर्य जिस प्रकार रात्रि को दूर करता है उसी प्रकार (घृताचीम् प्रतिहर्य) तू भी मेरे हृदयाकाश से अज्ञानमयी मोह रात्रि को (प्रति हर्य) दूर कर । अथवा अग्नि जिस प्रकार घृत से युक्त स्रुवा वा समिधा को ग्रहण करता है उसी प्रकार स्नेह वा ज्ञानप्रकाश से युक्त वाणी को (मे प्रति हर्य) मुझे प्राप्त करा । (पृथिव्याः) भूमि के (वर्ष्मन्) उन्नत भाग पर या भूमि पर वृष्टि कार्य करने के निमित्त मेघ के तुल्य तू (पृथिव्याः) ज्ञान-बीज के वपनार्थ भूमि के तुल्य शिष्यरूप भूमि के ऊपर (वर्ष्मन्) देहादि पर और (अह्नां सु-दिनत्वे) दिन को उत्तम दिन बनाने के निमित्त सूर्य के समान (अन्हां सु दिनत्वे) मेरे भावी दिनों को उत्तम सुखकारी दिन बनाने के लिये हे (सुक्रतो) शुभ कर्म और प्रज्ञावन् ! तू (देवयज्या) ज्ञान की कामना करने वाले शिष्यों को ज्ञान प्रदान करने एवं उनके सत्कार पूजा आदि से (ऊर्ध्वः भव) उन्नत, पूज्य होकर विराज ।

आ देवानामग्रयावेह यातु नराशंसो विश्वरूपेभिरश्वैः ।
ऋतस्य पथा नमसा मियेधो देवेभ्यो देवतमः सुषूदत् ॥ २ ॥

भा०—(देवानां) अन्यों को विद्या, धन आदि देने वाले, ज्ञान के प्रकाशक वा ज्ञानादि को प्राप्त करने वाले जिज्ञासु जनों के बीच (अग्र-यावा) आगे २, या अग्र, उत्तम पद, अग्रासन को प्राप्त, (नराशंसः)

मनुष्यों में सत्-ज्ञान का उपदेष्टा वा सब से प्रशंसित विद्वान्, (विश्व-रूपैः अश्वैः) सव को उत्तम लगने वाले विद्या के धुरन्धर पारंगत पुरुषों सहित (इह आ यातु) यहां आवे। वह (ऋतस्य पथा) ज्ञान-प्रकाश, सत्य न्याय वा यज्ञ के मार्ग से, और (नमसा) आदरपूर्वक प्रदाशत सत्कार से पूजित होकर (देवतमः) सब विद्वानों, शिष्यों में (मियेधः) सत्संग योग्य गुरु (देवेभ्यः) ज्ञानाभिलाषी जनों को (सु सूदत्) सुखपूर्वक ज्ञान रस प्राप्त करा। (२) इसी प्रकार देव, विजयेच्छुक वीर जनों के बीच अग्रणी नेता नाना रूप अश्व-बलों सहित राष्ट्र में आवे। वह (मियेधः) दुष्टों का हिंसक हो और (ऋतस्य पथा) सत्य, न्याय के मार्ग से (नमसा) विनय अर्थात् दण्ड-विधान के अनुसार (देवेभ्यः) साधारण प्रजाजनों के हितार्थ (सु-सूदत) दुष्टों को दण्ड देवे।

शश्वत्तममीळते दूत्याय हविष्मन्तो मनुष्यासो अग्निम्।
वहिष्ठैरश्वैः सुवृता रथेना देवान्वक्षि नि षदेह होता ॥ ३ ॥

भा०—(हविष्मन्तः मनुष्यासः) अन्न आदि अनेक साधनों से सम्पन्न जन (दूत्याय अग्निम्) दूत, कर्म अर्थात् संदेश पहुंचाने के कार्य के लिये (अग्निम्) तेजस्वी ज्ञानी पुरुष को (शश्वत्-तमम् ईडते) सदा से और बहुत २ चाहते और उसका आदर सत्कार करते हैं। वह (वहिष्ठैः अश्वैः) अच्छी प्रकार ढोने वाले अश्वों से और (सुवृता रथेन) उत्तम रीति से वा सुख से जाने योग्य रथ से जैसे कोई पूज्य जनों को प्राप्त करता है उसी प्रकार (वहिष्ठैः अश्वैः) ज्ञान धारण करने वाले धुरन्धरा और विद्या के पारंगत पुरुषों द्वारा और (सुवृता रथेन) उत्तम उत्तम वर्णन बतलाने वाले (रथेन) रमणीय उपदेश वचन से (देवान् आवहसि) शिष्यों के प्रति ज्ञान का उपदेश करे। वह (होता) ज्ञान-दाता (इह नि सद) तू यहां विराज, हम तुझ से ज्ञान प्राप्त करें।

वि प्रथतां देवजुष्टं तिरश्चा दीर्घं द्राघ्मा सुरभि भूत्वस्मे।
अहेळता मनसा देव बर्हिरिन्द्रज्येष्ठाँ उशतो यक्षि देवान् ॥ ४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (देव-जुष्टम्) मनुष्यों को अच्छा लगने वाला (बर्हिः) धान्य आदि अन्न (तिरश्चा) खूब दूर तक (वि प्रथताम्) विस्तृत हो, वह (दीर्घं) खूब बड़ा, लम्बा, दृढ़ हो, वह (द्राघ्मा) दीर्घता के साथ २ (अस्मे) हमारे लिये (सुरभिः) उत्तम गंधयुक्त, दृढ़, पुष्टिकारक (भूतु) हो। हे (देव) प्रभो ! हे विद्वन् ! तू (अहेडता मनसा) क्रोध और अनादर से रहित चित्त से (इन्द्र-ज्येष्ठान्) इन्द्र, प्रभु परमेश्वर को सर्वश्रेष्ठ मानने वाले (देवान्) शुभ गुणयुक्त, (उशतः) कामनावान् जनों को (यक्षि) अन्न प्रदान कर। इसी प्रकार 'बर्हिः' लोक, प्रजा आदि का वाचक भी है। वे विस्तृत हों, चिरस्थायी हों। इन्द्र गुरु और राजा हैं। उनको ज्येष्ठ मानने वाले देव तेजस्वी पुरुष और शिष्य गण हैं।

दिवो वा सानु स्पृशता वरीयः पृथिव्या वा मात्रया वि श्रयध्वम्।
उशतीर्द्वारो महिना महद्भिर्देवं रथं रथयुर्धारयध्वम् ॥ ५ ॥ २१ ॥

भा०—हे (द्वारः) स्वयं वरण करने वाली, (उशतीः) पतियों को चाहने वाली वा लौकिक सुख-सामग्री वा पुत्रादि की कामना करने वाली स्त्री जनो ! आप लोग (दिवः) सूर्य के समान कान्ति और तेज से युक्त, तुम्हें चाहने वाले पुरुष के (सानुं स्पृशत) उत्तम सेवनीय धन वा उत्तम भाव को प्राप्त करो। (पृथिव्या वा मात्रया) और पृथिवी की मात्रा से अर्थात् पृथिवी के समान उत्पादक मातृ शक्ति से युक्त होकर (वि श्रयध्वम्) विशेष रूप से पुरुष का आश्रय लो। (महिना) बड़े पूज्य पुरुष के साथ और (महद्भिः) अपने पूज्य सम्बन्धियों सहित (रथ-युः) रमण करने योग्य, सुखदाता पति को देव के तुल्य (धारयध्वम्) धारण करो,

उसको स्वीकार करो। (२) शत्रु को वारण करने वाली सेनाएं भी वारण करने से 'द्वारः' हैं। वे तेजस्वी, सूर्यवत् सेनापति के (सानु) दिये आज्ञा-वचन को सुनें। जितनी पृथिवी हो उस पर अधिकार करें। बड़े सामर्थ्य और बड़े वीर पुरुषों से स्वयं रथशाली होकर, रमण योग्य सर्वसुखद राजा वा राष्ट्र-रथ को धारण करें। इत्येकविंशो वर्गः ॥

देवी दिवो दुहितरा सुशिल्पे उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
आ वां देवास उशती उशन्त उरौ सीदन्तु सुभगे उपस्थे ॥ ६ ॥

भा०—(दिवः दुहितरा) तेजस्वी सूर्य के पुत्र और पुत्री के समान (उषासानक्ता) दिन और रात्रि जैसे (देवी) कान्तियुक्त होते हैं उसी प्रकार (देवी) शुभ गुणों से युक्त, एक दूसरे को चाहने वाले दोनों स्त्री पुरुष (दिवः दुहितरा) एक दूसरे की कामनाओं को पूर्ण करने वाले हों। वे दोनों (सुशिल्पे) उत्तम शिल्प, कला को जानने वाले होकर (योनौ नि सदताम्) गृह में सुख से विराजें। हे (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्य-युक्त स्त्री पुरुषो! (उशती वाम्) परस्पर को चाहने वाले आप दोनों को (उशन्तः देवासः) चाहते हुए विद्वान् जन (उरौ) इस विस्तृत (उपस्थे) स्थान, राष्ट्र वा गृह में (नि सीदन्तु) विराजें। (२) इसी प्रकार राजा प्रजा आदि के पक्ष में भी समझें।

ऊर्ध्वो ग्रावा बृहदग्निः समिद्धः प्रिया धामान्यदितेरुपस्थे।
पुरोहितावृत्विजा यज्ञे अस्मिन् विदुष्टरा द्रविणमा यजेथाम् ॥ ७ ॥

भा०—(ग्रावा) उत्तम उपदेश करने वाला विद्वान् और आज्ञापक वीर पुरुष मेघ के समान (ऊर्ध्वः) सर्वोपरि विराजे। वह (बृहत्) बड़ा (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानी होकर (सम्-इद्धः) खूब प्रदीप्त हो। (अदितेः उपस्थे) भूमि के ऊपर के स्थान में (धामानि)

अनेक धाम, उत्तम स्थान, (प्रिया) प्रिय, रुचिकर, सब जीवों का का पालक, धारक, पोषक हो। (पुरः-हितौ) सब के समक्ष स्थापित, कार्य में नियुक्त, (ऋत्विजा) ऋतु ऋतु में देने वाले, समय २ पर यज्ञ करने वाले विद्वान् स्त्री पुरुष जन (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (विदुः-तरा) एक दूसरे से अधिक ज्ञान बल और धन को जानने और प्राप्त करने वाले होकर (द्रविणं आ यजेथाम्) ज्ञान, धन, बल, वीर्य आदि दिया करें।

तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं वरीय आ सीदत चकृमा वः स्योनम्।
मनुष्वद्यज्ञं सुधिता हवींषीळा देवी घृतपदी जुषन्त ॥ ८॥

भा०—हे (तिस्रः देवीः) तीनों देवियो! तीनों प्रकार की स्त्रियां (इदं वरीयः) इस सर्वश्रेष्ठ बड़े, पूज्य (बर्हिः) आसन वा वृद्धियुक्त आश्रय पर (आ सीदत) विराजो। (वः) आप लोगों के लिये हम इसको (स्योनं) सुखकारी (चकृम) करते हैं। आप तीनों (इडा) इला, (देवी) ज्ञानयुक्त, तेजोयुक्त सरस्वती, और (घृत-पदी) दीप्त, तेजोयुक्त पद वाली भारती, तीनों (मनुष्वत् यज्ञं) मनुष्यों से युक्त यज्ञ और (सुधिता हवींषि) आदरपूर्वक रक्खे हवियों, अन्नादि सुख साधनों को (जुषन्त) सेवन करें। इला—अन्न, पृथिवी आदि के गुण वाली वा वाणी के समान ग्राह्य। सरस्वती—'सरः' उत्तम प्रशस्त ज्ञान से युक्त विदुषी। भारती—भरत अर्थात् मनुष्यों को ज्ञानोपदेश करने वाली अर्थात् कुमारी, गृहस्थ माताएं और वृद्ध उपदेशिकाएं ये तीनों तीन देवियां हैं।

देव त्वष्टर्यद्ध चारुत्वमानड्यदङ्गिरसामभवः सचाभूः।
स देवानां पाथ उप प्र विद्वानुशन्यक्षि द्रविणोदः सुरत्नः ॥९॥

भा०—हे (त्वष्टः) तेजस्विन् ! (यत्) जो (चारुत्वम्) उत्तमता को (आनड्) प्राप्त होता है, और (यत्) जो तू (अंगिरसाम्) विद्वानों के बीच (सचा-भूः अभवः) उनका सहयोगी होता है, हे (द्रविणोदः) धन ज्ञानादि के देनेहारे ! (सः) वह तू (सु-रत्नः) उत्तम रत्नादि पदार्थों का स्वामी होकर भी (उशन्) इच्छावान् और (विद्वान्) ज्ञानवान् होकर (देवानां) विद्वान् ज्ञानदाता और विद्या धनादि के इच्छुकों की (पाथः) पालन, रक्षा, अन्न, जल आदि पदार्थ, (प्र यक्षि उप यक्षि) प्रदान कर और उपस्थित कर। अध्यात्म में आत्मा अंगिरसों, प्राणों के बीच एक है, वह त्वष्टा है, जो उनको बनाता है। वह उनको रस और रक्षा देता है।

वनस्पते रशनया नियूया देवानां पाथ उप वक्षि विद्वान्।
स्वदाति देवः कृणवद्धवींष्यवतां द्यावापृथिवी हवं मे ॥ १० ॥

भा०—हे (वनस्पते) वनों, तेजों और भोग्य पदार्थों और ऐश्वर्यों के पालक ! वनस्पतिवत् सब को अपनी छाया में लेने हारे ! तू (रशनया) रशना, व्यापक वशकारिणी शक्ति से (नि-यूय) राष्ट्र को बांध कर (देवानां) विद्वानों प्रजाजनों के (पाथः) पालक बल वा अन्नादि को (उप वक्षि) प्राप्त कराता है। वह (देवः हवींषि स्वदाति) दानशील पुरुष नाना अन्न खाने को देवे और (हवींषि कृणवत्) अन्नों को उत्पन्न करे। (द्यावापृथिवी) आकाश भूमिवत् राजा प्रजाजन (मे हवं अवताम्) मेरे यज्ञ की रक्षा करें।

आग्ने वह वरुणमिष्टये न इन्द्रं दिवो मरुतो अन्तरिक्षात्।
सीदन्तु बर्हिर्विश्व आ यजत्राः स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्
॥ ११ ॥ २२ ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन् ! अग्निवत् प्रकाशक ! तू (वरुणम्)

सर्वश्रेष्ठ जन को, वरणीय प्रभु को (इष्टये) इष्ट सिद्धि और पूजादि के लिये (नः आ वह) हमें प्राप्त करा। (दिवः) आकाश से (नः) हमें (इन्द्रम्) सूर्य, विद्युत् को प्राप्त करा, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (मरुतः) मरुतों, नाना वायुओं को प्राप्त करा। (विश्वे) सब (यजत्राः) परस्पर संगत होकर (बर्हिः) आसन पर विद्वानों के तुल्य इस लोक में विराजें। (अमृताः) समस्त जीवगण (स्वाहा) वाणी, उत्तम अन्नाहुति से (मादयन्ताम्) तृप्त हों। इति द्वाविंशो वर्गः ॥

[७१]

बृहस्पतिः ॥ देवता—ज्ञानम् ॥ छन्दः—१ त्रिष्टुप्। २ भुरिक् त्रिष्टुप्। ३, ७ निचृत् त्रिष्टुप्। ४ पादनिचृत् त्रिष्टुप्। ५, ६, ८, १० ११ विराट् त्रिष्टुप्। ९ विराड् जगती ॥ एकादशर्चं सूक्तम् ॥

बृह॑स्पते प्रथ॒मं वा॒चो अग्रं॒ यत्प्रैर॑त नाम॒धेयं॒ दधा॑नाः।
यदे॑षां॒ श्रेष्ठं॒ यद॑रि॒प्रमासी॑त्प्रे॒णा तदे॑षां॒ निहि॑तं॒ गुहा॒विः ॥ १ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) वेदवाणी वा वाणी के पालक स्वामिन्! (नामधेयं दधानाः) केवल नाम को धारण करते हुए (यत्) जो (वाचः) वाणी का (अग्रम्) सब से पूर्व विद्यमान् स्वरूप (प्र ऐरत) बोलते हैं (एषाम्) इनका (यत्) जो (श्रेष्ठम्) अति उत्तम और (यत्) जो (अरिप्रम्) निष्पाप वचन होता है, (प्रेणा) प्रेम के कारण (एषां) इनके (गुहा निहितम्) बुद्धि में स्थित हुआ करता है (तत्) वही (आविः) प्रकट होता है। अर्थात् बालकों का निष्पाप और निर्लेप प्रारम्भिक वचन प्रेम के कारण जो वाणी के सब से प्रथम रूप में प्रकट होता है, वह उनके हृदय या बुद्धि में पूर्व ही विद्यमान होता है, उसे वे प्रेम से प्रेरित होकर प्रकट करते हैं। इसी प्रकार जब भी

सृष्टि प्रारम्भ होती है उसके भी पूर्व के आदि सर्ग के मानवगण जब प्रथम २ वाणी का प्रयोग करते हैं तो वह उनकी बुद्धि में विद्यमान होती है, उसको वह प्रेम से वा परहित से प्रेरित होकर एक दूसरे के प्रति कहते हैं। उसमें किसी प्रकार का मल, पाप नहीं होकर वह सर्वश्रेष्ठ वाणी होती है। इसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में अति निर्मल चित्तों में वेद स्थिर होकर प्रकट हुए, वे भी सर्व-श्रेष्ठ और निर्मल थे।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥२॥

भा०—(तितउना सक्तुम् इव) सत्तू को छालनी से जिस प्रकार छान कर स्वच्छ कर लेते हैं उसी प्रकार (यत्र) जिस समय (धीराः) बुद्धिमान् ध्यानवान् पुरुष (मनसा) संकल्प विकल्प, ऊहापोह करने वाले चित्त वा ज्ञान से (वाचम्) वाणी को (पुनन्तः) पवित्र करते हुए (अक्रत) उसका प्रयोग करते हैं (अत्र) तब उसी वाणी में (सखायः) परस्पर प्रेम भाव से युक्त मित्र वा ज्ञानी जन (सख्यानि) मित्रता वा भावों को (जानते) जानते हैं। (एषाम् अधि वाचि) उनकी वाणी में (भद्रा) सुखदायक, कल्याणकारक, रमणीय, प्राप्य, इष्ट लाभ के लिये (लक्ष्मीः) भावों को बतलाने वाली अर्थग्राहक शक्ति (नि-हिता) विद्यमान होती है। इसलिये सब से प्रथम भी जब ज्ञानपूर्वक ध्यानवान्, विचारवान् ऋषियों ने इष्टप्राप्ति और अनिष्ट-परिहार को बतलाने वाले वेद का ज्ञानपूर्वक दर्शन कर अन्यों को उपदेश किया, उस समय में भी उनकी वेदवाणी में अर्थबोधक शक्ति रही, जिससे सुनने वालों ने उत्तम २ अभिप्राय समझे। अर्थात् वाणी में जो बोधक गुण होता है उसका प्रधान कारण उसका ज्ञानयुक्त चित्त से विवेकपूर्वक प्रयोग किया जाना है, अन्यथा विना विचारे कही बात का कोई अभिप्राय विदित नहीं होता, वह प्रमत्तवाद के तुल्य निरर्थक होता है।

य॒ज्ञेन॑ वा॒चः प॑द॒वीय॑माय॒न्तामन्व॑विन्द॒न्नृषि॑षु॒ प्रवि॑ष्टाम् ।
तामा॒भृत्या॒ व्य॑दधुः पुरु॒त्रा तां स॒प्त रे॒भा अ॒भि सं न॑वन्ते ॥३॥

भा०—वे ध्यानवान्, बुद्धिमान्, विचारशील पुरुष (वाचः पदवीयम्) वाणी के एक २ पद से प्राप्त करने योग्य अभिप्राय को भी (यज्ञेन) परस्पर की संगति से ही (आयन्) प्राप्त करते हैं । वे (ऋषिषु) तत्व ज्ञान को साक्षात् करने वाले अध्यात्मदर्शी जनों में (प्रविष्टाम्) प्रविष्ट हुई (ताम्) उस वाणी को (अनु अविन्दन्) उपदेश के अनन्तर ही प्राप्त करते हैं । (ताम् आभृत्य) उसको प्राप्त करके ही वे (पुरुत्रा) बहुत से स्थलों में (वि अदधुः) विविध प्रकार से उपदेश करते हैं । (ताम्) उसको ही (सप्त) सातों (रेभाः) छन्द (अभि सं नवन्ते) साक्षात् उपदेश करते हैं । अर्थात् मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की वाणी जो सात छन्दों में प्रकट है उसको भी लोगों ने उपदेश के द्वारा प्राप्त किया । प्रथम उन्होंने उसका साक्षात् किया और पश्चात् अन्यों के प्रति प्रकाश किया । उस वाणी के पद-पदार्थ का बोध ंगति द्वारा ही किया । संगति को विद्वान् लोग ही समझते हैं, अविद्वान् नहीं । क्योंकि—

उ॒त त्वः॒ पश्य॒न्न द॑दर्श॒ वाच॑मु॒त त्वः॑ शृ॒ण्वन्न शृ॑णोत्येनाम् ।
उ॒तो त्व॑स्मै त॒न्वं१ वि स॑स्रे जा॒येव॒ पत्य॑ उश॒ती सु॒वासाः॑ ॥ ४ ॥

भा०—(उत त्वः) एक तो (वाचं पश्यन् न ददर्श) वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता । (उत त्वः) और दूसरा (एनाम्) उस वाणी को (शृण्वन् न शृणोति) सुनता हुआ भी श्रवण नहीं करता । और वह वाणी (उतो त्वस्मै) एक के आगे (तन्वं) अपने विस्तृत ज्ञानमय रूप को इस प्रकार (वि सस्रे) विशेष शोभित रूप वा विविध प्रकार से प्रकट करती है, जिस प्रकार (पत्ये सुवासाः उशती जाया इव) पति के हर्ष के लिये सुन्दर वस्त्र पहने कामना

वाली पत्नी अपना सुन्दर मोहक श्रृंगारित रूप प्रकट करती है। जिस प्रकार ऋतुस्नाता नारी सुन्दर वस्त्रादि पहन कर उत्तम आभूषण आदि से सजकर विविध भावों को प्रकट करती हुई अपने अनेक भाव प्रकट करती है उसी प्रकार विद्वान् के प्रति वाणी अपना विस्तृत ज्ञानमय शरीर प्रकट करती है।

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥५॥२३॥

भा०—(उत त्वं) और एक विद्वान् पुरुष को (सख्ये) मित्रों की गोष्ठी के तुल्य विद्वानों की सत्कथा के कार्य के अवसर में (एनं स्थिर-पीतम् आहुः) उसको 'स्थिर-पीत' अर्थात् पिये हुए वा ग्रहण किये ज्ञान को अपने भीतर स्थिरता से धारण करनेवाला बतलाते हैं और (वाजिनेषु) वाणी के स्वामिवत् विद्वानों वा ज्ञानयुक्त विषयों में (अपि) भी (एनं न हिन्वन्ति) इसको नहीं पहुंचते, उसके पद को प्राप्त नहीं करते, वही सब में अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, और जो (वाचं) वाणी को (अफ-लाम् अपुष्पां) फल और फूल से रहित अर्थात् अर्थ और तात्पर्य के विना जाने(शुश्रुवान्) श्रवण करता है (एषः) वह (अधेन्वा) कभी दूध न देने वाली बन्ध्या गौ के तुल्य (मायया) वाणी के सहित, छलकपट पूर्वक असत्य वाणी सहित (चरति) विचरता है।

वाजिनाः—वाचः इनाः स्वामिनः। सा० ॥ अर्थं वाचः पुष्पफल-माह यज्ञदैवते पुष्पफले। देवताऽध्यात्मे वा। (नि० १।२०) इति त्रयोविंशो वर्गः ॥

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो (सचिविदं) परस्पर प्रेम को जानने वा जनाने

वाले वा सखि अर्थात् उपकारी मित्र को प्राप्त करने वा जनाने वाले (सखायम्) मित्र के तुल्य उपकारक सखा, वेद के मित्र, अध्येता शिष्य को प्राप्त करने वाले अध्येताओं के उपकारक परम मित्र वेद वा वेदज्ञ पुरुष को (तित्याज) त्यागता है (तस्य) उसका (वाचि अपि) वाणी में भी (भागः न अस्ति) भाग नहीं है। (ईम् यत् शृणोति) वह जो भी सुनता है (अलकं शृणोति) व्यर्थ, अल्प-प्रयोजन, मन्द ही सुनता है, वह उपदेश द्वारा कुछ भी श्रवण नहीं करता। वह (सु-कृतस्य) उत्तम सत्कर्म, पुण्य-धर्म के (पन्थाम् न प्र-वेद) मार्ग को भली प्रकार से नहीं जानता।

'सचिविदं'—सचिशब्दः सखिवाची अध्येता, स वेदस्य सखा, संप्रदायोच्छेदनिवारकत्वेन वेदं प्रत्युपकारित्वात्। तादृशमुपकारिणमध्येतारं वेत्तीति सचिवित्, तमभिज्ञं सखायमध्येतॄणां पुरुषाणां स्वार्थबोधनेनोपकारित्वात्। सखिभूतं वेदं यः पुमान् तिज्याज इति सायणः।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'यस्तित्याज सखिविदं सखायं' ऐसा पाठ है। अर्थात् सचि का अर्थ 'सखि' है। वहां सायण इसका अभिप्राय ऐसा कहते हैं।

अध्येतारं सखायं वेत्तीति सचिवित् स्वाध्यायः स्वयं तस्य पुरुषस्य सखा अत्यन्तस्नेहेन कदाचिदप्यनपायात्। नहि निरन्तराध्यायिनं स्वाध्यायः कदाचिदपि परित्यजति, किंतु दिने दिनेऽतिशयेन तस्याधीनो भवति।

जो अध्ययन करने वाला है वह वेद का मित्र है क्योंकि वह सम्प्रदाय अर्थात् वेद के स्वाध्याय को उच्छिन्न नहीं होने देकर वेद का उपकार करता है। वेद उस उपकारक अध्येता को सदा पाये रहता है, उसका कभी त्याग नहीं करता, परन्तु उसके और भी अधीन हो जाता है इससे वेद 'सचिविद् सखा' है।

अ॒क्षण्व॑न्तः॒ कर्ण॑वन्तः॒ सखा॑यो मनोज॒वेष्वस॑मा बभूवुः।
आ॒द॒घ्नास॑ उपक॒क्षास॑ उ त्वे ह्र॒दा इ॑व॒ स्नात्वा॑ उ त्वे ददृश्रे ॥७॥

भा०—(अक्षण्वन्तः) आंखों वाले, और (कर्णवन्तः) कान वाले (सखायः) समान नाम वाले, समानसं ज्ञान-उपदेश ग्रहण करने वाले, एक जैसे मित्र भी (मनः-जवेषु) मन, चित्त के वेगों, मन द्वारा जानने या अनुभव करने योग्य ज्ञानों में (असमाः बभूवुः) एक समान नहीं होते। जिस प्रकार (ह्रदाः) भूमि पर अनेक जलाशय (आदघ्नासः) बहुत ही थोड़े परिमाण या गहराई के होते हैं। (त्वे उ) और कई जलाशय (उप-कक्षासः) कांख तक गहरे जल के होते हैं और (स्नात्वाः उ त्वे) और कुछ स्नान करने, डूबने लायक गहरे जल के भी होते हैं इसी प्रकार मनुष्यों में भी ज्ञान की दृष्टि से तारतम्य होता है।

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥ ८ ॥

भा०—(यत्) जब (ब्राह्मणाः) ब्रह्म अर्थात् वेद के विद्वान् जन (हृदा तष्टेषु) हृदय से अच्छी प्रकार तर्क-वितर्क द्वारा विनिश्चित, (मनसः जवेषु) ज्ञान के वेगों या ज्ञातव्य पदार्थों में (सखायः) समान कोटि के ज्ञान, गुरु-उपदेश और समान-दर्शन शक्ति से युक्त होकर (सं-यजन्ते) एकत्र संगत होते और परस्पर ज्ञान-विचारों का दान-प्रतिदान करते हैं (अत्र ह) इस अवसर में भी (त्वं) किसी को तो (वि जहुः) विशेष रूप से अज्ञ सा जानकर छोड़ देते हैं। और (ओह-ब्रह्माणः उ त्वे) और कुछ एक विद्वान् वेद के मन्त्रों पर अनेक ऊहा, तर्कवितर्क करते हुए (वेद्याभिः) अनेक जानने योग्य विद्याओं द्वारा (वि चरन्ति) विचार करते हैं और निश्चित अर्थ को प्राप्त करते हैं।

इमे ये नार्वाङ्न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः॥९॥

भा०—(इमे) ये (ये) जो (न अर्वाक्) यहां, इस लोक में वा

समीप आत्मा का ज्ञान सम्पादन नहीं करते और (न परः) न दूर उत्तम गुरु आदि का सत्संग कर परम प्रभु का ज्ञान प्राप्त करते हैं और जो (न ब्राह्मणासः) न ब्रह्म, वेद के जाननेहारे हैं (नः सुते-करासः) और न यज्ञ में कार्य करने में कुशल होते हैं (ते एते) वे ये (पापया वाचम् अभिपद्य) पापकारिणी, वा मलिन वाणी को प्राप्त होकर वा पाप-बुद्धि से वेदवाणी को विपरीत जानकर (अप्र-ज्ञयः) अज्ञानी रह कर (सिरीः) केवल नाड़ियों में ही रहकर, वा जलादि स्थूल पदार्थों में ही फंस कर (तन्त्रम् तन्वते) अनेक प्रपञ्च करते हैं, अथवा वे (सिरीः) हल आदि स्थूल साधन लेकर ही (तन्त्रं तन्वते) अपना लोक व्यवहार कृषि, कुटुम्ब भरण आदि करते हैं। अथवा (ते वाचम् अभिपद्य) वे वाणी को प्राप्त करके भी (अप्र-जज्ञयः) अज्ञानी रहकर (पापया) पाप-वृत्ति से प्रेरित होकर (सिरीः) सीर, हंसिया लेकर उपयोग कर (तन्त्रं तन्वते) प्रपञ्च करते हैं। राष्ट्र-शासन, वा हत्यामय यज्ञ आदि करते हैं।

सर्वे॑ नन्दन्ति य॒शसाग॑तेन सभासा॒हेन॒ सख्या॒ सखा॑यः।
कि॒ल्बि॒ष॒स्पृत्पि॑तु॒षणि॒र्ह्ये॑षा॒मरं॑ हि॒तो भव॑ति वा॒जिना॑य ॥ १० ॥

भा०—(सर्वे) समस्त (सखायः) समान ज्ञान वाले, समान आख्यान, नाम, उपदेश वाले, समान कोटि के मित्र जन, (यशसा) यशस्वी, (सभा-साहेन) सम्पूर्ण सभा को अपने तेजः प्रभाव से वश करने में समर्थ (सख्या) मित्र, ज्ञानी पुरुष से (नन्दन्ति) प्रसन्न होते हैं। वह (एषाम्) इनके बीच में (पितु-सनिः) अन्नदाता के समान पान योग्य ज्ञान रस का प्रदान करने वाला और (किल्विष-स्पृत्) पापाचरण, अज्ञान आदि का नाश करने वाला होकर (वाजिनाय) वाणी के

स्वामी-पद के लिये (अरं हितः भवति) बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है। वही प्रधान सभापति वा उपदेष्टा पद पर स्थापित होता है।

वाचः इनः वाजिनः वाक्पतिः।

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥ ११॥२४॥२॥

भा०—(त्वः) एक विद्वान् (ऋचां) वेद मन्त्रों का (पोषम् पुपुष्वान् आस्ते) परिवर्धित प्रयोग करता हुआ विराजता है। और दूसरा (शक्वरीषु) शक्करी नाम ऋचाओं में (गायत्रं गायति) गायत्र साम का गान करता है। (त्वः) कोई एक (ब्रह्मा) वेदज्ञ विद्वान् (जातविद्याम्) प्रत्येक कार्य में उत्पन्न विद्या का (वदति) उपदेश करता है। (उ त्वः) और कोई विद्वान् (यज्ञस्य) यज्ञकर्म और उपास्य, पूज्य परमेश्वर की (मात्राम्) मात्रा, अनुष्ठान करने योग्य कर्मादि और मात्रा अर्थात् ज्ञान, रचनादि शक्ति का (वि मिमीते) विशेष प्रकार से उपदेश करता है।

इस मन्त्र में—सामान्यतः होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु इन चार के कर्त्तव्य भी बतला दिये हैं और साथ ही वेद मन्त्रों के ४ प्रकार के अनुशीलन, अभ्यासों का भी निर्देष किया है जैसे–१—ऋचाओं में कहे अर्थों का पोषण, अङ्ग विद्याओं से उनका विस्तार से कथन, प्रवचन, विचारण आदि, (२) ऋचाओं का स्वर, लय, ताल आदि द्वारा गायन करना, (३) प्रत्येक पृथक् २ कार्य में वेद के मन्त्रों में कही विद्याओं का प्रकाश करना, (४) यज्ञ, कर्म का सम्पादन वा वेद में कहे सर्वोपास्य परमेश्वर विषयक ज्ञान का विवेचन। इति चतुर्विंशो वर्गः॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

तृतीयोऽध्यायः

[७२]

बृहस्पतिरांगिरसो बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी ऋषिः ॥ देवा देवता ॥ छन्दः—१,४, ६ अनुष्टुप्। २ पादनिचृदनुष्टुप्। ३, ५, ७ निचृदनुष्टुप्। ८, ६ विराडनुष्टुप् ॥ नवर्चं सूक्तम् ॥

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥ १ ॥

भा०—(वयं) हम विद्वान् लोग (वि-पन्यया) विशेष रूप से गुणों का वर्णन करने वाली वाणी द्वारा (देवानाम् जाना) देवों, विद्वानों और दिव्य सूर्यादि प्रकाशमान पदार्थों के जन्मों का (प्र वोचाम) अच्छी प्रकार वर्णन करते हैं। (यः) जो विद्वान् जन (उक्थेषु) वेद के उत्तम ज्ञान बतलाने वाले मन्त्रों के (शस्यमानेषु) उपदेश कर देने पर (उत्तरे युगे) उत्तर युग, आने वाले काल या सबसे उत्कृष्ट सर्वयोगी, सर्वप्रेरक, सर्वसहायक परमेश्वर के सम्बन्ध में (पश्यात्) साक्षात् दर्शन कर लेता है। अर्थात् वेदमन्त्रों के उपदेश करने पर पूर्वकाल में भी और आगे भविष्यकाल में भी देव, ज्ञानदर्शी, तत्त्वज्ञानी, जन उत्पन्न होते रहे और उत्पन्न होते हैं, और उत्पन्न होंगे वे उपदेश के अनन्तर उत्तम प्रभु का भी दर्शन करते हैं, भूत भविष्य के ज्ञान को साक्षात् करते हैं।

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥ २ ॥

भा०—(कर्मारः इव) लोहार जिस प्रकार भट्टी में लोहा को डाल कर (अधमत्) खूब तपाता और धौंकता है उसी प्रकार (ब्रह्मणः पतिः) वेद

का पालक, वेद रूप धनैश्वर्य का स्वामी आचार्य गुरु (एता) इन देवों, विद्या के ज्ञानाभिलाषियों को (सम अधमत्) ब्रह्मचर्य और तपस्या के जीवन में उनको शब्द अर्थात् वेदोपदेश करे, उनको तप करावे (देवानां पूर्व्ये युगे) समस्त विद्या की कामना करने वाले एवं क्रीड़ाप्रिय आनन्द-विनोदप्रिय बालकों के पूर्व युग अर्थात् प्रारम्भिक शैशवकाल में (असतः) असत् ज्ञान के स्थान पर (सत्) सत् ज्ञान (अजायत) उत्पन्न हो। इसी से जो ज्ञान वा बल नहीं भी होता है वह भी उनको बाद में प्राप्त हो जाता है। (२) सूर्यादि लोकों के पक्ष में—(ब्रह्मणः पतिः) महान् ब्रह्माण्ड वा प्रकृति ब्रह्म, वा महत् जगत्-कारण का पालक, स्वामी परमात्मा (एता) इन समस्त लोकों को (कर्मारः इव सम् अधमत्) लोहार के समान मानो सब को अग्नि में डालता और तपाता है सबके प्रथम हिरण्यगर्भ रूप अग्निमय तेजस रूप से सब को तप्त करता है। वहीं से अनेक सूर्य तप्तरूप में बाहर होते हैं। (पूर्व्ये युगे) पहले युग और प्रेरणा से जगत् के सञ्चालित होने के अवसर में (देवानाम्) देवों या लोकों का (असतः) असत् अव्यक्त कारण से (सत्) व्यक्त रूप (अजायत) उत्पन्न हुआ। श्वेताश्वतर में 'त्रिविधं ब्रह्मेतत्' ऐसा कहा है इससे प्रकृति तत्त्व भी ब्रह्मवत् व्यापक होने से 'ब्रह्म' है। उसका पालक परमेश्वर 'ब्रह्मणस्पति' है। इस जगत् का मूल वा उपादान कारण प्रकृति है और लोहे के पदार्थों को तपा गला कर बनाने वाले लोहार, विश्वकर्मा के समान प्रभु परमेश्वर ही जगत् का निमित्त कारण है।

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥ ३॥

भा०—(देवानां) देवों, क्रीड़ाशील एवं विद्याभिलाषियों के (प्रथमे युगे) प्रथम काल, प्रारम्भिक ज्ञानोपदेश का योग होने

के काल में (असतः) ज्ञान की अविद्यमान दशा से (सत्) विद्यमान उत्तम ज्ञान उत्पन्न होता है तब (आशाः अनु अजायन्त) उनके सम्बन्ध में अनेक आशाएं, कामनाएं वा उनके चित्त में महत्वाकांक्षाएं उठने लगती हैं, (तत् उत्तान-पदः परि) वह सब उन्नत ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद ही होती हैं। (२) (देवानां प्रथमे युगे) सूर्यादि के प्रथम निर्माण वा प्रेरणकाल में अव्यक्त प्रकृति से 'सत्', व्यक्त जगत् उत्पन्न हुआ। पश्चात् (आशाः) व्यापक दिशाएं भी (अनु अजायन्त) उसके पश्चात् प्रकट हुईं। (ततः परि) उसके पश्चात् (उत्तान पदः) ऊपर की ओर फैलने वाले चरण या किरणों वाले सूर्यादि प्रकाशमान पदार्थ उत्पन्न हुए।

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥ ४॥

भा०—(भूः उत्तानपदः जज्ञे) पृथिवी जिस प्रकार ऊपर आकाश में फैलने वाले वृक्ष लतादि को वा अपने ऊपर चरणों से चलने वाले अनेक जीवों को उत्पन्न करती है उसी प्रकार (भूः) समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाली प्रकृति से ही (उत्तान-पदः) ऊर्ध्व आकाश में गति करने वाले सूर्य चन्द्रादि प्रकट हुए। (भुवः आशाः) जिस प्रकार सर्वोत्पादक पृथिवी से नाना वृक्ष लतादि के खाने वाले जलचर प्राणी उत्पन्न हुए उसी प्रकार (भुवः) सब को उत्पन्न करने वाली मूल प्रकृति से ही (आशाः) व्यापने वाले तेज, अग्नि, आकाश, वायु, जल आदि व्यापन गुण वाले तत्त्व उत्पन्न हुए। (आदितेः दक्षः) जिस प्रकार माता से पुत्र वा सूर्य से दाहक ताप उत्पन्न होता है उसी प्रकार (अदितेः) उस अखण्ड प्रकृति से ही (दक्षः) दग्ध करने वाला अग्नि और बल उत्पादक वायु भी (अजायत) उत्पन्न हुआ। (दक्षात् परि अदितिः) जिस प्रकार पिता से पुत्र उत्पन्न होता है उसी प्रकार (दक्षात्) दग्ध करने वाले सूर्य रूप अग्निमय पिण्ड से

(अदितिः) खण्ड न होने वाली दृढ़ यह पृथिवी अथवा इस पृथ्वी पर का यह स्थूल अग्नि उत्पन्न हुआ ।

अदितेर्दक्षोऽजायत दक्षाद्वदितिः परि इति च तत्कथमुपपद्येत । समानजन्मानौ स्यातामिति । अपि वा देवधर्मेणेतरेतरजन्मानौ स्यातामितरेतर प्रकृती । अग्निरप्यदितिरुच्यते । (निरु० ११ । २३)

अदि॑ति॒र्ह्यज॑निष्ट॒ दक्ष॒ या दु॑हि॒ता तव॑ ।
तां दे॒वा अन्व॑जायन्त भ॒द्रा अ॒मृत॑बन्धवः ॥ ५ ॥ १ ॥

भा०—हे (दक्ष) दग्ध करने वाले सूर्य ! (या तव दुहिता) जो तेरी पुत्री के समान है वह (अदितिः हि अजनिष्ट) दृढ़ पृथिवी वा अग्नि रूप से उत्पन्न हुई । उसी प्रकार हे (दक्ष) तेजस्विन् ! वा हे उत्साह, बल, वीर्यशालिन् गुरो ! (अदितिः) कभी खण्डित न होने वाली वाणी, विद्या (या तव दुहिता) जो तेरी समस्त रसों, ज्ञानों, आनन्द सुखों, इच्छाओं को पूर्ण करती है, (ताम् अनु) उसके पश्चात् (भद्राः) कल्याणकारी (अमृत-बन्धवः) अमृत, ज्ञान से बन्धु सदृश होने वाले (देवाः अजायन्त) विद्वान् उत्पन्न होते हैं। (२) इसी प्रकार पूर्वोक्त पृथिवी सूर्य की पुत्री के समान है, (ताम् अनु) उसके पश्चात् (भद्राः) सुख-ऐश्वर्य में रमण करने वाले, (अमृत-बन्धवः) अमृत अविनाशी जीवन से बंधे हुए, (देवाः) अनेक जीवगण (अजायन्त) उत्पन्न हुए । पृथिवी से जीवों के तुल्य ही 'दक्षः' बल-स्वरूप प्रभु की सर्वकर्त्री, अदिति अखण्ड प्रकृति से भी देव सूर्यादि उत्पन्न हुए । इति प्रथमो वर्गः ॥

यद्दे॑वा अ॒दः स॑लि॒ले सु॑सं॑रब्धा॒ अति॑ष्ठत ।
अत्रा॑ वो॒ नृत्य॑तामिव ती॒व्रो रे॒णुरपा॑यत ॥ ६ ॥

भा०—(यत्) जो (देवाः) प्रकाशमय सूर्य आदि आकाशीय पिण्ड (अदः) इस दूर तक फैले (सलिले) प्रधान कारण तत्त्व वा महान् आकाश में

(सु-सं-रब्धाः) उत्तम रीति से बने और गतिशील होकर (अतिष्ठत) विद्यमान हैं। हे जीवो ! (अत्र) इन लोकों में ही (नृत्यतां इव वः) नाचते हुए, आनन्द विनोद करते हुए आपलोगों का (तीव्रः रेणुः) अति वेगयुक्त अंश, आत्मा स्वतः रेणुवत् अणु-परिमाण वा गतिशील है वह (अप आयत) शरीर से पृथक् होकर लोकान्तर में आता जाता है। (२) इसी प्रकार हे (देवाः) विद्वान् लोगो ! (यत् अदः सलिले) आप लोग उस जल के समान अति शान्तिदायक गुरु के अधीन (सु-संरब्धाः) उत्तम रीति से व्यवस्थित होकर रहते हो, (नृत्यताम् इव रेणुः) खेलते नाचते लोगों की जिस प्रकार धूली उठती है उसी प्रकार (वः) आप लोगों में से (रेणुः तीव्रः) धूलिवत् तीव्र रजोभाव (अप आयत) दूर हो जावे, आप लोग शान्त गम्भीर होकर जितेन्द्रिय हो जाओ।

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन ॥ ७ ॥

भा०—(य) जिस प्रकार (यतयः) मेघ, (देवाः) जल देने वाले होकर (भुवनानि) समस्त लोकों को (अपिन्वत) सेंचते हैं उसी प्रकार (यतयः) यत्नवान्, विशेष यत्न, गति, बल देने वाले, स्वयं बली (देवाः) तेजोमय सूर्यादि लोक भी (भुवनानि अपिन्वत) उत्पन्न हुए जीवों को, वा जीवों के उत्पन्न होने के योग्य भूमि आदि लोकों को (अपिन्वत) जीवन तत्त्व और जीवनोपयोगी प्रकाश, जल, वायु आदि पदार्थों से पूर्ण करते हैं। जिस प्रकार (देवाः) सूर्य के द्योतक किरण गूढ़ प्रकाश से ढके सूर्य को धारण करते हैं उसी प्रकार ये समस्त लोक (अत्र) इस (समुद्रे) महान् आकाश में (आगूढम्) आवृत (सूर्यम्) सूर्य को (आ अजभर्त्तन) धारण करते हैं। (२) (यतयः देवाः) यत्नवान्, जितेन्द्रिय विद्वान् पुरुष, (भुवनानि अपिन्वत) मेघों और किरणों के

तुल्य ही समस्त लोकों पर ज्ञान और शान्तिदायक पदार्थों की वृष्टि कर उनकी वृद्धि करें। महान् समुद्रवत् विशाल जन-समुदाय के बीच स्थिर सूर्यवत् तेजस्वी पुरुष को अन्य जन (अजभर्त्तन) राजा बना कर धारण करें।

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व१स्परि।
देवाँ उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत् ॥ ८ ॥

भा०—(अदितेः तन्वः परि जाताः पुत्रासः अष्टौ) माता के शरीर से जिस प्रकार आठ पुत्र उत्पन्न हों उसी प्रकार व्यापक अखण्ड प्रकृति से भी (अष्टौ पुत्राः) आठ पुत्र आठ तत्त्व जो बहुत से लोकों की रक्षा करते हैं उत्पन्न हुए, वह प्रकृति महत्, अहंकार, पञ्च तन्मात्रा अर्थात् सूक्ष्म भूत इन्द्रिय गण (सप्तभिः देवान् उप प्र ऐत्) देवों, समस्त तेजोमय सातों लोकों सहित प्राप्त हुई। और इन्द्रियगण वा देह रूप जो उस प्रकृति का विकार था उसे (मार्ताण्डम्) मृत्—स्थूल प्रकृति के बने अण्ड अर्थात् प्राणधारक पिंड को (परा आस्यत्) दूर २ तक समस्त लोकों में उत्पन्न किया। (२) इसी प्रकार अदिति के आठ पुत्र मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग, विवस्वान् और आदित्य हैं। इनमें आठवां आदित्य मार्त्तण्ड सूर्य है उसको (परा आस्यत्) दूर ऊपर फेंका, जो उदित होता है।

(३) शरीर रूप अदिति के आठ पुत्र आठ प्राण रूप से उत्पन्न होते हैं, सात तो शिर के सात छिद्र इन्द्रियों को प्राप्त हुए, आठवां अयास्य प्राण, इस मृत्-अण्ड, स्थूल पिंड को संचालित करता है।

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत्पूर्व्यं युगम्।
प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥ ९ ॥ २ ॥

भा०—(सप्तभिः पुत्रैः) सातों पुत्रों के साथ (अदिति) वह अविनाशिनी शक्ति (पूर्व्यं युगम्) पूर्वकाल में (उप प्र ऐत्) आती है और

जाती है। और वह जीव (प्रजायै) प्रजा सन्तान आदि को उत्पन्न करने और फिर (मृत्यवे) मृत्यु के लिये (त्वत्) तुझ से ही हे प्रकृते ! (मार्ताण्डम्) मृत् जड़ तत्व के बने अण्ड वा जीवित देह को (आ अभरत्) प्राप्त करता है। अर्थात् शरीर धारण के भी पूर्व आत्मा में सातों प्राणों का सामर्थ्य रहता है और शरीर त्यागने के बाद भी वह सामर्थ्य रहते हैं। परन्तु इस शरीर में उसके प्रजोत्पत्ति, मृत्यु अर्थात् भूख और प्यास ये धर्म विशेष होते हैं। इति द्वितीयो वर्गः ॥

[७३]

गौरिवीतिर्ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, २, ५ त्रिष्टुप् । ३,४,८,१० पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ६ विराट् त्रिष्टुप् । ७ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ९ आर्ची भुरिक् त्रिष्टुप् । ११ निचृत् त्रिष्टुप् ॥ एकादशर्चं सूक्तम् ॥

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानः ।
अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा ॥ १ ॥

भा०—(यत्) जिस (वीरं) वीर को (धनिष्ठा) गर्भ धारण करने वालों में सर्वश्रेष्ठ धन, ऐश्वर्य, सौभाग्यों से सम्पन्नतम (माता) मान, आदर करने वाली, माता के समान भूमि, भूमिवासिनी प्रजा (दधनत्) धारण करती है वह (उग्रः) उत्तम, सर्वोपरि आज्ञा-वचनों का कहने वाला, शत्रुओं को भीतिप्रद, (मन्द्रः) स्तुतियोग्य, (ओजिष्ठः) अति बल-पराक्रमशाली, (बहुल-अभिमानः) बहुत अभिमान, आत्म-सन्मान को धारण करने वाला, स्वामी राजा, सेनापति, (सहसे तुराय) शत्रुओं को पराजित करने और उनका नाश करने के लिये ही (जनिष्ठाः) उत्पन्न होता है। (अत्र) इस कार्य में (मरुतः चित्) वायुओं के तुल्य बलवान् वीर सैन्यगण, और देश देशान्तर में भ्रमण करने वाले वैश्यगण

बरसते मेघवत् शस्त्रास्त्रवर्षी और शत्रुओं के मारने और युद्ध में स्वयं मरने वाले पराक्रमी शूरवीरगण तथा अन्य भी सामान्य प्रजाजन, मुख्य प्राण आत्मा को देह में अन्य प्राणों के तुल्य उस (इन्द्रम्) शत्रुओं को छिन्न भिन्न करने वाले को (अवर्धन्) बढ़ावें। अर्थात् जो शत्रुओं को दबा और नाश कर सके उसे प्रजाएं भी बढ़ाती हैं, ऐसे ही वीर पुरुष को उत्तम माताएं अपनी कोख से पैदा करें तो ही वे सच्ची माता हैं, अन्यथा बन्ध्या के तुल्य हैं। (२) परमेश्वर, दुष्टों का धर्षण और नाश करता है, वह सर्वोपरि शक्तिमान् और बहुत लोकों का सर्वतः प्रत्यक्ष हाथ पर धरे बेर-आमले के तुल्य साक्षात् देखता और जानता और सर्वोपरि थामता है, सब सूर्यादि लोक उसी शक्ति को पुष्ट, प्रमाणित करते हैं। सर्वप्रेरक को सर्व सौभाग्यवती धारयित्री प्रकृति धारण करती है। (३) आचार्य पक्ष में 'वि-ईरं'–विशेष उपदेष्टा, 'इन्द्रं'–ज्ञानद्रष्टा, 'बहुलाभि-मानं', अनेक विद्याओं का ज्ञाता, 'माता' ज्ञानदात्री, वेदविद्या।

द्रुहो निषत्ता पृशनी चिदेवैः पुरू शंसेन वावृधुष्ट इन्द्रम्।
अभीवृतेव ता महापदेन ध्वान्तात्प्रपित्वादुदरन्त गर्भाः॥ २॥

भा०—(चित्) जिस प्रकार (द्रुहः) शत्रुओं के द्रोही सेनापति के पास (नि-सत्ता) नियम में बद्ध (पृशनी) शस्त्रादि वर्षण करने वाली सेना उसको बढ़ाती है उसी प्रकार वह (एवैः) अपने आगे प्रयाणों वा अग्रगामी वीर पुरुषों से और (शंसेन) स्तुति वचन वा शत्रुनाशक शस्त्रबल से सभी (पुरु) प्रजाजन (वावृधुः) उसको बढ़ाते हैं। (ते) वे सब (महापदेन अभिवृता-इव) बड़े भारी पद अर्थात् आश्रय वा स्थान से चारों ओर से सुरक्षित के तुल्य (महापदेन) बड़े भारी ज्ञानमय प्रकाश से (अभि-वृता) सब प्रकार से सुरक्षित वा आवृत होकर (प्रपित्वात् ध्वान्तात्) पूर्व प्राप्त हुए ध्वान्त या दूर हुए अन्धकार से ऐसे

(उत् अरन्त) ऊपर हो जाते हैं जैसे (प्रपित्वात् ध्वान्तात्) फैले अन्धकार-मय नीले मेघ से (गर्भाः) मेघ के बीच में स्थित जल बाहर आ जाते हैं अथवा ध्वान्त अर्थात् अन्धकार रूप गर्भाशय से (गर्भाः) गर्भ स्वयं प्रसव होकर बाहर आ जाते हैं।

ऋष्वा ते पादा प्र यज्जिगास्यवर्धन्वाजा उत ये चिदत्र ।
त्वमिन्द्र सालावृकान्त्सहस्रमासन्दधिषे अश्विना ववृत्याः ॥ ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (ते) तेरे (पादा) दोनों चरण, आश्रय (ऋष्वा) महान् हैं, (उत ये चित् अत्र वाजाः) जो भी इस राष्ट्र में वेगवान्, बलवान्, वीर जन हैं वे (यत् प्र जिगासि) जब तू आगे बढ़े तब तुझे (प्र अवर्धन्) खूब बढ़ावें। हे (इन्द्र) शत्रुनाशन ! (त्वं) तू (सहस्रं सालावृकान्) सहस्रों सालावृक अर्थात् कुत्तों के समान स्वामिभक्त और 'साल' = अर्थात् नगर के प्रकोट पर रहने वाले, शस्त्रास्त्रों से शत्रु को छेदन भेदन करने वाले, तेजस्वी, महास्त्रों और महास्त्रधर वीरों को (आसन् दधिषे) अपने सैन्य के मुख भाग में स्थापित कर। और (अश्विना) वेग से लाने वाले अश्व आदि के नियन्ता वीर पुरुषों के दोनों पक्षों को (आ ववृत्याः) अपने अधीन रख।

समना तूर्णिरुप यासि यज्ञमा नासत्या सख्याय वक्षि ।
वसाव्यामिन्द्र धारयः सहस्राश्विना शूर ददतुर्मघानि ॥ ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) शत्रुओं को उच्छेद, विनाश और उनका विदारण करने हारे ! उनमें फूट, फोड़ फाड़ कर उनका नाश करने वाले ! राजन् ! तू (तूर्णिः) शत्रुहिंसक सेना को आगे ले चलने हारा होकर (समना) संग्राम-काल में (यज्ञम् उप यासि) सब की संगति, परस्पर प्रेम और दान भाव वा सब से पूजनीय भाव को (उप यासि) प्राप्त कर। और

उस समय (सख्याय) मित्र भाव और अपने सम्यग् दर्शन अर्थात् सर्वोपरि अध्यक्षता और अपने समान संकथन अर्थात् आज्ञा देने वा प्रजा में शासन कार्य के लिये ऐसे स्त्री पुरुषों को (आ वक्षि) प्राप्त कर, जो (नासत्या) कभी असत्य भाषण और छल कपट आदि का वर्त्ताव न करें, परन्तु सदा राजा और प्रजा दोनों के प्रति सत्य-संकल्प और न्यायी हों। तभी हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (सहस्रा) सहस्रों (वसाव्या) वसने वाली प्रजाओं को (धारयः) धारण करने में समर्थ हो सकता है। पूर्वोक्त प्रकार के (अश्विनौ) विद्या आदि में पारंगत सत्य व्यवहारी, जितेन्द्रिय स्त्री पुरुष ही को हे (शूर) दुष्टों के नाशक तू (मघानि ददतुः) अनेक ऐश्वर्य या परहित न्याय-शासन प्रदान करता है।

मन्दमान ऋतादधि प्रजायै सखिभिरिन्द्र इषिरेभिरर्थम्।
आभिर्हि माया उप दस्युमागान्मिहः प्र तम्रा अवपत्तमांसि ॥५॥३॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवन् ! शत्रुहन्ता ! तत्वदर्शी राजा वा सेना सभा का पति (प्रजायै अधि) प्रजा के हित के लिये (सखिभिः) समदर्शी समान, अनुरूप वचन बोलने वाले, सर्वस्नेही, सर्वहितैषी (इषिरेभिः) उत्तम इच्छावान्, उत्साही, अन्यों को ठीक मार्ग में लेजाने वाले पुरुषों से (ऋतात् अर्थम् अधि अगात्) सत्य न्याय से ही प्राप्तव्य प्रयोजन को प्राप्त करे और (आभिः) उन समस्त प्रजाओं से (मायाः) नाना प्रकार की बुद्धियों और अनेक पदार्थों को बनाने की नाना बुद्धियों और व्यवसायों को (आ उप अगात्) प्राप्त करे। वह (दस्युम् उप) नाशकारी दुष्ट पुरुष को (उप अवपत्) उखाड़ डाले। और (तम्राः) आकांक्षा करने वाली (मिहः) जलवृष्टियों के तुल्य सब को बढ़ाने वाली वैश्य प्रजाओं को (आगात्) प्राप्त करे और (तमांसि प्र अवपत्) राष्ट्र से सब प्रकार के अन्धकारों को खण्डित कर दूर करे।

सनामाना चिद् ध्वसयो न्यस्मा अवाहन्निन्द्र उषसो यथानः ।
ऋष्वैरगच्छः सखिभिर्निकामैः साकं प्रतिष्ठा हृद्या जघन्थ ॥६॥

भा०—(इन्द्रः चित्) तेजस्वी सूर्य जिस प्रकार (स-नामाना नि ध्वसयः) समान नाम वाले 'अश्वी' अर्थात् दिन रात्रि दोनों का सञ्चालन करता है, उसी प्रकार (इन्द्रः) शत्रुनाशक और ऐश्वर्यवान् राष्ट्र का स्वामी, राजा, (स-नामाना) एक समान नाम वाले शास्य-शासक दोनों वर्गों को (नि ध्वसयः) अपने अधीन नियम व्यवस्था में चलावे। जिस प्रकार (इन्द्रः उषसः अनः अव अहन्) सूर्य प्रभात की दीप्तियुक्त उषा के (अनः) जीवन को (अव अहन्) प्रदान करता है, उसी प्रकार तेजस्वी पुरुष (उषसः) चित्त से चाहने वाली प्रजा के जीवन को प्रदान करे। अथवा जिस प्रकार सूर्य (उषसः अनः) उषा के जीवन अर्थात् कोमल प्रकाश को (अव अहन्) स्वयं उदय होकर तीव्र प्रकाश से लुप्त कर देता है उसी प्रकार तेजस्वी राजा अपने प्रखर तीक्ष्ण प्रताप से (उषसः) प्रजा को दग्ध करने वाले शत्रु के (अनः) रथादि को, वा प्राणों तक को (अव अहनः) विनष्ट करे। वह (ऋष्वैः) बड़े २ महान्, गुणों और पराक्रमों में बड़े (निकामैः सखिभिः साकं) खूब चाहने वाले, अति प्रिय मित्रों के साथ (हृद्या) मनोहर, हृदय के प्रिय (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा, मान, आदर सत्कार को (जघन्थ) प्राप्त करे।

त्वं जघन्थ नमुचिं मखस्युं दासं कृण्वान ऋषये विमायम् ।
त्वं चकर्थ मनवे स्योनान्पथो देवत्राञ्जसेव यानान् ॥ ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! (त्वं) तू (वि-मायम्) विविध छल-कपट पूर्ण अनेक माया करने वाले (नमुचिम्) अपने हठ, दुराग्रह और दुष्ट कर्म को न छोड़ने वाले दुष्ट पुरुष को (जघन्थ) विनाश कर। और (वि-मायम्) माया, छल कपट से रहित वा (वि-मायम्) विविध प्रकार

के शिल्प कार्यों को करने में समर्थ शक्ति वा बुद्धि वाले (मखस्युम्) धना-कांक्षी जन को (दासं कृण्वानः) अपना भृत्य करता हुआ उनको वेतन पर कार्य में लगाता हुआ (त्वम्) तू (मनवे) मनुष्य मात्र के उपकार के लिये और (ऋषये) ज्ञानदर्शी विद्वान् जनों के हित के लिये (पथः स्योनान् चकर्थ) समस्त मार्गों को सुखप्रद, निर्भय और उदर पोषण के अनेक सुखदायी मार्गों को बना। और (देवत्रा) विद्वानों, ज्ञान, धन, कर आदि देने वाले प्रजाजनों और विजिगीषु वीर जनों के बीच (अञ्जसा इव) अपने तेज से ही मानो (यानान् चकर्थ) प्रयाणों या रथों को कर, वा बना।

त्वमेतानि पप्रिषे वि नामेशान इन्द्र दधिषे गभस्तौ।
अनु त्वा देवाः शवसा मदन्त्युपरिबुध्नान्वनिनश्चकर्थ ॥ ८ ॥

भा०—जिस प्रकार इन्द्र अर्थात् तेजस्वी सूर्य (नाम) अनेक जलों को वृष्टि आदि द्वारा पूर्ण करता है, अन्तरिक्ष को मेघादि से भर देता है उसी प्रकार हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन् ! हे प्रभो ! (त्वम्) तू भी (एतानि नाम पप्रिषे) इतने शत्रुओं के नमाने वाले अनेक बलों को पूर्ण करता है, सबको अपने में धारण करता है। हे प्रभो ! तू (एतानि नाम) इतने अनेक जगतों को वा भूतों, प्राणियों को (पप्रिषे) पाल रहा है। तू (ईशानः) सबका मालिक, सबका स्वामी, सब पर वशकर्त्ता है। (गभस्तौ दधिषे) जिस प्रकार सूर्य अनेक जलों को किरणों के बल पर धारण करता है उसी प्रकार हे राजन् ! प्रभो ! तू भी (एतानि) इन सब बलों को और अनेक जगतों और प्राणिवर्गों को (गभस्तौ दधिषे) अपने ग्रहण-सामर्थ्य में, अपने हाथ में, अपने अधीन, अपने वश में रखता है। (देवाः) समस्त विद्वान्, और समस्त सूर्यादि लोक (शवसा) ज्ञान और तेरे महान् सामर्थ्य से प्रभावित वा वशीभूत होकर (त्वा अनु मदन्ति) तेरे ही अनुकूल रह कर सदा प्रसन्न रहते हैं। (उपरि बुध्नान् वनिनः

चकर्थ) जिस प्रकार ऊपर आकाश में मूल आश्रय रखने वाले, जल से पूर्ण मेघों को सूर्य वा विद्युत् वा वायु (चकर्थ) अपने तेज, दीप्ति और आघात युक्त वेग से ताड़ित करता है उसी प्रकार हे राजन् ! तू (उपरि बुध्नान्) ऊपर आकाश में अपना आश्रय साधने वाले (वनिनः) हिंसक शत्रुओं को भी (चकर्थ) दण्डित कर, उनको भी मार, व्योमयानादि से चढ़ाई करने वालों को भी नाश करने का प्रबन्ध और उद्योग कर । (२) इसी प्रकार हे प्रभो ! तू (उपरि बुध्नान्) ऊपर सर्वोपरि ज्ञानवान् वा (उपरि बुध्नान्) ऊपर शिरोभाग में मूल वाले, मस्तकादि में चित्त एकाग्र करने वाले वा सर्वोपरि परमेश्वर में अपना आश्रय लेने वाले (वनिनः) ऐश्वर्य सुख सौभाग्यशील वा ईश्वरभक्ति से युक्त सेवक जनों को (चकर्थ) सुखी सौभाग्यवान् कर देता है । (३) अध्यात्म में—'देव' इन्द्रियगण हैं, 'इन्द्र' आत्मा है, वह इन समस्त देहों वा रूपों को धारता, पूरता और पालता है, वह अपने ग्रहण सामर्थ्य पर इनको धारण करता है, समस्त प्राणगण उसके ज्ञान और बल से ही प्रसन्न, सुखी होते हैं, वह शिरोदेश में बद्धमूल हुए उनको (वनिनः) विषय ग्राहक रूप से सम्पन्न करता और इन्द्रिय प्रणालिका-रूप से बनाता है ।

च॒क्रं यद॑स्या॒प्स्वा निष॑त्तमु॒तो तद॑स्मै॒ मध्विच्च॑च्छद्यात् ।
पृ॒थि॒व्यामति॑षितं॒ यदूध॒ः पयो॒ गोष्वद॑धा॒ ओष॑धीषु ॥ ६ ॥

भा०—(यत्) जिस प्रकार (अस्य) इस सूर्य या मेघ का (चक्रम्) बिम्ब या मेघमण्डल, (अप्सु आ नि सत्तम्) जलों में रहता है, (उतो) और (तत् मधु) वही जल (इत्) ही (अस्मै चच्छद्यात्) इसको आच्छादित करता या सब ओर से ढके रहता है, उसी प्रकार (अस्य) इस राजा का (चक्रम्) राष्ट्रचक्र वा नगर का प्रकोट (अप्सु आ नि-सत्तम्) आप्त जनों में निश्चित रूप से स्थिर रहता है और नगर के चारों ओर का प्रकोट

वा राज्य की चतुर्दिगन्त सीमा जलों से वा समुद्रों से घिरी होकर स्थिर रहती है। (उतो) और (अस्मै) इस राजा की (मधु इत्) जल और मधुपर्क से ही (चच्छद्यात्) अर्चना करे। (यत् पृथिव्याम् ऊधः) जिस प्रकार मेघ वा अन्तरिक्ष (अति-सितं) बन्धन से रहित होजाता है वा (अति-सितम्) श्वेतता को अतिक्रमण कर श्याम होजाता है, तब वह (गोषु) भूमियों में (ओषधीषु) ओषधियों में (पयः अदधाः) रस वा जल को प्रदान करता है। इसी प्रकार (यत्) जब (पृथिव्यां) पृथिवी में कोई (ऊधः) जल धारक जलाशय वा जलाधार स्थान (अति-सितम्) बन्धन रूप तट-सीमा से अति क्रमण करे, सेतु आदि तोड़े तब वह राजा (पयः) उस जल को (गोषु) भूमियों में (ओषधीषु) अन्नादि के निमित्त (अदधाः) ले लेवे। उसको अन्यत्र एकत्र कर खेती के उपयोग में ले। पर्वतों से निकलते झरनों वा नदियों में भी जल अधिक हो तो राजा उनको कृषि और भूमि सेचन के कार्य में ले। (२) परमेश्वर पक्ष में (अस्य चक्रम् अप्सु आ नि-षत्तम्) इस परमेश्वर का बनाया यह जगत् 'अपः' अर्थात् प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं में ही आश्रित है। (अस्य) इस परमेश्वर का (मधु इत्) वेद का ज्ञान ही (चच्छद्यात्) अर्चन, गुणस्तवन और गुण प्रकाशन करता है, स्तन के समान जो (ऊधः) उत्तम ज्ञान का आश्रय वेद (पृथिव्याम् अति-सितम्) पृथिवी पर प्रकट हुआ है, वह (पयः) रस के सदृश (गोषु) वेदवाणियों रूप में उसने (अदधाः) प्रदान किया और (ओषधीषु पयः) वह ओषधियों में रस के समान सर्व दुःखहारी और शान्तिदायक है। (३) अध्यात्म में—इस जीव का चक्र-यह कृत्रिम देह वा जन्म-मरण चक्र, जलों वा रक्त धाराओं वा लिङ्ग शरीरों पर अश्रित है। और इस देह को मधु जल-अन्न ही ढांपता है वा इस देह-बन्धन को 'मधु' अर्थात् ज्ञान ही दूर करता है, इसके पालनार्थ पृथिवी में ही वह स्तन-मण्डल है कि जो गौओं में दूध और ओषधियों में रस रूप से है।

यह पार्थिव देह भी समस्त रसाधार है कि इसकी इन्द्रियों वा वाणियों में वा तापधारक नाड़ियों वा हृदय की नाड़ियों में भी जीवन-रस है।

अश्वादियायेति यद्वदन्त्योजसो जातमुत मन्य एनम्।
मन्योरियाय हर्म्येषु तस्थौ यतः प्रजज्ञ इन्द्रो अस्य वेद ॥ १० ॥

भा०—(यत्) जो विद्वान् लोग (वदन्ति) कहते हैं कि यह मेघ (अश्वात् इत् इयाय) आदित्य से ही उत्पन्न होता है मैं तो (एनम्) इसको (ओजसः) सूर्य के तेज, ताप से ही उत्पन्न हुआ (मन्ये) मानता हूं। (उत्) अथवा (एनं) इसको (मन्योः उत् इयाय) सूर्य या वायु के स्तम्भक बल से उत्पन्न हुआ मानता हूं। क्योंकि वह मेघ (हर्म्येषु तस्थौ) आकाश के अनेक उच्च-प्रदेशों में स्थित रहता है। या (यतः) जहां से वा जिस कारण से (प्र-जज्ञे) प्रकट होता है (अस्य इन्द्रः) इसको साक्षात् तत्वदर्शी ही (वेद) जानता है। (२) इसी प्रकार जैसा विद्वान् लोग कहते हैं कि यह राजा (अश्वात्) व्यापक राष्ट्र-चक्र वा अश्वादि सैन्य बल से (इयाय) उत्पन्न हो उदय को प्राप्त होता है इस सम्बन्ध में मैं (ओजसः एनं जातं मन्ये) उसे अपने बल-पराक्रम-सामर्थ्य से ही उत्पन्न हुआ मानता हूं (उत्) अथवा (मन्योः इयाय) राष्ट्र को थामने वा अपने आत्मा के सन्मान वा ज्ञानबल वा नैतिक मन्त्रशक्ति से ही आया मानता हूं। इसीसे वह (हर्म्येषु) बड़े २ प्रसादों, महलों में रहता है। (यतः प्रजज्ञे) वह जहां से उत्पन्न होता है इसको तो वह (इन्द्रः) शत्रु-नाशकारी, बा तत्वदर्शी स्वामी ही जानता है। (३) परमेश्वर पक्ष में—जो लोग कहते हैं कि वह जगत् (अश्वात्) व्यापक तत्त्व, व्यापक परमेश्वर से ही (इयाथ) उत्पन्न हुआ है मैं इसका तात्पर्य यही जनता हूं कि यह जगत् उस परमेश्वर के (ओजसः जातम्) परम बल, पराक्रम वा तेजः-सामर्थ्य से ही प्रकट हुआ अथवा (मन्योः इयाय) उसके ज्ञानमय,

सामर्थ्य वा ईक्षण वा काम-संकल्प से ही उत्पन्न हुआ है । वह प्रभु (हर्म्येषु तस्थौ) समस्त लोकों में व्यापक रूप से विद्यमान है, वही (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रभु (अस्य) इसके विषय में (प्रवेद) भली प्रकार जानता है कि (यतः प्रजज्ञे) यह संसार जिस तत्त्व से उत्पन्न हुआ है।

(४) विद्युत्-पक्ष में—इन्द्र विद्युत् को (अश्वात्) अश्व सूर्य से उत्पन्न हुआ कहते हैं, (उत ओजसः जातम्) कई तेजस्तत्त्व से वा शरीर ओज वा अष्टमी धातु के तत्त्व से उत्पन्न बतलाते हैं, मैं (एनम् मन्ये) ऐसा जानता हूं कि वह (मन्योः इयाय) यह स्तंभन बल से भी उत्पन्न होता है वह हर्म्यों बड़े २ भवनों में भी स्थिति पाता है, (इन्द्रः) रस, जल वा तेजस्तत्त्व को साक्षात् करने वाला विद्वान् ही भली प्रकार जानता है कि विद्युत् कहां से उत्पन्न होता है ।

वयः॑ सु॒प॒र्णा उप॑ सेदु॒रिन्द्रं॑ प्रि॒यमे॑धा॒ ऋष॑यो॒ नाध॑मानाः ।
अप॑ ध्वा॒न्तमू॑र्णु॒हि पू॒र्धि चक्षु॑र्मुमु॒ग्ध्य१॒॑स्मान्नि॒धये॑व ब॒द्धान् ॥११।४॥

भा०—जिस प्रकार (वयः) अति प्रकाशमान्, कान्तियुक्त, (सुपर्णाः) सुख से जगत् को पालन और पूर्ण करने वाले सूर्य के किरण, (ऋषयः) समस्त पदार्थों को दिखाते हैं, (प्रिय-मेधाः) अनेक अन्नों को पुष्ट करते हैं वे (नाधमानाः) तीव्र ताप उत्पन्न करते हुए (इन्द्रम् उप सेदुः) अति तेजस्वी सूर्य को ही प्राप्त होते हैं। उदय काल में उससे ही प्रकट होकर उसी में पुनः आश्रित रहते हैं। उसी प्रकार (वयः) ज्ञानवान् (सुपर्णाः) शुभ मार्ग से जाने वाले, देवयानगामी, (प्रिय-मेधाः) प्रभु परमेश्वर वा ज्ञानी पुरुषों के सत्संग के प्यारे, वा मेधा नाम परम बुद्धि के प्रिय वा यज्ञ, अन्नादि को चाहने और उस ही से तृप्त होने वाले अति अहिंसक, (ऋषयः) ज्ञान-तत्त्वदर्शी जन (नाधमानाः) परमेश्वर से प्रार्थना करते हुए उसी (इन्द्रम् उप-सेदुः) परमैश्वर्यप्रद, इस जाल के

काटने वाले प्रभु की उपासना करते और उसे ही प्राप्त करते हैं। प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! (ध्वान्तम् अप ऊर्णुहि) तू हमारे अन्धकार को दूर कर, (चक्षुः पूर्धि) प्रकाश से हमारी भीतरी ज्ञान-चक्षुओं को पूर्ण कर। (निधया इव बद्धान्) पाश में फंसे पक्षियों के तुल्य (अस्मान्) हमको (मुमुग्धि) बन्धन से मुक्त कर। इति चतुर्थो वर्गः॥

[७४]

गौरिवीतिर्ऋषिः॥ इन्द्रो देवता छन्दः—१,४ पादनिचृत् त्रिष्टुप्। २,५ निचृत् त्रिष्टुप्। ३ आर्ची भुरिक् त्रिष्टुप्। ६ विराट् त्रिष्टुप्॥

वसूनां वा चर्कृष इयक्षन्धिया वा यज्ञैर्वा रोदस्योः। अर्वन्तो वा ये रयिमन्तः सातौ वनुं वा ये सुश्रुणं सुश्रुतो धुः॥ १॥

भा०—(रोदस्योः) आकाश और भूमि दोनों के बीच, (वसूनाम्) बसे हुए प्रजाजन के बीच (ये) जो (धिया) बुद्धि वा कर्म द्वारा वा (यज्ञैः) उत्तम २ यज्ञों द्वारा जो (इयक्षन्) दान देना चाहते हैं और जो (रयिमन्तः) बहुत धनों के स्वामी (सातौ) संग्राम में (वनुं धुः) शत्रुहिंसा को करते हैं और (ये) जो (अर्वन्तः) आगे मार्ग पर बढ़ने वाले (सु-श्रुतः) उत्तम श्रवणशील होकर (सुश्रुणम् धुः) सुखपूर्वक श्रवण करने योग्य ज्ञान को धारण करते हैं, उनको तू (इयक्षन्) स्वयं भी दान देना चाहता हुआ (चर्कृषे) अपनी ओर आक ण करता है।

हव एषामसुरो नक्षत द्यां श्रवस्यता मनसा निंसत क्षाम्। चक्षाणा यत्र सुविताय देवा द्यौर्न वारेभिः कृणवन्त स्वैः॥ २॥

भा०—(न) जिस प्रकार (द्यौः) सूर्य (स्वैः) अपने (वारेभिः) अन्धकारों को दूर करने वाले किरणों वा प्रकाशों से (सुविताय) सब के हित के लिये कार्य करता है, उसी प्रकार फैलने वा (देवाः) ज्ञान प्रकाश करने

वाले ज्ञानदाता विद्वान् जन और दिव्य सूर्य अग्नि वायु आदि तत्त्व, (स्वैः वारेभिः) अपने वरणीय श्रेष्ठ गुणों वा कार्यों वा उपदेशों से (यत्र) जहां २ (सुविताय) सब के सुख और हित के लिये कार्य करते हैं वहां (एषाम्) इनका (असुरः हवः) सबको प्राणदायक यज्ञ, आहुति, दान, आदि (द्याम् नक्षत्) आकाश को व्यापता और (श्रवस्यता मनसा) अन्न वा यश और ज्ञान चाहने वाले चित्त के साथ (क्षां) योग्य भूमि वा उचित पात्र तक पहुंचता है। अर्थात् परोपकार बुद्धि से किये कार्य दान आदि को भी प्रभु सफल करता और उसका उपयोग भी सत्पात्र में होता है।

इयमेषाममृतानां गीः सर्वताता ये कृपणन्त रत्नम्।
धियं च यज्ञं च साधन्तस्ते नो धान्तु वसव्य१मसामि॥ ३॥

भा०—(ये) जो (रत्नं) रमणीय वचन प्रदान करते, (धियं च कृपणन्त) उत्तम कर्म करते और (यज्ञं च साधन्तः) यज्ञ, सर्वोपास्य सर्वप्रद प्रभु की साधना वा आराधना करते हैं (एषाम्) इन (अमृतानां) अमृत, मोक्ष-मार्गी, मुक्तवत् निस्पृह, परम हंस पुरुषों की (इयम्) यह (गीः) वेद-वाणी (सर्वताता) सबका कल्याण करने वाली होती है। (ते) ऐसे ही वे महानुभाव जन सदा (नः) हमें (असामि) समस्त (वसव्यम्) बसने वाले जीवों के हितार्थ अनेक धन, वा ज्ञान (धान्तु) प्रदान करें ऐसे ही परोपकारी जन (नः वसव्यं धान्तु) हमारा धन प्राप्त करें, हम ऐसे ही सत्पात्रों को दान दें।

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत्। वेदवित्सु विविक्तेषु····मनु०॥

आ तत्त इन्द्रायवः पनन्ताभि य ऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान्।
सकृत्स्वं१ये पुरुपुत्रां महीं सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन्॥ ४॥

भा०—(ये) जो (सकृत्-स्वम्) एक ही बार अनेक प्रकार के अन्नों,

ओषधि वनस्पति आदि को उत्पन्न करती है उस (बृहतीम्) अनेक फलों को बढ़ाने वाली, विशाल, (पुरु-पुत्राम्) बहुत पुरुषों का त्राण करने वाली और (सहस्रधारां) सहस्र धाराओं को बरसाने वाली वा सहस्रों जल-धारा वाली आकाश वा (महीम्) भूमि को (दुधुक्षन्) दोहना चाहते हैं, उससे अनेक अन्न, रस प्राप्त करना चाहते हैं जो (गोमन्तम्) गौ बैल वाले, उनसे समृद्ध (ऊर्वं) खेती वा कृषि के फल समूह या फसल को (तितृत्सान्) काट लेना चाहते हैं (ते) वे (आयवः) मनुष्य हे (इन्द्र) जल देने वाले, वर्षाकारिन् ! (तत्) उस समय जब वे फल चाहते हैं, खेती पनपाना चाहते हैं तब (ते पनन्त) वे तेरी स्तुति करते हैं। अर्थात् सम्पन्न, फसल काटने के इच्छुक खेतिहर जिनके पास (सकृत्सू) केवल साल में एक फसल देने वाली भूमि है, जो उसी से साल भर का अनाज प्राप्त करना चाहते हैं, वे 'इन्द्र' अर्थात् मेघ की पुकार करते हैं। (२) ठीक उसी प्रकार (ये) जो (पुरु-पुत्राम्) बहुत से पुत्रों व पुरुषों को त्राण करने वाली (महीम्) भूमि और (सहस्र-धारां) हजारों को धारण करने वाली (बृहतीम्) बड़ी भारी जनता को (दुधुक्षन्) दोहना चाहते हैं, भूमि से भूमि की उपज और जनता से टैक्स या ऐश्वर्य प्राप्त करना चाहते हैं और जो युद्धक्षेत्र में (गोमन्तं) वेग से जाने वाले अश्वों वाले, वा (गोमन्तं) बाणों को फेंकने वाली तांत के धनुषों से सज्जित (ऊर्वम्) सैन्य-समूह को (आ तितृत्सान्) मुक़ाबले पर नाश करते हैं हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राजन् (ते) वे वीर पुरुष (ते पनन्त) तेरी स्तुति प्रार्थना करते हैं, तेरी सेवा करते हैं। (३) इसी प्रकार जो (पुरु-पुत्राम्) अनेक शिष्यरूप पुत्रों वाली, सहस्रवाणी वाली, 'बृहती' वेदवाणी का दोहन करना चाहते और जो (गोमन्तं ऊर्वं) वाणी से युक्त 'ग्रन्थ' का मर्म भेदन करना चाहते हैं वे मनुष्य इन्द्र अर्थात् ज्ञानदर्शी गुरु का सेवन करते हैं।

शचीव इन्द्रमवसे कृणुध्वमनानतं दमयन्तं पृतन्यून् ।
ऋभुक्षणं मघवानं सुवृक्तिं भर्ता यो वज्रं नर्यं पुरुक्षुः ॥ ५ ॥

भा०—हे (शचीवः) उत्तम कर्म और वाणीरूप स्तुति करने वाले जनो ! आप लोग (यः) जो (नर्यं) सब मनुष्यों के हितकारी (वज्रं) ज्ञानोपदेश और (वज्रं) बल, वीर्य और शस्त्रबल को (भर्त्ता) धारण करता है जो (पुरु-क्षुः) अनेक शब्दमय वेद-मन्त्रों वा उपदेशों वा विद्या-वचनों को जानता है, (सु-वृक्तिम्) उत्तम स्तुति योग्य, (सु-वृक्तिम्) उत्तम रीति से कुमार्ग से वर्जने वाले (सु-वृक्तिम्) सुख से और सुष्ठु रीति से ग्रहण करने वाले (ऋ-भुक्षणम्) महान् सत्यसेवी, सत्यपालक, (मघवानम्) अनेक ऐश्वर्यों के स्वामी, (पृतन्यून् दमयन्तं) संग्राम करने वाले शत्रुजनों वा संग्राम के इच्छुक सैनिकों को भी दण्डित वा दमन करते हुए शत्रुओं का पराजय और स्व सैन्यों का दमन करने वाले (अनानतं) किसी के आगे न झुकने वाले, (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान्, शत्रुविजयी को (अवसे) अपनी रक्षा, गति, कान्ति, इच्छा, स्नेह, समृद्धि आदि कार्यों के लिये राजा के लिये, सेनापति आदि पदों के लिये नियुक्त (कृणुध्वम्) करें ।

इसी प्रकार जो (शचीवः) कर्मकुशल हैं, वे बहुत अन्न धन वाले, धन स्वामी को प्राप्त करें । और शची अर्थात् वाणी वाले विद्यार्थी भी, महान् गुरु को चाहें ।

यद्वावान पुरुतमं पुराषाळा वृत्रहेन्द्रो नामान्यप्राः ।
अचेति प्रासहस्पतिस्तुविष्मान्यदीमुश्मसि कर्तवे करत्तत् ॥६॥५॥

भा०—जिस प्रकार (वृत्रहा इन्द्रः) वृत्र अर्थात् मेघ पर आघात करने वाला, मेघों में दौड़ने वाला विद्युत् (पुरु-तमम्) बहुत अधिक बढ़े हुए जल राशि को (ववान) आघात करता है और वह अनेक (नामानि

अप्राः) जलों को भूमि पर पूर देता है, उसी प्रकार (वृत्र-हा इन्द्रः) विघ्नकारी, बढ़ते शत्रुओं को नाश करने वाला (पुरा-षाट्) शत्रु-पुरों को विजय करने वाला, विजेता, (पुरुतमं ववान) शत्रु के अनेकों में से श्रेष्ठ नायक का नाश करे। वह (नामानि अप्राः) शत्रुओं को नमाने वाले अनेक सैन्यादि साधनों को पूर्ण करे। वह (तुविष्मान्) बड़ा बलशाली पुरुष, (प्र-सहः पतिः) बड़े भारी शत्रु-विजयी सैन्य-बल का स्वामी, अथवा (प्र-सहः) सब से उत्तम दुष्ट-दमनकारी, सरदार वा विजेता, और (पतिः) सबका स्वामी (अचेति) जाना जाय (यत्) जो हम प्रजाजन (कर्त्तवे उष्मसि) करना चाहें वह (तत् करत्) उसको कर दे। प्रजा की इच्छानुसार उसका दुःख मोचन करने में सम ॰ पुरुष ही प्रधान पद पावे। इति पञ्चमो वर्गः ॥

[७५]

सिन्धुक्षित्प्रैयमेध ऋषिः ॥ नद्यो देवताः ॥ छन्दः—१ निचृज्जगती २, ३ विराड् जगती। ४ जगती। ५, ७ आर्ची स्वराड् जगती। ६ आर्ची भुरिग् जगती। ८, ९ पादनिचृज्जगती ॥

प्र सु व॑ आपो महि॒मान॑मुत्त॒मं का॒रुर्वो॑चाति॒ सद॑ने वि॒वस्व॑तः।
प्र स॒प्तस॑प्त त्रे॒धा हि च॑क्र॒मुः प्र सृ॑त्वरीणा॒मति॒ सिन्धु॒रोज॑सा ॥१॥

भा०—हे (आपः) आप्त जनो ! हे प्राणगण ! हे सर्वव्यापक प्रभु ! (वः) आप लोगों के (उत्तमम्) सब से उत्कृष्ट (महिमानम्) महान् सामर्थ्य को (कारुः) क्रियाशील और मन्त्रों का साक्षात् करने वाला विद्वान् (प्र सु वोचाति) अच्छी प्रकार उत्तम रीति से, खूब २ वर्णन करता है। आप (विवस्वतः सदने) विविध ऐश्वर्यों वा लोकों के आश्रय वा महान् आकाश में (सप्त सप्त त्रेधा हि प्रचक्रमुः) सात सात के तीन वर्गों में कार्य करते और जगत् का निर्माण और चालन करते हो। (सृत्वरीणाम्) संस-

रण करने वाली समस्त शक्तियों में (सिन्धुः) समस्त जगत् को बांधने, नियम व्यवस्था में रखने और चलाने वाली महान् शक्ति ही (ओजसा) अपने महान् पराक्रम और बल से (अति प्र क्रमते) बहुत कार्य करती और जगत् का निर्माण आरम्भ करती है। (२) जलों के पक्ष में—जलों के उत्तम महिमा अर्थात् महान् सामर्थ्य का वर्णन (कारुः) शिल्पी, कारीगर, एन्जिनियर ही अच्छी प्रकार बतला सकता है कि विविध लोकों के बसने योग्य भूमि-खण्ड के किस २ स्थान पर जल कैसा है। ये जल सात सात करके ३ प्रकारों से बहते हैं। और निरन्तर बहने वालों में सब से अधिक वेग से नदी का ही प्रवाह होता है। जलों के बहने के मुख्य तीन प्रकार ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर और समधरातल में और उनके सात २ प्रकार इसकी अंग-विद्या से जानने चाहिये। (३) प्राणों के पक्ष में—यह प्राणों का ही महत्व है कि स्तुतिकर्त्ता की वाणी इस देह में व्यक्त वाणी से बोलती है। और २१ रूप होकर प्राण चल रहे हैं। गतिशील शक्तियों में से अपने बल के कारण वह (सिन्धुः) सबको बांधने वाला आत्मा ही (अति प्र) सब से अधिक शक्तिशाली है।

विवस्वतः परिचरणवतो यजमानस्येति सायणः।
विवः इति धननाम इति शाकपूणिः। तद्वान्॥

प्र तेऽरद्वरुणो यातवे पथः सिन्धो यद्वाजाँ अभ्यद्रवस्त्वम्।
भूम्या अधि प्रवता यासि सानुना यदेषामग्रं जगतामिरज्यसि॥२॥

भा०—(सिन्धोः यातवे) जिस प्रकार वेग से बहने वाले जल-प्रवाह के जाने के लिये (वरुणः) उसको अनेक शाखाओं में बांटने वाला वा जलाध्यक्ष विद्वान् इनजीनियर वा कृषक इसके (पथः) मार्गों नाली कुल्या, नहर आदि को (अरदत्) खोदता है, और वह जलराशि (वाजान् अभिद्रवति) खेत के अन्नों तक पहुंचती है, (भूम्या अधि प्रवता सानुना याति)

अपने अति वेग से वह जल नीचे मार्ग से जाता है। (एषाम् अग्रम् जगताम् इरज्यति) वह जल इन जंगम प्राणियों के मुख्य जीवन का आधार होता है उसी प्रकार (२) हे (सिन्धो) समस्त प्रजाओं को बांधने और दुष्टों को कंपाने में समर्थ राजन्! (ते) तेरे (यातवे) प्रयाण के लिये (वरुणः पथः प्र अरदत्) तुझे वरण करने वाला श्रेष्ठ जन अनेक मार्ग बनावे। (यत्) जिन से (त्वम् वाजान् अभि अद्रवः) तू संग्रामों को वेग से प्रयाण कर सके और अनेक ऐश्वर्यों को प्राप्त कर सके। तू (प्रवता सानुना) उत्कृष्ट उन्नत मार्ग से (भूम्याः अधि प्र यासि) पृथिवी पर गमन कर। तू (एषां जगताम्) इन जंगम प्रजाओं के (अग्रम्) सब से मुख्य अंश का भी (इरज्यसि) स्वामी है।

(३) अध्यात्म में—वरुण परमात्मा ने मुख्य प्राण के संचरण के लिये देह में अनेक मार्ग इन्द्रिय रूप से बनाये हैं। उन मार्गों से वह अन्नों के ग्राह्य विषयों तक पहुंचता है। वह (पृथिव्याः) पार्थिव देह पर उत्तम रीति से अधिकार करता है (४) प्रभु पक्ष में—हे (सिन्धो) दयासिन्धो! सब शक्तियों के समुद्र! सर्वप्रबन्धक सर्वसञ्चालक प्रभो! (ते यातवे) तुझे प्राप्त करने के लिये (वरुणः) तुझे चाहने वाला भक्त जन अनेक ज्ञान-मार्ग बनाता है, तू समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त है, तू समस्त भूमि पर मेघ के समान समस्त उत्पन्न प्रजा पर उत्तम ऐश्वर्य सहित प्राप्त है। इन जंगम जीवों का भी तू सर्वप्रथम (इरज्यसि) सब का स्वामी है।

दिवि स्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना।
अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत्॥३॥

भा०—(भूम्या उपरि) भूमि के ऊपर (दिवि) आकाश में (स्वनः) गर्जन-शब्द करने वाला मेघ (यतते) व्यापता है। (भानुना) सूर्य के प्रकाश द्वारा (अनन्तं शुष्मम्) अनन्त बलरूप जल (उत् इयात)

ऊपर उठ जाता है। तत्पश्चात् (अभ्रात् इव) जिस प्रकार मेघ से (वृष्टयः प्र स्तनयन्ति) वृष्टियां खूब बरसती हैं, और (सिन्धुः) वेग से बहता जल-प्रवाह (यत् वृषभः न रोरुवत्) जिस प्रकार सांड के समान गर्जना करता हुआ (एति) आता है। इसी प्रकार (यत्) जब (रोरुवत्) गर्जता हुआ (सिन्धुः) राष्ट्र-प्रबन्धक और शत्रु-कम्पक वीर सेनापति वा राजा (वृषभः) बड़े सांड वा बरसते मेघ के समान (एति) प्रयाण करता है, तब (वृष्टयः अभ्रात् इव) जैसे मेघ से वृष्टियां गिरती हैं उसी प्रकार (वृष्टयः) शत्रु को उखाड़ देने वा काट गिराने वाली शक्तियां, तोपें आकाश में (प्र स्तनयन्ति) गर्जती हुईं नीचे आती हैं वह (भानुना) अपने तेज से (अनन्तं शुष्मं उत्-इयर्ति) अनन्त शत्रुशोषक बल को उत्पन्न करता है। वह (दिवि स्वनः) आकाश में गर्जते मेघ के तुल्य (भूम्यां उपरि यतते) पृथिवी पर उद्योग करता, विजय करता है। (३) इसी प्रकार अध्यात्म में—आत्मा 'सिन्धु' है वह (दिवि) मस्तक में (स्वनः = सु-अनः) उत्तम चेतना, वा प्राणशक्ति का स्वामी होकर (भूम्याः उपरि यतते) इस पार्थिव देह के ऊपर यत्नशील होता है, उसका स्वामीवत् उपयोग करता है। वह अपने तेज से इस देह में अनन्त बल उत्पन्न करता है, मेघ से वृष्टियों के तुल्य हृदय से रक्तधारायें प्रवाहित होता हैं, वह आत्मा इसमें हर्षित होकर व्यापता है।

अभि त्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः।
राजेव युध्वा नयसि त्वमित्सिचौ यदासामग्रं प्रवतामिनक्षसि ॥४॥

भा०—(मातरः शिशुम् इत् न) जिस प्रकार माताएं अपने पुत्र को प्रेमवश प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार हे (सिन्धो) सब को अपने साथ बांधने और सबके पापों को दूर करने, वा सबको प्रेरित करने वाले प्रभो ! स्वामिन् ! (वाश्राः) तुझे पुकारने वाले जन, प्रजाएं (शिशुं त्वा) सब

के भीतर गुप्त रूप से व्यापने वाले, वा प्रशस्त रूप से विद्यमान तुझको ही (अभि अर्षन्ति) लक्ष्य कर तेरी ओर आते हैं। (धेनवः वाश्राः पयसा इव) जिस प्रकार दुधार गौवें अपने पोषक दूध से अपने बच्चे की ओर झुकती हैं उसी प्रकार (वाश्राः) स्तुतिशील जन (त्वा अभि अर्षन्ति) तेरी ओर ही आते हैं। (युध्वा राजा इव) युद्धशील राजा जिस प्रकार (सिचौ) शरवर्षी सैन्य-बलों को आगे ले जाता है उसी प्रकार (त्वम् इत्) तू ही (सिचौ) सेचन करने वाले, निषेक आदि द्वारा सन्तान उत्पन्न करने वाले समस्त नर-नारी जीवों को (नयसि) चला रहा है, (यत्) जो तू (प्रवताम् आसाम्) आगे बढ़ने वाली इनके (अग्रम्) आगे के मुख्य पद को (इनक्षसि) प्राप्त हो, इनमें सबका प्रमुख तू ही है। और जिस प्रकार बहती नदियों में सबसे प्रमुख मुख्य सिन्धु अर्थात् वेगवान् नद प्रमुख होता है वह औरों को अपने साथ लेजाता है और नदियां अपने जलसहित उससे मिल जाती हैं, उसी प्रकार समस्त प्रजाएं उसी प्रभु स्वामी की ओर आती हैं और वही उनको अपने साथ परम धाम में ले जाता है। इसी प्रकार मुख्य प्राण के साथ देहगत अन्य प्राणों का भी व्यवहार जानना चाहिये।

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥ ५ ॥ ६ ॥

भा०—हे (गंगे) हे गंगे ! हे (यमुने) हे यमुने ! हे (सरस्वति) सरस्वति ! हे (शुतुद्रि) हे शुतुद्रि ! हे (परुष्णि) परुष्णि ! हे (मरुद्-वृधे) मरुद्वृधे ! (वितस्तया असिक्न्या सुसोमया) वितस्ता, असिक्नी और सुसोमा इनके साथ विद्यमान हे (आर्जीकीये) आर्जीकीये ! तू (मे इमं स्तोमं आ श्रृणुहि) हमारे इस स्तुतियोग्य वचन को श्रवण कर। लोक में गंगा, यमुना, सरस्वती, परुष्णी, मरुद्वृधा, शुतुद्री, वितस्ता, असिक्नी,

सुसोमा और आर्जिकीया ये सब नाम नदियों के प्रसिद्ध हैं। वेद में इन शब्दों का मुख्यार्थ नदियों के प्रति संगत न होने से ये शब्द नदीवाचक नहीं हैं। अध्यात्म में—ये दश विशेष नाड़ियां हैं उन नाड़ियों में व्याप्त आत्म-शक्ति भी उसी २ नाम से पुकारी जाती है। जैसे बृहदारण्यक में लिखा है वही आत्मा—'शृण्वन् श्रोत्रं भवति मनो मन्वानो वाग् वदन्' इत्यादि। इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये।

इडा च पिङ्गलाख्या च सुषुम्ना चास्थिजिह्विका।
अलम्बुसा यथा पूषा गान्धारी शङ्खिनी कुहूः
देहमध्यगता एता मुख्याः स्युर्दश नाडयः॥
इति 'संगीतविषये' केरललिप्यां हस्तलिखितपुस्तके।

'गंगा' इडा नाड़ी है, वह आत्मा को ज्ञान प्राप्त कराती है, 'यमुना' पिंगला है, जो देह के समस्त अंगों को सुव्यवस्थित करती और संयम में रखती है। सरस्वती सुषुम्ना, उसमें प्रशस्त ज्ञान-सुख का उद्भव होता है, 'परुष्णी' (पर्ववती, भास्वती, कुटिलगामिनी। निरु०) जो प्रतिपर्व पीठ के मोहरों में से नीचे तक गई है, वह वर्ण में चमकीली कुटिल मार्ग में गई है। 'असिक्नी' (अशुक्ला, असिता सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधः। नि०) जो शुक्ल अर्थात् चमकीली नहीं, उसमें जो रस बहता है उसका कोई रंग नहीं है। 'मरुद्वृधा' (सर्वा नद्यो मरुतः एनां वर्धयन्ति) जो और नाड़ियां हैं वे उसको बढ़ाती हैं, नाड़ी का वह अंश जहां अन्य सब मिल कर एक हो जाती हैं। अथवा मरुत्, देह के प्राण उसको और वह प्राणों पुष्ट करते हैं। 'शुतुद्री' (शुद्राविणी, क्षिप्रद्राविणी, आशुतुन्ना इव द्रवति) जो वेग से गति करती, भरी २ चलती है। 'वितस्ता' (विदग्धा, विवृद्धा, महाकूला। नि०) देह में वितस्ता वह नाड़ी है जो देह में दाह अर्थात् ताप को धारण करती है, वह बहुत व्यापक और त्वचा भर में व्याप्त है। 'आर्जीकीया' (ऋजूकप्रभवा वा, ऋजुगामिनी वा) ऋजूक से उत्पन्न, वा ऋजु जाने वाली, मस्तक में

विशेष स्थान 'ऋजूक' है उससे निकली नाड़ी वितस्ता है, विपाट् (विपाटनाद्वा, विपाशनाद्वा, पाशा अस्यां व्यापाशयन्त वसिष्ठस्य मूमूर्छतस्तस्माद् विपाट् उच्यते । नि०) विपाट् वह नाड़ी है जहां विपाटन होता है, जिसके फटने पर प्राण देह को त्याग देते हैं और आत्मा देह से पृथक् हो जाता है, उसी का प्राचीन नाम 'उरुंजिरा' है । 'सुषोमा' उत्तम प्रेरणा वाली वा उत्तम वीर्य वाली वीर्यवहा नाडी वा जो अंगों में शक्ति प्रदान करे। (सिन्धुः यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः । सिन्धुः स्यन्दनात् नि०) सब नदियां जैसे सिन्धु में आती हैं ऐसे समस्त प्राण जिसमें आकर लय हो जाते हैं वह आत्मा ही 'सिन्धु' है। वह एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाते हुए महानद के समान जाता है अतः 'सिन्धु' कहाता है । देह ही देश के तुल्य 'क्षेत्र' कहाता है । (सा मे आत्माभूत् इति सोमः) सोम मेरा अपना ही आत्मा है ऐसा ब्राह्मणप्रोक्त निर्वचन है, इससे 'सुषोमा' स्वयं आत्मा रूप नदी है ।

आत्मा का नदीरूप से वर्णन महाभारत में—

आत्मा नदी संयम-पुण्यतीर्था, सत्योदका, शीलतटा दयोर्मिः । इत्यादि भिन्न२ स्थिति में यहां इन नामों से आत्मा को ही सम्बोधन किया गया है ।

इति षष्ठो व र्गः ॥

तृष्टाम॑या प्रथ॒मं यात॑वे स॒जूः सु॒सर्त्वा॑ र॒सया॑ श्वे॒त्या त्या ।
त्वं सि॑न्धो कु॒भया॑ गोम॒तीं क्रुमुं॑ मेह॒त्न्वा स॒रथं॒ याभि॒रीय॑से ॥६॥

भा०—उसी मुख्य आत्मा का और भी वर्णन करते हैं । हे (सिन्धो) आत्मन् ! तू (स-रथं) रथ अर्थात् रमण करने योग्य इस देह के साथ रहता हुआ (याभिः) जिन अनेक नाड़ियों, देह-अवयवों से (ईयसे) गति करता, संगत होता है वे अनेक हैं जैसे—(प्रथमम्) पहले (यातवे) जाने के लिये (तृष्टामया) 'तृष्टामा' नाम नाड़ी से (सजूः) संगत होता है । फिर (सुसर्त्वा) 'सुसर्तू' नाम नाड़ी के साथ, (रसया) 'रसा' नाड़ी के

साथ (त्या श्वेत्या) उस श्वेत नाड़ी के साथ। (कुभया मेहत्न्वा) 'कुभा' और 'मेहत्नू' नाड़ी के साथ संगत होता है, (गोमतीम् क्रुमुम् ईयसे) तू ही गोमती और क्रुमु नाड़ी के साथ संगत होता है।

(१) तृष्टामा, (२) सुसर्तू, (३) रसा, (४) श्वेत्या, (५) कुभा, (६) गोमती, (७) क्रुमु, (८) मेहत्नू, ये आठ नाड़ियां वेद ने और कही हैं। इनके साथ योग करके आत्मा अनेक देह के कार्यों का सम्पादन करता है। जैसे 'तृष्टामा' नाड़ी से आमाशयगत भोजन को पचाता है। 'सुसर्तू' के योग से देह के समस्त रसों को अपने२स्थानों पर भेजता है, 'रसा' नाड़ी से समस्त देह में रस व्यापता है 'श्वेत्या' से दुग्धवत् रस पक्वाशय से छाती में आकर रक्त में मिलता है, कुभा नाम नाड़ीजाल से देह की त्वचा का निर्माण करता है। 'गोमती' से वाणी का उच्चारण वा इन्द्रिय शक्तियों को वश करता है। 'क्रुमु' से देह के अंगों के चलने की व्यवस्था करता है। 'मेहत्नु' नाड़ी से मूत्र बनने और निकलने की व्यवस्था करता है।

ऋजीत्येनी रुशती महित्वा परि ज्रयांसि भरते रजांसि।
अदब्धा सिन्धुरपसामपस्तमाश्वा न चित्रा वपुषीव दर्शता ॥७॥

भा०—उसी आत्मा का और भी सिन्धु रूप से वर्णन करते हैं। (ऋजीती) ऋजु अर्थात् सरल गति वाली, ताप पहुंचाने वाली नाड़ी और (एनी) श्वेत वर्ण की वा मज्जावाहिनी वा शुक्रवाहिनी नाड़ी, और (रुशती) दीप्तियुक्त कान्ति देने वाली वा ओज धातु को फैलाने वाली नाड़ियें सब नाना स्रोत (महित्वा) उस आत्मा के महान् सामर्थ्य से ही (ज्रयांसि रजांसि परिभरते) वेग से देह में गति करने वाले अनेक रजों अर्थात् जल के समान बहने वाले द्रवरसों को सर्वत्र ले जाती हैं। तब यह (सिन्धुः) आत्मा (अदब्धा) विनाश को न प्राप्त होकर, (आसाम् अपस्तमा) इन समस्त कर्म करने वाले अंगों और इन्द्रियों और देहावयवों

के बीच सर्वश्रेष्ठ काम करने वाली होकर (अश्वा न) घोड़ी के तुल्य सदा शक्ति से युक्त, देह भर में व्यापक, देह की भोक्ता होकर (चित्रा) अद्भुत आश्चर्यकारी, चित्, चेतना को देह भर में देने वाली और (वपुषी इव दर्शता) रूपवतीसी देहमय होकर नयनों से देखने योग्य हो रही है ।

स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती ।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम् ॥८॥

भा०—वह (सिन्धुः) सब को बांधने वाली शक्ति, आत्मा, (युवतिः) तरुणी स्त्री के समान, बलवती, सबको अपने साथ मिलाए रखने वाली, (सु-अश्वा) उत्तम अश्वों, इन्द्रियगण की स्वामिनी, (सु-रथा) उत्तम रथवत् देह की अधिष्ठात्री, (हिरण्ययी) सुवर्ण के समान कान्तियुक्त, प्रकाशस्वरूप, (सु-कृता) उत्तम कर्म करने वाली, (वाजिनी-वती) वेगवती, ऐश्वर्यवती, बलवती, (ऊर्णावती) आच्छादक लोम, त्वचा वा देहादि से युक्त (सीलमा-वती) नाना नाड़ियों के जाल-बन्धन से युक्त, (सु-भगा) उत्तम सेवनीय ऐश्वर्य की स्वामिनी होकर (मधु-वृधं) मधु, मधुर अन्नादि से वृद्धि पाने वाले देह में (वस्ते) निवास करती है । (२) युवति पक्ष में—युवति (सु-अश्वा सु-रथा) उत्तम अश्व और रथ वाली, हिरण्ययी और काञ्चन देह, वा आभूषण पहिने वा उत्तम कार्यकुशल अन्न-सम्पदा की स्वामिनी, (ऊर्णावती) उत्तम आच्छादन वस्त्र वाली (सीलमा-वती) उत्तम केशादि वेणी बन्धन से युक्त, (सु-भगा) सौभाग्यवती, (मधु-वृधं वस्ते) अन्नादि वर्द्धक क्षेत्र वा गृह में रहती वा मधु अर्थात् मधुपर्कादि से वृद्धिमान् , आदर के योग्य पुरुष को प्राप्त कर उसके आश्रय पर रहती है ।

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ ।
महान्ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः ॥ ६ ॥ ७ ॥

भा०—पूर्वोक्त (सिन्धुः) अनादि काल से प्रवाहवत् नित्य रूप चली आई, (सुखं) सुखपूर्वक (अश्विनं रथं) अश्वों, भोग साधन इन्द्रियों और वेगवान् मन से युक्त, रमण योग्य वा वेग से चलने वाले इस देह से (युयुजे) योग करती है। उसमें सम्यक् रूप से चित्तादि का योग करती, (तेन) उस रथ से वह (अस्मिन् आजौ) इस विजय योग्य जीवन-संग्राम में (वाजं) ज्ञान-ऐश्वर्य या कर्म-फलरूप से अन्नादि भोग्य सुख दुःखादि का अन्न के समान (सनिषत्) सेवन करती है। जो स्वयं (अदब्धस्य) किसी का नाशक नहीं होता और (स्वयशसः) जिसका यश अपने ही ऊपर आश्रित है, वह स्वयं प्रसिद्ध और (विरप्शिनः) महान् है, (अस्य महान् महिमा पनस्यते) इसकी बड़ी भारी महिमा कही जाती है, उसके विषय में विविध प्रकार से कहा जाता है। इति सप्तमो वर्गः ॥

[७६]

जरत्कर्ण ऐरावतः सर्प ऋषिः॥ ग्रावाणो देवताः ॥ छन्दः—१, ६, ८ पादनिचृज्जगती । २, ३ आर्चीस्वराड् जगती । ४, ७ निचृज्जगती । ५ आसुरीस्वराडार्ची निचृज्जगती ॥

आ वं ऋञ्जस ऊर्जां व्युष्टिष्विन्द्रं मरुतो रोदसी अनक्तन ।
उभे यथा नो अहनी सचाभुवा सदःसदो वरिवस्यात उद्भिदा ॥१॥

भा०—हे विद्वानो और वीर पुरुषो ! मैं (ऊर्जाम् वि-उष्टिषु) बलवाली सेनाओं के नाना विभागों में (वः आ ऋञ्जसे) आप लोगों को प्रसाधित करता हूं, अच्छी प्रकार सुसज्जित करता हूँ। आप लोग (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् स्वामी राजा वा सेनापति को और (मरुतः) शत्रु को मारने वाले बलवान् पुरुष को और (रोदसी) आकाश-भूमिवत् दुष्टों को रुलाने वाले, रुद्र को पालन करने वाली मुख्य सेनाओं को (अनक्तन) प्रकट करो।

(यथा) जिस प्रकार से (नः) हमें (उभे अहनी) रात दिन दोनों कालों के तुल्य (सचाभुवा) एक साथ रहने वाले स्त्री पुरुष (सदः-सदः) प्रत्येक घर में (उत्-भिदा) उत्तम सुखप्रद अन्न आदि से (वरिवस्यातः) एक दूसरे की सेवा, सत्कार करें। (२) इसी प्रकार विद्वान् लोग प्राणों के निवासाश्रयों में इन्द्र, आत्मा और मरुतों, प्राणों को और रोदसी प्राण और अपान दोनों को (अनक्तन) प्रकट करें, उसका साक्षात् करें।

तदु श्रेष्ठं सवनं सुनोतनात्यो न हस्तयतो अद्रिः सोतरि।
विदद्ध्यर्यो अभिभूति पौंस्यं महो राये चित्तरुते यदर्वतः ॥ २॥

भा०—हे विद्वानो, वीर पुरुषो ! आप लोग (तत्) उसी (श्रेष्ठं) सब से श्रेष्ठ, (सवनं सुनोतन) यज्ञ को करो। (अत्यः न) जिस प्रकार अश्व (हस्त-यतः) हाथों द्वारा नियन्त्रित होकर (सोतरि) अपने चलाने वाले के अधीन रहकर (पौंस्यं) बल को (विदत्) प्राप्त करता है उसी प्रकार (अद्रिः) भयरहित, अविक्षत वा आदरयुक्त वीर सैन्य जन मेघ के तुल्य (अर्यः) स्वामी, (हस्त-यतः) हनन साधन शस्त्रादि से संयत होकर (सोतरि) अपने सञ्चालक सेनापति के नीचे रहकर (अर्यः) शत्रुओं को (अभि-भूति) पराजय करने वाला (पौंस्यं) बल पराक्रम (विदत्) प्राप्त करे और (अर्वतः) नाश करने वाले शत्रुओं को (महः राये) बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये (चित्) भी (तरुते) विनाश करे।

तदिद्ध्यस्य सवनं विवेरपो यथा पुरा मनवे गातुमश्रेत्।
गोअर्णसि त्वाष्ट्रे अश्वनिर्णिजि प्रेमध्वरेष्वध्वराँ अशिश्रयुः ॥ ३॥

भा०—(अस्य) इसका (तत् सवनम्) वह उस प्रकार अभिषेक वा शासन (अपः) समस्त प्रजाओं को इस प्रकार (विवेः) व्याप ले (यथा पुरा) जिस प्रकार पूर्ववत् (मनवे) मनुष्य के हितार्थ (गातुम्

अश्रेत्) ज्ञान, मार्ग प्राप्त हो। (गो-अर्णसि) गौ, पृथिवी वा वाणी के रूप में और (अश्व-निर्णिजि) अश्व रूप में (त्वाष्ट्रे) तेजस्वी सूर्य के (गो-अर्णसि) किरण रूप में वा (अश्व-निर्णिजे) व्यापक प्रकाशरूप में (अध्वरेषु) अहिंसनीय पदों पर (अध्वरान्) इन अहिंसनीय, बलवान् (ईम्) वीर वा विद्वान् पुरुषों को ही (प्र अशिश्रयुः) आश्रय रूप से स्थापित करें।

अप॑ हत र॒क्षसो॑ भङ्गुरा॒वतः॑ स्कभा॒यत॒ निरृ॑तिं॒ सेध॒ताम॑तिम्।
आ नो॑ र॒यिं सर्व॑वीरं सुनोतन देवा॒व्यं॑ भरत॒ श्लोक॑मद्रयः ॥ ४ ॥

भा०—हे वीरो! विद्वान् पुरुषो! आप लोग (रक्षसः अप हत) दुष्ट पुरुषों को मारो, उनको दण्ड दो, उनको बुरे कार्यों से दूर करो। (भङ्गु-रावतः) नियम-व्यवस्था को भङ्ग करने वाले लोगों को (अप स्कभायत) वश करो। और (निऋतिम्) सर्व प्रकार से कष्ट देने वाली (अमतिम्) दुःखदायी रोग वा अज्ञान बाधा को (अप सेधत) दूर करो। हे विद्वानो! वीरो! आप लोग (सर्व-वीरं रयिं) सर्व प्रकार के पुत्रों और वीरों से युक्त ऐश्वर्य को (आ सुनोतन) प्राप्त करो। और (देवाव्यं) विद्वानों और वीरों से प्राप्त होने योग्य (श्लोकं भरत) वेद-ज्ञान और कीर्त्ति, यश को (आ हरत) प्राप्त करो।

दि॒वश्चि॒दा वोऽम॑वत्तरेभ्यो वि॒भ्वना॑ चिदा॒श्व॑पस्तरेभ्यः।
वा॒योश्चि॒दा सोम॑रभस्तरेभ्यो॒ऽग्नेश्चि॑दर्च पितु॒कृत्त॑रेभ्यः ॥५॥८॥

भा०—हे विद्वन्! तू (नः) हमें (दिवः चित्) सूर्य के प्रकाश से भी (अमवत्तरेभ्यः) अधिक बलवान् (विभ्वना चित्) व्यापक विद्युत् से भी अधिक (आशु-अपस्तरेभ्यः) वेग से कार्य करने वाले और (वायोः चित्) वायु से भी अधिक (सोम-रभस्तरेभ्यः) प्रेरक बल से अधिक बलशाली, और (अग्नेः चित्) अग्नि से भी अधिक (पितु-कृत-तरेभ्यः) अन्न उत्पन्न करने वाले वीर विद्वान्, परिश्रमी जनों के

लिये तू (अर्च) आदर सत्कार प्रदर्शन कर, उनकी स्तुति कर वा उनको विद्या-ज्ञान दिखा । इत्यष्टमो व : ॥

भुरन्तु नो यशसः सोत्वन्धसो ग्रावाणो वाचा दिविता दिवित्मता।
नरो यत्र दुहते काम्यं मध्वाघोषयन्तो अभितो मिथस्तुरः ॥ ६ ॥

भा०—मेघ जिस प्रकार (अन्धसः सोतु) अन्न के उत्पादक जल को धारण और प्रदान करते हैं उसी प्रकार (यशसः) यशस्वी (ग्रावाणः) उत्तम उपदेष्टा जन (अन्धसः) प्राणधारक अन्न के (सोतु) रस को (भुरन्तु) प्राप्त करें और औरों को भी प्रदान करें (यत्र) जिसमें (नरः) मनुष्य (दिविता) उत्तम कामना से प्रेरित होकर (दिवित्मता वाचा) दीप्तियुक्त, स्फूर्तिजनक वाणी से (मिथस्तुरः) परस्पर मिलकर अति वेगवान् होकर (अभितः आघोषयन्तः) सब ओर आघोषित वा ज्ञानोपदेश करते हुए (काम्यम्) कामना करने योग्य (मधु) मधुर ज्ञान (दुहते) प्राप्त करें ।

सुन्वन्ति सोमं रथिरासो अद्रयो निरस्य रसं गविषो दुहन्ति ते ।
दुहन्त्यूधरुपसेचनाय कं नरो हव्या न मर्जयन्त आसभिः ॥ ७ ॥

भा०—(अद्रयः) जिस प्रकार मेघ (सोमं सुन्वन्ति) जल और अन्न को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार (रथिरासः) रथ वाले महारथी (अद्रयः) पर्वत के तुल्य दृढ़ और मेघवत् शस्त्रवर्षी जन (सोमं सुन्वन्ति) राष्ट्र में ऐश्वर्य को उत्पन्न करते हैं । और (रथिरासः) रमण योग्य, आत्मा और देहरूप रथ को वश करने वाले (अद्रयः) स्थिर वा धर्म-मेघ की दशा तक पहुंचे साधक जन (सोमं) सर्व जगद्-उत्पादक प्रभु की (सुन्वन्ति) उपासना करते हैं । वा (सोमं) अपने आत्मा को ही (सुन्वन्ति) साक्षात् करते हैं । वे (गो-इषः) वाणी को प्रेरित करते हुए, स्तुति-प्रार्थनाशील होकर (अस्य रसम्) इस आत्मा के परम आनन्दरूप रस

को (निः दुहन्ति) खूब २ प्राप्त करते हैं। (उधः उप-सेचनाय) जिस प्रकार गोपालक जन गाय के थान को दुग्ध के लिये दोहते हैं और जिस प्रकार मनुष्य (उप-सेचनाय) क्षेत्र को सेचने के लिये (ऊधः) जल-धारक मेघ वा तालाब से (दुहन्ति) जल प्राप्त करते और जल से क्षेत्रों को वा मेघ के जल से अपने जलाशयों को भर लेते हैं, उसी प्रकार (ते) वे अनेक साधक जन (उप-सेचनाय) आत्मा में ही रस का निषेक करने के लिये (ऊधः) रस से पूर्ण प्रभु से (दुहन्ति) रस को प्राप्त करते हैं। वे (नरः आसभिः हव्या न) जिस प्रकार मनुष्य मुखों से नाना अन्नों को प्राप्त करते अर्थात् खाते हैं उसी प्रकार (नरः) उत्तम मनुष्य (आसभिः) अपने मुखों से (हव्या) स्तुति योग्य, पुकारने योग्य वचनों को (मर्जयन्ते) स्वच्छ करके प्रकट करते हैं।

एते नरः स्वपसो अभूतन य इन्द्राय सुनुथ सोममद्रयः।
वामंवामं वो दिव्याय धाम्ने वसुवसु वः पार्थिवाय सुन्वते ॥८॥६॥

भा०—हे (नरः) नेता, प्रमुख नायक, उत्तम भद्र पुरुषो ! (अद्रयः सोमं सुन्वन्ति) जिस प्रकार जल से भरे मेघ अन्न, ओषधियों को उत्पन्न करते हैं इसी प्रकार जो लोग (इन्द्राय) ऐश्वर्य की वृद्धि और आत्मा परमात्मा की प्रसन्नता के लिये (सोमं सुनुथ) परम रसरूप आत्मा को प्रेरित करते हो। (एते) वे आप (अद्रयः) आदर योग्य जन (सु-अपसः अभूतन) उत्तम २ कर्म करने वाले होवो। आप लोग (दिव्याय धाम्ने) अति देदीप्यमान धाम, लोक के प्राप्त करने के लिये (वामं वामं) अति सेवनीय प्रभु की (सुनुत) उपासना करो और (वः) आप लोग (पार्थिवाय) अपने पृथिवी से बने देह और पृथिवी पर के जीवन के (सुन्वते) प्रेरक मनुष्य के लिये लिये (वसु-वसु) यहां निवास योग्य प्रत्येक पदार्थ को (सुनुत) उत्पन्न करो। इति नवमो वर्गः ॥

[७७]

स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ मरुतो देवता ॥ छन्दः—१, ३ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ४ त्रिष्टुप् । ६—८ विराट् त्रिष्टुप् । ५ पादनिचृज्जगती ॥ अष्टर्चं सूक्तम् ॥

अभ्रप्रुषो न वाचा प्रुषा वसु हविष्मन्तो न यज्ञा विजानुषः ।
सुमारुतं न ब्रह्माणमर्हसे गणमस्तोष्येषां न शोभसे ॥ १ ॥

भा०—जिस प्रकार वायुगण (अभ्रप्रुषः) मेघों से जल बिन्दुओं को झराने वाले होते हैं वे (हविष्मन्तः) यज्ञोत्पादक होते और (वि-जानुषः) विविध दिशाओं में उत्पन्न होते वा विविध पदार्थों, वृक्षों, वनस्पतियों वा अन्नों और प्राणियों को उत्पन्न करते हैं । उसी प्रकार (मरुतः) विद्वान् वीर और वैश्य वर्ग के जन भी (अभ्र-प्रुषः) मेघ के सदृश प्रजाओं पर धनों, सुखों और ज्ञानों की वर्षा करने वाले होकर (वाचा) वाणी से (वसु प्रुष) ज्ञानरूप धन प्रदान करते हैं । जिस प्रकार (यज्ञाः हविष्मन्तः) नाना हवियों से सम्पन्न यज्ञ वा उत्तम उपकरणों, साधनों से किये गये महायज्ञ (वि-जानुषः) विविध पदार्थों को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार ये विद्वान्, वीर प्रजाजन भी (हविष्मन्तः) नाना साधनों से सम्पन्न होकर (वि-जानुषः) राष्ट्र में अनेक पदार्थों को उत्पन्न करते हैं । और यज्ञों के समान ही (वाचा वि-जानुषः) वेद वाणी द्वारा ही विशेष जन्म को प्राप्त होते हैं, विविध प्रकार के विद्वान् कलावित् हो जाते हैं वा विविध पदार्थों का निर्माण करते हैं । हे विद्वान् मनुष्य ! तू (अर्हसे) पूजा और आदर करने के लिये (ब्रह्माणम्) चारा वेदों को जानने वाले, ब्रह्म बड़े भारी ज्ञानी, (न) के सदृश (सु-मारुतम्) उत्तम विद्वानों, वीरों के स्वामी वा उत्तम सुसंयत प्राणवान् आत्मा की (अस्तोषि) स्तुति कर और (शोभसे) अपनी शोभा अर्थात् अपने में उत्तम गुणों के धारण

करने के लिये (एषां गणं) इनके गण की (अस्तोषि) स्तुति कर, उन विद्वानों के समूह का आदर सत्कार कर ।

श्रिये मर्यासो अञ्जीँरकृण्वत सुमारुतं न पूर्वीरति क्षपः ।
दिवस्पुत्रास एता न येतिर आदित्यासस्ते अक्रा न वावृधुः ॥२॥

भा०— (मर्यासः) शत्रुओं को मारने वाले, वा मरणधर्मा, मनुष्य (श्रिये) अपनी शोभा और सम्पदा को बढ़ाने के लिये ही (अञ्जीन् अकृण्वत)अपने व्यक्त आभूषणों और कान्तियुक्त शस्त्रों को बनावें। (मर्यासः) मनुष्य (श्रिये) लक्ष्मी की वृद्धि के लिये (अञ्जीन्) व्यक्तरूप से प्रकट कान्तियुक्त आभरणों और पदार्थों को (अकृण्वत) उत्पन्न करते और उनको उपयोग करते हैं । (न) और इसी प्रकार (श्रिये) लक्ष्मी की वृद्धि के लिये (सु-मारुतम्) उत्तम वीरों के गण को भी (अकृण्वत) तैयार करते हैं । जिस प्रकार (पूर्वीः) पूर्व विद्यमान (क्षपः अति) रात्रियों को अतिक्रमण करके यदि (एताः) आगे २ आने वाले (दिवः पुत्रासः) सूर्य के पुत्रवत् अनेक किरण (न येतिरे) यत्न न करें तब (आदित्यासः) पृथिवी पर के (ते) वे अनेक (अक्राः) विचरने और न विचरने वाले जंगम जीव और स्थावर, चर अचर भी (न वबृधुः) वृद्धि को प्राप्त न हों, उसी प्रकार (एताः) आगे बढ़ने वाले (दिवः पुत्रासः) विजिगीषु विजेता पुरुष के पुत्रों के समान बहुतों की रक्षा करने में समर्थ ये वीर पुरुष यदि (पूर्वीः क्षपः) आगे आने वाले नाशकारी सेनाओं को (अति) अतिक्रमण करके (न येतिरे) उद्योग न करें तो (ते) वे (आदित्यासः) भूमिवासी वा माता पिता वा पुत्रादि आगे बढ़ने वाले प्रजागण (न वबृधुः) वृद्धि को प्राप्त न हों ।

प्र ये दिवः पृथिव्या न बर्हणा त्मना रिरिच्रे अभ्रान्न सूर्यः ।
पाजस्वन्तो न वीराः पनस्यवो रिशादसो न मर्या अभिद्यवः ॥ ३॥

भा०—(ये) जो (बर्हणा) अपने महान् सामर्थ्यवान् (त्मना) आत्मा से, (दिवः पृथिव्याः न) आकाश और सूर्य और पृथिवी वा कामनावान् आत्मा और मूल प्रकृति से भी अधिक (रिरिचे) महान हैं, अथवा (सूर्यः अभ्रात् न) सूर्य जिस प्रकार मेघ से वृष्टि कराता, जल बरसाता है उसी प्रकार जो विद्वान् (दिवः पृथिव्याः) आकाश वा सूर्य के प्रकाश और पृथिवी से भी (रिरिचे) अनेक जल, अन्नादि प्राप्त कराते हैं। वे (पाजस्वन्तो न वीराः) बलवान्, वीर और (पनस्यवः) व्यवहारकुशल, (रिशादसः) दुष्टों को नाश करने वाले, (न) और (मर्याः) शत्रुओं को मारने वाले पुरुष (अभि-द्यवः) सर्वत्र प्रकाशमान होते हैं।

युष्माकं बुध्ने अपां न यामनि विथुर्यति न मही श्रथर्यति।
विश्वप्सुर्यज्ञो अर्वागयं सु वः प्रयस्वन्तो न सत्राच आ गत ॥४॥

भा०—(अपां न यामनि) जलों के बहने में जिस प्रकार (मही न विथुर्यति न श्रथर्यति) भूमि पीड़ित नहीं होती न टूटती फूटती है। इसी प्रकार हे विद्वानो और वीर पुरुषो! (युष्माकम् अपां यामनि) आप्तस्वरूप आप लोगों के प्रयाणकाल और शासनकाल में भी (मही) भूमि, भूमिवासिनी प्रजा (न विथुर्यति) व्यथा को प्राप्त न हो, (न श्रथर्यति) छिन्न भिन्न न हो। हे विद्वान् पुरुषो! (वः) आप लोगों का (अयम्) यह (अर्वाक्) प्रत्यक्ष (यज्ञः) सत्संग होता है। आप लोग (प्रयस्वन्तः) उत्तम श्रमयुक्त (न) और (सत्राचः) एक साथ सुसंगत वा सत्य के आश्रित होकर (आगत) आवें। नश्चार्थः ॥

यूयं धूर्षु प्रयुजो न रश्मिभिर्ज्योतिष्मन्तो न भासा व्युष्टिषु।
श्येनासो न स्वयशसो रिशादसः प्रवासो न प्रसितासः परिप्रुषः
॥ ५ ॥ १० ॥

भा० —(प्रयुजः) उत्तम रीति से लगने वाले अश्व (न) जिस प्रकार (रश्मिभिः) रासों से वश में रहते हैं और ठीक मार्गों पर चलते हैं उसी प्रकार (यूयम्) आप लोग (धूर्षु) धुराओं अर्थात् प्रजा को धारण, नियन्त्रण करने योग्य पदों पर (प्र-युजः) उत्तम योग देने वाले वा नियुक्त होकर (रश्मिभिः) व्यापक वा बांधने वाले विधानों से बद्ध रहो। और (भासा न ज्योतिष्मन्तः) कान्ति वा प्रकाश से चमकने वाले सूर्य चन्द्र आदि के तुल्य ही (भासा) तेज से तेजस्वी होकर (वि-उष्टिषु) विविध कामनाओं वा कार्यों में (श्येनासः) गरुड़ पक्षी के तुल्य उत्साह, वेग और बल से सम्पन्न, वा (श्येनासाः) प्रशंसनीय आचरण वाले होकर (स्व-यशसः) अपना यश फैलाते हुए, (रिशादसः) दुष्टों का नाश करते हुए, (प्र-वासः) उत्तम वस्त्रों को धारण करते हुए, उत्तम रीति से प्रजा का आच्छादन वा पालन करते हुए, उत्तम गृहों के समान (प्र-सितासः) उत्तम बन्धनों, नियमों में बद्ध होकर (प्र-सितासः) उत्तम, शुक्ल कर्मों से शुद्ध अन्तःकरण होकर (परि-प्रुषः) सर्वत्रागमनागमन करनेवाले होवो। इति दशमो वर्गः ॥

प्र यद्वहध्वे मरुतः पराकाद्यूयं महः संवरणस्य वस्वः।
विदानासो वसवो राध्यस्याराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोत ॥ ६ ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वानो, वीरों वा वैश्य वर्ग के जनो ! (यत्) जिस कारण (पराकात्) दूर देश से और (आरात् चित्) समीप से भी (यूयम्) आप लोग (सं-वरणस्य) उत्तम रीति से प्राप्त करने योग्य, सब के मन को प्रिय लगने वाले (राध्यस्य) सर्व-कर्म-साधक, सबको इष्ट, (महः वस्वः) बड़े भारी धन को (वि-दानासः) प्राप्त करते रहते हैं। और इसलिये हे (वसवः) राष्ट्र के बसाने वालो ! आप लोग (सनुतः) छुपे, अप्रत्यक्ष (द्वेषः) अप्रीति कारण को भी (युयोत) दूर करो जिससे तुम्हारे धन-संग्रह के कार्य में विघ्न न पड़े।

य उदृचि यज्ञे अध्वरेष्ठा मरुद्भ्यो न मानुषो ददाशत् ।
रेवत्स वयो दधते सुवीरं स देवानामपि गोपीथे अस्तु ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (अध्वरे) यज्ञ, वा प्रजापालक के सर्वश्रेष्ठ पद पर विराज कर (उद्-ऋचि यज्ञे) अन्तिम ऋचा तक पूर्ण होने वाले यज्ञ की समाप्ति पर (मरुद्भ्यः रेवत् न मानुषः) विद्वान् यज्ञकर्त्ता जनों को धन सम्पन्न पुरुष के तुल्य (ददाशत्) दान-दक्षिणा आदि उदारता से प्रदान करता है, (सः) वह (सु-वीरं) उत्तम पुत्रों, वीरों सहित (वयः दधते) दीर्घ आयु और बल को धारण करता है। (सः) वह (देवानाम् अपि) विद्वानों और अनेक मनुष्यों के भी (गो-पीथे) रक्षा के पद पर (अस्तु) हो।

ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमा आदित्येन नाम्ना शम्भविष्ठाः ।
ते नोऽवन्तु रथतूर्मनीषां महश्च यामन्नध्वरे चकानाः ॥ ८ ॥११॥

भा०—(ते) वे (हि) निश्चय से (यज्ञेषु) यज्ञों, सत्संगों और देवपूजन, अध्ययन, अध्यापन आदि कार्यों में (यज्ञियासः) यज्ञ, सत्संग, पूजा-सत्कार आदि कार्यों के योग्य जन (ऊमाः) सब के रक्षक, सर्व-स्नेही, दुष्टों के नाशक, (शं-भविष्ठाः) सबके लिये सुख कल्याण की भावना करने वाले, (आदित्येन नाम्ना) आदित्य नाम से कहने योग्य हैं। अथवा वे (आदित्येन) अदिति, आकाश, और अदिति पृथिवी के (नाम्ना) जल वा अन्न से (शं-भविष्ठाः) सब को शान्ति सुख देने वाले अथवा (आदित्येन नाम्ना) अदिति, माता पिता के तुल्य रूप से सबको सुख देने वाले हों। वे (अध्वरे यामन्) हिंसा से रहित मार्ग वा नियन्त्रण-व्यवस्था में (महः) महान् पद, यश और ऐश्वर्य आदि (चकानाः) चाहते हुए, (रथ-तूः) रथ वेग से जाने वाले होकर (नः मनीषाम् अवन्तु) हमारे मन की कामना को चाहें, उसको पूर्ण करें। इत्येकादशो वर्गः ॥

[७८]

स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ मरुतो देवता ॥ छन्दः—आर्ची त्रिष्टुप् । ३, ४ विराट् त्रिष्टुप् । ८ त्रिष्टुप् । २, ५, ६ विराड् जगती । ७ पादनिचृज्जगती ॥ अष्टर्चं सूक्तम् ॥

विप्रासो न मन्मभिः स्वाध्यो देवाव्यो३न यज्ञैः स्वप्नसः ।
राजानो न चित्राः सुसन्दृशः क्षितीनां न मर्या अरेपसः ॥ १ ॥

भा०—वे विद्वान् जन (मन्मभिः) मनन करने योग्य ज्ञानों से (विप्रासः) विविध विद्याओं से पूर्ण (न) और (सु-आध्यः) उत्तम ध्यानशील और सुखपूर्वक, सब विद्याओं को स्मरण करने वाले हों। वे (यज्ञैः) दान, मान, सत्कारों से (देवाव्यः) विद्वान्, ज्ञानदाता, तत्व-प्रकाशक मनुष्यों की, रक्षा, प्रेम, समृद्धि आदि करनेवाले और (सु-अप्नसः) उत्तम २ कर्म करने वाले हों। वे (राजानः) राजाओं के समान, शुभ गुणों से प्रकाशित होने वाले (चित्राः) अद्भुत आश्चर्यकारक काम करने वाले, (सु-सं-दृशः) उत्तमता से सब तत्वों का साक्षात् करने वाले (मर्याः) मनुष्य (क्षितीनां) समस्त मनुष्यों के बीच (अरेपसः) निष्पाप हों। अथवा (क्षितीनां राजानः न सु-सं-दृशः अरेपसः) समस्त भूमियों के राजाओं के समान स्वयं पाप-अपराध से रहित, न्याय आदि को देखने दिखाने वाले हों।

अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसो वातासो न स्वयुजः सद्यऊतयः ।
प्रज्ञातारो न ज्येष्ठाः सुनीतयः सुशर्माणो न सोमा ऋतं यते ॥ २ ॥

भा०—(ये) जो (अग्निः न) अग्नियों के समान अति तेजस्वी, शत्रुओं को वा भीतरी पापों को दग्ध करने वाले, (भ्राजसा) तेज से (रुक्म-वक्षसः) तेज को धारण करने वाले वा शरीर पर सुवर्णादि के

आभूषण धारण करने वाले हों। वे (वातासः) प्रबल वायुओं के समान (स्व-युजः) अपने को सहायक, स्वयं अन्यों के सहायक वा स्व अर्थात् आत्मा के साथ समाहित, एकाग्र चित्त होने वाले और (स्व-युजः) धन के द्वारा अनेक कार्यों में नियुक्त होने वाले (सद्य-ऊतयः) अति वेग से ठीक समय पर आने और जाने वाले, (प्र-ज्ञातारः) उत्कृष्ट ज्ञान वाले विद्वानों के समान, (ज्येष्ठाः न) प्रशस्त पुरुषों के तुल्य, बड़े, महान्, पूज्य, (सु-नीतयः) उत्तम व्यवहार मार्ग में लेजाने वाले, उत्तम धर्म-नीति से आचरण करने वाले, (सु-शर्माणः) उत्तम गृहों से सम्पन्न, उत्तम सुख से सम्पन्न, उत्तम शान्तिदायक, (न सोमाः) और सौम्य गुण वाले, विद्वान्, अभिषिक्त, विद्या-निष्णात जन (ऋतं यते) सत्य मार्ग में गमन करते हैं।

वातासो न ये धुनयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः।
वर्मण्वन्तो न योधाः शिमीवन्तः पितॄणां न शंसाः सुरातयः ॥३॥

भा०—(ये) जो (वातासः न) प्रबल वायुओं के तुल्य (धुनयः) शत्रुओं को कंपाने वाले और (जिगत्नवः) आगे बढ़ने वाले हैं। जो (अग्नीनां जिह्वाः न) अग्नियों की लपटों के समान (वि-रोकिणः) विविध दीप्तियों, कान्तियों वाले और (योधाः न वर्मण्वन्तः) योद्धाओं के समान कवचों से सम्पन्न हों वे (शिमीवन्तः) उत्तम कार्यों से सम्पन्न (पितृणां शंसाः) माता पिताओं और गुरुओं की वाणियों वा उपदेशों के समान (सुरातयः) सुख और शुभ ज्ञान देने वाले हों। अथवा (पितृणां न) और वे माता पिता गुरु आदिकों के बीच (शं-साः) शान्तिदायक (सु-रातयः) उत्तम दानशील हों।

रथानां न ये ऽराः सनाभयो जिगीवांसो न शूरा अभिद्यवः।
वरेयवो न मर्या घृतप्रुषोऽभिस्वर्तारो अर्कं न सुष्टुभः ॥ ४ ॥

भा०— (ये) जो (रथानां अराः न) रथों में लगे चक्र के अरों के समान (स-नाभयः) एक नाभि वा एक समान बन्धुता में बंधे हों। (जिगीवांसः शूराः न) विजयशील शूरवीरों के समान (अभि-द्यवः) सब ओर विजय करने वाले, तेजस्वी हों वे (वरे-यवः) सत् कार्य में योग देने वाले (मर्याः न) मनुष्यों के समान (घृत-प्रुषः) जला का सेचन करने वाले (अभि स्वर्त्तारः अर्कम्) अर्चनीय परमेश्वर की साक्षात् स्तुति करने वाले (न) और (सु-स्तुभः) उत्तम उपदेष्टा, वेदज्ञ हों।

अश्वा॑सो॒ न ये ज्येष्ठा॑सः आ॒शवो॑ दिधि॒षवो॒ न र॒थ्यः॑ सु॒दान॑वः।
आपो॒ न नि॒म्नैरु॒दभि॑र्जिग॒त्नवो॑ वि॒श्वरू॑पा अङ्गि॑रसो॒ न साम॑भिः।
॥ ५ ॥ १२ ॥

भा०—(न) और (ये) जो (अश्वासः) नाना विद्याओं में पारंगत (ज्येष्ठासः) प्रशंसनीय, मान, आदर गुणों में महान्, (आशवः) वेग से जाने वाले, (रथ्यः न) रथ में लगे अश्वों के समान (दिधिषवः) सब का पालन पोषण करने वाले, (निम्नैः उदभिः न आपः) नीचे बहने वाले जलों से जलधाराओं के समान (निम्नैः जिगत्नवः) निम्न, विनयशील आचार व्यवहारों से आगे बढ़ने वाले, (विश्व-रूपाः न) और अनेक प्रकार के (अंगिरसः) ज्ञानी, तेजस्वी पुरुष (सामभिः) उत्तम, विनययुक्त शान्ति-दायक वचनों से विराजते हैं।

ग्रावा॑णो॒ न सू॒रयः॒ सिन्धु॑मातर आदर्दि॒रासो॒ अद्र॑यो॒ न वि॒श्वहा॑।
शि॒शूला॒ न क्री॒ळयः॑ सु॒मात॑रो महाग्रा॒मो न याम॑न्नु॒त त्वि॒षा ॥ ६ ॥

भा०—वे (सूरयः) विद्वान् जन (ग्रावाणः न) मेघों के समान (सिन्धु-मातरः) जल प्रवाहों को बनाने वाले, नदी, नहरें बनाने वाले वा सब को नियम व्यवस्था में बांध कर चलाने और शत्रु को पित करने वाले, सेनापति वा राजा को स्वयं बनाने वाले वा उसको माता के

समान मान्य मानने वाले हों। वे (अद्रयः न) शस्त्रों वा खड्गों के समान (विश्वहा) सदा (आदर्दिरासः) सब ओर शत्रुओं को छिन्न भिन्न करने वाले हों। वे (क्रीडयः शिशूलाः न) खेलने वाले बच्चों के समान (सु-मातरः) उत्तम माता वाले, उत्तम ज्ञानवान् पुरुषों के अधीन हों। वे (यामन्) प्रयाण या शत्रु पर चढ़ाई करते हुए (त्विषा) कान्ति तेज और प्रभाव में (महा-ग्रामः न) बड़े जनसंघ के समान भयकारक हों। (२) उसी प्रकार शरीर में प्राणगण, देह को सञ्चालित करने से 'सूरि' हैं। 'सिन्धु' अर्थात् आत्मा रूप माता के पुत्र हैं। देह को बलपूर्वक स्थान २ पर भेद कर वे इन्द्रियों के छिद्र बनाते हैं। शब्द आदि विषयों में रमने से 'क्रीड़ि' हैं। चेतन आत्मा ही उनकी माता है। उनका संघ ही महाग्राम-वत् देह में गति करता है।

उषसां न केतवोऽध्वरश्रियः शुभंयवो नाञ्जिभिर्व्यश्वितन्।
सिन्धवो न ययिनो भ्राजदृष्टयः परावतो न योजनानि ममिरे ॥७॥

भा०—(उषसो न केतवः) प्रभात काल की रश्मियां जिस प्रकार (अध्वर-श्रियः) जीवन रूप यज्ञ का आश्रय वा अविनाशी सूर्य की शोभा वा कान्ति होती हैं उसी प्रकार विद्वान् और वीर जन भी (अध्वर-श्रियः) यज्ञ वा महान् अविनाशी आत्मा वा परमेश्वर के ऊपर आश्रय लेने वाले, वा यज्ञ की शोभा करने वाले हों। (शुभंयवः अञ्जिभिः वि अश्वितन्) जिस प्रकार किरणें जलों को प्राप्त करते वा प्राप्त कराते हैं और प्रकाशों से जगद् भर को चमकाते हैं उसी प्रकार वे भी (शुभंयवः) शोभन आभूषण आदि और गुणों को धारण करने वाले, (शुं-यवः) आदरणीय जल अर्घ्य की कामना करने वाले, (अञ्जिभिः वि अश्वितन्) उत्तम आभरणों से चमकें, वा (अंजिभिः) तेजों, ज्ञान-प्रकाशों से विशेष रूप से (वि अश्वितन्) सुशोभित हों। वे (सिन्धवः) जलधाराओं वा नदियों

के समान (ययिनः) सदा वेग से पयान करने वाले, सदा आगे बढ़ने वाले, (भ्राजद्-ऋष्टयः) चमचमाते शस्त्रों वाले, (भ्राज-दृष्टयः) देदीप्यमान, तेजस्वी चक्षुओं वाले हों। वे (परावतः) दूर २ के जाने वाले अश्व जैसे (योजनानि ममिरे) अनेक योजन लांघ जाते हैं उसी प्रकार वे भी (परावतः) परम पद पर विद्यमान प्रभु के (योजनानि) संयोग सुखों को वा योग द्वारा अनेक प्राप्ति साधनों को (ममिरे) करते और अन्यों को उपदेश करते हों । वा दूर देशों के यात्रियों के तुल्य दूर २ देशों को जाने वाले हों ।

सुभागान्नो देवाः कृणुता सुरत्नानस्मान्त्स्तोतॄन्मरुतो वावृधानाः। अधि स्तोत्रस्य सख्यस्य गात सनाद्धि वो रत्नधेयानि सन्ति ॥ ८ ॥ १३ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वानो, वीरो और व्यवहार कुशल जनो ! आप लोग (नः) हमें (सु-भागान्) उत्तम धन-सम्पन्न, (सु-रत्नान्) उत्तम रत्नों का स्वामी (कृणुत) बनाओ । हे (मरुतः) वीर जनो ! आप लोग (अस्मान् स्तोतॄन्) हम लोगों के स्तोता, समस्त पदार्थों के गुणों का वर्णन, उपदेश करने वालों को (ववृधानाः) बढ़ाते हुए, हमारे (स्तोत्रस्य सख्यस्य) स्तुति योग्य, सख्य, मैत्री भाव को (अधि गात) प्राप्त करो, वा हमें स्तुत्य मित्र भाव का उपदेश करो । (वः) आप लोगों के (रत्नधेयानि) अनेक रम्य, सुन्दर २ ज्ञान देने योग्य (सनात हि) सदा से ही (सन्ति) विद्यमान हैं । इति त्रयोदशो वर्गः ॥

[७६]

अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा सप्तिर्वा वाजम्भरः ॥ अग्निर्देवता ॥ छन्दः—१ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । २, ४, ६ विराट् त्रिष्टुप् । ३ निचृत् त्रिष्टुप् । ५ आर्चीस्वराट् त्रिष्टुप् । ७ त्रिष्टुप् ॥ सप्तर्चं सूक्तम् ॥

अपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु ।
नाना हनू विभृते सं भरेते असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः ॥ १ ॥

भा०—मन्त्र में अग्नि, जाठर अग्नि और व्यापक आत्मा और परमात्मा का श्लेष से वर्णन है। (अस्य अमर्त्यस्य) इस अविनाशी, (महतः) महान् प्रभु आत्मा के (महित्वम्) महान् सामर्थ्य को मैं (मर्त्यासु विक्षु) मरणधर्मा, विनाश होने वाली प्रजाओं, देहों और विनश्वर लोकों के बीच में (अपश्यम्) देखता हूँ। उस महान् अग्नि का क्या महान् बल है? कि (नाना) अनेक (हनू) मुख के दो जबड़ों के समान गतिशील सूर्य और पृथिवी, (वि-भृते) भिन्न २ रूप से स्थित होकर या विशेष रूप से धारित होकर (सं भरेते) समस्त प्राणियों को पालन पोषण कर रहे हैं। और (असिन्वती) वे दोनों किसी को बन्धन में न बांधती हुई भी (बप्सती) मानों खाती हुई सी (भूरि अत्तः) बहुत २ खा जाती हैं, सभी प्राणी लोक इनमें ही मर कर अपने देहों को इनके अर्पण करते हैं वह देह छिन्न भिन्न होकर इसी में मिल जाते हैं। अध्यात्म में—इस आत्मा का महान् सामर्थ्य है, जो मरणधर्मा नश्वर देहों में विद्यमान है। उसके दोनों (हनू) जबाड़े, (वि-भृते संभरेते = विहृते संहरेते) खुल २ कर फिर २ बन्द होते हैं। वे दोनों (असिन्वती) किसी अन्न आदि ग्रास को बांधती नहीं तो भी अन्न को कूंच कर खाजाती हैं और बहुत सा और बहुत वार खाती हैं, यह उसी अग्नि चेतना वा जाठर अग्नि की महिमा है। खाकर भी वे जबाड़े (असिन्वती) अन्न को अपने में नहीं रख लेते प्रत्युत जाठर अग्नि को ही समर्पित कर देते हैं। (३) इस अग्नि के दो जबाड़े (हनू) पदार्थों को छिन्न भिन्न करने वाली दो शक्तियां ताप और विद्युत् हैं, वे दोनों (वि-भृते संभरेते) आपस में एक दूसरे से पृथक् और परस्पराकर्षण से पुनः २ मिलने वाली हैं। वे ज्वालाएं किसी को विना पकड़े ही खा जाती हैं। और बहुत पदार्थों को भस्म कर देती हैं।

गुहा शिरो निहितमृधगक्षी असिन्वन्नत्ति जिह्वया वनानि।
अत्राण्यस्मै पड्भिः सं भरन्त्युत्तानहस्ता नमसाधि विक्षु ॥२॥

भा०—देखो शरीर में स्थित वैश्वानर आत्मा की अद्भुत महिमा। (शिरः गुहा निहितम्) शिर भाग, मस्तिष्क गुहा अर्थात् खोपड़ी के भीतर सुरक्षित रखा है। और (अक्षी ऋधक्) दोनों आंखें पृथक् २ बनी हैं। वह (जिह्वया) जिह्वा द्वारा (असिन्वन्) भोज्य पदार्थ को विना पकड़े ही (वनानि) नाना भोग्य पदार्थों को (अत्ति) खा जाता है। (अस्मै) इसी पेट की अग्नि के लिये (पड्भिः) पैरों से अन्य २ देशों में जा २ कर (अत्राणि) अनेक खाद्य पदार्थ (सं भरन्ति = सं हरन्ति) प्राप्त करते हैं। और (अधि विक्षु) प्रजाओं के बीच (नमसा) अन्न सहित (उत्तानहस्ता) अपने हाथों को ऊपर उठाये हुए (अस्मै) इस वैश्वानर अग्नि को तृप्त करने के लिये ही (पड्भिः) उत्तम आदरयुक्त वचनों सहित (अत्राणि) नाना खाद्य (सं भरन्ति) प्रदान करते हैं।

परमात्मा के पक्ष में—उस प्रभु का शिर (गुहा निहितम्) महान् आकाश में स्थिर है। 'द्यौर्मूर्धा'०, सूर्य और चन्द्र उस प्रभु के (अक्षी ऋधक) दो पृथक् २ आंखों के समान हैं। विद्युत् उसकी जिह्वा के समान (वनानि अत्ति) जलों को ग्रहण करती हैं, उस प्रभु को प्राप्त करने के लिये ही भक्त जन हाथ उठा कर ज्ञानमय वचनों से नमस्कारपूर्वक स्तुति करते और प्रजाओं में दान देते हैं।

प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन्कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः।
ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः ॥ ३ ॥

भा०—(कुमारः नः) क्रीड़ाशील छोटा बालक जिस प्रकार (मातुः गुह्यम्) आंखों से ओझल माता के छुपे रूप को (प्रतरम् इच्छन्) खूब चाहता हुआ (वीरुधः प्र सर्पत्) अनेक लताओं की ओर जाता है

और माता को ढूंढता है। और ढूंढ कर (उपस्थे अन्तः) माता की गोद में चढ़ कर (पक्कं ससं न) पके अन्न के समान (शुचन्तं) अति उज्ज्वल दूध को (रिरिह्वासं) पीता हुआ अपने को (अविदत्) पाता है उसी प्रकार यह जीव आत्मा (कुमारः) अर्थात् रूप रस गन्ध आदि विषयों में क्रीड़ा-विहार करता हुआ (मातुः) माता के (प्र-तरम्) सर्वोत्कृष्ट (गुह्यं) गर्भाशय को (इच्छन्) चाहता हुआ और (प्रतरम् इच्छन्) खूब २ चाहता हुआ पहले (ऊर्वीः वीरुधः प्र-सर्पत्) अनेक लताओं को प्राप्त होता है अर्थात भूमि पर विविध रूप से उगने वाले अनेक स्थावर योनियों को प्राप्त होता है। और तब (रिपः उपस्थे अन्तः) वह अपने को भूमि की गोद में, भीतर (पक्कं ससं न) पके अन्न के समान (शुचन्तम्) अति उज्ज्वल शुक्र रूप जल वा दुग्ध रूप अंश को (रिरिह्वांसं) चाटता वा पीता हुआ (अविदत्) पाता है। स्थावर योनि के अनन्तर जीवों से खाया जाकर फिर प्रथम पुरुष-देह में वीर्य रूप होकर, पुनः माता के गर्भाशय में शुक्रांश रूप से वृद्धि पाकर, माता की गोद में दूध पान करता और भूमि पर अन्न भी खाता और पक्व फलवत् अपने अनेक कर्मों के फलों का उपभोग भी करता है। (२) पक्षान्तर में—अध्यात्मसाधक योगी (कुमारः न) बालक के समान निर्लेप, निष्पाप होकर (मातुः)सब जगत् के निर्माता परमेश्वर के (गुह्यम्) गुहा, हृदय या बुद्धि में स्थित, स्व-बुद्धिमात्र-संवेद्य, (प्र-तरम्) सर्वोत्कृष्ट, इस संसार-सागर से तरा देने वाले रूप को (इच्छन्) चाहता हुआ (ऊर्वीः वीरुधः प्रसर्पत्) अनेक विपरीत रूप से उठने वा उसे मोक्ष मार्ग से रोकने वाली अनेक, बाधाओं को पार करता है और वह (वीरुधः) विविध रूप से उत्पन्न करने वाली (ऊर्वीः) अनेक भोग भूमियों को (प्र सर्पत्) गुज़रता है। बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते गीता० ॥ वह बाद में (रिपः उपस्थे अन्तः) इस पृथिवी वा पार्थिव देह के ही गोद में, भीतर हृदय में (पक्वं ससं न) पके धान्य के सदृश

(शुचन्तं) अति देदीप्यमान, शुद्ध, उज्ज्वल, प्रकाशस्वरूप, (रिरिह्वांसं) अनेक भोगों को भोगता हुआ अपने आप को धान्य की तरह से उत्पन्न होता और मरता हुआ (अविदत्) पाता है ।

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ काठकोपनि० ॥

अथवा बहुत जन्म के बाद इस देह में ही कभी वह साधक अपने को पके धान के समान पाकर शुद्ध प्रभु का दर्शन कर अपने बन्धन को उसी प्रकार काट देता है जैसे कृषक पके धान को काट देता है ।

तद्वामृतं रोदसी प्र ब्रवीमि जायमानो मातरा गर्भो अत्ति ।
नाहं देवस्य मर्त्यश्चिकेताग्निरङ्ग विचेताः स प्रचेताः ॥ ४ ॥

भा०—हे (रोदसी) सूर्य और भूमि के सदृश माता पिताओ ! मैं (वाम्) आप दोनों के सम्बन्ध में (तत्) उस (ऋतम्) सत्य तत्व को (प्र ब्रवीमि) बतलाता हूँ कि (जायमानः गर्भः) प्रकट होता हुआ, उत्पन्न होता हुआ गर्भगत बालक (मातरा अत्ति) माता पिता के अंश को ही खाकर बढ़ता है । सच तो यह है कि (अहम् मर्त्यः) मैं मरणधर्मा जीव (देवस्य न चिकेत) उस अन्न वा कर्मफल देने वाले दाता प्रभु के सम्बन्ध में नहीं जानता हूँ । (अंग) हे विद्वान् जनो ! (अग्निः) वही तेजःस्वरूप, ज्ञानवान्, सब जगत् का प्रकाशक, सब का आदि कारण, सब को पुनः भस्म कर अपने भीतर लीलने वाला प्रभु ही (वि-चेताः) विविध ज्ञानों को जानने वाला और (सः प्र-चेताः) वही सब से उत्कृष्ट ज्ञानवान् है । (२) जिस प्रकार रगड़े जाते दो काष्ठों से आग उत्पन्न होती है और फिर वहकाष्ठ को ही खाकर चमकती है उसी प्रकार जीव माता पिता से उत्पन्न होकर शुक्र-शोणित अंश को प्राप्त कर जीवन धरता, और बढ़ता है । पुनः माता के अंशरूप दूध को पीता और फिर बड़ा होकर भी माता-पिता के धन सम्पदा को भोगता वा पृथिवी और सूर्य के अन्न-जल-

प्रकाश से जीता है । परन्तु फिर सुख-दुःखादि नाना कर्मफल किस प्रकार भोगता है कैसे माता पिता के शुक्र-शोणित में आता है । इत्यादि रहस्यों को यह मरणधर्मा जीव क्या जाने ? इस अदृश्य रहस्य को तो वह प्रभु ही जानता है ।

यो अ॑स्मा अन्नं॑ तृ॒ष्वा॒३॒॑दधा॒त्याज्यै॑र्घृ॒तैर्जु॒होति॒ पुष्य॑ति ।
तस्मै॑ स॒हस्र॑म॒क्षभि॒र्वि च॒क्षेऽग्ने॑ वि॒श्वतः॑ प्र॒त्यङ्ङ॑सि॒ त्वम् ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (अस्मै) इस जीव के उपकारार्थ (तृपु) अति शीघ्र, तुरन्त, चाहते ही, (अन्नम्) खाने योग्य माता के स्तनों में दूध आदि रूप से खाद्य पदार्थ को (आज्यैः घृतैः) चिकनाई और द्रव-तत्वों के सहित (आ दधाति) प्रदान करता है और जो भूमि पर अन्न को (आज्यैः घृतैः) तैल, मक्खन आदि चिकने पदार्थों को और नाना जलों सहित भूमि पर देता है, (जुहोति) आकाश से और भूमि से प्रदान करता है, माता के स्तन-ग्रन्थियों से आहुतिवत् देता है, और (पुष्यति) समस्त जीवों को पुष्ट करता और बढ़ाता है । (तस्मै) उसके (सहस्रम्) सहस्रों, विश्वरूप रूप को मैं (अक्षभिः) अपने अनेक इन्द्रियों से (विचक्षे) देखता हूं । हे (अग्ने) अग्निवत् सर्वप्रकाशक ! प्रभो ! (त्वम् प्रत्यङ् असि) तू साक्षात् तेजोमय, समस्त विश्व के प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक आत्मा में व्यापक अन्तर्यामी, प्रत्यक् (असि) है ।

परमेश्वर का 'सहस्र' अर्थात् सहस्रों का सा रूप वा सब से अधिक बलशाली रूप विराट् ही है जिसको वेद ने कहा है "सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।" अथवा—

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ गी० ११।२३॥

सर्वं वै सहस्रम् । शत० । यह सर्व, विश्वरूप प्रभु का है, जैसे—

नमः पुरस्तादथपृष्ठतस्ते नमोस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वः ।।गी० ११।४०।।

किं दे॒वेषु॒ त्यज॒ एन॑श्चकर्थाग्ने॑ पृच्छामि॒ नु त्वामवि॑द्वान् ।
अक्री॑ळ॒न् क्रीळ॒न्हरि॒रत्त॑वे॒ऽद॒न्वि पर्व॒शश्च॑कर्त॒ गामि॑वा॒सिः ।।६।।

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप ! प्रकाशवान् ! प्रभो ! तू (किम् एनः) किस अपराधो को देख कर (देवेषु) मनुष्यों पर (त्यजः चकर्थ) क्रोध करता है, रुद्र हो उनको दण्ड देता है । मैं (अविद्वान्) अज्ञानी और (अक्रीडन्) किसी प्रकार का हास्य-विनोद न करता हुआ, सत्य जिज्ञासु भाव से (त्वाम् पृच्छामि) तुझसे पूछता हूं । (हरिः) जगत् को हरने वाला संहारकारी, (क्रीडन्) मानो खेलता हुआ ही (अत्तवे अदन्) खाद्य पदार्थ खाता हुआ (पर्वशः) पोरु २ पर (गाम् इव असिः) तांत या चमड़े वा अन्न को शस्त्र के समान (वि चकर्त्त) काट डालता है ।

संहारकारी प्रभु का उग्र रूप देखकर स्वभावतः जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि दयालु प्रभु भला क्योंकर इतना उग्र होता है । इसका वर्णन वा व्याख्या गीता के ११ वें अध्याय में देखो वहां भी अर्जुन जिज्ञासु ने प्रश्न किया है—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।।११।३१।।

प्रलयकाल में पर्वशः-छेदन जैसे—

के चिद्विलग्नाः दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाण विशन्ति दंष्ट्रा करालानि भयानकानि ।

प्रलयकाल में विश्वसंहारक शक्ति का उग्र रूप इस प्रकार दीखता है, जैसे गीता में—

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।
गी० ११ । २९ । ३० ॥

प्रभु के उस भयंकर रूप को देखकर जिज्ञासु का सब विहार-विनोद नष्ट हो जाता है । वह मूढ़ चेतना और ज्ञान से शून्य अपने को पाता है । ऐसा ही भाव गीता में दिखाया है जैसे—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे
गीता ११ । ४२, ४४ ॥

वि॒षूचो॒ अश्वा॑न्युयुजे वने॒जा ऋजी॑तिभी र॒शनाभि॑र्गृभी॒तान् ।
च॒क्ष॒दे मि॒त्रो वसु॑भिः सु॒जा॑तः॒ समा॑नृधे॒ पर्व॑भिर्वावृधा॒नः ॥७॥१४॥

भा०—जिस प्रकार (वनेजाः) तेजोमय प्रकाश में प्रकट होनेवाला सूर्य (ऋजीतिभिः) ऋजु—सरल मार्ग से जाने वाले (रशनाभिः) व्यापक शक्तियों सहित वा (ऋजीतिभिः) संतापदायक (रशनाभिः) व्यापक किरणों से (गृभीतान्) पकड़े हुए (वि-षूचः) सर्वत्र सब ओर पहुंचने वाले (अश्वान् युयुजे) व्यापक अन्धकार-नाशक प्रकाशमय किरणों को प्रेरित करता है और वह (सु-जातः) उत्तम रूप में प्रकट होकर (वसुभिः) आच्छादक किरणों वा पृथिव्यादि लोकों सहित (चक्षदे) आकाश में गति करता है, और (वावृधानः) बढ़ता हुआ (पर्वभिः)

पर्वों से राशि-चक्र के राशि २ पर वा जगत् के पालक किरणों से (समानृधे) समृद्ध होता है । इसी प्रकार (वने-जाः) यह आत्मा मातृगर्भ में जलों में, शुक्रों में उत्पन्न वा प्रकट होकर (ऋजीतिभिः) तापदायक (रशनाभिः) खाने वा भोगने की इच्छाओं वा कामनाओं से (गृभीतान्) वशीभूत (अश्वान्) भोग-साधन अश्ववत् इन्द्रियों को (युयुजे) देह में युक्त करता और प्रेरित करता है । वह (मित्रः) देह को मरने वा मृत्यु से बचाता हुआ (सुजातः) सुख से उत्पन्न होकर (वसुभिः) देह में बसे आठों प्राणों से (चक्षदे) गर्भ से बाहर स्खलित होता है, वह अनायास फिसल आता है । वह अनन्तर (ववृधानः) निरन्तर पोषण पाता हुआ (पर्वभिः) दिनों, पक्षों और मासों और वर्षों रूप काल के अवयवों से (समानृधे) सम्पन्न होता है । वा (पर्वभिः) पर्वों से दिनों दिन चन्द्र के तुल्य बढ़ता है । (३) अग्निपक्ष में अग्नि काष्ठों या वन में उत्पन्न होकर (अश्वान्) फैले २ हुए बड़े २ वृक्षों को लग जाता है, जो वृक्ष (ऋजीतिभिः रशनाभिः गृहीतान्) सीधी २ फैलती लताओं से आश्रित होते हैं । वह (वसुभिः) वायुओं से खूब बढ़ कर उनको (चक्षदे) खण्ड २ करता और पौरु २ पर बढ़ता है । (४) इसी प्रकार वीर अग्नि तुल्य तेजस्वी पुरुष अश्वों को रथ में जो सीधी रासों से बन्धे अश्वों को जोड़ता है, वह मित्रवत् सर्वस्नेही रक्षक होकर वसु अर्थात् प्रजाजनों और अध्यक्षों से आगे बढ़ता और (पर्वभिः) पर्वों से चन्द्र के तुल्य पालक जनों, अध्यक्षों से वा पालनकारी साधनों, सैन्यों से, वज्रादि शस्त्रास्त्रों से (वावर्धमानः) शत्रु सैन्यों को काटता हुआ, वा स्वयं बढ़ता हुआ (समानृधे) सबके साथ समृद्ध होता है । इति चतुर्दशो वर्गः ॥

[८०]

अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा ॥ अग्निर्देवता ॥ छन्दः—१, ५, ६ विराट् त्रिष्टुप् । २, ४ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ३, ७ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

अ॒ग्निः सप्तिं॑ वाज॒म्भ॒रं द॑दात्य॒ग्निर्वी॒रं श्रुत्यं॑ कर्म॒नि॒ष्ठाम् ।
अ॒ग्नी रोद॑सी॒ वि च॑रत्सम॒ञ्जन्न॒ग्निर्नारीं॑ वी॒रकु॑क्षिं॒ पुर॑न्धिम् ॥१॥

भा०—प्रभु, परमेश्वर, आत्मा और वीर (शासक पुरुष का अग्निवत् श्लिष्ट वर्णन। (अग्निः) जिस प्रकार अग्नि (वाजं-भरम् सप्तिम्) अन्न को खाकर पुष्ट होने वाले गतिशील देह को (ददाति = दधाति) पुष्ट करता है, अग्नि विद्युत् (वाजं-भरम् सप्तिं ददाति) स्वामी को वेग से दूर देश में लेजाने वाला गतिशील यान प्रदान करता है, उसी प्रकार (अग्निः) परमेश्वर वा आत्मा ही (वाजं-भरम्) बल वीर्य के धारक सूर्य आदि लोक, अन्न आदि धारक गतिशील पृथिवी आदि लोक को (ददाति) धारण करता है। या वही प्रभु इस जीव को (वाजंभरं सप्तिं) बल-वीर्य-धारक मन वा आत्मा से पुष्ट होने वाले प्राण वा देह को प्रदान करता है। (अग्निः) वही तेजःस्वरूप प्रभु हमें (वीरं) वीर्यवान् (श्रुत्यं) श्रुत, वेदार्थ-ज्ञान में निष्ठ (कर्म-निष्ठाम्) सत् कर्म में निष्ठ, पुरुष वा पुत्र (ददाति) प्रदान करता है। (अग्निः) वह प्रभु परमेश्वर सूर्यवत् (रोदसी सम्-अञ्जन्) दोनों लोकों को प्रकाशित करता हुआ (वि चरत्) व्यापता है, वही (अग्निः) ज्ञानवान् प्रभु (वीर-कुक्षिम्) पुत्र को कोख में धारण करने वाली (पुरं-धिम्) देहधारक वा गृह-कुटुम्ब की धारक (नारीम्) स्त्री को भी बनाता और पालन करता है। (२) आत्मा (श्रुत्यं) वेद में प्रसिद्ध, वा वेद आदि वचनों से श्रवण करने योग्य (वीरं) देह को संचालित करने वा विविध वाणी बोलने वाले (कर्म-निः-ष्ठाम्) कर्म में निरत आत्मा को धारण करता, वही आत्मा दोनों लोकों में विचरता है, वही (वीर-कुक्षिम्) प्राणों के गर्भ के लिये 'पुरन्धि' अर्थात् पुर रूप देह के धारक नारी अर्थात् पुरुष की चिति शक्ति को धारण करता है।

अ॒ग्नेरप्न॑सः स॒मिद॑स्तु भ॒द्राग्निर्म॒ही रोद॑सी॒ आ वि॑वेश ।
अ॒ग्निरेकं॑ चोदयत्स॒मत्स्व॒ग्निर्वृ॒त्राणि॑ दयते पु॒रूणि॑ ॥ २ ॥

भा०—(अप्न-सः) उत्तम रूपवान्, तेजस्वी और कर्म कुशल (अग्नेः) ज्ञानवान् पुरुष की (समित्) खूब दीप्ति करने वाली शक्ति; अर्थप्रकाशक वाणी (भद्रा अस्तु) अग्नि की दीप्ति के समान ही सबका कल्याण और सुख करने वाली हो। वह (अग्निः) तेजस्वी पुरुष, प्रभु ही (मही रोदसी आ विवेश) विशाल आकाश और पृथिवी में सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। (अग्निः) वह तेजस्वी प्रभु ही (समत्सु) संग्रामों में (एकं) किसी एक प्रधान, बलवान् को प्रेरित करता है और (पुरूणि वृत्राणि दयते) बहुत से बढ़ते शत्रुओं को विनष्ट कर डालता है।

इसी प्रकार अग्नि देह में तेजोमय वीर्य वा ओज धातु है। वह देह के बाह्य रुचिर रूप, कान्ति को बनाये रखता है, और देह में कर्म-शक्ति को स्थिर रखता है इसलिये 'अप्नस्' है। उसकी कान्ति कल्याणकारिणी है। वह (रोदसी) मस्तक और मूल भाग दोनों स्थानों में प्रवेश करता है। वह (समत्सु) हर्ष के अवसरों में (एकम्) एक आत्मा को प्रेरित करता है और अनेक (वृत्राणि) रोगों को दूर करता है।

अ॒ग्निर्ह॒ त्यं जर॑तः कर्ण॑मावा॒ग्निर॒द्भ्यो निर॑दह॒ज्जरू॑थम्।
अ॒ग्निरत्रिं॑ घ॒र्मे उ॑रुष्यद॒न्तर॒ग्निर्नृ॒मेधं॑ प्र॒जया॑सृज॒त्सम् ॥ २ ॥

भा०—(अग्निः ह) निश्चय यह ज्ञानप्रकाशक, सब का उत्पादक प्रभु ही (जरतः) स्तुति करने वाले के (कर्णम्) कार्य-साधना करने वाले साधनरूप देह की (आव) रक्षा करता है। (अग्निः) वह तेजोमय प्रभु ही (अद्भ्यः) प्राणों वा देह में चलने वाली रक्तधाराओं से और मेघ के जलों के बल से (जरूथम्) आयु का नाश करने वाले, वार्धक्य, प्राणियों के जीवन-नाशक अकाल मृत्युआदि त्रास को (निर् अदहत्) सर्वथा भस्म कर देता है। (अग्निः) सूर्यवत् तेजस्वी प्रभु ही (अत्रिम्) कर्मफलों के भोक्ता जीव वा इस भूर्लोक के वासी जीवगण को (घर्मे) अति ताप में

और अतिवृष्टि-काल में भी (उरुष्यत्) रक्षा करता है। (अग्निः) वह ज्ञानी ही (नृ-मेधम्) मनुष्यों को अन्न देने वाले, मनुष्यों के साथ सत्संग और स्नेह करने वाले पुरुष को (प्रजया सम्-अजत्) प्रजागण के साथ जोड़े रहता है। (२) जाठर वा ओषधि रूप अग्नि, वृद्ध के भी देह को बचाता है। वह (अद्भ्यः) देहगत जलांशों से ही वार्धक्य को दूर करता है, अन्नभोक्ता जीव को भीतरी अग्नि तेजोमय वीर्य ही बाहर के ताप से बचाता है। मनुष्यों का उत्पादन रूप यज्ञ करने वाले गृहस्थ को वही (अग्निः) अग्निरूप तेजोमय वीर्य प्रजा से युक्त करता है।

अ॒ग्निर्दा॑द् द्रवि॑णं वी॒रपे॑शा अ॒ग्निरृषिं॒ यः स॒हस्रा॑ स॒नोति॑।
अ॒ग्निर्दि॒वि ह॒व्यमात॑तान॒ाग्नेर्धामा॑नि॒ बिभृ॑ता पुरु॒त्रा ॥ ४ ॥

भा०—(अग्निः) वह तेजस्वी अग्रणी नायक प्रधान पुरुष वा प्रभु ही (द्रविणं दात्) नाना धन और ऐश्वर्य प्रदान करता है। वह (अग्निः) तेजस्वी पुरुष ही (वीर-पेशाः) वीर के समान सर्वप्रेरक रूप (यः) जो (ऋषिम्) ज्ञानद्रष्टा जन को (सहस्रा सनोति) सहस्रों वेदवाणियां प्रदान करता है वही (अग्निः) सर्व प्रथम नेता, तेजोमय पुरुष, प्रभु (दिवि) आकाश वा सूर्य में (हव्यम्) अग्नि में चरु, और जाठर में अन्न के समान आदान योग्य जल वा तेज को द्रवरूप में विस्तृत कर रहा है। वा वही विशाल आकाश में उपादेय प्रकृति-तत्त्व को विस्तृत करता है। (अग्ने पुरुत्रा धामानि) अग्नि के अनेकधाम, तेज और लोक (विभृता) विशेष रूप से धारण किये जाते हैं। (२) अध्यात्म में—(वीर-पेशाः) विविध शक्तियों का प्रेरक वीर्यरूप अग्नि (द्रविणं) द्रुत होकर बहने वाले वीर्यांश तेज को प्रदान करता है, वही (ऋषिम्) तत्वज्ञानी को (सहस्रा) अनेक बल, अनेक ज्ञान और सहस्रों वर्षों वा दिनों का दीर्घ जीवन प्रदान करता है। वह अग्नि रूप वीर्य ही (दिवि) मस्तक में

(हव्यम्) अन्न के तुल्य भोजन देता है, मस्तक का भोजन वीर्य है। वीर्य के अनेक तेज वा धारक-पोषक बल शरीर में धारण किये जाते हैं।

अ॒ग्निमु॒क्थैर्ऋष॑यो॒ वि ह्व॑यन्ते॒ऽग्निं नरो॒ याम॑नि बाधि॒तास॑: ।
अ॒ग्निं वयो॑ अ॒न्तरि॑क्षे॒ पत॑न्तो॒ऽग्निः स॒हस्रा॒ परि॑ याति॒ गोना॑म् ॥५॥

भा०—(अग्निं) ज्ञानस्वरूप प्रभु को ही (ऋषयः) ज्ञानदर्शी ऋषि लोग (उक्थैः) वेद-वचनों से (वि ह्वयन्ते) विविध प्रकार से बुलाते, उसकी स्तुति करते हैं। (नरः) नेता मनुष्य (यामनि) शत्रुवध के लिये करने योग्य प्रयाण वा संग्राम के अवसर में (बाधितासः) पीड़ित होकर (अग्निम् वि ह्वयन्ते) अग्रणी सेना-नायक के तुल्य विविध प्रकारों से पुकारते हैं। इसी प्रकार साधक जन (यामनि) इन्द्रिय-दमन और तपस्या वा योग-साधना-काल में (बाधितासः) विघ्नों, भीतरी क्रोध, काम आदि शत्रुओं से बाधित होकर उसी प्रभु की प्रार्थना करते हैं। (अन्तरिक्षे पतन्तः वयः) आकाश में उड़ते हुए पक्षी के आकार के विमान भी (अग्निम्) अग्नि-तत्त्व विद्युत् को ही जिस प्रकार विशेष रूप से बतलाते हैं उसी प्रकार (अन्तरिक्षं) भीतरी हृदय वा अन्तःकरण में (पतन्तः) प्रवेश करते हुए (वयः) ज्ञानी, परमहंस लोग उस ज्ञानी, तेजोमय प्रभु को ही ध्यान करते हैं, उसी का साक्षात् करते हैं। (अग्निः) वही ज्ञानी (गोनाम् सहस्रा परि याति) वेदवाणियों के सहस्रों को प्राप्त करता, उनमें ज्ञानार्थ रूप से विचरता है। (२) स्थूल अग्नि की ऋषि जन यज्ञों में स्तुति करते, उसका अनेक रूप से उपदेश करते हैं। मार्गादि में पीड़ित होकर अग्नि का प्रयोग कर मार्ग को उज्ज्वल करते हैं। अन्तरिक्ष मार्ग से जाने वाले भी अग्नि, विद्युत् और प्रकाश की अपेक्षा करते हैं। वह (गोनां सहस्रा परि याति) अग्नि तत्व, विद्युत् वा भूमियों के भीतर का अग्नि भी सब भूमि आदि गतिमान् लोकों को व्याप रहा है। वह सहस्रों रश्मियों को प्रदान करता है।

अ॒ग्निं विश॑ ईळते॒ मानु॑षी॒र्या अ॒ग्निं मनु॑षो॒ नहु॑षो॒ वि जा॒ताः।
अ॒ग्निर्गान्ध॑र्वीं प॒थ्या॑मृ॒तस्या॒ग्नेर्गव्यू॑ति॒र्घृ॒त आ निष॑त्ता ॥ ६॥

भा०—(या मानुषीः विशः) जो मननशील प्रजाएं हैं वे (अग्निम् ईडते) अग्नि, ज्ञानप्रकाशक, तेजःस्वरूप, सब के आगे विद्यमान, सब सूर्यादि के प्रकाशक परमेश्वर की स्तुति करते, उसे ही चाहते हैं। (मनुषः) मननशील (नहुषः) परस्पर के नाना सम्बन्धों से बंधे हुए, (जाताः) उत्पन्न होकर (अग्निम्) उसी ज्ञानवान् प्रभु को अपने अग्रणी, नायक, वा गुरु के तुल्य विशेष रूप से चाहते और उसकी स्तुति करते हैं। (अग्निः) वही सर्वप्रकाशक ज्ञानी प्रभु (ऋतस्य) सत्यज्ञान की (पथ्याम्) अति हितकारक (गान्धर्वीम्) वेदमयी वाणी को विशेष रूप से प्रेरित करता है, उपदेश करता है। (अग्नेः) उस ज्ञानमय प्रभु की (गव्यूतिः) समस्त वाणियों का एकीभाव और पृथग्-भाव, संकलन विशकलन, (घृते) उस तेजोमय रूप में ही (आनिषत्ता) आश्रित हैं। पक्षान्तरों में— (२) ज्ञानी पुरुष को वा अग्निरूप को ही दिव्य जानकर सब उसकी उपासना करते हैं, यज्ञ में, देवमन्दिरों में सर्वत्र अग्नि को कुण्ड वा दीपकरूप से सब रखते हैं। (नहुषः) सम्बन्धों में बंधने वाले स्त्री पुरुष भी अग्नि को साक्षी रखते हैं। 'ऋत्' अर्थात् यज्ञ की जो वेद-वाणीरूप पथ्या, सरणि या वेदमार्ग है उसको 'अग्नि' ही प्रकाशित करता है। अग्नि के आश्रित सब यज्ञ हैं, अग्नि के समस्त किरणों आदि का आविर्भाव भी घृत पर आश्रित है। (३) इसी प्रकार ज्ञानी विद्वान् पक्ष में भी योजना है। उसका सब आदर करते, वही पथ्या रूप वेदवाणी को जानता है, उस विद्वान् की समस्त वाणियों की संगति उसी (घृते) तेजोमय प्रभु में होती है।

अ॒ग्नये॒ ब्रह्म॑ ऋ॒भव॑स्ततक्षुर॒ग्निं म॒हाम॑वोचामा सुवृ॒क्तिम्।
अग्ने॒ प्राव॑ जरि॒तारं॑ यवि॒ष्ठाग्ने॒ महि॒ द्रवि॑ण॒मा य॑जस्व ॥ ७॥ १५॥

भा०—(ऋभवः) ऋत अर्थात् सत्य ज्ञान से चमकने वाले और विद्वान् जन (अग्नये) परमेश्वर को प्राप्त करने, उसका ज्ञान करने और उसकी स्तुति करने के लिये (ब्रह्म ततक्षुः) वेद का उच्चारण करते हैं। हम लोग (अग्निम् महाम् अवोचाम) उस महान् अग्नि का उपदेश करें। वा, हम (महाम् अग्निं) महान् को 'अग्नि' ऐसा कहें और उसी की (सु वृक्तिम् अवोचाम) शुभ स्तुति कहें। वा उसी को सुवृक्ति अर्थात् अज्ञान का दूर करने वाला बतलावें। हे (यविष्ठ) सर्वश्रेष्ठ बलशालिन्! तू (जरितारम् प्र अव) स्तुतिशील इस भक्त की अवश्य रक्षा कर। हे (अग्ने) तेजस्विन्! तू (महि द्रविणं आयज) महान् धनैश्वर्य आदि प्रदान कर।

(२) अग्नि को उत्पन्न करने के लिये शिल्पी जन 'ब्रह्म' नाम पलाश वा अश्वत्थ को गढ़ कर अरणि बनावें। वे 'अग्नि' को बड़ा भारी (सुवृक्ति) रोगनाशक, बड़ा शक्तिशाली जान कर उपदेश करें। अग्नि ही विद्वान् की रक्षा करता है और वही विद्युत् आदि अनेक ऐश्वर्य वा (द्रविणं) द्रुतगति प्रदान करता है। इति पञ्चदशो वर्गः ॥

[८१]

विश्वकर्मा भौवनः ॥ विश्वकर्मा देवता ॥ छन्दः—१, ५, ६ विराट् त्रिष्टुप्। २, ४ पादनिचृत् त्रिष्टुप्। ३, ७ निचृत् त्रिष्टुप् ॥ सप्तर्चं सूक्तम् ॥

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश ॥ १ ॥

भा०—(यः ऋषिः) जो समस्त जगत् का देखने वाला, (होता) सबको अपने भीतर आहुति करने वाला, वा सब प्राणियों वा लोकों को जीवन, बल, अन्न और अनेक ऐश्वर्य देने वाला परमेश्वर (इमा विश्वा भुवनानि) इन समस्त उत्पन्न हुए लोकों को और समस्त प्राणियों को (जुह्वत् नि

असीदत्) अन्न, जीवन बल, आदि देता हुआ विराजता है वह (नः पिता) हम सब का पालक, पिता के तुल्य रक्षक, प्रभु है। (सः) वह (आशिषा) कामनामात्र से (द्रविणम् इच्छमानः) समस्त ऐश्वर्य वा द्रुत काल-गति से जाने वाले समस्त जगत् को चाहता हुआ (प्रथम-च्छत्) सबसे प्रथम समस्त जगत् को व्यापता हुआ, उसकी रक्षा करता हुआ (अवरान्) अपने अनन्तर उत्पन्न वा अपने से अल्पशक्ति वाले समस्त जीवों वा लोकों को भी (आ विवेश) व्यापता है, वह अनेक आत्माओं के भीतर व्यापक है।

सायण अध्यात्म पक्ष में भी इस मन्त्र की योजना करता है—जो विश्वकर्मा परमेश्वर प्रलयकाल में पृथिवी आदि समस्त लोकों को अपने आत्मा में आहुति के समान संहार करता हुआ (ऋषिः) अतीन्द्रिय-द्रष्टा सर्वज्ञ (होता) संहार रूप होम का करने वाला, (नः पिता नि ससाद) हमारे पिता रूप से विराजता है। अर्थात् प्रलयकाल आने पर समस्त लोकों का संहार करके हम जीवों का भी संहार करता और फिर रचता हुआ सर्वज्ञ परमेश्वर स्वयं एक ही है, वह परमेश्वर (आशिषा) 'बहुः स्यां प्रजायेय' बहुत हो जाऊं प्रजाओं को उत्पन्न करूं, इस प्रकार पुनः जगत् को रचने की इच्छा से (द्रविणम् इच्छमानः) द्रविण अर्थात् धनवत् जगत् के भोग को चाहता हुआ (प्रथम-च्छद्) मुख्य निष्प्रपंच पारमार्थिक रूप को छिपाता हुआ, (अवरान्) अपने बनाये, प्राणियों के हृदयों में (आ-विवेश) जीव रूप से प्रविष्ट हुआ, ऐसी श्रुति भी है—सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत् यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तमनुप्राविशत् ॥

उस प्रभु ने इच्छा की कि बहुरूप हो जाऊं। उसने तप (श्रम) किया। इस समस्त जगत् को बनाया जो दीख रहा है, उसको रच कर फिर उसी में व्याप रहा। इसी प्रकार अन्य भी उपनिषद्-वचन हैं।

इस स्थान पर सायण नवीन वेदान्त के प्रपञ्च में फंस गया। वस्तुतः जगत् को रच कर पुनः समस्त लोकों वा जीवों में ईश्वर जीवरूप होकर प्रविष्ट नहीं, प्रत्युत शासक प्रभु रूप ही रह कर प्रविष्ट अर्थात् व्याप्त हो रहा है। दूसरा उसका पितापन केवल प्रलयकाल में संहार कर पुनः जगत्-सर्ग करने में ही नहीं है। प्रत्युत सृष्टि की विद्यमानता में भी वह सर्वत्र भारी अन्नादि की आहुतियां देता है, सब जीवों को अन्न देता है, जीवों को कर्म-फल देता है, वह समस्त जगत् रूप द्रविण अर्थात् महान् ऐश्वर्य को चाहता हुआ वा प्रेरित, संचालित करता हुआ पहले भी जगत् को एकमात्र व्यापता था और सर्ग-काल में भी 'अवर' अर्थात् अपने से अल्प शक्ति वाले समस्त जीवों और लोकों, ब्रह्माण्डों को भी व्यापता है। यदि सब में व्याप्त न हो तो वह समस्त ब्रह्माण्डों को कैसे चलावे, कैसे रचावे।

यास्कः—तत्रेतिहासमाचक्षते—विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार। तदभिवादिन्येषर्ग् भवति। य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्। इति। (निरु० १०। २६)

अर्थ—इस प्रसंग में इतिहास कहते हैं। भौवन विश्वकर्मा ने सर्वमेध में समस्त भूतों की आहुति दी। अन्त में उसने अपनी भी आहुति दी। उसी को कहने वाली यह ऋचा होता है। य इमा विश्वा० इत्यादि।

यास्क के इस आशय को लेकर सायण ने प्रथम अर्थ इस प्रकार किया है—"विश्वकर्मा नामक ऋषि, भुवन का पुत्र (होता) होम करने वाला (सर्वाणि भुवनानि जुह्वत्) सब भुवनों को होम करता हुआ अर्थात् प्रथम जगत् की आहुति करके पश्चात् (पिता नि असीदत्) आग में वह पिता बैठ गया। क्योंकि अपने ही किये कर्म से देह की उत्पत्ति होती है। एक ही स्वयं पिता और स्वयं पुत्र हो यह विरोध नहीं है क्योंकि तपोबल से उसके दो शरीर मान लेते हैं। 'स एकधा भवति'

इत्यादि श्रुति है। वह ऋषि (आशिषा) आशीष्-प्रतिप्रादक सूक्तवाक आदि से (द्रविणम् इच्छमानः) स्वर्ग नामक धन चाहता हुआ (प्रथमच्छत्) पहिले अग्नि को भुवनों से छादने वाला, (अवरान् आविवेश) अपने से आहुति किये अनेक भूतों में, अग्नि में प्रवेश किया।

सायण ने इस यास्क के इतिहास को एक ऋषि का ऐसा सर्व-मेध यज्ञ मान लिया है कि उसने यज्ञाग्नि में सब प्राणियों की आहुति करके फिर स्वर्ग की इच्छा से अपने को भी आग में डाल दिया हो। यह अर्थ असंगत है। क्योंकि यास्क के इतिहास के उल्लेख का अभिप्राय सायण से पहिले विद्वान् इस प्रकार नहीं मानते थे। इस सम्बन्ध में श्री दुर्गाचार्य लिखते हैं—

इसी सूक्त की 'विश्वकर्मा विमना०' इत्यादि ऋचा में यास्काचार्य ने आत्मगति का प्रतिपादन किया है। (तत्र) इसी प्रसंग में यह इतिहास का उल्लेख है। आत्मगति को बतलाने के लिये ही आत्मज्ञानी लोग इस इतिहास का वर्णन करते हैं। आध्यात्मिक वा आधिदैविक आदि जो अर्थ कहा जाता है वेद के कहे उसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये इतिहास कहा जाता है। वह इतिहास अपना सीधा अर्थ नहीं कहा करता, प्रत्युत अर्थ जानने वालों को अभिप्रेत अर्थ ही बतलाता है। (विश्वकर्मा हि भौवनः) समस्त जगत् को बनाने वाला 'विश्वकर्मा' है। उसी की सी अवस्था को अपने में लाकर वह यजमान भी 'विश्वकर्मा हो जाता है। वह भुवनों अर्थात् भूतों को अपने आत्मा में और अपने आत्मा को भूतों में आहुति करता है। इसी प्रकार जानने वाले वा देखने वाले ज्ञानी पुरुष के सब कामों में 'सर्वमेध' यज्ञ के समान गुण होता है। उसके केवल ऐसे देखने मात्र से ही उसका प्रत्येक यज्ञ 'सर्वमेध' हो जाता है। अग्नि में स्वयं अपने को डाल देने से उसका सर्वमेध यज्ञ नहीं होता, प्रत्युत सब भूतों में आत्मा और आत्मा में सब भूतों का दर्शन करने मात्र से 'सर्वमेध' हो जाता है। इस

प्रकार वह समस्त भूत-विशेषों को सामान्य आत्मा में आहुति करता अर्थात् देखता है, और सामान्य आत्मा को विशेष भूतों में आहुति करता अर्थात् देखता है, तभी यह सभी कामों में 'आत्मयाजी' कहा जाता है। अतः 'य इमा०' ऋचा का अर्थ इस प्रकार है।

समान रूप से सबके प्रति हिताचरण करने और समान दृष्टि से देखने वालों में से (यः) जो भी कोई (न्यसीदत्) इस कर्म को करता हुआ विराजता है, वह 'ऋषि' है और वही होता है। वह (विश्वा भुवनानि जुह्वत्) सब प्राणियों की सर्वमेध यज्ञ के रूप में दर्शन रूपसे आहुति करता है, (सः आशिषा) वह इस अभिलाषा से कि मैं ही सबके समान होजाऊं (द्रविणम् इच्छमानः) इस सर्वमेध यज्ञ की 'सर्वता' प्राप्त करना चाहता हुआ, (प्रथम-च्छत्) सब से श्रेष्ठ प्रजापति रूप से मुख्य पद को प्राप्त करने वाला होकर (अवरान्) हम सब प्राणियों को भी (आविवेश) व्यापता है, अपनाता है, (स नः पिता) वह हमारा पिता है।

अत्र 'पिता । नः' इति पदपाठः । पिता । आनः । इति पदपाठस्तु पटियालाराजपण्डित श्री मुकुन्दझा इत्युद्धृतसायणभाष्यसम्मतः।

इस प्रकार सर्वमेध का ही गीता और उपनिषदों में प्रतिपादन किया है जैसे—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः । ईशोपनि० ६, ७ ॥
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥ गीता० अ० ४ ॥
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ६ । ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥ ६ । ३१ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६ । १९ ॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय । ९ । ६ ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति । १३ । २७ ॥
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हि नस्त्यात्मनाऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ १३ । २८ ॥
यदा भूतपृथग् भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ अ० १३ । ३० ॥

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥२॥

भा०—पूर्व मन्त्र में वह सर्वद्रष्टा, सर्व जगत्-यज्ञ का सम्पादक सर्वपिता, पालक प्रभु परमेश्वर अपने इच्छा, अर्थात् संकल्पमात्र से महान् व्यापक शासन-शक्ति से सब को चलाता हुआ सब में व्याप्त हो रहा बतलाया है। इस मन्त्र में जगत् के मूलकारण पर विचार करते हैं। (अधिष्ठानम्) आश्रय इस जगत् का (किंस्वित् आसीत्) क्या है, कैसा है, और वह (आरम्भणं कतमत् स्वित्) अनेकों में से कौनसा है जो इस जगत् का आरम्भक मूलकारण या उपादान कारण है। (कथा आसीत्) वह मूलकारण जगत् का उत्पादक किस प्रकार से होता है। (यतः) जिस उपदान कारण से (विश्व-कर्मा) समस्त जगत् का बनाने वाला, (विश्व-चक्षाः) समस्त जगत् का द्रष्टा, (भूमिम् द्याम्) भूमि और सूर्य वा

महान् आकाश को भी उत्पन्न करता हुआ (महिना) अपने महान् ऐश्वर्य से (भूमिम् द्याम् वि और्णोत्) आकाश और भूमि दोनों को आच्छादित करता है, भूमि पर अनेक वृक्ष, गुल्मलता नदी, पर्वत, समुद्रादि बनाता और अन्तरिक्ष, वायु, मेघ आदि बनाता तथा आकाश में सूर्य, चन्द, नक्षत्रादि रचता है ।

'विश्वकर्मा' सर्वस्य कर्त्ता । निरु० १० । २५ ॥

विश्वत॑श्चक्षुरु॒त वि॒श्वतो॑मुखो वि॒श्वतो॑बाहुरु॒त वि॒श्वत॑स्पात् ।
सं बा॒हुभ्यां॒ धम॑ति॒ सं पत॑त्रै॒र्द्यावा॒भूमी॑ ज॒नय॑न्दे॒व एकः॑ ॥ ३ ॥

भा०—प्रथम परमेश्वर, कर्त्ता का रूप ही बतलाते हैं। वह परमेश्वर जिसको पूर्व मन्त्र में 'विश्वचक्षा' सर्वद्रष्टा कहा है वह (विश्वतः-चक्षुः) सर्वत्र देखने वाला, (उत) और (विश्वतः-मुखः) सब ओर सर्वत्र मुख वाला, (विश्वतः-बाहुः) सर्वत्र बाहुवाला, और (विश्वतः-पात्) सर्वत्र सब दिशाओं में पैरों वाला है। अर्थात् वह सर्वत्र देखता, सर्वत्र विराजता, सर्वत्र जगत् को धारण कर सर्वत्र पहुंचा हुआ है। वह (एकः देवः) एक, अद्वितीय देव, सर्वप्रकाशक, सर्वप्रद प्रभु (बाहुभ्यां) अपने दोनों हाथों से मानो (द्यावा भूमी) आकाशस्थ लोकों और भूमि को भी (जनयन्) उत्पादन करता हुआ (सं धमति) समस्त को एक साथ वा सम्यक् रीति से चलाता, वा जैसे लोहे के अनेक पदार्थ बनाता हुआ लोहार शिल्पी लोहे को तपाता है ऐसे मानो वह भी सूर्यादि अग्निमय लोकों को सबको एक साथ ही धौंक देता है, सबमें एक साथ अग्नि लगाता, सबको प्रकाशित करता है और (पतत्रैः सं धमति) जैसे पक्षी अपने पंखों से वायु देता है ऐसे मानो गतिशील बलवान्, सर्वव्यापक, शक्तिशाली साधनों से जगत् को चलाता है, उसको वायु आदि प्रदान करता है।

किं स्वि॒द्वनं॒ क उ॒ स वृ॒क्ष आ॑स॒ यतो॒ द्यावा॑पृथि॒वी नि॑ष्टत॒क्षुः ।
मनी॑षिणो॒ मन॑सा पृ॒च्छतेदु॒ तद्यद॒ध्यति॑ष्ठ॒द्भुव॑नानि धा॒रय॑न् ॥४॥

भा०—(किं स्विद् वनं) वह कौनसा 'वन' है, और (कः उ सः वृक्षः आस) वह कौन सा वृक्ष है। (यतः द्यावापृथिवी) जिससे आकाश अर्थात् आकाशस्थ सूर्य आदि लोक और भूमि उत्पन्न होते हुए (निः ततक्षुः) बतलाते हैं। अर्थात् जिस प्रकार शिल्पी वन, काष्ठ या वृक्ष से अनेक पदार्थ बनाता है ठीक उसी प्रकार भूमि, सूर्य आदि किस उपादान कारण से बने बतलाते हैं। हे (मनीषिणः) विद्वान् पुरुषो ! (मनसा पृच्छत इत्) तुम यह बात अपने जिज्ञासु चित्त से ही प्रश्न करो। (तत्) उस उपादान कारण पर (यत् अधि अतिष्ठित्) जो अध्यक्षरूप से विराजता है वही परमेश्वर (भुवनानि धारयन्) समस्त लोकों और उत्पन्न चराचर पदार्थों को धारण करता है।

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥५॥

भा०—हे (विश्व-कर्मन्) समस्त जगतों, भुवनों और समस्त प्राणियों को रचने वाले परमेश्वर ! (ते) तेरे बनाये (या परमाणि धामानि) जो परम, सर्वोत्कृष्ट, सब से उत्तम स्थान वा शरीर वा जो तेरे सर्वश्रेष्ठ नाम हैं (या अवमा) और जो तेरे बनाये अति समीप, अपेक्षया निम्न स्थान वा निम्न कोटि के शरीर वा (अवमा) सामान्य नाम हैं (उत) और (या मध्यमा) जो मध्यम स्थान वा मध्यम कोटि के शरीर वा तेरे मध्यम नाम हैं तू (सखिभ्यः) ज्ञानवान् समदर्शी जनों वा मित्र जीवों रूप शिष्यों को (इमा) वे सब (शिक्ष) सिखा वा प्रदान कर। हे (स्वधावः) स्वयं जगत् को धारण-पोषणकारी शक्ति-सामर्थ्यों के स्वामिन् ! (स्वयम्) अपने आप (हविषि) अन्नादि से (वृधानः) बढ़ाता हुआ (तन्वं यजस्व) जीवों को देह प्रदान कर।

अनेन धामत्रैविध्योपन्यासेन उत्तमभूतानि देवादिशरीराणि, मध्यम-

भूतानि मनुष्यादिशरीराणि, निकृष्टभूतानि कृमिकीटादिशरीराणि च परिगृहीतानि, किं बहुना सर्वं जगदुपात्तं भवति ॥ सायणः ॥

त्रयाणि धामानि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानि चेति । निरु० ॥

आकाश अन्तरिक्ष और पृथिवी ये तीन लोक, देव, मनुष्य, पशु कीट आदि ब्रह्मा से तृण तक शरीरों में जन्म और नाम, परमेश्वर के तीन प्रकार के नाम (१) परम, सर्वश्रेष्ठ ओम् आदि जिनका अन्तःस्तल से ध्यान किया जाय, जिनसे परमेश्वर के अनेक व्यापक गुणों का ज्ञान हो, (२) मध्यम, जिनसे कई एक गुणों का ज्ञान हो (३) अवम जिनसे केवल एक गुण का ही ज्ञान हो ।

विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् ।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥ ६ ॥

भा०—हे (विश्व-कर्मन्) समस्त जगत् को बनाने वाले प्रभो ! तू (हविषा) सबको देने योग्य अन्नादि से (वावृधानः) बढ़ाता हुआ और (हविषा) सबको अपने में ले लेने के सामर्थ्य से स्वयं (वावृधानः) बढ़ता हुआ, महान् होकर (पृथिवीम् उत द्याम् यजस्व) पृथिवी और द्यौ अर्थात् महान् आकाश को भी यज्ञ करता है, उनको सुसंगत करता वा उन्हें समस्त प्राणियों को प्रदान करता है, अपने ही भीतर उनकी आहुति देता है, अपने में उनको लेता, और उनको धारण करता है। (अभितः अन्ये जनासः) सब परमात्मा से पृथक् हुए पैदा होने वाले जीव (मुह्यन्तु) मोहित होते हैं, मूढ़ता और अज्ञान के कारण मोह में पड़ जाते हैं, वे यथार्थ ज्ञान को प्राप्त नहीं करते हैं। (मघवा) समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी, परमेश्वर (अस्माकं सूरिः अस्तु) हमारे बीच ज्ञान का देने वाला हो। हम प्रभु के दिये ज्ञान से उस प्रभु के महान् यज्ञ का ज्ञान करें और मोह में न पड़ें। साधना-पक्ष में—जो पुरुष प्रभु के सर्वात्मक रूप का उपासक

होकर उसके महान यज्ञ के अनुकरण में सर्वमेध यज्ञ करना चाहता है वह भी 'विश्वकर्मा' है वह भी (हविषा वावृधानाः) साधनों से अपने को बढ़ाता हुआ पृथिवी और द्यौ रूप से अपने को यज्ञ करे अर्थात् उन दोनों में भी आत्मा का दर्शन करे। अन्य जो अज्ञानी हैं वे तो मोह में पड़े रहते हैं, वे अल्प पदार्थों में ममता से फंसे हैं, वे इतने विशाल पदार्थों में आत्मा की सत्ता का साक्षात् नहीं कर सकते इसलिये वह साधक (मघवा) आत्मिक ऐश्वर्य का वशीकार करने वाला, आत्मज्ञानी ही हमारा ज्ञानदाता हो। सर्वत्र आत्मभावना के स्पष्टीकरण के लिये प्रथम मन्त्र पर उद्धृत उपनिषद् और गीता के वचनों का मनन करना चाहिये।

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥ ७॥ १६॥

भा०—हम (वाचः पतिम्) वाणी के पालन करने वाले, वेदवाणी के स्वामी, वाणी के ऐश्वर्य से सम्पन्न, (विश्व-कर्माणम्) समस्त जगत् के बनाने वाले (मनः-जुवम्) समस्त जीवों और ऋषियों के चित्तों में ज्ञान की प्रेरणा करने वाले उस प्रभु को हम (ऊतये) अपनी रक्षा, ज्ञान-प्राप्ति और स्नेह-समृद्धि और दुष्टों के नाश के लिये (अद्य) आज (वाजे) ऐश्वर्य, ज्ञान और बल के निमित्त (हुवेम) हम बुलाते हैं उसका स्मरण, मनन करते हैं। (सः) वह (नः) हमारे (विश्वा हवनानि) समस्त त्यागों, समर्पणों और नाम-स्मरण और पुकारों को भी (जोषत्) प्रेम से स्वीकार करे। वह (अवसे) रक्षा करने, प्रेम करने, दुष्टों का नाश करने के कारण (विश्व-शं-भूः) समस्त विश्व का कल्याण करने वाला और (साधु-कर्मा) समस्त उत्तम कर्मों को करने और जगत् को अच्छी प्रकार त्रुटिरहित रूप से बनाने वाला है। इति षोडशो वर्गः॥

[८२]

विश्वकर्मा भौवन ऋषिः ॥ विश्वकर्मा देवता ॥ छन्दः—१, ५, ६ त्रिष्टुप् । २, ४ भुरिक् त्रिष्टुप् । ३ निचृत् त्रिष्टुप् । ७ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ॥ सप्तर्चं सूक्तम् ॥

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद् द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ॥१॥

भा०—(चक्षुः पिता) ज्ञान दर्शन करने वाले इन्द्रियगण, वा देह वा सूर्य आदि का पिता के समान उत्पादक (मनसा) मन, संकल्पात्मक जगत्-धारक सामर्थ्य से ही (धीरः) समस्त जगत् को धारण करने वाला है। वह (घृतम्) सृष्टि के प्रारम्भ में महान् आकाश में तेजोमय हिरण्यगर्भ को और पार्थिव-सर्ग के प्रारम्भ में पृथिवी पर के क्षरण, सेचन करने वाले तत्त्व जल को (अजनत्) उत्पन्न करता है। और अनन्तर (नम्नमाने एने) नमते हुए अर्थात् पूर्व परिणाम से उत्तर परिणाम में विकृति को प्राप्त होते हुए दोनों आकाश वा पृथिवी तेजोमय सूर्यादि लोक और पृथिवी दोनों को (अजनत्) बनाता है। दोनों के बनते हुए (यदा) जब उन दोनों के (अन्ताः अददृहन्त) पर्यन्त भाग, बाहर के सीमा के भाग दृढ़ होते जाते हैं और (आत् इत) अनन्तर, उत्तरोत्तर वे (पूर्वे) पूर्व विद्यमान (द्यावा पृथिवी) आकाश और पृथिवी दोनों (अप्रथेताम्) विस्तृत होते जाते हैं। जिस प्रतप्त गैस के रूप में वा हिरण्यरूप में महान् तेजोमय मण्डल था, ज्यों २ शनैः २ उसके भी प्रान्त भाग दृढ़ हुए त्यों २ प्रकृति के परमाणु रूप धनीभूत होकर आकाश को प्रकट करने लगे और उस हिरण्य गर्भ में से पृथक् २ अनेक ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्डों में से अनेक सूर्य और सूर्यों में से धनीभूत पृथिवी आदि अनेक लोक निकले, फैलते हुए प्रकृति के परमाणु जो आकाश को भर रहे थे वे पुञ्जीभूत दृढ़ हो गया और खाली आकाश

प्रकट होगया। सूर्य में भी अभी वही प्रान्त-भागों का दृढ़ीभाव हो रहा है, और इसी प्रकार पृथिवी में भी इसी विधि से दृढीभाव हुआ है, होते २ अग्निमय पिण्ड के दृढीभाव से भाप से जल के तुल्य द्रव पदार्थ जल तत्त्व और जल तत्त्व के दृढीभाव से स्थूल कठिन भूभाग प्रकट हुआ और होता जा रहा है।

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः ॥२॥

भा०—(विश्व-कर्मा) समस्त विश्व का बनाने वाला, परमेश्वर, अनेक प्रकार के जगत् के पदार्थों को रचने वाला, (वि-मनाः) विविध मनों का स्वामी, वा विशेष संकल्पवान्, समष्टि चित्त रूप और (आत्) सर्वत्र (वि-हायाः) आकाश के तुल्य महान्, व्यापक, (धाता) सब विश्व को धारण करने वाला और (वि धाता) विशेष रूप से सूर्य, पृथिवी आदि समस्त लोकों को विविध रूप में बनाने वाला, (परमा) परम, सर्वोत्कृष्ट ज्ञानवान् (उत) और (सं-दृक्) समस्त विश्वों और जीवों के सब कार्यों का द्रष्टा है। (यत्र) जिसके विषय में विद्वान् लोग (आहुः) कहते हैं कि वह (सप्त-ऋषीन् परः) सातों दर्शनकारी इन्द्रियों को अतिक्रमण करके उनसे भी परे है। और (यत्र) जिस प्रभु के आश्रय (तेषाम्) उनके (इष्टानि) अभिलषित समस्त भोग्य वा दृश्य पदार्थ (इषा) उसकी प्रेरक शक्ति से (सं मदन्ति) भली प्रकार हृष्ट, प्रसन्न, एवं हर्ष-सुख के कारण होते हैं। (२) देह में आत्मा भी अपने प्रवेश योग्य देह रचने और देहोचित विविध चेष्टा करने से 'विश्वकर्मा' है। विविध संकल्प-विकल्पवान् चित्त वाला होने से 'विमना' है। (विहाया) असङ्ग, सब देह में शक्ति सामर्थ्य से व्यापक, (धाता) देह का धारक, कर्मों का विधाता, (परमा उत सं-दृक्) इन्द्रियों से भी श्रेष्ठ, (परमा) प्रमाता, ज्ञाता सम्यग्-दर्शनवान् है। (यत्र सप्त ऋषीन् परः) जिसमें सातों इन्द्रियों के भी परे। उनका

भेद भाव हटा कर (एकम्) एक असंग पुरुष, अद्वितीय रूप (आहुः) बतलाते हैं। उसी आत्मा में (तेषाम्) उन इन्द्रियों के (इष्टानि) इष्ट भोग्य, पदार्थों को (इषा) अन्न से (सं मदन्ति) हर्षित वा बलवान् करते हैं। आधिदैवत पक्ष में—विश्वकर्मा 'आदित्य' है। वृष्टि आदि विविध कर्म करने से 'विश्वकर्मा' है, उसी के आश्रय पर उन जीवों के इष्ट, भोग्य अन्नादि की उत्पत्ति होती है। जो सातों ऋषि, अर्थात् गतिशील ग्रहों से भी परे विद्यमान है। वह अद्वितीय है इत्यादि।

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ ३ ॥

भा०—(यः नः पिता) जो हमारा पालक, पिता के समान है। (यः जनिता) जो उत्पन्न करने वाला, (यः विधाता) जो समस्त जगत् का विधान, व्यवस्था और शासन करने वाला, विशेष रूप से जगत् को धारण और पोषण करने वाला है। जो (विश्वा धामानि) समस्त स्थानों, लोकों और उत्पन्न होने वाले पदार्थों को (वेद) जानता है। (यः देवानां) जो समस्त देवों के (नाम-धा) नामों को धारण करने वाला (एकः एव) अकेला, अद्वितीय ही है। (तं सम्प्रश्नं) उस प्रश्न करने योग्य, जिज्ञासा करने योग्य को लक्ष्य करके (अन्या भुवना यन्ति) अन्य समस्त लोक और उत्पन्न प्राणिवर्ग भी जा रहे हैं। अध्यात्म में—विजिज्ञास्य आत्मा और भुवन प्राणगण हैं।

त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥ ४ ॥

भा०—(ते) वे (पूर्वे) पूर्व के, एवं ज्ञान से पूर्ण, (ऋषयः) तत्त्वदर्शी, (जरितारः) स्तुति करने वाले भक्तजनों के तुल्य ही (भूना) बहुत २ (द्रविणम्) द्रुतगति से चलने वाले चित्त को (अस्मै) इसी

परमेश्वर को साक्षात् करने के लिये (सम् आयजन्त) सब ओर से उसको एकत्र कर उसी में संगत कर देते, उस प्रभु के प्रति ही चित्त को अर्पित कर देते हैं। और वे महाष लोग (असूर्त्ते) सरण रहित, निश्चल, स्थावर और (सूर्त्ते) चल, जंगम (रजसि) व्यवस्थित लोक में (नि-सत्ते) नियत रूप से व्यापक, वा चराचर जगत् पर (नि-सत्ते) अध्यक्ष वा नियामक रूप से विद्यमान उस प्रभु में ही (इमा भूतानि) इन समस्त भूतों, लोकों और प्राणियों को (सम् अकृण्वन्) आश्रित, जीवित देखते और मानते हैं।

प॒रो दि॒वा प॒र ए॒ना पृ॑थि॒व्या प॒रो दे॒वेभि॒रसु॑रै॒र्यदस्ति॑।
कं स्वि॒द् गर्भं॑ प्रथ॒मं द॑ध्र॒ आपो॒ यत्र॑ दे॒वाः स॒मप॑श्यन्त॒ विश्वे॑ ॥५॥

भा०—वह प्रभु, महान् आत्मा (दिवा परः) इस महान् आकाश से भी परे, उससे भी महान् और (एना पृथिव्या परः) इस पृथिवी अर्थात् भूमिवत् सब की उत्पादक, अतिव्यापक प्रकृति से भी परे है। (यत्) जो (देवेभिः असुरैः) देव, ज्ञानी, और असुर, प्राण बल से जीने वालों से, वा तेजोमय सूर्यादि लोक और प्राण-जीवन देने वाले वायु, जल आदि इन से भी (परः अस्ति) परम श्रेष्ठ है। (आपः) व्यापक प्रकृति के परमाणु, 'सरिर' रूप, वा समस्त लोक (कं स्वित्) किस (प्रथमं) सर्वश्रेष्ठ, (गर्भम्) सब को ग्रहण करने वाले, विथरे २ परमाणुओं को बांध २ कर सृष्टि रूप में लाने वाले को (दधे) धारण करता है, वह वह तत्त्व है (यत्र) जिसमें आश्रित (विश्वे देवाः) समस्त प्रकाशमान सूर्यादि लोक और समस्त विद्वान् वा जीवगण (सम् अपश्यन्त) अपने आप को आश्रित देखते हैं।

अस्मिन् लोका श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। उपनि०।

तमिद् गर्भं॑ प्रथ॒मं द॑ध्र॒ आपो॒ यत्र॑ दे॒वाः स॒मग॑च्छन्त॒ विश्वे॑।
अ॒जस्य॒ नाभा॒वध्येक॒मर्पि॑तं॒ यस्मि॒न्विश्वा॑नि॒ भुव॑नानि त॒स्थुः ॥६॥

भा०—(तम् इत्) उस ही (गर्भम्) सबको अपने में ग्रहण करने वाले, सर्वाश्रय, सर्वधारक पुरुष को (आपः) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु या व्यापक 'सरि' मय प्रकृति तत्त्व (प्रथमं) सब से प्रथम (दध्रे) धारण करते हैं। (यत्र) जिसमें वा जिस के आश्रय (विश्वे देवाः सम् अगच्छन्त) समस्त देवगण, सूर्य में रश्मियों के तुल्य, गुरु में शिष्यों के तुल्य और राजा में प्रजाओं के तुल्य संगत, एकत्र होते हैं। (अजस्य नाभौ अधि) अजन्मा, सर्वजगत् के संचालक, उस प्रभु के 'नाभि' अर्थात् सबको अपने में बांध लेने वाले परम सामर्थ्य में (एकम्) यह समस्त विश्व एक, समूचे रूप से (अधि अर्पितम्) आश्रित है, (यस्मिन्) जिसके आश्रय में (विश्वानि भुवनानि) समस्त भुवन, लोक और भूत, प्राणि आदि जीव-सर्ग भी (तस्थुः) स्थिर हैं।

अथवा—अजरूप विराट् विश्व के नाभि में एक वह प्रभुशक्ति विराजती है, जिस में सब आश्रित हैं। अज विराट् का वर्णन देखो (अथर्ववेद का० ९। व ६। मं० २० ॥

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥७॥१७॥

भा०—हे मनुष्यो ! आप लोग (तं न विदाथ) उसको नहीं जानते, या क्या आप लोग उसको नहीं जानना चाहते (इमा जजान) जो इन सब लोकों को उत्पन्न करता है ? (अन्यत्) और जो (युष्माकम् अन्तरम्) तुम सब के भीतर और आत्मा से पृथक् (बभूव) विद्यमान है। लोग (नीहारेण प्रावृताः) कोहरे से घिरे हुओं के तुल्य (नीहारेण) ज्ञान, विवेक आदि को सर्वथा हर लेने वाले, घोर अज्ञान-अन्धकार से ढके हुए (असु-तृपः) केवल प्राण-ग्रहण, श्वासोच्छ्वास, प्राण-धारण मात्र से तृप्त होने वाले और (अ-सु-तृपः) ज्ञान से खूब तृप्त वा बहुश्रुत न होकर

(उक्थ-शासः) उक्थ, वेद-वचनों या शास्त्र वचनों का ही उच्चारण करने वाले होकर (चरन्ति) विचरते हैं वे केवल (जल्प्या प्रावृताः) वाणी मात्र से युक्त होकर (चरन्ति) विचरते हैं। वे ब्रह्मतत्त्व के बारे में केवल बातें ही बहुत कह लेते हैं उनको आत्मा का साक्षात्कार नहीं है। इति सप्तदशो वर्गः ॥

[८३]

मन्युस्तापसः ॥ मन्युर्देवता ॥ छन्दः—१ विराड् जगती। २ त्रिष्टुप्। ३, ६ विराट् त्रिष्टुप्। ४ पादनिचृत् त्रिष्टुप्। ५, ७ निचृत् त्रिष्टुप् ॥ सप्तर्चं सूक्तम् ॥

यस्ते॑ म॒न्यो॒ऽवि॑धद्वज्र सायक॒ सह॒ ओजः॑ पुष्यति॒ विश्व॑मानु॒षक् ।
सा॒ह्याम॒ दास॒मार्यं॒ त्वया॑ यु॒जा सह॑स्कृतेन॒ सह॑सा॒ सह॑स्वता ॥ १ ॥

भा०—हे (मन्यो) तेजस्विन्! हे सर्वज्ञान वाले! शत्रुओं पर क्रोध और उनका वध करने वाले! प्रतापिन् (यः ते अविधत्) जो तेरी सेवा करता है, तेरा आदर सत्कार और तुझे स्वीकृत करता है तुझे अपनाता है, हे (वज्र) बलवीर्य के पुञ्ज! हे (सायक) बाण के तुल्य दुष्टों और दुःखों का अन्त करने वाले! वह (ते सहः ओजः पुष्यति) तेरे शत्रु पराजयकारी पराक्रम और बल को बढ़ाता और स्वयं भी प्राप्त करता है। और वही (आनुषक् विश्वम् पुष्यति) निरन्तर समस्त विश्व को, वा राष्ट्र को भी पुष्ट करता है। (सहः-कृतेन) भारी शत्रु-पराजय करने वाले, (सहसा) बल से (सहस्वता) बलवान् (त्वया युजा) तुझ सहायक से (दासम्) नाशकारी दुष्ट को हम (सह्याम) पराजित करें, उसको हम अपने वश करें।

म॒न्युरिन्द्रो॑ म॒न्युरे॒वास॑ दे॒वो म॒न्युर्होता॒ वरु॑णो जा॒तवे॑दाः ।
म॒न्युं विश॑ ईळते॒ मानु॑षी॒र्याः पा॒हि नो॑ मन्यो॒ तप॑सा स॒जोषाः॑ ॥ २ ॥

भा०—(मन्युः इन्द्रः) ज्ञानवान्, सब को थामने रोकने में समर्थ, संस्तम्भक ही इन्द्र महान् ऐश्वर्यवान्, शत्रुनाशक है। (मन्युः एव देवः आस) वह मन्यु ही देव अर्थात् सबको देने और प्रकाशित करने वाला वा स्वयं प्रकाशवान् है। (मन्युः) वह मन्यु, सर्वज्ञानमय, सर्वदीप्तिमय ही (होता) सबको देने वाला, (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, (जात-वेदाः) सब ज्ञानों से युक्त, सब ऐश्वर्यों का स्वामी है। (याः मानुषीः) जो मनुष्य प्रजाएं हैं वे (विशः मन्युम् ईडते) सब प्रजाएं उस तेजस्वी की ही स्तुति करतीं, उसे ही चाहती हैं। हे (मन्यो) ज्ञानवन्! हे तेजस्विन्! तू (तपसा) तपस्या और श्रम, के कारण, सब के प्रति (स-जोषाः) समान प्रीतियुक्त होकर (नः पाहि) हमारा रक्षक हो। रक्षक को सदा तपस्वी, श्रमी होना चाहिये, आलसी और विलासी नहीं।

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान्तपसा युजा वि जहि शत्रून्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥

भा०—हे (मन्यो) दीप्तियुक्त तेजस्विन् अग्नि के समान परंतप! तू (तवसः तवीयान्) सब बलशाली से बलवान् है। तू (अभि इहि) शत्रु के प्रति आक्रमण कर। और (तपसा) श्रमशील सहायक जन से (शत्रून् वि जहि) शत्रुओं का नाश कर। तू (अमित्र-हा) शत्रुनाशक (दस्यु-हा) दुष्ट, प्रजानाशकों का नाशक हो। और (त्वं) तू (विश्वा वसूनि) समस्त ऐश्वर्य (नः आ भर) हमें प्रदान कर। (२) अध्यात्म में—इन्द्र वा मन्यु आत्मा उसका सहयोगी तपःस्वरूप परमेश्वर है। उसके सहाय से ही वह (तवसः तवीयान्) बलशाली से भी अधिक बलशाली होकर मार्ग पर बढ़े। भीतरी शत्रु काम, क्रोध आदि का नाश करे और हमें समस्त अध्यात्म सुखों को प्राप्त करावे।

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयम्भूर्भामो अभिमातिषाहः।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहावानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥

भा०—हे मन्यो ! तेजस्विन् ! (त्वं हि) क्योंकि तू (अभिभूति-ओजाः) शत्रुओं प्रतिपक्षों को पराजित करने वाले पराक्रम से सम्पन्न है, इसलिये तू (स्वयं-भूः) स्वयं अपने ही बल से सदा विद्यमान, (भामः) शत्रुओं पर असह्य कोप करने वाला, (अभिमाति-सहः) अभिमानी, शत्रुओं का पराजय करने वाला, (विश्व-चर्षणिः) सब का द्रष्टा, (सहुरिः) शत्रुओं का पराजेता, बलवान्, (सहावान्) सहनशील है। तू (अस्मासु पृतनासु) हम मानव प्रजाओं और सेनाओं में (ओजः धेहि) ओज को स्वयं धारण कर और हममें भी धारण करा। हमारे बल पर तू ओज धारण कर। सेनापति राजा आदि का बल अपनी प्रजाओं वा सेनाओं के बल पर होता है। वह अनेक कारणों से बलवान् होता है और नेता के बल से ही समस्त सेना बलवती रहती है। उसके रहते १ वह जोष से लड़ती है उसके पतन होने पर सेना हार जाती है। (२) संकल्पमात्र से जगत् को चलाने वाला प्रभु 'मन्यु' है, वही ज्ञानमय है। उसका बल सब प्रतिपक्षों को पराजय करता है वह 'स्वयं-भू' है वह विश्व का द्रष्टा है। वह सदा हम देहधारियों में 'ओज' धारण करावे।

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीळाहं स्वा तनूर्बलदेयाय मेहि ॥ ५ ॥

भा०—हे (मन्यो) ज्ञानवन् ! हे तेजस्विन् ! जगत् के प्रभो ! ! मैं (अभागः सन्) भाग्यहीन, सेवनीय, परम भजनीय तेरे से रहित होकर (परा इतः) दूर चला गया हूं और (अप अस्मि) तुझ से जुदा होगया हूं। और हे (प्रचेतः) महान् चित्तवाले ! अति उदार ! हे (प्रचेतः) सर्वोत्कृष्ट ज्ञान वाले ! प्रभो ! (तविषस्य) महान्, बलशाली तेरे (क्रत्वा) उपदेश किये ज्ञान और कर्म से भी मैं (अप अस्मि) दूर हूं (अहम्) मैं कर्मभ्रष्ट, ज्ञानभ्रष्ट, पथभ्रष्ट होकर (अक्रतुः) ज्ञान और कर्म

से हीन होकर ही, (जिहीडे) तेरा अनादर करता हूं, तुझे अपने पर क्रोधित करता हूं, तेरी उपेक्षा करता हूँ। तेरी सेवा में ढीला हूं। (अहम्) मैं (स्वा तनूः) स्वयं अपने देहमात्र निःसहाय अकेला हूं। तू (बल-देयाय) बल प्रदान करने के लिये (मा आ इहि) मुझे प्राप्त हो। (२) इसी प्रकार परमेश्वर से परम अनुगृहीत मुक्तिमार्ग का पात्र आत्मा भी प्रभु से यही प्रार्थना करता है। हे प्रभो ! मैं (अभागः) सेवनीय लौकिक देहादि भोग्य पदार्थों से रहित हो (परा इतः) दूर, परम स्थान में प्राप्त (अप अस्मि) सब बन्धनों से पृथक्, असंग हूं। (तविषस्य तव क्रत्वा) बलशाली तेरे ही ज्ञान से मैं ऐसा हूं। अब (अक्रतुः) कर्मरहित होकर (तम् त्वा जिहीळे) तेरी भक्ति करता हूं, तेरी उपासना करता हूं। यह मैं (स्वा तनूः) केवल आत्मा रूप ही हूं। (बलदेयाय) बल देने के लिये मुझे तू प्राप्त हो। जिहीळे हिल भावकरणे, तुदादिः ॥

अ॒यं ते॑ अ॒स्म्युप॒ मेह्य॒र्वाङ् प्र॑ती॒चीनः॑ सहुरे विश्वधायः।
मन्यो॑ वज्रिन्न॒भि मामा व॑वृत्स्व॒ हना॑व॒ दस्यूँ॑रु॒त बो॑ध्या॒पेः ॥ ६ ॥

भा०—हे (मन्यो) ज्ञानवन् ! हे विश्व के जानने हारे ! हे (सहुरे) सब के अपराधों को क्षमा अर्थात् सहन करने हारे ! सब दुष्टों को दण्ड देनेहारे ! हे (विश्व-धायः) समस्त विश्व को धारण करने, दुग्ध पिलाकर सब को पुष्ट करने वाले ! हे (वज्रिन्) बल-वीर्य शालिन् ! प्रभो ! (अयम् ते अस्मि) मैं यह तेरा ही हूं। (अर्वाक् मा इहि) तू मेरे सन्मुख आ, मुझे प्राप्त हो। तू (प्रतीचीनः) मुझ से पराङ्मुख होगया है, प्रभो ! (माम् अभि आववृत्स्व) मेरे प्रति और मेरे समक्ष, तू ही तू विद्यमान हो। हम दोनों मिलकर (दस्यून् हनाव) दुष्ट, नाशकारी बाह्य और भीतरी शत्रुओं का नाश करें। (उत) और तू (आपेः बोधि) अपने इस बन्धू का भी कुछ ध्यान रख।

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा मेऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभा उपांशु प्रथमा पिबाव ॥७॥१८॥

भा०—हे प्रभो ! तू (अभि प्र इहि) समक्ष आ, दर्शन दे । (दक्षिणतः मे भव) मेरे दक्षिण ओर हो, दायें हाथ, मेरा परम सहायक और मेरा परम माननीय हो । (अध) और (वृत्राणि जंघनाव) हम दोनों विघ्नकारी शत्रुओं और आत्मा को घेरने वाले काम, क्रोधादि बाधक कारणों का नाश करें । मैं (ते) तेरे लिये (मध्वः) मधुर रस रूप आनन्द के (अग्रम्) सर्वश्रेष्ठ, (धरुणम्) धारण करने वाले आत्मा को जलपात्र के तुल्य (ते) अर्घ के तुल्य तुझे (जुहोमि) प्रदान करता हूं । और (ते मध्वः) तेरे परम मधुर आनन्द के (अग्रम् धरुणम्) सर्वश्रेष्ठ धारक स्वरूप को मैं (जुहोमि) स्वयं प्राप्त करूं । इस प्रकार (उपांशु) अति समीपतम एक दूसरे में व्याप कर (उभौ) हम दोनों (प्रथमा) सर्वश्रेष्ठ एवं देह-ग्रहण के पूर्व शुद्ध आत्मरूप होकर (पिबाव) एक दूसरे का पान करें । तू मेरा पान अर्थात् पालन कर वा मुझे अपने भीतर अपनी रक्षा में लेले और मैं तुझे अपने हृदय में धारण करूं, वा तेरे आनन्दमय रस का पान करूं । इत्यष्टादशो वर्गः ॥

[८४]

मन्युस्तापस ऋषिः ॥ मन्युर्देवता ॥ छन्दः—१, ३ त्रिष्टुप् । २ भुरिक् त्रिष्टुप् । ४, ५ पादनिचृज्जगती । ६ आर्ची स्वराड् जगती । ७ विराड् जगती ॥

सप्तर्चं सूक्तम् ॥

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः ।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभि प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः ॥ १ ॥

भा०—हे (मन्यो) ज्ञानवन् ! हे दीप्तियुक्त ! तेजस्विन् ! (स-रथम्)

रथ के सहित होकर हे (मरुत्वः) हे वीरों, मर्दों के स्वामिन् ! (त्वया) तेरे सहयोग में (आरुजन्तः) शत्रुओं का सब ओर नाश करते हुए, (हर्षमाणासः) तेरे से हर्ष अनुभव करते हुए, (धृषिताः) शत्रु का धर्षण करनेहारे, (तिग्म-इषवः) तीक्ष्ण बाणों वाले, तीक्ष्ण सेनाओं वाले (आयुधा सं-शिशानाः) अनेक शस्त्रास्त्रों को तीक्ष्ण करते हुए (अग्नि-रूपाः) अग्नि के समान तेजस्वी, उज्ज्वल रूप वाले होकर (नरः) नेता लोग (अभि प्र यन्तु) आगे बढ़ें। (२) अध्यात्म में—हे (मन्यो) तेजोमय ! हे ज्ञानमय प्रभो ! (स-रथम्) इस देह से युक्त होकर वा रसस्वरूप तुझ सहित विघ्नों का नाश करते हुए (हर्षमाणासः) हर्ष, लाभ करते हुए (तिग्मेषवः) तीक्ष्ण इच्छा, प्रेरणा वाले होकर (आयुधा सं-शिशानाः) इन्द्रियगणों वा प्राणों वा साधन को भी तीक्ष्ण करते हुए (अग्नि-रूपाः नरः) अग्निवत् प्रकाशमय, ज्ञानी आत्मा गण आगे बढ़ें।

अ॒ग्निरि॑व मन्यो त्विषि॒तः स॑हस्व सेना॒नीर्नः॑ सहुरे हू॒त ए॑धि।
ह॒त्वाय॒ शत्रू॒न्वि भ॑जस्व॒ वेद॒ ओजो॒ मिमा॑नो॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥२॥

भा०—हे (मन्यो) तेजस्विन् ! तू (अग्निः इव) अग्नि के समान (त्विषितः) कान्तियुक्त होकर (संहस्व) सब को पराजित कर। हे (सहुरे) सहनशील ! तू (हूतः) आदर से बुलाया जाकर (नः सेनानीः एधि) हमारा सेनानायक हो। (शत्रून् हत्वाय) शत्रुओं का नाश करके (वेदः विभजस्व) विजय से प्राप्त धन को विभक्त कर। (ओजः मिमानः) बल-पराक्रम करता हुआ (मृधः वि नुदस्व) हिंसाकारी शत्रुओं और शत्रु सेनाओं को विपरीत दिशा में कर और अपनी (मृधः) सेनाओं को (वि-नुदस्व) विविध प्रकार से प्रेरित कर।

अध्यात्म में—'इन' अर्थात् स्वामी, आत्मा सहित विद्यमान समस्त इन्द्रियगण 'सेना' है, उसको सन्मार्ग में ले जाने वाला सेनानी है। वा स्वामी के चाहने

वाले प्रजाजन सेना, उनका नेता प्रभु हो। वह हमारे अन्तःशत्रु और हमें काटने वाले रोग आदि को नाश कर, सुख प्रदान करे। हमें बल देता हुआ हमारी (मृधः) विपत्तियों को दूर करे।

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मे रुजन्मृणन्प्रमृणन्प्रेहि शत्रून्।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयस एकज त्वम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (मन्यो) सब से मानने, आदर करने योग्य ! हे तेजस्विन् ! (अस्मे अभिमातिं सहस्व) तू हमारे शत्रुओं को पराजित कर और (अस्मे शत्रून्) हमारे शत्रुओं को (मृणन् प्रमृणन्) नाश करता हुआ (प्र इहि) आगे बढ़। (ते उग्रं पाजः) तेरे भयंकर बल को भला (ननु आ रुरुध्रे) कब सम्भव है कि वे रोक सकें ? तू (एकजः वशी) एकमात्र प्रकट होकर, स्वयंभू होकर ही सब को वश करने वाला है, तू उनको (वशं नयसे) वश में कर लेता है।

एको बहूनामसि मन्यवीळितो विशंविशं युधये सं शिशाधि।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्महे ॥ ४ ॥

भा०—हे (मन्यो) तेजस्विन् ! तू (बहूनाम्) बहुतों में से (एकः ईडितः असि) एक, अद्वितीय प्रशंसित और बहुतों का प्रेमपात्र है। तू (विशं-विशम्) प्रत्येक प्रजा को (युधये) युद्ध करने के लिये (सं शिशाधि) खूब उत्तेजित कर। उनको भी तीव्र, साहसी, उत्साही और प्रचण्ड कर। हे (अकृत्त-रुक्) कभी न नष्ट होने वाली कान्ति वाले, हे अन्यों की रुचि को विघात वा नष्ट न करने वाले ! (वयम्) हम (त्वया युजा) तुझ सहायक और तुझ प्रेरक से युक्त और प्रेरित होकर (विजयाय) विजय करने के लिये (द्युमन्तं घोषं कृण्महे) दीप्तियुक्त, शानदार घोष, गर्जन, सिंहनाद करते हैं।

यह विजयघोष अध्यात्म में वही विजय लेना चाहिये जिसका वर्णन केन उपनिषद् में किया है। ब्रह्म देवेभ्यो विजिग्ये० इत्यादि। केन उप० खं० २।

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो३ऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ॥ ५॥

भा०—हे प्रभो! राजन्! सेनापते! तू (इन्द्रः इव) ऐश्वर्यवान्, शत्रुनाशक के समान (विजेष-कृत्) विजय करने वाला, (अनवब्रवः) निन्दित वचन न बोलने वाला, वा स्वयं अन्यों से हीन वचन न कहने योग्य है। हे (मन्यो) आदरणीय! हे माननीय! तू (इह अस्माकं अधिपाः भव) यहां हमारा अध्यक्ष पालक हो। हे (सहुरे) विजयशील, हे सहिष्णो! हम यहां (ते प्रियं नाम गृणीमसि) तेरे प्रिय नाम का उच्चारण करते हैं, तेरे प्रिय आदर योग्य वचन कहते हैं, तुझे नमस्कार करते हैं। हम तुझ (तम् उत्सम् विद्म) उस उत्तम सुख देने वाले परम निकास वा रसोत्पादक मेघ वा कूप के समान परमपद वा शक्ति के उन्नत करने वाले उस स्रोत को जानें (यतः) जिस रूप से तू (आबभूथ) सर्वत्र व्याप रहा है।

आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्ष्यभिभूत उत्तरम्।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि॥ ६॥

भा०—हे (वज्र) बलशालिन्! हे (सायक) दुःखों और दुष्टों के अन्त करने हारे! हे (अभि-भूते) शत्रुओं को पराजित करने हारे वा हे (अभि-भूते) सर्वत्र व्यापने वाले! तू (आ-भूत्या) अपने सर्वत्र विद्यमान राजा और ऐश्वर्य-विभूति से (सह-जाः) सब के साथ विद्यमान होकर (उत्तरम्) सब से उत्कृष्ट (सहः बिभर्षि) बल को धारण करता है। हे (मन्यो) मान्य! हे तेजस्विन्! हे (पुरु-हूत) इन्द्रियगणों को अपने अधीन रखने वाले, आत्मा के तुल्य प्रजा के पालक नेताओं को ग्रहण करने

वाले, उनके द्वारा स्तुति किये गये नायक, स्वामिन् ! तू (महाधनस्य) बड़े भारी ऐश्वर्य के (संसृजि) संसर्ग कराने और (महाधनस्य संसृजि) भारी युद्ध के करने में (मेदी) सर्वस्नेही और शत्रुओं का विनाश करने वाला (एधि) हो ।

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं दत्तां वरुणश्च मन्युः ।
भियं दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥
॥ ७ ॥ १६ ॥ ६ ॥

भा०—(वरुणः च मन्युः) माननीय और सब से वरण करने योग्य, श्रेष्ठ सेनापति और सभापति दोनों (संसृष्टं) सब के साथ मिला, (उभयम्) दोनों प्रकार का, चर और अचर (समाकृतम्) अच्छे प्रकार से सम्पादित (धनं) धन को (अस्मभ्यं) हमें (दत्ताम्) देवें । और (शत्रवः) शत्रुगण (हृदयेषु भियं दधानाः) हृदयों में भय धारण करते हुए (पराजितासः) पराजित होकर (अप निलयन्ताम्) दूर भाग कर छिप जाय । इत्येकोनविंशो वर्गः । इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

[८५]

सूर्या सावित्री ॥ देवता—१—५ सोमः । ६—१६ सूर्याविवाहः । १७ देवाः । १८ सोमार्कौ । १९ चन्द्रमाः । २०—२८ नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्रायाः । २९, ३० वधूवासः संस्पर्शनिन्दा । ३१ यक्ष्मनाशिनी दम्पत्योः । ३२—४७ सूर्या ॥ छन्दः—१, ३, ८, ११, २५, २८, ३२, ३३, ३८, ४१, ४५ निचृदनुष्टुप् । २, ४, ५, ९, ३०, ३१, ३५, ३९, ४६, ४७ अनुष्टुप् । ६, १०, १३, १६, १७, २६, ४२ विराडनुष्टुप् । ७, १२, १५, २२ पादनिचृदनुष्टुप् । ४० भुरिगनुष्टुप् । १४, २०, २४, २६, २७ निचृत् त्रिष्टुप् । १९ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । २१, ४४ विराट् त्रिष्टुप् । २३, २७, ३६ त्रिष्टुप् । १८ पादनिचृज्जगती । ४३ निचृज्जगती । ३४ उरोबृहती ॥

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥ १ ॥

भा०—(सत्येन) सत्य से (भूमिः) भूमि, उत्पादन करने और धारण करने वाली पृथिवी और उसके तुल्य स्त्री और प्रकृति शक्ति (उत्-तभिता) ऊपर थामी जाती है, धारण की जाती है। (सूर्येण) सूर्य के द्वारा (द्यौः) प्रकाशक तेज वाली उषा (उत्-तभिता) धारित होती है। (आदित्याः) वर्ष के १२ हों मास जो अदिति अर्थात् सूर्य और पृथिवी के द्वारा उत्पन्न होते हैं वे भी (ऋतेन) सूर्य तेज, अन्न और जलवत् सत्य, द्वारा (तिष्ठन्ति) स्थिर होते हैं (दिवि) आकाश में (सोमः) सोम, प्राणियों का उत्पादक सूक्ष्म जलीय और तैजस तत्त्व (ऋतेन) सूर्य के तेज के द्वारा (अधि-श्रितः) ऊपर स्थिति पाता है। इसी प्रकार इस लोक-व्यवहार के क्षेत्र में सन्तानों को उत्पन्न करने वाली 'भूमि' स्त्री है। उसको भी पुरुष सत्य के बल पर धारण करता है, सत्य वचन और सत् अर्थात् सज्जनों के योग्य सद् व्यवहार से ही धारण करता है। जिस प्रकार सूर्य द्यौ अर्थात् उज्ज्वल आकाश भाग उसको अपने ऊपर धारता है उसी प्रकार तेजस्वी 'द्यौ' रूप उषा के समान कान्ति और कामनायुक्त स्त्री को भी पुरुष धारण करने में समर्थ होता है। पुरुष जो विवाह करना चाहता है उसे सूर्य के समान तेजस्वी, दिन के पूर्व भाग में अनुराग, तेज स्नेह आदि के द्वारा आकर्षक होना चाहिये। सूर्य भूमि से उत्पन्न १२ मासों और दिन रात्रियों के तुल्य गृहस्थ में उत्पन्न पुत्र पुत्री आदित्य हैं जो अदिति अर्थात् माता पिता से उत्पन्न होते हैं, वे भी (ऋतेन) धन, अन्न, तेज वीर्य के आश्रय ही स्थिर हो सकते हैं। सोम, चन्द्र के समान पुनः उत्पन्न होने वाला सन्तान वा सन्तानोत्पादक वीर्य का उत्पन्न होना भी 'दिवि' कामना वाली स्त्री के देह में ही स्थिर होता, वह उसके सहवास और उसकी सुप्रसन्नता पर ही उत्पन्न होता, उसी में स्थिर होकर सन्तान रूप में उत्पन्न होता है। वह

भी (ऋतेन) ऋत, सत्य अन्न और उत्तम जल, प्रेम-संगति आदि पर ही निर्भर है।

इस सूक्त के प्रायः सब मन्त्र अथर्ववेद का० १० में आये हैं। देखो अथर्व० का० १४। सू० १। १॥

सोमे॑नादि॒त्या ब॒लिनः॒ सोमे॑न पृथि॒वी म॒ही।
अथो॒ नक्ष॑त्राणामे॒षामु॒पस्थे॒ सोम॒ आहि॑तः॥ २॥

भा०—(आदित्याः सोमेन बलिनः) सूर्य की रश्मियां पृथिवी पर ओषधि, और आकाश में मेघ और विद्युत् आदि उत्पादक सामर्थ्य रूप 'सोम' तत्त्व के द्वारा ही बल से युक्त हैं। इसी प्रकार (आदित्याः) सूर्य और पृथिवी से उत्पन्न ऋतु, दिन, मास और पृथिवी पर उत्पन्न अनेक पशु-पक्षी, मनुष्य, समस्त प्राणीगण ये सब (सोमेन बलिनः) 'सोम' अर्थात् स्व-सन्तान के उत्पादक वीर्य रूप सामर्थ्य से ही बलशाली हैं। यदि वे वीर्य-हीन हों तो निर्बल और नपुंसक उत्साहहीन हो जाते हैं। इसी प्रकार 'सोम' अर्थात् उत्पादक तत्त्व वीर्य के द्वारा ही (आदित्याः) 'अदिति' अर्थात् माता पिता से उत्पन्न होने वाले पुत्र और पुत्री आदि सन्तान भी (बलिनः) बल से युक्त, हृष्ट पुष्ट उत्पन्न होते हैं, हीनवीर्य से सन्तानें भी हीनवीर्य-वाली होती हैं। (सोमेन) उत्पादक वीर्य के द्वारा ही (पृथिवी मही) यह भूमि अनेक पशु-पक्षी आदि जीवों का विस्तार करती है, उसी को पृथिवी ने अपने समस्त पृष्ठ, जल-स्थल पर सर्वत्र फैला रक्खा है। इसी प्रकार पृथिवी के सदृश सर्वोत्पादक प्रकृति उत्पादक ब्रह्म से (मही) महान् शक्ति वाली है। उत्पादक सामर्थ्य रूप सोम अर्थात् रज वीर्य के द्वारा ही, पृथिवीवत् स्त्री भी (मही) पूजनीय होती हैं। वह सामान्य स्त्री के पद से पूज्य माता के पद को प्राप्त करती है। यदि उत्तम रज-वीर्य न हों तो स्त्री वन्ध्याहोकर मान आदर वा माता होने का सौभाग्य नहीं पाती। (अथो) और (एषां नक्षत्राणाम् उपस्थे) इन नक्षत्रों के बीच में जिस प्रकार

(सोमः आहितः) चन्द्र स्थित होता और शोभा देता है उसी प्रकार (एषां) इन (नक्षत्राणाम्) 'न-क्षत्र' अर्थात् अक्षत वीर्य वाले ब्रह्मचारी पुरुषों के (उपस्थे) अंग में (सोमः आहितः) प्रजा का उत्पादक वीर्य सुरक्षित होता है। और (एषां नक्षत्राणां) एक दूसरे को आदरपूर्वक प्राप्त होने वाले गृहस्थ पुरुषों के (उपस्थे) गोद में (सोमः आहितः) पुत्र स्थित होता है।

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥ ३ ॥

भा०—(पपिवान्) पान करने वाला, (सोमं मन्यते) सोम उसी को मानता है (यत्) जो (ओषधिं सम्पिषन्ति) ओषधि को पीसते और कूटते हैं, उसका रस पान करते हैं। परन्तु (यं सोमं) जिस सोम को (ब्रह्माणः) ब्रह्म, वेद के जानने वाले, वा ब्रह्म के उपासक ब्रह्म का आचरण करने वाले ब्रह्मचारी लोग (विदुः) जानते हैं, (तस्य) उसको (कः चन न अश्नाति) और कोई भी मुख द्वारा खा नहीं सकता है। उस ज्ञान और वीर्य रूप सोम वा अध्यात्म में आनन्दमय सोम को अर्थात् तेज, दीर्घायु और हृदयनिष्ठ आनन्द को वे स्वयं ही अपने जीवन में आनन्द, पुत्र और अमृत तत्त्व के रूप में प्राप्त करते हैं। इस सोम के विषय में गोपथ ब्राह्मण (पू० २ । ९) में लिखा है—वेदानां दुह्यं भृग्वंगिरसः सोमपानं मन्यन्ते। सोमात्मकोयं वेदः। तदप्येतद् ऋचोक्तं सोमं मन्यते पपिवान् इति। वेदों से प्राप्त करने योग्य ज्ञान को विद्वान् भृगु अर्थात् तपस्वी वेदवाणी के धारक ज्ञानी अंगिरस जन सोमपान करना जानते हैं। वेद ही सोम रूप हैं। 'सोमं मन्यते पपिवान्' इस मन्त्र ने इसी का प्रतिपादन किया है। इस वेद को ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्य पालन करके ही प्राप्त करते हैं। अथर्व० का० १४ । १ । ३ ॥

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।
ग्राव्णामिच्छृण्वन्तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥ ४ ॥

भा०—ब्रह्मचारी सोम जिसको आगे 'वधूयू' कहा जावेगा, जिसके आश्रय पर इस सूक्त में गृहस्थ का प्रतिपादन करना है, उसका वर्णन करते हैं। हे (सोम) सोम, वीर्य के पालक, विद्यागर्भ से उत्पन्न होने हारे, विद्वान् पुरुषों से प्रेरित ! उपदिष्ट ब्रह्मचारिन् ! (पार्थिवः) यह पृथिवी का मालिक राजा भी (ते न अश्नाति) तेरे इस महान् ज्ञान रूप धन का भोग नहीं कर सकता है। (आच्छद्-विधानैः गुपितः) जिस प्रकार चारों ओर से घेर लेने वाले प्रकोट या दीवारों, खाई आदि रचनाओं से सोम अर्थात् शासक राजा सुरक्षित होता है उसी प्रकार हे (सोम) वीर्यवान् ब्रह्मचारिन् ! तू भी (आच्छद्-विधानैः) सब ओर से सुरक्षित विद्या, विधान, सत्कर्म आचरणों को रखने वाले गुरुओं द्वारा (गुपितः) सुरक्षित होता है। और (बार्हतैः रक्षितः) बृहती नाम वेदवाणी के जानने वाले विद्वानों द्वारा सुरक्षित होता है। हे (सोम) ब्रह्मचारिन् ! (ग्राव्णाम्) ज्ञानोपदेष्टा विद्वानों के बीच में (इत्) ही (शृण्वन्) ज्ञान का श्रवण करता हुआ (तिष्ठसि) विराजता है। (ते) तेरे इस ज्ञानमय अंश का (पार्थिवः) पृथिवी का सामान्य जन (न अश्नाति) नहीं भोग करता है। वीर्यवान् ब्रह्मचारी पुरुष ही 'सोम' कहाता है, जैसा कि लिखा है—पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा। तै० १।३।३।३॥ (२) वीर्य पक्ष में—वीर्य की रक्षा वे पुरुष करते हैं जो 'आच्छद्-विधान' अर्थात् इन्द्रियों को सुरक्षित रखते हैं और 'बार्हत' अर्थात् वेद और ब्रह्म की उपासना करते हैं। जो गुरुजनों के अधीन विद्या का अभ्यास करते हैं, उनके इस ज्ञानमय ऐश्वर्य को कोई सामान्य जन वा राजा भी अपहरण नहीं कर सकता। फलतः इन्द्रिय दमन करने, वेद का अभ्यास और गुरुओं के पास विद्या लाभ करने वालों को वीर्य की रक्षा अवश्य करनी चाहिये।

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः ।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥ ५ ॥ २० ॥

भा०—जिस प्रकार चन्द्रमा (पुनः आप्यायते) फिर २ वृद्धि को प्राप्त होता है और (वायुः सोमस्य रक्षिता) वायु अर्थात् चन्द्र को चलाने वाली गति ही सोम का रक्षक है, वह (समानां) वर्षों के (मासः) मास का (आकृतिः) बनाने वा बतलाने वाला होता है । उसी प्रकार हे (देव) विद्या आदि सद्गुणों की कामना करने वाले विद्वन् ! (त्वा) तुझे (यत्) जब (प्र-पिबन्ति) गुरु आदि जन खूब अच्छी प्रकार सुरक्षित करते हैं, (ततः) तब तू (आप्यायसे) बल आदि से हृष्ट-पुष्ट हो जाता है । ऐसे (सोमस्य) सोम्य स्वभाव के, विद्याभिलाषी शिष्य का (रक्षिता) रक्षक (वायुः) ज्ञानवान् गुरु, आचार्य होता है । (मासः) ज्ञानवान् पुरुष ही (समानां) ज्ञान सहित विद्वानों का (आकृतिः) बनाने वाला होता है । इति विंशो वर्गः ॥

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी ।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम् ॥ ६ ॥

भा०—(रैभी) उपदेश देने वाले विद्वान् पुरुषों की शिक्षा ही (अनुदेयी आसीत्) अनुदेयी अर्थात् विवाह के अनन्तर देने योग्य हो । (नाराशंसी नि-ओचनी) मनुष्यों की स्तुति ही वधू के लिये उत्तम सेविका वा, उत्तम वस्त्र वा ओढ़नी हो । (सूर्यायाः) उषा के समान नव कान्ति से युक्त नववधू का (वासः) आच्छादन वस्त्र (गाथया परिष्कृतम्) गाथा से सुशोभित (भद्रम्) अति सुखकारक रूप में (एति) प्राप्त होता है ।

सायण के मत में—'रेभी' नाम ऋचाएं हैं जो सूर्या के विवाह के अवसर में कन्या के विनोदार्थ साथ दान की जाने योग्य सखी के समान हों, नाराशंसी नाम 'प्रातारत्नम्०' इत्यादि ऋचाएं (ऋ० १।१२५) उसकी

निओचनी अर्थात् दासी के तुल्य हैं। उसका वस्त्र 'गाथा' गान करने योग्य ब्राह्मण ग्रन्थ प्रोक्त विशेष ऋचा से सुशोभित हो।

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात्सूर्या पतिम् ॥ ७ ॥

भा०—(यत्) जब (सूर्या) उत्तम सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ नवयुवति वधू (पतिम् अयात्) पालक पति को प्राप्त हो तब (उप बर्हणं) मस्तक को सुख देने वाले तकिये के तुल्य (चित्तिः) ज्ञान वा चित्त का उत्तम संकल्प ही (आः) हो। और (अभिअञ्जनं चक्षुः) आंखों में लगाने का अंजन जिस प्रकार आंख को अधिक शक्ति देता है उसी प्रकार (अभि-अञ्जनम्) सब ओर प्रकाश करने वाला शास्त्र ही (चक्षुः) उसको सत्य तत्त्व बतलाने वाले चक्षु के समान (आः) हो। (द्यौः भूमिः कोशः आसीत्) जिस प्रकार आकाश और भूमि ही अनेक ऐश्वर्यों के खजाने के तुल्य हैं। उसी प्रकार वधू के लिये (द्यौः) पिता और (भूमिः) उत्पादक माता ये दोनों ही (कोशः) उसके धन देने वाले ख़जाने के तुल्य (आसीत्) होते हैं। अथवा—(द्यौः) उसे चाहने वाला उससे रमण वा प्रेम व्यवहार करने वाला सूर्यवत् तेजस्वी पति पुरुष और (भूमिः) उसका आश्रय रूप, वह भूमिवत् सन्तान उत्पादक वह स्वयं (कोशः) गर्भ-गृह के समान रक्षक हो। (अथर्व० १४। १। ६)

स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत्पुरोगवः ॥ ८ ॥

भा०—(सूर्यायाः) नव वधू जो सन्तान की कामना से उषाकाल के तुल्य अनुराग वाली होकर पति के साथ जाती हो उसके (स्तोमाः) उत्तम २ स्तुति योग्य गुण और, उत्तम २ उपदेश और स्तुत्य वचन ही (प्रतिधयः) उसके प्रति आदरार्थ प्रस्तुत पदार्थ के तुल्य हों, वा वे ही

उसके प्रतिपालक हों, सर्वत्र सब उसको उत्तम वचन ही कहें। और (छन्दः) उसकी मनोकामना उस समय (कुरीरं ओपशः) अपने पति के समीप शयन और कर्त्तव्य कर्म वा मैथुन-धर्म से सन्तान उत्पत्ति (आसीत्) हो। उस समय वे दोनों (अश्विना) एक दूसरे के भोग्य भोक्ता रूप से वा एक दूसरे के हृदय में व्यापक वा उत्तम अश्वों से युक्त, जितेन्द्रिय होकर (वरा) एक दूसरे का वरण करने वाले होते हैं। और उनके (पुरःगवः) आगे चलने वाला वा उनके समक्ष वाणी को प्रकट करने वाला (अग्निः आसीत्) अग्रणी, नायक वा ज्ञानवान् पुरुष हो। अर्थात् वधू के आगे २ उसका पति ही चले, वह अपने पति का ही अनुसरण करे। अथवा उन दोनों को समस्त मार्ग दिखाने और उपदेश करने वाला विद्वान् पुरोहित हो।

कुरीरं–क्रियते इति कुरीरम् मैथुनं वा इति दयानन्द उणादिभाष्ये। ओपशः–आङ्उपपूर्वात् शेतेरसुन्।

सोमो॑ वधू॒युर॑भवद॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा।
सू॒र्यां यत्पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा सवि॒ताद॑दात् ॥ ९ ॥

भा०—(सोमः) वीर्यवान्, नवयुवक विद्वान् पुरुष (वधूयुः अभवत्) वधू की कामना करने वाला हो। और (उभा) दोनों वर और वधू (अश्विना) जितेन्द्रिय, एक दूसरे के चित्त में व्यापक होकर (वरा) एक दूसरे को वरण करने वाले (आस्ताम्) हों, (यत्) जब कि (सविता) कन्या का पिता (मनसा) मन से (पत्ये) पति को प्राप्त करने के लिये (शंसन्तीम्) आशंसा वा इच्छा करती हुई (सूर्याम्) कन्या को (पत्ये अददात्) पालन करने में समर्थ, ऐश्वर्ययुक्त पुरुष के लिये दान करे।

वधू—वहतीति वधूः। जो गृहस्थ-भार को व सन्तान को वहन कर सके। (२) 'ऊह्यते इति वधूः' जिसको पुरुष अपने आश्रय में धारण

करता है वह 'वधू' है। उसकी कामना करने वाला वा उसका स्वामी 'वधूयु' 'सोम' शब्द से कहाता है। वह सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ, वा वीर्यवान् होने से 'सोम' कहाता है। पिता तभी कन्या को दे जब कन्या पति के लिये उत्सुक हो। वह उस पुरुष के हाथ कन्या को दान करे। यह दान उसका मनःसंकल्प द्वारा ही होता है। यह प्रदान कन्या को विवाह करने वाले वर के हाथों में देने पर भी पिता के पितृत्व का विलोप नहीं करता।

मनो अस्या अन आसीद्यौरासीदुत छदिः।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या गृहम् ॥ १० ॥ २१ ॥

भा०—(यत्) जब (सूर्या) कन्या, वरवर्णिनी (गृहम्) अपने को सर्वात्मना ग्रहण करने वाले पति को वा अपने नये बसाये गृह को (अयात्) जाती है तब वह कैसे जावे ? लोक-दृष्टि से वह गाड़ी वा रथ पर चढ़कर जाती है, जिसके सुन्दर छत और उत्तम घोड़े आदि लगे होते हैं, उसी प्रकार जब वह पतिगृह वा पति को प्राप्त होती है तब (अस्या अनः) उसका शकट वा गाड़ी रूप से उसका (मनः आसीत्) मन होता है। (उत) और (च्छदिः) ऊपर की छत (द्यौः) कामना रूप हो। वे दोनों वरवधू स्वयं ही शकट में लगे (शुक्रौ अनड्वाहौ) श्वेत, सुन्दर शकट उठाने वाले बैलों के समान (शुक्रौ) विशुद्ध कान्ति से युक्त, शुद्ध कर्म करने वाले, सदाचारी और वीर्यवान्, ब्रह्मचारी (अनड्-वाहौ) एक दूसरे के चित्तरूप वा गृहस्थ रूप शकट को ढोने में समर्थ (आस्ताम्) होवें। इत्येकविंशो वर्गः ॥

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥ ११ ॥

भा०—हे (सूर्ये) उषा के तुल्य कामना वा अनुराग वाली वधू!

(ते गावौ) तेरे मन रूप रथ के दोना बैल (ऋक्-सामाभ्यां) ऋग्वेद और सामवेद दोनों से अथवा ऋक् अर्थात् अर्चना, ईश्वरोपासना और सब के प्रति समान व्यवहार वा सब के प्रति शान्तियुक्त वचन इनसे (अभि-हितौ) बंधे हुए (सामनौ) सबके प्रति समान भाव वा बलवान्, एक दूसरे के सहायक होकर (इतः) चलें। (ते श्रोत्रे) तेरे दोनों कान (चक्रे) मन रूप रथ के दो चक्र के तुल्य हों। (दिवि) तेरे कामनामय व्यवहार में (चराचरः पन्थाः) यह समस्त चर और अचर पदार्थ ही मार्ग के तुल्य हैं। तू चित्त से चर और अचर दोनों पदार्थों की यथेष्ट चाहना कर। ऋचा भाग मन्त्र और साम-गायन अर्थात् ज्ञान और उपासना इन दोनों के आश्रय पर वधू का मन रहे, और उन दोनों वर-वधू का चित्त अपने से बड़ों के हित-वचन सदा श्रवण करे।

शुची॑ ते च॒क्रे या॒त्या व्या॒नो अक्ष॒ आह॑तः।
अनो॑ मन॒स्मयं॑ सू॒र्यारो॑हत्प्रय॒ती पति॑म् ॥ १२ ॥

भा०—हे वधू ! (यात्याः ते) जाती हुई तेरे रथ के (चक्रे) दोनों चक्र (शुची) शुद्ध हों। उस मनोमय रथ में (अक्षः) अक्ष रूप से (व्यानः आहतः) व्यान लगा हो। (पतिम् प्रयती सूर्या) पति की ओर प्रयाण करती हुई सूर्या, नववधू (मनस्मयं अनः) मनोमय रथ को (आरोहत्) चढ़े। वधू का चित्तमय रथ गृहस्थ-धारण रूप है। उसमें स्त्री-पुरुष दोनों ही उस रथ को धारण करने से रथ में लगे दो अश्वों के तुल्य हैं। वे दोनों ऋचा और साम, ज्ञान और उपासना वा परस्पर की अर्चना, आदरभाव और समान चित्तता से बद्ध हों, इस रथ के चक्र श्रोत्र हों अर्थात् वे दोनों एक दूसरे के वचनों को चित्त देकर सुनें, एक दूसरे के कथन का अवहेलना या तिरस्कार न करें। तब वे अपनी कामनानुसार चर और अचर सभी ऐश्वर्य-सम्पदा को प्राप्त कर सकते हैं चर, पशु भृत्यादि और अचर, भूमि, गृह, स्वर्णादि। उनके कान जो चक्र रूप हैं सदा स्वच्छ रहना चाहिये। प्रायः

चुग़लख़ोर नर-नारियां, विवाहितों के कान भर कर ही एक दूसरे के प्रति द्वेष और कलह को बो देते हैं, और फिर गृहस्थ का सब सुख नष्ट हो जाता है।

सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥ १३ ॥

भा०—(सूर्यायाः) सूर्या नववधू का (वहतुः) कन्या को प्रेम से दिया द्रव्य आदि (यम् सविता अव असृजत्) जिसे उसका पिता प्रदान करता है वह (प्र अगात्) अच्छी प्रकार सुरक्षित रूप से जावे। (अघासु गावः हन्यते) अघा अर्थात् 'मघा' नक्षत्रों में सूर्य की किरणें मारी जाती हैं, मन्द हो जाती हैं, (अर्जुन्योः पर्युह्यते) और अर्जुनी अर्थात् फल्गुनी नक्षत्रों में परिवहन अर्थात् पुनः प्राप्त किया जाता है। इसी प्रकार विवाह और विदाई होती है। 'अथर्ववेद में—मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषुव्युह्यते।'

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन्पुत्रः पितरावृणीत पूषा ॥१४॥

भा०—(यत्) जब हे (अश्विना) जितेन्द्रिय स्त्री-पुरुषो! वा वर वधू आप दोनों (पृच्छमानौ) अपने पूज्य जनों से प्रश्न करते हुए (त्रि-चक्रे) तीन चक्र के रथ से (सूर्यायाः) उषा के समान कान्ति एवं अनुराग वाला कन्या के (वहतुम्) विवाह को लक्ष्य कर (अयातम्) प्राप्त होओ तब (विश्वे देवाः) सब विद्वान् धार्मिक लोग (तत्) उस विवाह की (अनु अजानन्) अनुमति देवें, क्योंकि इसी विधि से (पूषा) सब को पालन-पोषण करने और वंश की वृद्धि करने वाला (पुत्रः) पुत्र (पितरौ) माता पिता दोनों को (अवृणीत) प्राप्त होता है।

वरवधू वा स्त्री पुरुष के 'त्रिचक्र रथ' का वर्णन आगे स्पष्ट होगा।

यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप।
क्वैकं चक्रं वामासीत्क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥ १५ ॥ २२ ॥

भा०—हे (शुभः पती) शोभादायक आभूषण वस्त्र आदि और उत्तम गुणों के पालन करने वाले, वा (शुभः पती) उत्तम सत्कार-साधन रूप जल के पालक वा पान करने कराने वाले आप दोनों (यत्) जब (सूर्याम् वरेयम् उप अयातम्) परस्पर वरण कार्य के निमित्त प्राप्त होवें तब (वाम्) आप दोनों का (एकं चक्रम्) एक चक्र (क आसीत्) कहां हो और (देष्ट्राय) परस्पर दान-आदान करने के लिये वा (देष्ट्राय) उपदेश करने वाले विद्वान् के सत्कारार्थ वा उसका उपदेश ग्रहण करने के लिये (क्व) कहां (तस्थथुः) खड़े होओ ?

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः।
अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः ॥ १६ ॥

भा०—हे (सूर्ये) वधू ! (ते) तेरे (चक्रे) दोनों चक्रों को (ब्रह्माणः) वेद के विद्वान् उपदेष्टा पुरुष (ऋतुथा) समय २ पर यथावसर (विदुः) जानें। (अथ) और (एकं चक्रम्) एक चक्र (यत् गुहा) जो भीतर अन्तःकरण में है (तत्) उसको (अद्-धातयः) विद्वान् बुद्धिमान्, पुरुष (इत्) ही (विदुः) प्राप्त करते हैं। उसकी गति को वही जानते हैं। विवाह योग्य कन्या के रथ का वर्णन पूर्व मन्त्र में आ चुका है जिसके दो चक्र दो कान बतलाये जा चुके हैं। 'श्रोत्रं ते चक्रे आस्ताम्' अर्थात् उस रथ के दोनों कान दो चक्र के समान हैं। तब तीसरा चक्र भीतर अन्तःकरण मन ही है। कन्या विवाह के अवसर पर जिस मार्ग पर पैर रखती है।वह या तो कानों से पति के गुण-श्रवण करके रखती है वा चित्त से भावी, सुख-दुःख का विचार करके रखती है। कानों में उत्तम यथार्थ वचनों को सुनाना वेदज्ञ विद्वानों का कार्य है और चित्त का परिज्ञान भी चतुर विद्वान् पुरुष ही कर सकते हैं। वरण के अवसर पर उसका मनोमय रथ इन्हीं तीन चक्रों पर गति करता है। 'अद्धातयः' इति मेधाविनाम।

अथर्ववेद में १४, १५ मन्त्रों के उत्तरार्धों में परस्पर विपर्यास है। यदश्विना० । 'क्वैकं चक्रं०' ॥ १४ ॥ 'यदयातं०' । विश्वे देवा० ॥ १५ ॥

सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च ।
ये भूतस्य प्रचेतस इदं तेभ्योऽकरं नमः ॥ १७ ॥

भा०—(सूर्यायै) उत्तम वीर्ययुक्त, ब्रह्मचारिणी वधू को (देवेभ्यः) ज्ञान, गुणों आदि की शिक्षा तथा प्रेमपूर्वक द्रव्य आदि देने वाले गुरु जनों और (मित्राय वरुणाय च) उसको स्नेह करने वाले, उसके जीवन के रक्षक और श्रेष्ठ जन (ये च) और जो भी (भूतस्य) समस्त उत्पन्न प्राणियों और चराचर जगत् के (प्रचेतसः) उत्तम रीति से जानने वाले और उत्तम मति, उदार चित्त वाले हैं (तेभ्यः) उनके हितार्थ (नमः अकरम्) मैं नमस्कार, आदर-सत्कार, अन्न तथा आतिथ्य आदि करूं ।

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः ॥१८॥

भा०—सूर्य चन्द्र वा दिन रात्रि का दो बालकों के समान वर्णन । और उनके समान स्त्री पुरुषों का वर्णन । (एतौ) ये दोनों (क्रीडन्तौ शिशू) खेलने वाले दो बालकों वा गोद में सोने वाले दो बच्चों के समान (मायया) प्रभु की निर्माण व्यवस्था के अनुसार (पूर्व-अपरम् चरतः) पहले और पीछे चलते, (अध्वरम् परि यातः) कभी न नष्ट होने वाले चक्र वा व्यवस्थित क्रम या मार्ग को परिक्रमण करते हैं । (अन्यः) इन दोनों में से एक सूर्य (विश्वानि भुवनानि) समस्त लोकों और प्राणियों को (अभिचष्टे) देखता है, प्रकाशित करता है और (अन्यः) दूसरा चन्द्र (ऋतून्) ऋतुओं, दो मास रूप काल के विभागों को बनाता हुआ, (पुनः जायते) बार २ उत्पन्न होता अर्थात् बार २ लुप्त होता और पुनः २ प्रकट होता है । (२) इसी प्रकार स्त्री पुरुष जो परस्पर विवाहित होगये हैं

वे दोनों (शिशू) एक दूसरे के प्रति बालकों के समान स्वच्छ, निष्कपट व्यवहार वाले होकर और (शिशू) एक दूसरे के प्रति उत्तम २ वचनों को बोलते हुए (क्रीडन्तौ) विहार-विनोद करते हुए, (मायया) अपनी बुद्धि के अनुसार वा (मायया) गृहस्थ एवं सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति सहित व धनोपार्जन, नाना सुख सामग्री द्वारा (पूर्व-अपरं चरतः) एक दूसरे के पूर्व और अपर, आगे पीछे विचरते हुए (अध्वरं परि यातः) एक अविनाशी गृहस्थरूप यज्ञ वा अविनाशी प्रभु के प्रति इसी प्रकार परिगमन करें जिस प्रकार वे विवाह काल में अग्नि-यज्ञ में अग्नि के चारों ओर परिक्रमण करते हैं। विवाह काल में जैसे वे अग्नि की परिक्रमा करते हुए अग्नि को सदा दक्षिण हस्त रखते हैं, उसी के प्रकाश में कभी वधू आगे वर पीछे कभी वर आगे वधू पीछे इस प्रकार परिक्रमा करते हैं उसी प्रकार इस लोक-यात्रा में भी वे वरवधू कार्य, समय, शक्ति अनुसार एक दूसरे के आगे-पीछे चलते हुए सदा विद्वान्, ज्ञानी, पथदर्शक सर्वत्र व्यापक प्रभु परमेश्वर को अपने मान्य साक्षीपद पर रखते हुए आगे बढ़ें। उन दोनों में से (अन्यः) एक (विश्वानि भुवना अभि चष्टे) समस्त भुवनों, कार्यों को देखे। और (अन्यः) दूसरा साथी स्त्री (ऋतून् विद्धत्) ऋतु-कालों को प्रकट करती हुई (पुनः) पुनः २ (जायते) सन्तान उत्पन्न करती है। (२) यह मन्त्र आत्मा परमात्मा का भी वर्णन करता है। वे दोनों (मायया) माया अर्थात् जगत् को निर्माण करने वाली प्रकृति के साथ (पूर्वापरं परि चरतः) आगे पीछे विद्यमान रहते हैं। प्रभु जगत् के पूर्व भी उस पर अधिकारवान् था, बाद भी, जीवात्मा पहले कल्पों में भी उसका भोक्ता था और अब भी भोगता है। वे दोनों अध्वर अर्थात् अविनाशी कालचक्र पर गति करते हैं। प्रभु काल-धर्म से सृष्टि बनाता बिगाड़ता है, और जीव उसका तदनुसार भोग करता है। प्रभु (विश्वानि भुवनानि) सब प्राणियों के कर्मों और समस्त लोकों का साक्षी, द्रष्टा

है और वह जीव (ऋतून् विदधत्) ऋतुओं, प्राणों को पुनः २ बनाता वा देह में प्रकट कर, धारण करता हुआ (पुनः जायते) बार २ उत्पन्न होता है अर्थात् बार २ देह धारण करता है।

नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन्प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥१९॥

भा०—जिस प्रकार चन्द्र (जायमानः) प्रत्येक प्रतिपदा को पुनः प्रकट होता हुआ (नवः-नवः भवति) नया ही नया होता है। वह (अह्नां केतुः) दिनों का संकेत करने वाला, (उषसाम् अग्रम् एति) कृष्णपक्ष की रातों में प्रभातों के आगे ही आता है, (देवेभ्यः भागं विदधत्) प्रकाशमान दिनों का तिथि रूप से विभाग करता हुआ (चन्द्रमाः) चन्द्र (दीर्घं आयुः तिरते) दीर्घ आयु की वृद्धि करता है। और जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश (जायमानः) प्रकट होता है (नवः-नवः भवति) सदा नवीन ही होता है वह (अह्नां केतुः उषसाम् अग्रम् एति) दिनों का ज्ञापक होकर उषाओं के अग्र अर्थात् पूर्व में आगे २ ही आता दिखाई देता है। वह (देवेभ्यः) आकाशस्थ ग्रहों को भी अपना अंश देता है, वह (आयन्) आता हुआ (चन्द्रमाः) आह्लाददायक होता है और (दीर्घम् आयुः तिरते) रोगनाशक होने से दीर्घायु करता है। (२) उसी प्रकार (चन्द्रमाः) अति आह्लाददायक आत्मा, बालक रूप से (जायमानः) उत्पन्न होता हुआ (नवः-नवः भवति) जब २ उत्पन्न होता है तो वह नया जीव रूप से ही उत्पन्न होता है। वह (अह्नां केतुः) न नाश होने वाले आत्मतत्वों का ज्ञापक है, वह (उषसाम्) कामना करने वाली मनःप्रवृत्तियों, इच्छाओं और विशेष वासनाओं के (अग्रम्) उदयकाल से भी पूर्व (एति) देह में प्राप्त होता है, वह देह में (देवेभ्यः) नाना शक्तियों के चमकाने और अनेक विषयों की कामना करने वाले चक्षुः, नाक, कान, रसना त्वचा और चित्त आदि देवों, इन्द्रियों को (भागं) सेवन करने योग्य अपने ज्ञान, बल

आदि का अंश (वि दधाति) प्रदान करता है, और वह (चन्द्रमाः) सबका आह्लादक होकर देह की (दीर्घम् आयुः प्र तिरते) दीर्घ आयु बढ़ाता है। यदि आत्मा नाम स्थिर तत्त्व देह का धारक न हो तो ये इन्द्रियां तो आत स्वल्प काल में थक कर शिथिल एवं मृतवत् होजातीं, फिर मुर्दे के तुल्य पड़े देह में चेतना और पुनः जागृति, बल, शक्ति आदि कौन दे। इस देह का एक दिन-रात जीना भी कठिन है। (३) इसी प्रकार राजा चन्द्रमा है वह प्रजा को प्रसन्न, सुखी, हर्षित करता है। वह नया २ होता है वह (उषसाम्) कामनाओं वाली, अनेक आशाओं से भरी प्रजाओं के बीच अग्रासन पर आता है, विद्वानों और तेजस्वियों को अन्न, वेतन और पदादि प्रदान करता है, और दीर्घायु, राष्ट्र का लम्बा जीवन बनाता है। उसको चिरस्थायी करता है, अन्यथा बलवान् निर्बलों को खा जावें और सब सेतु, मर्यादाएं भंग हो जावें। इसी प्रकार विवाह योग्य वर वधू और गुरु तथा विद्या के गर्भ में नव शिष्य के पक्ष में भी जानना चाहिये पूर्व प्रसंग से यहां विवाह का प्रकरण है इसलिये उसका भी व्याख्यान करते हैं। (४) (जायमानः) प्रकट होता हुआ (चन्द्रमाः) सबको आह्लाद देने वाला वर (नवः-नवः भवति) नये ही के तुल्य अति स्तुत्य होता है। वह (उषसाम्) कामनाओं, अनेक आशाओं अर्थात् कन्या की अनेक इच्छाओं का (अग्रम् एति) लक्ष्य होता है, वह (देवेभ्यः) उत्तम देवों को यज्ञादि से और दानादि से अनेक विद्वानों को (भागं) हवि, अन्न, द्रव्यादि का अंश देता है, और (दीर्घम् आयुः प्रतिरते) जीवन को दीर्घ बढ़ाता है, अर्थात् गृहस्थ करके वंश को चिरस्थायी करता है।

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥२०॥२३॥

भा०—हे (सूर्ये) उत्तम वीर्य और उत्तम वचन वाली, उत्तम कान्तियुक्त, प्रभात वेला के समान उत्तम दीप्ति वाली वधू ! तू (सु-किं

शुकम्) उत्तम दीप्तियुक्त, उत्तम पलाश के वृक्ष से बने वा उत्तम पलाश के पुष्प के समान सुन्दर सजे और (शल्मलिं) मलरहित, पाप आदि वासनाओं से शून्य, निर्दोष, वा शल्मलि [सेमर] वृक्ष के बने (विश्व-रूपम्) नाना प्रकार के वा (हिरण्य-वर्णं) हित-रमणीय वर्ण के, वा सुवर्ण की कान्ति वाले, (सु-वृतम्) सुख से चलने वाले, उत्तम व्यवहारवान्, (सु-चक्रम्) उत्तम चक्रों से युक्त, शुभ अंगों वाले, रथ के समान गृहस्थ पर (आरोह) चढ़, उसमें विराज। और (पत्ये वहतुं) पति के साथ विवाह (कृणुष्व) कर और विवाह सम्बन्ध को (अमृतस्य) न नाश होने वाले पुत्र पौत्रादि से युक्त (स्योनं लोकम्) जल के समान शान्तिदायक सुखप्रद लोक (कृणुष्व) बना। (२) पक्षान्तर में उषा सूर्या का रथ स्वयं सूर्य मण्डल का वह प्रभावितान है जो सूर्योदय के पूर्व प्रकट होता है वह भी (सु-किंशुकं) उत्तम खिले शोभायुक्त पलाश वृक्ष के समान अति प्रकाशयुक्त वा (शल्मलिम्) शाल्मलि [सेमर] के पीले-लाल फूल से खिले वृक्ष के तुल्य सुन्दर, वा (शल्मलिम्) मल के आवरण, अन्धकार से रहित, (विश्व-रूपम्) विविध प्रकाशमय रूप, कान्ति से युक्त, उज्ज्वल, (हिरण्य-वर्णं) हित रमणीय वर्ण वाले, (सु-वृतम्) शोभा से आवृत, (सु-चक्रम्) उत्तम कान्ति से युक्त होता है। वह अपने (पत्ये) पालक सूर्य के (वहतुं) प्राप्त होने योग्य लोक को (स्योनं) सुखकारक और (अमृतस्य लोकं) प्रातःकालिक ओस रूप जल से युक्त कर देती है।

(३) गृहस्थ का रथ स्वतः पति को प्राप्त करने रूप है। अतः पति ही की ओर ये सब विशेषण हैं। पति के लिये स्त्री और स्त्री के लिये पति ही गृहस्थ रूप रथ हैं। इसलिये ये विशेषण पति के गुण बतलाते हैं। पति (सु-किंशुकम्) उत्तम प्रकाश युक्त, तेजस्वी और ज्ञान-दीप्ति से भी युक्त हो। (शल्मलिम्) ज्ञान और उपदेशों से उसका मल नष्ट हो, अविद्या-अज्ञान और दुराचार से रहित एवं स्नान अभ्यंगादि से स्वच्छ हो। (विश्व-रूपम्) सब को

रुचिकर, पत्नी के लिये तो वह विश्व, समस्त जगत् के समान सर्वस्व हो, वह (हिरण्य-वर्णम्) सुवर्ण के तुल्य सुन्दर और हितकारा हो, वही उसका परम धन हो, वह (सु-वृतम्) उत्तम आचारवान्, सुख से विधि पूर्वक उत्तम रीति से वरण किया हो, वह (सु-चक्रम्) शुभ कान्तिमान् उत्तम अंगों वाला, अन्धा काणा पंगु आदि दोषों से रहित हो, उसको कन्या, (आरोह) प्राप्त हो, उसका आश्रय लेकर जगत् के जीवन मार्ग में मन करे। वह (वहतुं) अपने जीवन के रथ को (अमृतस्य) अमृत, अर्थात् पुत्र का (लोकं स्योनं कृणुष्व) सुखकारी स्थान बनावे। अर्थात् इसी के आश्रय वह उत्तम सन्तान को उत्पन्न करे। वा अमृत, जल अन्नादि से पूर्ण गृह को सुखदायक बनावे। यह लोक पति का लोक है।

उदीर्ष्वातः पतिवती ह्ये३षा विश्वावसुं नमसा गीर्भिरीळे।
अन्यामिच्छ पितृषदं व्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥२१॥

भा०—पति के प्रति (विश्व-वसुं) समस्त विश्व में व्यापक, समस्त विश्व रूप धन के स्वामी, समस्त जगत् के आच्छादक और सब को बसाने वाले प्रभु को हम (नमसा) नमस्कार सहित (गीर्भिः) वेदवाणियों से (ईडे) स्तुति करूं। हे पुरुष ! तू (उद् ईर्ष) उठ, खड़ा हो, उत्साह कर (हि) जिससे (एषा) यह कन्या (पति-वती) पति वाली हो। तू इस (अन्याम्) अपने से भिन्न गोत्र की और (अन्यां) अन्य किसी द्वारा गृहादि में न लेजाई गई, (पितृ-सदम्) पिता माता पर ही आश्रित (व्यक्तां) विशेष रूप से अञ्जन, अभ्यंग आदि से सुसज्जित, विविध आभूषणादि से सजी, प्रकट रूप में तेरे आगे स्थित कन्या को (इच्छ) तू चाह। (ते) तेरा (सः भागः) यही उचित रूप से स्वीकार करने अंश योग्य है। तू (तस्य) उस कन्या रूप अंश को (जनुषा) स्वयं उसमें पुत्र रूप से उत्पन्न होने के निमित्त (विद्धि) प्राप्त कर।

'विश्वावसु' यहां कोई विशेष गन्धर्व नहीं है जिसे सायण पतीवती कन्या से पृथक् करके अन्य किसी बालिका कन्या के पास भेजने का संकेत करता है। प्रत्युत या तो 'विश्वावसु' परमेश्वर है अथवा प्रवेश योग्य गृहस्थ ही 'विश्व' है उसमें वसने वाला २४ वर्ष का ब्रह्मचारी वसु है, उत्तम वेद वाणी को धारण करने से वा विवाह काल में गोदान ग्रहण करने से वा गम्या नारी वा गो अर्थात् भूमिवत् पत्नी को धारण करने से वह पति पुरुष ही 'विश्वावसु' है। यह बात अगले मन्त्र में स्पष्ट है।

उदीर्ष्वातो विश्वावसो नमसेळामहे त्वा।
अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं सं जायां पत्या सृज ॥ २२ ॥

भा०—हे (विश्ववसो) प्रवेश योग्य गृहस्थ रूप वसु के स्वामिन्! वा उसमें वसने वाले वर! (त्वा नमसा) तुझे हम बड़े आदर विनय से (ईडामहे) पूजा, सत्कार करते हैं। (अतः उद् ईर्ष्व) इसलिये उठ, तैयार हो। तू (अन्याम्) अपने से भिन्न गोत्र की (प्रफर्व्यम्) खूब पुष्ट अंगों वाली कन्या को (जायाम् इच्छ) अपनी पत्नी रूप से चाह। और उसे (पत्या सं सृज) पति रूप से प्राप्त हो, उससे सम्बन्ध जोड़। उसका स्वयं पालक पति होकर उसे पति से युक्त कर।

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।
समर्यमा सं भगो नो निनीयात्सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः॥२३॥

भा०—(नः) हमारे (पन्थाः) मार्ग (अनृक्षराः) कांटों से रहित (सन्तु) हों। और (ऋजवः) सरल धर्मयुक्त हों। (येभिः) जिनसे (सखायः) मित्र, स्नेही, समान वाणी और ज्ञानदृष्टि सहित विद्वान् जन (वरेयम्) श्रेष्ठ पुरुषों से प्रार्थित प्रभु वा श्रेष्ठ फल को यन्ति प्राप्त होते हैं। (नः) हमें (अर्यमा) शत्रुओं का नियन्ता, न्यायकारी और (भगः) सुखदायी, ऐश्वर्यवान् उन मार्गों से (सं निनियात्)

उत्तम प्रकार से ले जावे। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! (नः) हमारा (जाः-पत्यम्) पात-पत्नी भाव (सुयमम् अस्तु) उत्तम विवाह-बन्धन और सुखदायक शुभ इन्द्रियदमन वा संयम सहित हो॥

ऋक्षरः कण्टक उच्यते। वरेयं वरैर्याचितव्यं, वरेण यातव्यं, वरेण्यं अत्र णकारादर्शनम्। श्रेष्ठमिति यावत्।

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि॥२४॥

भा०—(येन) जिस पाश या प्रेम-बन्धन से (सु-शेवः) सुखदायक (सविता) उत्पादक पिता, (त्वा अबध्नात्) तुझे बांधे हुए है हे स्त्रि! वधु! मैं (त्वा) तुझे उस (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ पिता के (पाशात्) प्रेममय पाश से (प्र मुञ्चामि) अच्छी प्रकार छुड़ाता हूं। मैं (त्वा) तुझे (ऋतस्य) सत्याचरण, यज्ञ और वेद और (सु-कृतस्य) शुभ कर्माचरण के (योनौ) आश्रय गृह और उत्तम (लोके) लोक, पतिगृह में (पत्या सह) पालक पति के साथ (अरिष्टाम्) कभी पीड़ित न होते हुए रूप में (दधामि) स्थापित करता हूं।

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति॥२५॥२४॥

भा०—हे कन्ये! मैं (इतः प्र मुञ्चामि) इस पितृगृह से युक्त करता हूँ। (न अमुतः) उस दूर स्थित पतिगृह से नहीं, प्रत्युत मैं तुझे (अमुतः) उस पतिगृह से तो (सु-बद्धाम् करम्) खूब सुखपूर्वक बद्ध, दृढ़ प्रेमयुक्त करता हूं। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! हे स्वामिन् विवाहित पते! हे (मीढ्वः) वीर्य-सेचन करनेहारे पुरुष! (यथा) जिससे यह वधू (सु-पुत्रा) उत्तम पुत्रवती और (सु-भगा) उत्तम सुखप्रद, ऐश्वर्य और सुख-सौभाग्यवती (असति) हो। इति चतुर्विंशो वर्गः॥

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन ।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥२६

भा०—हे कन्ये ! (पूषा) तुझे पोषण करने में समर्थ और प्रजा द्वारा तेरे सौभाग्य की वृद्धि करने वाला पुरुष (त्वा इतः) तुझे इस पितृ-गृह से (हस्त-गृह्य) तेरा हाथ ग्रहण कर विवाह में पाणिग्रहण की विधि से तुझ से विवाह करके (त्वा नयतु) तुझे ले जावे । (अश्विना) उत्तम अश्वों या वेगवान् रथ आदि साधनों वाले स्त्री पुरुष वा सेनापति, सेनानायक आदि (त्वा रथेन प्र वहताम्) तुझे रथ से, उत्तम रीति से ले जावें । तू (गृहान् गच्छ) गृहों को पहुंच । (यथा) जिससे तू (गृह-पत्नी असः) गृह की मालिकन वा गृहपति की यज्ञ-संयुक्ता विवाहित पत्नी हो । और तू (गृहान् त्वं वशिनी) गृह के भृत्य, बन्धु आदि जनों को चाहने और वश करने वाली भी (असः) हो । और तू (विदथं) गृह भर को (आ वदासि) अध्यक्षवत् आदर से आज्ञा-वचन कह । अथवा (विद-थम् आ वदासि) ज्ञानयुक्त वचन बोला कर ।

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि
एना पत्या तन्वं१ सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः ॥२७॥

भा०—(इह) इस पतिगृह में वा गृहाश्रम में (प्रजया) प्रजा के सहित (ते) तेरा (प्रियम् समृद्ध्यताम्) प्रिय सुख, और ऐश्वर्य आदि बढ़े । (अस्मिन्) इस गृह में (गार्हपत्याय) गृह के स्वामिभाव के कार्य को भली प्रकार करने के लिये (जागृहि) जाग, सदा सावधान रह । तू (एना पत्या) इस पति से अपना (तन्वं) शरीर (सं सृजस्व सम्पर्क करा, अन्य किसी परपुरुष से नहीं । अथवा (एना पत्या) इस पति के साथ (तन्वं) प्रजातन्तु को (सं सृजस्व) भली प्रकार उत्पन्न कर । (अध) और तुम दोनों (जिव्री) वृद्धावस्था तक जीर्ण होकर

(विदथम् आ वदाथः) गृह के जनों के प्रति और परस्पर भी आदर से बोलो अथवा तुम दोनों (विदथम् आवदाथः) ज्ञान का उपदेश करो।

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते।
एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते ॥ २८ ॥

भा०—(नील-लोहितम्) नीले धूम वाला लोहित वर्ण का अग्नि-मय यज्ञ (भवति) होता है। तब (कृत्या) करने योग्य (आसक्तिः) परस्पर प्रेमभाव (वि अज्यते) विशेष रूप से प्रकट होता है। उस समय (अस्याः) इस कन्या के (ज्ञातयः) बन्धुवर्ग (एधन्ते) वृद्धि को प्राप्त होते हैं और (पतिः) पति, पुरुष (बन्धेषु) सांसारिक प्रेम और कर्त्तव्य के बन्धनों में (बध्यते) बंध जाता है। (२) अथवा-(नील-लोहितम् भवति) नील रंग मिश्रित रक्त आर्त्तव प्रवृत्त होता है उसके अनन्तर (कृत्या) गृहस्थ के उचित पति-प्रेम कार्य में (आसक्तिः) स्त्री की प्रवृत्ति (व्यज्यते) पति के प्रति प्रकट होनी उचित है। उस समय उसके सम्बन्धी खुश होते हैं। और पति गृहस्थ-धर्मों में बंध जाता है।

ऋतु होने के अनन्तर ही स्नात होकर कन्या पति का वरण करे, उन्हीं तिथियों में विवाह हो और श्वशुर गृह में ही गर्भाधान हो, ऐसा ऋषि दयानन्द ने लिखा है। (संस्कारविधि विवाहप्रकरण)

परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु।
कृत्यैषा पद्वती भूत्व्या जाया विशते पतिम् ॥ २९ ॥

भा०—(शामुल्यं) शरीरस्थ मल के अंश को (परा देहि) दूर कर। (ब्रह्मभ्यः) विद्वान् ब्राह्मणों को (वसु वि भज) धन प्रदान कर। जब कि (एषा) यह कन्या (पद्-वती) शुभ चरणों वाली वा सप्तपदी से युक्त, (कृत्या) अंगीकार करने योग्य (जाया) सन्तान उत्पन्न करने वाली पत्नी (भूत्वी) होकर (पतिम्) पति को (आ विशते)

प्राप्त होती है, उसको सर्वात्मना अंगीकार करती है। अथवा—(शामुल्यं) शान्ति को नष्ट करने वाले हार्दिक मल, दुर्भाव और रोगादि को (परा देहि) दूर कर। (ब्रह्मभ्यः) विद्वानों को (वसु वि भज) धन प्रदान कर। और उनसे प्राप्तउनका उत्तम विविध ज्ञान रूप धन (वि भज) विशेष रूप से सेवन कर क्योंकि (एषा) यह स्त्री (पद्-वती) सप्तपदों वाली, मित्र तुल्य होकर (जाया) पत्नी रूप से (कृत्या) हिंसाकारिणी, होकर (पतिम् आ विशते) पति में प्रवेश कर जाती है और विविध रोगों को उत्पन्न कर सकती है। इसलिये विवाहित पुरुष को चाहिये कि स्त्री से मैथुन करने के पूर्व स्त्री के देह में से समस्त प्रकार के विषैले रोगादि कारणों को दूर करे। नहीं तो वह पत्नी ही पति के नाना कष्टों और रोगों का कारण हो सकती है। विशेष कर जब पत्नी ऋतु-धर्म से रजस्वला होती है तब भी रोगकारी अंश रजोरुधिर में होते हैं उस समय पति स्त्री के पास सर्वथा न जावे, उसका उतने दिन परित्याग करे, नहीं तो वह पति को भयंकर रोगों का शिकार बना देती है। पुनः गर्भ स्वच्छ हो जाने पर वह मैथुन-धर्म से पति के पास आवे। विवाहान्तर विधि में कन्या के निमित्त अंग-होम के मन्त्रों में भी इस का संकेत है।

अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद्वध्वो३ वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते ॥ ३० ॥ २५ ॥

भा०—रजो धर्म या आर्त्तव के दिनों में स्त्री का (तनूः) शरीर जब (अश्रीरा) कान्तिरहित, शोभारहित विकृत, पीड़ित, रोगार्त्त होता है, तब वह (रुशती) दुःख कष्ट से पीड़ा देने वाली होती है। वह यदि (अमुया पापया) उस दूर रखने योग्य वधू से संग करे वा (वध्वः वाससा) वधू के वस्त्र, वा सहवास, वा आच्छादन से (स्वम् अंगम् अभि-धित्सते) अपने अंग को बांधना चाहे तो पति का (तनू) शरीर वा सन्तान भी (अश्रीरा भवति) श्रीरहित, रोगादि से दूषित हो जाता है। इति पञ्चविंशो वर्गः ॥

ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनादनु ।
पुनस्तान्यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः ॥ ३१ ॥

भा०—(ये यक्ष्माः) जो रोग या व्याधियां (वध्वः) वधू के (चन्द्रम्) आल्हादकारी (वहतुम्) शरीर को (जनात् अनु यन्ति) उत्पादक माता पिता से क्रमशः प्राप्त होती हैं (यज्ञिया देवाः) पूज्य विद्वान् पुरुष (तान्) रोगों के उन कारणों को (पुनः नयन्तु) बार २ दूर करें (यतः आगताः) जिनसे वे व्याधियां पुनः २ आजाती हैं ।

मा विदन्परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती ।
सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥ ३२ ॥

भा०—(ये) जो (दम्पती आ सीदन्ति) पति-पत्नी दोनों को प्राप्त होते हैं (वे परिपन्थिनः) शत्रु रूप होकर (मा विदन्) न प्राप्त हों। वे (सुगेभिः) सुख साधनों से (दुर्गम् अति इताम्) दुःख से जाने या पार करने योग्य संकट को अतिक्रमण करे, और (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु गण दूर भाग जावें । या जो दुष्ट शत्रु लुटेरे लोग आते हों तो ऐसा उपाय करें कि वे चोर आदि (दम्पती मा विदन्) उन वर वधू को न प्राप्त करें, न जान पावें ।

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्वायाथास्तं वि परेतन ॥ ३३ ॥

भा०—(इयं वधूः सुमङ्गलीः) यह वधू मंगल चिन्हों से युक्त है। (सम् आ इत) आप लोग आइये । (अस्यै) इसको (सौभाग्यं) उत्तम सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद (दत्वाय) देकर (अथ) अनन्तर (अस्तं) गृह को (वि परेतन) जाइयेगा ।

तृष्टमेतत्कटुकमेतदपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे ।
सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात्स इद्वाधूयमर्हति ॥ ३४ ॥

भा०—(एतत् तृष्टम्) यह वधू का देह दाहजनक, विष के समान प्यास लगाने वाला, (एतत् कटुकम्) यह देह कटु, अनभिलषित परिणाम उत्पन्न करने वाला, वह (अपाष्ठवत्) दूर रखने योग्य, (विषवत्) विष के तुल्य घातक भी होता है, तब (एतत् अत्तवे न भवति) वह भोगने योग्य नहीं होता। (यः) जो (ब्रह्मा) वेदज्ञ विद्वान् (सूर्यां विद्यात्) सूर्या, सावित्री, पुत्रादि उत्पन्न करने वाली स्त्री के सम्बन्ध में भली प्रकार ज्ञान रखता है (सः इत्) वह ही (वाधूयम्) वधू के सम्बन्ध में उत्तम समाधान, उसको उपयोगी बनाने का पुरस्कार आदि प्राप्त करने योग्य है।

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुन्धति ॥ ३५॥ २६॥

भा०—(आ-शसनं) आशसन, (वि-शसनं) विशसन और (अधि-विकर्त्तनम्)अधिविकर्त्तन ये तीनों (सूर्यायाः रूपाणि) सूर्या कन्या के रूप होते हैं (तानि) उनको (ब्रह्मा तु) वेदज्ञ विद्वान् ही (शुन्धति) शुद्ध करता है (१) आशसन–अर्थात् कुछ ढिठाई (२) विशसन, विशेष ढिठाई और अधिविकर्त्तन, बढ़कर दिल काटने वाले वचन आदि कहना। ये तीन दोष कन्याओं में होते हैं उनको विद्वान् पुरुष शिष्टोपदेश से दूर करे। अथवा उसके शरीर के ये तीन दोष सम्भव हैं। (१) आशसन, रजोरक्त का अल्प होना, (२) 'विशसन' विपरीत वर्ण का होना, और (३) अधिविकर्त्तन अधिक कट २ कर गिरना। इन तीनों दोषों को विद्यावान् पुरुष ही दूर करें। तभी विवाह करने वाले पुरुष को सुख और उत्तम सन्तान मिल सकती है। इति षड्विंशो वर्गः ॥

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥३६॥

भा०—हे वधू ! मैं (तव) तेरे (हस्तं) हाथ को (सौभग-त्वाय) सौभाग्य की वृद्धि के लिये (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूँ । (यथा) जिस प्रकार से तू (मया सह) मेरे साथ (जरद्-अष्टिः) वृद्धावस्था भोगने वाली (असः) हो । (भगः) ऐश्वर्यवान्, (अर्यमा) न्यायकारी, (सविता) उत्पादक, सबका अनुज्ञादायक और (पुरं-धिः) देहों का धारक-पोषक आत्मा और (देवाः) विद्वान् पुरुष (गार्हपत्याय) गृहपति के कार्य, गृहस्थ सम्पादन के लिये (त्वा) तुझे (मह्यं अदुः) मेरे लिये प्रदान करते हैं ।

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्याउ वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् ॥ ३७॥

भा०—हे (पूषन्) सबको पोषण करने हारे, सबको वंश, प्रजा आदि से बढ़ाने हारे ! (यस्यां) जिस भूमि रूप स्त्री में (मनुष्याः) मनन-शील विद्वान् जन (बीजं वपन्ति) बीज का वपन करते हैं (या) जो (नः) हम पुरुषों की (उशती) कामना करती हुई (ऊरू) दोनों जांघों का (विश्रयाते) आश्रय लेती और हम पुरुष लोग (यस्याम्) जिसमें (शेपम्) प्रजनन अंग को (प्रहराम) प्रवेश करावें । (शिव-तमा) उस अतिकल्याण रूप गुणों वाली (तां) उस स्त्री को (आ ईरयस्व) तू प्रेरित कर । इन शब्दों में वेद ने पति, पत्नी के गृहस्थ के प्रजोत्पादन कार्य का स्पष्ट वर्णन कर दिया है ।

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥ ३८ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्विन् ! (तुभ्यम्) तेरे (अग्रे) आगे, तेरी समक्षता में (वहतुना सह) लोग दहेज आदि सहित (सूर्याम्) पुत्रोत्पादन समर्थ कन्या को (परि अवहन्) परिक्रमण द्वारा वहन, धारण करते, तेरी साक्षिता में विवाह करते हैं । (पुनः) और

तु (पतिभ्यः) पालक जनों को (प्रजया सह) उत्तम सन्तान सहित (जायां दाः) स्त्री प्रदान कर, अर्थात् विवाहित पुरुष को उत्तम सन्तान से सम्पन्न कर।

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ ३९ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि गुण से युक्त उष्णता वाला धर्म ही (आयुषा वर्चसा सह) दीर्घ आयु और तेज, कान्ति आदि सहित (पत्नीम्) पत्नी को (पुनः अदात्) फिर दे। (अस्याः यः पतिः) इसका जो पालक पति हो वह (दीर्घायुः) दीर्घायु होकर (शरदः शतं जीवाति) सौ वर्ष तक जीवे।

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ४० ॥ २७ ॥

भा०—(सोमः) प्रजा को उत्पादन करने का सामर्थ्य (प्रथमः) सब से प्रथम (विविदे) कन्या को प्राप्त हो, (उत्तरः) उसके अनन्तर (गन्धर्वः) गन्ध से युक्त अंश, रजो भाव (विविदे) प्राप्त होता है। हे कन्ये (तृतीयः) तीसरे नम्बर पर (ते पतिः अग्निः) तेरा पालक पति अग्नि के तुल्य तेजस्वी, वा उष्णता-प्रधान तत्व तेरा पालक है। (तुरीयः) चौथा (ते पतिः) तेरा पालक (मनुष्यजाः) मनुष्य से उत्पन्न पालक पुरुष है। कन्या में प्रथम उत्पादक शक्ति, द्वितीय गन्ध-विशेष, फिर उष्णतायुक्त रजोभाव प्राप्त होता है, अनन्तर मनुष्य, विवाह करके उसको पालक पति रूप से प्राप्त होता है।

सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददग्नये।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥ ४१ ॥

भा०—(सोमः) प्रजा को उत्पन्न करने वाला सामर्थ्य कन्या को (गन्धर्वाय) गन्ध-दायक सामर्थ्य के वश (ददत्) प्रदान करता है। (गन्धर्वः) गन्धदायक सामर्थ्य (अग्नये ददत्) उष्ण रजोभाव के अधीन दे देता है। (अथ-उ) अनन्तर (इमाम्) इस कन्या को (अग्निः) यह रजोभाव (मह्यम् अदात्) मुझे देता है और अनन्तर वही ऋतुधर्म से होना ही मुझे (रयिं च पुत्रान् च अदात्) ऐश्वर्य और अनेक पुत्र भी प्रदान करता है।

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ ४२ ॥

भा०—हे वरवधू जनो ! तुम दोनों (इह एव स्तम्) यहां ही रहो। (मा वि यौष्टम्) कभी वियुक्त मत होओ। (विश्वम् आयुः) समस्त आयु को (वि अश्नुतम्) विशेष रूप से प्राप्त करो। और (गृहे) गृह में (पुत्रैः नप्तृभिः) पुत्रों और नातियों के साथ (मोदमानौ) खूब प्रसन्न और हर्षित होते हुए और (क्रीडन्तौ) उनके साथ खेलते और आनन्द-विनोद करते हुए (स्तं) रहो।

आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥४३॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजा पालन करने वाला समर्थ पुरुष (नः) हमारे में से (प्रजाम् आ जनयतु) उत्तम सन्तान उत्पन्न करे। (अर्यमा) दुष्टों का नियन्ता पुरुष (नः प्रजाम्) हमारी प्रजा को (आजरसाय) वृद्धावस्था पर्यन्त सम(अनक्तु) जीवन की रक्षा करे। हे स्त्री ! तू (अदुर्मङ्गली) मंगल या शुभ लक्षणों से विपरीत अशुभ लक्षणों से रहित होकर (पति-लोकम् आ विश) पतिलोक, पति के आत्मा, वा गृह में, वा पति के पिता-माता, भाई-बहिन, चाचा-ताऊ आदि सम्बन्धी जनों के बीच में प्रवेश कर।

तू (नः) हमारे (द्वि-पदे) दोपायों, भृत्यादि बन्धु वर्गों के लिये (शम् भव) शान्तिकारक हो और तू (नः चतुः-पदे शम् भव) हमारे चौपायों, गौ, अश्व आदि पशुओं के लिये भी शान्तिकारक हो।

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ४४ ॥

भा०—हे स्त्रि ! तू (अ-घोरचक्षुः) घोर अर्थात् क्रूरता से रहित चक्षु वाले सौम्य स्नेहमय नयनों वाली, सौम्यदृष्टि और (अपति-घ्नी) पति का नाश करने वा पति को दण्डित और पीड़ित एवं दुःखदायी न होकर (एधि) रह। तू (पशुभ्यः) पशुओं के लिये (शिवा) कल्याणकारिणी, (सु-मनाः) शुभ चित्त वाली, (सु-वर्चाः) उत्तम तेजस्विनी, (वीर-सूः) उत्तम पुत्र को उत्पन्न करने वाली, (देव-कामा) विद्वानों को वा अपने कान्त पति को सदा चाहने वाली, (स्योना) सुखकारिणी (एधि) हो। तू (नः द्विपदे शम् भव) हमारे दोपाये भृत्यादि के लिये और (नः चतुष्पदे शम् भव) हमारे चौपायों के लिये भी शान्तिकारक हो।

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥ ४५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् स्वामिन् ! हे (मीढ्वः) वीर्य सेचन करने हारे ! (त्वम्) तू (इमां) इसको (सु-भगां) उत्तम ऐश्वर्य से युक्त (सु-पुत्रां) उत्तम पुत्रों की माता (कृणु) कर। (दश पुत्रान् आ धेहि) दस पुत्रों का आधान कर। और तू (पतिम्) पति रूप अपने आप को (एकादशं कृधि) पुत्रों के बीच ग्यारहवां बना।

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥ ४६ ॥

भा०—हे स्त्रि ! तू (श्वशुरे सम्-राज्ञा अधि भव) श्वशुर के अधीन उत्तम गुणों से सब से अधिक सुशोभित हो । तू (श्वश्र्वां) सास के अधीन रह कर भी (सम्राज्ञी) उत्तम गुणों से कान्तियुक्त, चमकने वाली रानी के सदृश (भव) हो । तू (ननान्दरि सम्राज्ञी भव) ननदों के बीच में उत्तम गुणों से सुशोभित रानी के तुल्य हो । और (देवृषु अधि) देवरों के बीच सब से अधिक दीप्तियुक्त हो ।

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ॥४७॥२८॥३॥

भा०—हे (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान्, ज्ञानी, पूज्य पुरुष (सम् अंजन्तु) एकत्र संगत हों और वे सूर्य की किरणों के तुल्य सब व्यवहारों को स्पष्ट रूप से प्रकाशित करें । (आपः) जलों के समान आप्तजन(नौ) हम दोनों वर वधू के (हृदयानि) हृदय के समस्त भावों को (सम् अञ्जन्तु) मिलावें, मिला जानें । (मातरिश्वा) प्राण वायु देह, पार्थिव शरीर में गति करने वाला (नौ सं दधातु) हम दोनों को एक साथ मिलावे । (धाता) धारण पोषण करने वाला अन्न (नौ) हम दोनों को (सं दधातु) परस्पर एक साथ जोड़े । (देष्ट्री) उपदेश देने वाली माता के तुल्य वेदवाणी (नौ सं दधातु) हम दोनों को परस्पर एक साथ मिलावे । इत्यष्टाविंशो वर्गः ॥

इति तृतीयोऽध्यायः ।

चतुर्थोऽध्यायः

[८६]

वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ऋषयः ॥ वरुणो देवता ॥ छन्दः—१, ७, ११, १३, १४ १८, २३ पंक्तिः । २, ४ पादनिचृत् पंक्तिः । ३, ६, ९, १०, १२,१५, २०—२२ निचृत् पंक्तिः । ४, ८, १६, १७, १९ विराट् पंक्तिः ॥

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।
यत्रामदद्वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१॥

भा०—विद्वान् लोग (सोतोः) उत्पादक परमेश्वर के विषय में (हि) निश्चय (वि असृक्षत) विविध प्रकार से यत्न करते हैं, अथवा अनेक जीवगण (सोतोः) उत्पादक प्रभु तथा उत्पादक प्रकृति तत्त्व से (हि) निश्चय से (वि असृक्षत) विविध प्रकार से उत्पन्न होते हैं। तो भी वे लोग (इन्द्रं) इस जगत् के धारण करने, प्रकाश करने और उस मुल भूमि, सर्वोत्पादक प्रकृति को व्यापने, विदारण करने वाले प्रभु (देवम्) सर्व-सुखद देव परमेश्वर को (न अमंसत) नहीं जानते । (यत्र) जहां (वृषा कपिः) वृष्टि करने वा जगत् को संचालन करने वाला प्रभु (अमदत्) स्वयं तृप्त और अन्य समस्त जीवों को भी तृप्त करता है, स्वयं पूर्ण रस से युक्त है वह उन (पुष्टेषु) बड़े २ महान् लोकों में भी उनका (अर्यः) स्वामी और (मत्-सखा) मुझ जीव का मित्र है वही (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य का देने वाला प्रभु (विश्वस्मात् उत्तरः) सब से उत्कृष्ट है। अथवा (वृषा-कपिः) वृष्टिकारी प्रभु में सुख का पान करने वाला योगी जिस में स्वयं हर्ष, आनन्द प्राप्त करता है वह प्रभु ही सबका स्वामी सर्वोत्कृष्ट है। वृषा-कपिः, का आध्यात्मिक और समाज और राष्ट्र-पक्ष में स्पष्टीकरण देखो अथर्ववेद आलोक भाष्य (कां० २० । सू० २२६ । १ ॥)

परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः ।
नो अह प्र विन्दस्यन्यत्र सोमपीतये विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! प्रभो ! तू तो (परा हि धावसि) परे ही परे, दूर ही दूर होता जा रहा है, यह बात (वृषाकपेः) उस बलवान् सर्वसुखवर्षी प्रभु को प्राप्त करने के लिये यत्न करने वाले और उससे भय मानने वाले उपासक आत्मा के लिये (अति व्यथिः) बहुत ही

व्यथा कारी वा कष्टदायक बात है। हे जीव (विश्वस्मात्) समस्त संसार से (इन्द्रः) वह परमैश्वर्यवान्, सर्वद्रष्ट, तेजोमय, सर्वदुःख-भंजक प्रभु ही (उत्तरः) सबसे उत्कृष्ट है। (सोम-पीतये) स्व अर्थात् अपनी आत्मा के द्वारा परम रस पान के लिये (अन्यत्र) उस प्रभु से अतिरिक्त कहीं और प्रकृति आदि पदार्थ में (नो अह प्र विन्दसे) तुझे निश्चय ही अवसर प्राप्त न होगा।

किम॒यं त्वां वृ॒षाक॑पिश्च॒कार॒ हरि॑तो मृ॒गः।
यस्मा॑ इर॒स्यसी॒दु न्व१॒॑र्यो वा॑ पुष्टि॒मद्व॒सु विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥३॥

भा०—हे परमेश्वर! प्रभो! (अयं) यह (वृषा-कपिः) बलवान् एवं सुख के वर्षा करने वाले परम प्रभु में सुख-रसों का पान करने हारा साधक (हरितः) प्रभु के गुणों से आकृष्ट और (मृगः) स्वतः साधनादि द्वारा शुद्धचित्त और उस को खोजने वाला, होकर (त्वाम्) तुझ को लक्ष्य कर (किं चकार) क्या करता है, कौन सी साधना करता है जिससे प्रसन्न होकर (यस्मै) जिसे तू (अर्यः नु वा) स्वामी के समान (पुष्टिमत् वसु) पोषण और वृद्धि से युक्त ऐश्वर्य (इरस्यसि इत्) देता ही जाता है। उसके प्रति भारा उदार होता चला जाता और उसको अनेक ऐश्वर्य देता है। (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) वह इन्द्र परमेश्वर ही सब से उत्कृष्ट है जिस की महिमा अपार है।

यमि॒मं त्वं वृ॒षाक॑पिं प्रि॒यमि॑न्द्राभि॒रक्ष॑सि।
श्वा न्व॑स्य जम्भिष॒दपि॒ कर्णे॑ वराह॒युर्विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! इस विश्व को बनाने वाले व्यापक प्रभो! (इमं यं) इस जिस (वृषा-कपिम्) सर्व सुखवर्षी प्रभु की ओर जाने वाले, आनन्द-रसपायी आत्मा जीव की तू (अभि रक्षसि) सब प्रकार से रक्षा करता है, (अस्य कर्णे) इसके कर्म वा इन्द्रिय गण पर (वराहयुः श्वा) उत्तम वचन, स्वाहादिवत् अन्न आहुति को चाहने वाला,

आशुगामी, भूख आदि से युक्त देह वा लोभ आदि उसको (जम्भिषत्) पकड़ लेता है। और वह जीव पुनः संसारी हो जाता है। परन्तु (इन्द्रः) वह इन्द्र परमेश्वर (विश्वस्मात् उत्तरः) सब से ऊंचा और सब प्रकार के संकटों से पार उतारने वाला है।

प्रि॒या त॒ष्टानि॑ मे क॒पिर्व्य॑क्ता॒ व्य॑दूदुषत् ।
शिरो॒ न्व॑स्य राविषं॒ न सु॒गं दु॒ष्कृते॑ भुवं॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः॥५॥१

भा०—(कपिः) सुखानन्द का पान करने वाला, साधक पुरुष (मे) मुझ प्रकृति के (व्यक्ता) नाना व्यक्त रूप में (तष्टा) बनाये गये अनेक (प्रिया) प्रिय रूपों को वह (वि अदूदुषत्) विविध प्रकार से दूषित करता है, वह उन प्रिय काम्य विषयों में अनेक दोष देखता है, मैं प्रकृति (अस्य) इसके (शिरः) अर्थात् उत्तमांग भाग को (नु) अवश्य ही (राविषम्) उपदेशप्रद ज्ञान से उपदेश करती हूँ। मैं (दुष्कृते) दुष्टाचारी पुरुष के लिये (सुगम् न भूवम्) सुखकारी नहीं होती। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) वह परमेश्वर ही सब से ऊंचा और महान् है। इति प्रथमो वर्गः॥

न मत्स्त्री सु॑भ॒सत्त॑रा॒ न सु॒याशु॑तरा भुवत् ।
न मत्प्रति॑च्यवीयसी॒ न सक्थ्युद्य॑मीयसी॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः॥६॥

भा०—(मत् स्त्री) मुझ से अधिक कोई स्त्री (सुभसत् तरा न) उत्तम दीप्ति, कान्त और भाग्यशालिनी नहीं है। और (सु-याशु-तरा न भुवत्) मुझ से अधिक कोई स्त्री सुखपूर्वक पति का संग करने वाली नहीं। (न मत् प्रति-च्यवीयसी) मुझ से बढ़ कर दूसरी स्त्री पति के पास जाने वाली भी नहीं है, और (न सक्थि उद्यमीयसी) न मुझ से अधिक दूसरी जंघा आदि उठाने वाली स्त्री के समान (सक्थि) आसक्ति वा प्रेम पूर्व उद्योग करने वाली दूसरी कोई है। वह प्रकृति ही सब से

अधिक ऐश्वर्ययुक्त, परमेश्वर रूप पति से सुसंगत, परमेश्वर को अपने अंग२, अणु २ में व्यापने रमाने वाली, अपनी सक्थि अर्थात् समवाय शक्ति से (उद्यमीयसी) उत्तम रीति से परमेश्वरी शक्ति को नियन्त्रण और धारण करने वाली है। और उसका पालक (इन्द्रः) घोर अन्ध-कार को विदारण करने वाला, प्रभु परमेश्वर ही (विश्वस्मात् उत्तरः) समस्त संसार से उत्कृष्ट है। ये ही गुण गृहस्थ धारण करने वाली स्त्री में भी होने चाहियें। वह उत्तम अंगों वाली, पति के साथ सुख से संग करनेहारी, उसे प्रत्येक बात में सहाय देने वाली और उत्तम रीति से बीज ग्रहण करनेहारी हो और उसकी दृष्टि में उसका पति इन्द्र ही समस्त संसार से पूज्य हो।

उवे अम्ब सुलाभिके यथैवाङ्ग भविष्यति। भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीव हृष्यति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ७ ॥

भा०—(उवे) हे (अम्ब) मातः! जगत् की जननी! (अङ्ग सुलाभिके) हे सुखपूर्वक अनेक लाभ, ऐश्वर्य प्राप्ति करने वाली वा सुख से जन्म प्राप्त कराने वाली जन्मदात्रि! (यथा इव) जिस प्रकार भी होना होगा उसी प्रकार (मे भसत्) मेरा प्रजनन अंग (मे सक्थि) मेरी जंघा (मे शिरः) मेरा शिर (वि-इव हृष्यति) विशेष २ रूप से पुष्ट होते हैं। मुझ जीव के देह के इन सब नाना अंगों की रचना कौन करता है। यह देह रचना का करना मेरे वश की बात नहीं, माता प्रकृति जड़ होने से वह भी उत्पन्न नहीं कर सकती, तब स्पष्ट है कि (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) सब से उत्कृष्ट वह परमैश्वर्यवान् है जो 'इन्द्र' अर्थात् इस जड़ प्रकृति को गति देता है।

किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने।
किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥८॥

भा०—हे (सु-बाहो) उत्तम बाहु वाली स्त्री के तुल्य (सुबाहो) उत्तम रीति से मुमुक्षु जीव को बाधने वाली, हे (स्वङ्गुरे) उत्तम अंगुलियों वाली स्त्री के तुल्य (स्वङ्गुरे) उत्तम कान्तियुक्त अंगों वाली ! हे (पृथु-स्तो) विशाल केश वाली स्त्री के तुल्य बड़े विस्तार वाली ! हे (पृथु-जाघने) विशाल नितम्ब वाली स्त्री के सदृश विशाल व्यापक रूप वाली। हे (शूर-पत्नि) शूर वीर पुरुष को पति मानने वाली स्त्री के तुल्य सब दुष्टों को ताड़न करने वाले सर्वपालक प्रभु को अपना मालिक स्वीकार करने वाली ! (त्वम्) तू (नः) हमारे (वृषा-कपिम्) मेघवत् सुख की वर्षा वा आत्मा के सुख को पान करने और बलवान् होकर सब प्राकृत बाधाओं को कंपित करने वाले अवधूतपाप्मा वाले साधक को (किम्) क्यों (अभि (अमीषि) पीड़ित करती है। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सत्य तत्त्व का साक्षात् करने वाला आत्मा ही (विश्वस्मात्) समस्त संसार वा प्राकृतिक जगत् से (उत्-तरः) उत्कृष्ट है।

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ९॥

भा०—(अयं शरारुः) यह सब विघ्न-बाधाओं को नाश करने वाला आत्मा (माम्) मुझ प्रकृति को (अवीराम् इव) विशेष ईरण अर्थात् प्रेरक शक्ति, चेतना से रहित जड़ ही (अभि मन्यते) मानता है। यह बात ठीक है कि मैं प्रकृति जड़ ही हूं स्वयं प्रेरक नहीं हूं तो भी (अहं (वीरिणी अस्मि) मैं अपने को प्रेरणा देने वाले अन्य कर्त्ता वाली, वीर पुरुष को वरने वाली स्त्री के तुल्य हूँ। मैं (इन्द्र-पत्नी) उस महान् ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को पति, विश्वपालक रूप से धारण करती हूँ। और (मरुत्-सखा) मैं विश्व को सञ्चालन करने वाले, वायुवत् शक्तिशाली अनेक बलों को बन्धन से युक्त करने वाली, शक्ति सम्पन्न हूं। और वह (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रभु (सर्वस्मात् उत्तरः) सब से वा मरणधर्मा

जीवों की सखावत् उत्कृष्ट, सब को उत्तम रीति से तारने वाला है। (२) इसी प्रकार घातक दुष्ट पुरुष जो प्रजा का नाश करे डाकू, वा कुस्वामी आक्रामक 'शरारु' है। वह प्रजा को अवीरा, वीर पुरुष से रहित, अरक्षित जानकर प्रजा को पीड़ित करता है परन्तु उसे जानना चाहिये कि प्रजा के बीच वीर पुरुष ही उस प्रजा के वीर पुत्रों, पालकों के तुल्य हैं। इन्द्र राजा वा बलाध्यक्ष, धनाध्यक्ष लोग उस प्रजा के स्वामी होते हैं। वह राजा वा सेनापति हो सब से उत्कृष्ट है जो प्रजा को संकट से पार करे। (३) इसी प्रकार दुष्ट पुरुष स्त्री को अवीर, पुत्र वा पति से रहित जान पीड़ित करते हैं। इसलिये स्त्री को चाहिये कि वह सदा अपने पुत्र वा पति की रक्षा प्राप्त करे। वह वीर पुरुष की पत्नी हो, जो सब से उत्कृष्ट हो।

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति।
वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१०॥

भा०—(पुरा) पूर्वकल्प में (नारी) समस्त विश्व के नायक परमेश्वर के अधीन रहने वाली, प्रकृति (सं-होत्रं) सम्यक् प्रकार से प्रदान किये परमेश्वरीय बीज अर्थात् बल-शक्तिमय-प्रेरण को (अव गच्छति) प्राप्त करती है। (वा) और (समनं अव गच्छति) संसर्ग को प्राप्त करती है। इस प्रकार से (इन्द्रपत्नी) ऐश्वर्यवान् प्रभु रूप पति वाली, (वीरिणी) विविध प्रेरक शक्ति से सम्पन्न होकर (ऋतस्य वेधाः) तेजोमय तत्व वा जगत् के मूलकारण सत् तत्व को (वेधाः) धारण करने वाली और उसको व्यक्त जगत् रूप में उत्पन्न करने वाली होकर (महीयते) सब से उत्कृष्ट होती है। (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) वह ऐश्वर्यवान् प्रभु ही सब से उत्कृष्ट है। (२) मनुष्य समाज में नारी (सं-होत्रं समनम्) यज्ञ और संग्राम में भी पुरुष के साथ जावे, तभी वह (इन्द्रपत्नी) वीर स्वामी की स्त्री और (वीरिणी) वीर पुत्रों की माता

और (ऋतस्य वेधाः) सत्य प्रतिज्ञा न्यायाचरण, का पालन करने वाली, या (ऋतस्य) पति से प्राप्त वीर्य रूप तेज को पुत्रवत् निर्माण करने वाली माता होकर (महीयते) सर्वोत्तम पूजा वा आदर को प्राप्त करती है।

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥११॥

भा०—(आसु नारिषु) इन नारियों अर्थात् जगत् प्रवर्त्तक पुरुष की समस्त शक्तियों में से (अहम्) मैं (इन्द्राणीम्) इन्द्र, सर्वैश्वर्यवान्, तेजोमय प्रभु की सर्वेश्वरी, तेजोमय शक्ति को ही (सु-भगाम् अश्रवम्) सब से अधिक उत्तम ऐश्वर्य, सुखादि से युक्त सुनता हूं। (अपरं चन) और (अस्याः पतिः) इसका पालक पुरुष, (जरसा) सब पदार्थों को जीर्ण कर देने वाले काल से (नहि मरते) नाश को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि (इन्द्रः) इन्द्र, वह सर्वैश्वर्यवान् प्रभु (विश्वस्मात् उत्तरः) सब से अधिक उत्तम है। (२) इसी प्रकार स्त्री द्वारा वरण किया पति 'इन्द्र' है, उसकी स्त्री 'इन्द्राणी' है। वह नारियों में सबसे श्रेष्ठ गुणों वाली सुनी जाय। उसका पति वृद्धता से पीड़ित न हो अर्थात् युवा ही हो।

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१२॥

भा०—हे (इन्द्राणि) इन्द्र के अधीन प्रकृति! (अहम्) मैं प्रभु परमेश्वर (सख्युः वृषाकपेः ऋते) मित्र के समान वृषाकपि जीवात्मा के बिना (न ररण) जगत् को व्यक्त नहीं करता। (यस्य इदं) जिसका यह (अप्यं हविः) 'अपः' अर्थात् सलिल वा रुधिरमय, वा सूक्ष्म लिङ्ग-देह रूप साधन (प्रियम्) अति प्रिय है और जो (देवेषु गच्छति) सूक्ष्म तेजोमय रश्मियों के आश्रय ही (गच्छति) गमन करता है। (इन्द्रः विश्वस्मात्

उत्तरः) मैं सर्वैश्वर्यवान् प्रभु सब से उत्तम हूँ। (२) अथवा जीव प्रकृति के प्रति कहता है—हे (इन्द्राणि) ऐश्वर्यवति ! मैं (वृषाकपेः) समस्त सुखों की वृष्टि करने वाले और समस्त विश्व को चलाने वाले (सख्युः) परम सखा प्रभु के (ऋते) विना (न ररण) सुख शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। वह प्रभु (यस्य इदम् अप्यं हविः) 'आपः'—सूक्ष्म प्राण-शक्ति रूप अन्न वा शक्तिदायक तत्त्व (प्रियम्) सबको तृप्तिदायक होकर (देवेषु गच्छति) जीवों को प्राप्त होता है। वह प्रभु ही सब से उत्कृष्ट है। अधिभूत पक्ष में—वृषाकपि मेघ, इन्द्राणी पृथिवी, सखा इन्द्र सूर्य, जलमय हवि, मेघ का जल, और प्रिय हवि उससे उत्पन्न सर्वतर्पक अन्न।

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१३॥

भा०—हे (वृषाकपायि) समस्त सुखों को मेघ के तुल्य वर्षण करने वाले प्रभु की अपार शक्ति ! हे (रेवति) अनेक ऐश्वर्यों की स्वामिनि ! हे (सु-पुत्रे) उत्तम पुत्रों, जीवों वाली ! हे (सु-स्नुषे) उत्तम सुखपूर्वक विराजने वाली, सुखदायिनि ! (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् प्रभु (उक्षणः) सेचन करने वाले मेघ से उत्पन्न अथवा (उक्षणः) जगत् को धारण करने वाले सूर्य आदि लोकों को (प्रियम्) प्रीतिकारक (काचित्-करम्) अनेक सुखों के देने वाले (ते हविः) ते उत्तम अन्न के सदृश ही इस जगत् को (घसत्) खाजाता है, इसको प्रलय काल में लील लेता है। वही ऐश्वर्य-वान् प्रभु (विश्वस्मात् उत्तरः) देह में प्रवेश करने वाले आत्मा से कहीं उत्कृष्ट शक्तिशाली है।

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम्।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥१४॥

भा०—(मे) मेरे (पञ्चदश उक्ष्णः) १५ बलयुक्त, शरीर के धारक

प्राणों को अथवा (उक्षणः मे पञ्चदश) शरीर को धारण करने वाले मुझ आत्मा के (पञ्चदश) पन्द्रहों प्राणों को और विंशतिम् हाथ और पैर की २० अंगुलियों के समान शरीर के भीतर के २० अंगों को, वा (विंशतिम्) देह में प्रवेशशील आत्मा को विद्वान् लोग (साकं पचन्ति) एक साथ परिपाक, ज्ञान और अभ्यास से दृढ़ करते हैं वा विस्तार से वर्णन करते हैं। (उत) और मैं (पीवः) परिपुष्ट होकर (अद्मि) पुष्टिदायक भोग्य देह और नाना भोगों को वा उन प्राणों का भोग करता हूं। वे समस्त प्राण (मे) मेरे (कुक्षी) दोनों कोखों, पार्श्वों में (पृणन्ति) पूर्ण करते हैं, समस्त प्राण देह के दायें, बायें दोनों ओर अपने २ स्थान पर अंग-प्रत्यंग में व्यापते हैं। वह (इन्द्रः) अद्भुत शक्तिशाली प्रभु (विश्वस्मात् उत्तरः) सब से ऊपर है। उसकी इस देह-रचना का कौशल अविज्ञेय है।

वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत् ।
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः
॥ १५ ॥ ३ ॥

भा०—(तिग्मशृंगः वृषभः न) तीखे सींगों वाला बड़ा सांड जिस प्रकार (यूथेषु अन्तः रोरुवत्) गौओं के बीच गर्जना किया करता है उसी प्रकार वह आत्मा (वृषभः) बलशाली, अन्तःकरण में आनन्द वर्षण करने और चेतना रूप दीप्ति से चमकने वाला भी भीतरी हृदयाकाश में मेघ के समान (यूथेषु अन्तः) प्राणों के समूहों वा अंग-समूह के बीच (रोरुवत्) गर्जता है, केन्द्रस्थ राजा के तुल्य सब पर शासन करता है, वा अन्तर्नाद करता है। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! प्रभो (ते मन्थः) तेरा ध्यान-निर्मन्थन से प्राप्त परमान्द रूप रस (यम्) जिसको (भावयुः) भाव, भक्ति करने और तेरी उपासना करने वाला उपासक (सुनोति) उत्पन्न करता है, वह (हृदे शम्) हृदय को अति शान्तिदायक होता है। अतः एव हे मनुष्यो ! वह (इन्द्रः) सब जगत् और अन्तःकरण को

प्रकाशित करने वाला महान् आत्मा (विश्वस्मात् उत्तरः) सब से उत्कृष्ट है ।

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृत् ।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१६॥

भा०—(सः न ईशे) वह ऐश्वर्यवान् नहीं है (यस्य) जिसका (कपृत्) कपाल, शिर (सक्थ्या अन्तरा) जांघों के बीच पशु के समान अपने से बलशाली के सामने (रम्बते) लटक पड़ता है । (सः इत् ईशे) वह ही सब पर शासन करता है (नि-षेदुषः यस्य) उच्चासन पर विराजे हुए जिसका (रोमशं) लोमों से युक्त मुख (विजृम्भते) विशेष रूप से खिलता है, और अधीनों पर शासन करता है, वही (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, शत्रुनाशक तेजस्वी, (इन्द्रः) राजा (विश्वस्मात् उत्तरः) सब से उत्कृष्ट है । अध्यात्म में—(यस्य कपृत्) जिसका आत्म-पालक शक्ति से युक्त वा सुखग्राही अन्तःकरण (सक्थ्योः अन्तरा) समवाय या संघ बना कर विद्यमान भूमि और आकाश वा आसक्तिजनक राग द्वेषादि के बीच (रम्बते) लटक जाता, मुग्ध होजाता है (न सः इत् ईशे) वह समस्त जगत् का स्वामी होकर उसका शासन नहीं कर सकता । प्रत्युत (नि-सेदुषः) नित्य और निरन्तर निगूढ़ रूप से विद्यमान (यस्य) जिसका बनाया (रोमशं) लोम के समान तेजः किरणों वाला विम्ब उसके मुख के तुल्य विजृम्भते) गर्व पूर्वक तमतमाता है । वही (इन्द्रः) सब जगत् का स्वामी (विश्वस्मात् उत्तरः) सब से उत्कृष्ट है ।

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते । सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३कपृद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १७ ॥

भा०—(नि-षेदुषः) नीचे वा उच्चासन पर बैठे हुए (यस्य) जिसका, (रोमशं) लोमों से युक्त जवानी का चेहरा भी (विजम्भते)

केवल जंभाई लेता है, जो आलस्य, निन्द्रा-तन्द्रा में समय व्यतीत करता है, (न सः ईशे) वह कभी शासन नहीं कर सकता। (सः इत् ईशे) वह समस्त जगत् पर शासन करता, सब का स्वामी होता है (यस्य) जिसका (सक्थ्या अन्तरा) सक्थि अर्थात् बाहुओं वा शक्तिशाली, समवाय बनाने वाली दोनों सेनाओं के बीच (क-पृत्) कपाल, उन्नत सिर (रम्बते) अन्यों को दृढ़ आज्ञा देता है, वही (इन्द्रः) सबका स्वामी, शत्रु और दुष्टों का नाशक सेनापति वा राजा (विश्वस्मात् उत्तरः) सब से उत्कृष्ट और शत्रुओं के ऊपर रह कर उनका नाशक करने वाला होता है। रबिर्भाषार्थः, भ्वादिरात्मनेभाषः। रबिर्गत्यर्थो भ्वादिः परस्मैपदी। रम्बते-शब्दयति, भाषते। अथवा—(न सा ईशे) वह भूमि, ईश्वर वा सूर्यवत् स्वतन्त्र नहीं (यस्य रोमशं) जिसका लोम के समान ओषधि वनस्पति वर्ग (विजृम्भते) नाना प्रकार से उगता है। (सः इत् ईशे) वह ही सूर्य सब पर शासन करता है, (यस्य) जिसके भृत्य के तुल्य (क-पृत्) जल से विश्व को पूर्ण करने और पालने वाला मेघ (सक्थ्या अन्तरा) परस्पर सम्मिलित आकाश और भूमि दोनों के बीच (रंबते) लटकता वा गर्जना करता है। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) जलों को देने और मेघों को विदारण करने वाला वा तेजस्वी सूर्य ही सब से उत्कृष्ट है।

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत्। असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवन्! हे ऐश्वर्य के देने वाले! प्रभो! (अयम् वृषा-कपिः) यह जीव अपने चित्त में सुखों की वर्षा करने और अपने चित्त से दुष्ट भावों को कंपा देने में समर्थ होकर, अथवा सुखों की वर्षा करने वाले प्रभु को प्राप्त करने वाला, बलवान्, प्राणों को चलाने में समर्थ होकर (परस्वन्तं) अपने भीतर विद्यमान होकर भी 'परः' दूर है प्रभु के प्रति इस भाव को (हतं विदत्) नष्ट हुआ जाने। अथवा (परस्वन्तम्) पर,

श्रेष्ठ जो अपना 'स्व' आत्मा उस पर अधिकार करने वाले अज्ञान और दुःख वा देह-बन्धन को (हतं विदत्) नष्ट हुआ जानता है। (आत्) अनन्तर ही वह (असिम्) देह को प्रेरने वाले प्राण को और (सूनाम्) इन्द्रियों को सन्मार्ग में प्रेरित करने वाली बुद्धि-शक्ति को और (नवम्) अतिस्तुत्य नये (चरुम्) सुखवत् भोग्य कर्मफलदायक व्यापक आत्मा को और (एधस्य) दीप्तिमय, (आचितम्) सर्वत्र व्याप्त (अनः) सबके प्राणों के प्राण प्रभु को भी (विदत्) प्राप्त करता है। वह (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) ऐश्वर्यवान् आत्मा सबसे उत्कृष्ट है।

अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्। पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १६ ॥

भा०—(अयम्) यह मैं (विचाकशत्) विशेष रूप से दर्शन या साक्षात् करता हुआ, और (दासम्) दानशील, (आर्यम्) श्रेष्ठ जन को वा (दासम्) प्रजा के नाशक दुष्ट वर्ग को और (आर्यम्) प्रजा के पालक श्रेष्ठ स्वामी वर्ग को (विचिन्वत्) विवेकपूर्वक न्यायाधीश के समान पृथक् २ करता हुआ (एमि) प्राप्त होता हूं। और (पाक-सुत्वनः) पाक द्वारा यज्ञ करने वाले, वा परिपक्व, दृढ़ मन से ईश्वर की उपासना करने वालों को और (धीरम्) अन्यों को धारण योग्य सत्-ज्ञान, सत्-बुद्धि और सत्-कर्म में प्रेरणा करने वाले की मैं (अभि पिबामि) सब प्रकार से रक्षा करता हूं। (इन्द्रः) वह परमैश्वर्यवान् प्रभु ही (विश्वस्मात् उत्तरः) सबसे अधिक उत्कृष्ट है। अध्यात्म में—(२) मैं आत्मा, उपासक (विचिन्वत्) विशेष रूप से परमेश्वर की खोज लगाता हुआ (विचाकशत्) विशेष रूप से उसका साक्षात् करता हुआ उस (दासं) सब सुखों के दाता और (आर्यम्) सर्वश्रेष्ठ स्वामियों के भी स्वामी परमेश्वर को (एमि) प्राप्त होऊं। (पाक-सुत्वनः) परिपाक या कर्म फलों के स्वामी, उस प्रभु के दिये फल का ही (पिबामि) उपभोग करूं।

और (धीरम्) हमारी बुद्धियों और कर्मों को प्रेरणा करने वाले उसको ही (अभि अचाकशम्) साक्षात् करता हूं कि (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) वह परमेश्वर ही सबसे उत्कृष्ट है।

धन्व॑ च॒ यत्कृ॒न्तत्रं॑ च॒ कति॑ स्वि॒त्ता वि योज॑ना। नेदी॑यसो वृषाकपे॒ऽस्त॒मेहि॑ गृ॒हाँ उप॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥ २० ॥

भा०—(ता) वे अनेक (कति स्वित्) योजना आत्मा के साथ योग करने वाले देह हैं वे सब (धन्व च कृन्तत्रं च) मरु भूमि के तुल्य और उच्छेद करने योग्य भयानक जंगल के तुल्य ही हैं। उनमें कभी शान्ति और सुख प्राप्त नहीं हो सकता। हे (वृषाकपे) समस्त सुखों के वर्षाने वाले प्रभु के सुख का पान करने हारे आत्मन् ! तू सब से अधिक (नेदीयसः) समीप विद्यमान परमेश्वर के (अस्तम्) सर्व-दुःखनाशक, शरण को प्राप्त हो। तू उसके ही (गृहान्) ग्रहण करने योग्य शान्तिप्रद गुणों को (उप-इहि) प्राप्त हो। (इन्द्रः) वह परमेश्वर (विश्वस्मात् उत्तरः) सब से अधिक उत्कृष्ट है।

पुन॒रेहि॑ वृषाकपे सुवि॒ता क॑ल्पयावहै। य ए॒षः स्व॑प्न॒नंश॑नो॒ऽस्त॒मेषि॑ प॒था पु॒नर्विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥ २१ ॥

भा०—हे (वृषाकपे) जीवात्मन् ! हम प्रकृति और परमात्मा दोनों (सुविता कल्पयावहै) तेरे लिये नाना सुखप्रद, कल्याणकारी सुख जनक पदार्थ रचते हैं। तू उनको (पुनः आ इहि) पुनः २ प्राप्त हो। (यः एषः) जो यह तू (स्वप्न-नंशनः) निद्रा में लुप्त हो जाने वाले सुप्त जन के तुल्य (पथा) बाहर के मार्ग से घूम फिर कर पुनः गृह में आने वाले पथिक के समान (पथा) ज्ञान मार्ग से पुनः (अस्तम्) शरणवत् प्रभु को प्राप्त होता है, वही (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रभु (विश्वस्मात् उत्तरः) सब से उत्कृष्ट है। अथवा सूर्य के उदय और अस्त के तुल्य ही जीव का मोक्ष में जाना और पुनः वहां से आना होता है

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन । क्व॑स्य पुल्वघो मृगः कमगञ्जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २२ ॥

भा०—हे (वृषाकपे इन्द्र) सुखवर्षी, परम रस के पान करने वाले ! वा अंधकारनाशक तेजस्विन् ! आत्मन् ! प्रभो ! (यत्-उदञ्चः) जब उर्ध्व, उत्तम मार्ग से जाने वाले पुरुष (गृहम्) सर्वशरण्य प्रभु को (अजगन्तन) प्राप्त हो जाते हैं तब उनका (स्यः) वह (पुलु-अघः) बहुत पापों वाला (जन-योपनः) प्राणियों को मोहने वाला (मृगः) शुद्ध, वा विषयों को खोजने वाला, पापभागी आत्मा, वा बहुतों को मारने वाला वा बहुत से जनों को त्रास देने वाला मृत्यु (क्व अगन् कम्) कहां चला जाता है, कहां नष्ट हो जाता है ? उसका नाश होना यही प्रभु की दया है । अतः (विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः) वह परमेश्वर ही सब से उत्कृष्ट है । अर्थात् मृग, सिंह जिस प्रकार (पुलु-अघः) बहुतों को मारने वाला और (जन-योपनः) अनेक जनों, जन्तुओं का नाश करने वाला सिंह गृह में आने पर न जाने कहां जाता है । अर्थात् गृह में रहते हुए सिंह का त्रास नहीं रहता । इसी प्रकार परम शरण्य प्रभु रूप गृह में आने पर त्रासकारी पाप वा मृत्यु का भी भय छूट जाता है । 'न तत्र मृत्युर्न जरा वि-पाप्मा ।' उप० । तब तो वह केवल 'कम्' सुख रूप होता है ।

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम् । भद्रं भल त्यस्या अभूद्यस्या उदरमामयद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २३ ॥ ४ ॥

भा०—(मानवी पर्शुः ह नाम) मननशील, संकल्प विकल्प करने वाले आत्मा वा पुरुष की विचार शक्ति या बुद्धि ही 'पर्शु' नाम की है जो (साकं) एक साथ ही (विंशतिं ससूव) हाथ और पैर की २० अंगुलियों के समान (विंशतिं) प्रकृति के २० विकारों को एक साथ उत्पन्न करती है । (त्यस्याः भल भद्रम् अभूत्) उस स्त्री का तो सदा कल्याण होता है,

(यस्या) जिस माता का (उदरम्) पेट (आमयत्) पीड़ित होता है अर्थात् जो अपने गर्भ से देही आत्मा को प्रसव करती है। इसी प्रकार प्रकृति भी 'मनु' अर्थात् सर्वजगत्-स्तम्भक, सर्वस्तुत्य प्रभु की वह स्त्रीतुल्य प्रकृति 'पर्शु' अर्थात् परम सूक्ष्म रूप में व्यापक होती है। उसका रूप 'भद्र' सुखकारी है जो २१ विकृतियों को उत्पन्न करती है (यस्याः उदरम्) जिसके मध्य भाग को (आमयत) प्रभु अपनी शक्ति से गति युक्त करता और उसमें से अनेक प्रकृति-विकृतियों को उत्पन्न करके उस जगत् को बनाता, चलाता और उनको व्यवस्था से नियन्त्रित करता है। वही (इन्द्रः) प्रभु परमेश्वर (विश्वस्मात् उत्तरः) सब से उत्कृष्ट है। दश प्राण, दश प्राणायातन ये २० अंग, अथवा प्रकृति के २० विकार अहंकार, पांच स्थूलभूत, पांच सूक्ष्म भूत और ४ अन्तःकरण, और स्वयं समष्टि देह। इति चतुर्थो वर्गः ॥

[८७]

ऋषिः पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—१, ८, १२, १७ त्रिष्टुप्। २, ३, २० विराट् त्रिष्टुप्। ४—७, ६—११, १८, १९ निचृत् त्रिष्टुप्। १३—१६ भुरिक् त्रिष्टुप्। २१ पादनिचृत् त्रिष्टुप्। २२, २३ अनुष्टुप्। २४, २५ निचृदनुष्टुप् ॥ पञ्चविंशत्यृचं सूक्तम् ॥

र॒क्षो॒हणं॑ वा॒जिन॒मा जि॑घर्मि मि॒त्रं प्रथि॑ष्ठ॒मुप॑ यामि॒ शर्म॑। शिशा॑नो अ॒ग्निः क्रतु॑भिः॒ समि॑द्धः॒ स नो॒ दिवा॒ स रि॒षः पा॑तु॒ नक्त॑म् ॥१॥

भा०—मैं (रक्षः-हणं) दुष्ट राक्षसों को, जो मुझ को मेरे उद्देश्य तक पहुंचने से रोके रखते हैं उनका नाश करने वाले, (वाजिनं) वेगवान्, बलवान्, (मित्रम्) मुझे मृत्यु से बचाने वाले (प्रथिष्ठं) अति पृथु, महान् उस प्रभु को मैं (आ जिघर्मि) सब ओर अग्नि के तुल्य ही प्रदीप्त, प्रज्ज्वलित कर लूं जिससे मैं (शर्म उप यामि) सुख प्राप्त करूं। (शिशानः) सदा तीक्ष्ण (अग्निः) अग्नि के समान पापों को दग्ध करने वाला, सत्-

स्वरूप, प्रकाशमय प्रभु (क्रतुभिः) नाना कर्मों और ज्ञानों द्वारा (समिद्धः) अति देदीप्त हो। (सः) वह (नः) हमें (दिवा) दिन में और (सः नक्तं) वही रात में भी (नः) हमें (रिषः) हिंसक, दुष्ट स्वभाव के आक्रामक से (पातु) रक्षा करे। जिस प्रकार अग्नि जंगल के समीप में जलता हुआ चोर, व्याघ्र आदि से भी बचाता है उसी प्रकार हृदय में प्रभु की ज्योति भी जलती हुई लोभ, क्रोध, कामादि पापों से बचाती है। वह प्रभु सर्वत्र सदा हमारी रक्षा करता है, उसके आगे दुष्टों की नहीं चलती।

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः।
आ जिह्वया मूरदेवान्रभस्व क्रव्यादो वृक्त्व्यपि धत्स्वासन् ॥२॥

भा०—हे (जात-वेदः) धनों के स्वामिन्! हे बुद्धिमन्! तू (समिद्धः) खूब तेजस्वी होकर, (अयः-दंष्ट्रः) लोहों की सी दाढ़ों वाला, नाना शस्त्रास्त्रों से सम्पन्न, कठोर होकर (अर्चिषा) अपने तीव्र ज्वाला वा तेज से (यातु-धानान्) प्रजाओं को पीड़ा देने वाले दुष्टों को (उप स्पृश) पकड़, उनको अग्निवत् भस्म कर, उनको दमन कर नाश कर, और निर्मूल कर दे। और (जिह्वया) अपने वाणीमात्र के शासन से (मूर-देवान्) केवल मरने मारने की क्रीड़ा करने वाले, युद्ध व्यसनियों को, (क्रव्यादः) प्रजा के मांसों के खाने वाले, प्रजा के रक्तशोषी, प्रजा के प्राण-नाशक दुष्ट डाकुओं को, (रभस्व) वश कर। उनको (वृक्त्वी) काट कर, वृक्ष के तुल्य निर्मूल करके (आसन्) अपने मुख अर्थात् अपने वचन के शासन में (अपि धत्स्व) उनको रख।

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रा हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च।
उतान्तरिक्षे परि याहि राजञ्जम्भैः सन्धेह्यभि यातुधानान् ३

भा०—हे (उभयाविन्) दोनों प्रकार के शस्त्रास्त्रों और बलों से युक्त! तू (उभा) दोनों प्रकार की (दंष्ट्रा) नाशकारिणी शक्तियों को

दोनों डाढ़ों के समान (शिशानः) अति तीक्ष्ण करता हुआ, (हिंस्रः) शत्रुओं को नाश करने हारा होकर (अवरम् परं च उप धेहि) समीप और दूर के दोनों देशों वा जनों को प्रतिष्ठित कर (उत) और हे (राजन्) तेजस्विन्! तू (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष मार्ग में भी (परि याहि) सब दूर जा। और (जम्भैः) नाशकारी, हिंसक शस्त्रास्त्रों से (यातु-धानान्) प्रजा को पीड़ा देने वाले दुष्ट पुरुषों को (सं धेहि अभि धेहि) अच्छी प्रकार संधान कर, उनको शस्त्रों से पीड़ित कर उनका अभिधान कर, सब ओर से बांध। शस्त्रास्त्रों से संधान उनको दबा कर सन्धि या मेल करना है, जैसे-'शरसंधान'। 'अभिधान'-बांधने अर्थ में आता है जैसे-'अश्वाभिधानी' घोड़े को बांधने की रस्सी। अर्थात् राजा शस्त्रों को समक्ष रख कर दुष्टों से संधि और विग्रह करे, जिससे वे भयभीत होकर प्रजा को पीड़ित न कर सकें।

यज्ञैरिषूः सन्नममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान्प्रतीचो बाहून्प्रति भङ्ध्येषाम् ॥४॥

भा०—हे (अग्ने) सेनाओं के अग्रणी नेता! सेनापते! तू (यज्ञैः) अनेक भृति, वेतन, पुरस्कार, आदर, मान-सत्कार आदि उपायों से, (इषूः) अनेक सेनाओं को (सं-नममानः) अपने अधीन करता हुआ और (वाचा) अपनी आज्ञा से (अशनिभिः) अशनि नामक महान् अस्त्रों सहित (शल्यान्) धनुष वाणों सहित वीरों को (दिहानः) खूब एकत्र करता हुआ, (ताभिः) उन शक्तियों से (यातु-धानान्) प्रजा को पीड़ा देने वाले साधनों को धारण करने वाले दुष्ट पुरुषों को (हृदये विध्य) मर्म पर आघात कर (एषाम्) उनके (प्रतीचः बाहून्) उनके प्रति द्वेषी, विरोधी, बाहुओं अर्थात् लड़ने वालों को (प्रति भङ्धि) तोड़ डाल, उनको बाहुओं के समान तोड़ कर लुंजा पुंजा कर दे।

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात्क्रविष्णुर्वि चिनोतु वृक्णम् ॥५॥

भा०—(अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्विन् ! हे दुष्टों को सन्तापित, पीड़ित और दग्ध करने वाले ! तू (यातु-धानस्य) कुटिल चाल चलने वाले वा प्रजा को पीड़ा देने वाले दुष्ट पुरुष के (त्वचं भिन्धि) त्वचा वा देह को छिन्न भिन्न कर, उसको कठोर शारीरिक अंगच्छेदन आदि दण्ड दे। वा उसके (त्वचं) आवरणकारी, छुपने के स्थान को (भिन्धि) नाश कर। (हिंस्रा) हिंसा वा प्राण नाश करने वाली (अशनिः) विद्युत् अस्त्र (हरसा) प्राणहारक ज्वाला से (एनं हन्तु) इसको मारे। (पर्वाणि) उसके पोरुओं को वा उसके पालन करने वा उसके मनोरथों को पूर्ण करने वाले साधनों, अंगों वा सहयोगियों को (शृणीहि) नाश कर (विष्णुः) व्यापक शक्तिशाली पुरुष (क्रव्यात) मांसाहारी पशु के तुल्य (वृष्णम्) दुष्ट व्यक्ति के छिन्न भिन्न अंगों को (वि चिनोतु) चुन २ कर हड़प करलें। अर्थात् जिस प्रकार किसी कटे छिन्न भिन्न देह के अंगों को गीध, कुत्ता सियार आदि खाजाते हैं उसी प्रकार दुष्ट प्रजा-पीड़क व्यक्ति के छिन्न भिन्न देहवत् राष्ट्र के अंगों को उससे अधिक शक्ति वाले राष्ट्र छीन झपट लें।

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदुस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम्।
यद्वान्तरिक्षे पथिभिः पतन्तं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥६॥

भा०—हे (जात-वेदः) धनैश्वर्य के स्वामिन् ! (इदानीं) इस समय (यत्र) जहां भी तू किसी दुष्ट पुरुष को (तिष्ठन्तं पश्यसि) खड़ा देखे, अथवा (चरन्तं पश्यसि) अथवा विचरता देखे, (यत् वा) अथवा (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में वा (पथिभिः पतन्तं) भूमि पर मार्गों से जाता हुआ देखे (तम्) उस दुष्ट को, हे (अग्ने) सेनानी ! तू (अस्ता) दुष्टों को उखाड़ने हारा (शिशानः) तीक्ष्ण शासन करता हुआ, नियम व्यवस्थाओं और सैन्य शास्त्रादि को तीव्र रखता हुआ, दुष्टों को (शर्वा) हिंसाकारी साधन, बाण, वा शस्त्र से (विध्य) मार।

उतालब्धं स्पृणुहि जातवेद आलेभानादृष्टिभिर्यातुधानात्। अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥ ७ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) भूमि में या राष्ट्र में उत्पन्न हुए प्रत्येक बच्चे, मनुष्यादि को भी अपना धन मानने वाले, सब उत्पन्न जीवों के स्वामिन्! हे (अग्ने) तेजस्विन्! (उत) और तू (आलेभानात्) प्रजा के जनों को पकड़ लेने वाले (यातु-धानात्) पीड़ाकारी बन्धन बांधने वाले दुष्ट से (आलब्धं) पकड़े हुए प्रजावर्ग को (स्पृणुहि) बचा। (ऋष्टिभिः) दुष्टों को सन्तप्त करने वाले साधनों द्वारा उस से उसकी रक्षा कर। प्रजा के किसी व्यक्ति को भी यदि दूसरा राज्य पकड़ ले या कोई डाकू या दुष्ट जन पकड़े लें तो राजा उसको उन से बचावे। हे राजन्! तू (पूर्वः) पालक होकर (शोशुचानः) पापी को सन्तप्त करता और तेज से चमकता हुआ (आमादः) कच्चे मांस को खाने वाले दुष्टों को (नि जहि) सर्वथा और खूब दण्डित कर। उसको (क्ष्विंकाः) नाना शब्द करने वाली (एनीः) वेग से उड़ने वाली चीलें (तम् अदन्तु) उसको खावें। जो व्यक्ति मांस लोभी प्रजा के जनों का कच्चा मांस खाजावें, राजा उनको मांसख़ोर जानवरों से फड़वा डाले। उनका आहार करा दे। जिससे अपने दुःख अनुभव करके दूसरे के मांस खाने का दोष उनको अनुभव हो और वे बुरे मार्ग से हटें।

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यो यातुधानो य इदं कृणोति। तमारभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥ ८ ॥

भा०—(यः यातुधानः) जो प्रजा को पीड़ा देने वाला है, (यः) जो (इदम् कृणोति) पापाचार कराता है हे (अग्ने) तेजस्विन् (सः) वह (यतमः) उस प्रकार के अपराधियों में कौनसा है, उसका अपराध क्या और किस प्रकार का और कितनों में से किस वर्ग का, कौन २ है यह

सब विवरण पूर्वक (इह प्र ब्रूहि) इस राष्ट्र में अच्छी प्रकार बतला जिससे सब कोई उसके बुरे काम को जानकर धिक्कारें और (तम्) उसको (सम् इधा) खूब जलती चमकती लकड़ी या चमचमाती लोहे की सलाख 'सूर्मि' से (आ रभस्व) स्पर्श करा। हे (यविष्ठ) बलशालिन्! तू उसको (नृ-चक्षसः) मनुष्यों को यथाऽपराध दण्ड की व्यवस्था करने वाले राजा, न्यायदाता की (चक्षुषे) न्याय दृष्टि के लिये (एनम् रन्धय) इसको पीड़ित कर, उसको अपना भाई बन्धु जान कर, वा उससे धनादि बहुत पाने की आशा से भी दण्ड देने से मत त्याग, उसको अवश्य दण्डित कर।

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्रणय प्रचेतः।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन्यातुधाना नृचक्षः॥ ९॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्विन्! दुष्टों को दग्ध करने वाले राजन्! तू (तीक्ष्णेन चक्षुषा) तीक्ष्ण दृष्टि से (प्राञ्चम्) सर्वोत्कृष्ट (यज्ञम्) अपने सुसंगत राष्ट्र की (रक्ष) रक्षा कर। हे (प्रचेतः) उत्तम ज्ञान और उत्तम चित्त वाले! हे (नृ-चक्षः) मनुष्यों के ऊपर न्यायद्रष्टः। (रक्षांसि हिंस्रम्) दुष्टों के नाश करने वाले (अभि शोशुचानम्) मुकाबले पर दण्डित करते हुए (त्वा) तुझको (यातुधानः) पीड़ादायी दुष्टजन (मा दभन्) नाश न करें।

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा। तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च॥ १०॥ ६॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन्, तेजस्विन्! तू (नृ-चक्षाः) सब मनुष्यों के बीच प्रधान नेता, अध्यक्ष शासकों के व्यवहारों को भी देखने हारा है। तू (विक्षु) प्रजाओं में (रक्षः परि पश्य) दुष्ट राक्षस स्वभाव के मनुष्य और अधिकारी को भी देख। (तस्य त्रीणि अग्रा) उसके तीन अगले कर्मों

को (प्रति शृणीहि) प्रति समय नाश कर और (हरसा) तीक्ष्ण तेज वा दण्ड से (तस्य पृष्टीः) उसकी पीठ पर के सहायकारी जनों को भी (प्रति शृणीहि) खूब पीड़ित कर जिससे वे उसका साथ छोड़ दें। (यातु-धानस्य) प्रजा को सताने वाले दुष्ट राक्षस के (मूलम्) मूल को (त्रेधा) तीन प्रकारों से (वृश्च) काट डाल। दुष्ट प्रजा पीड़क के तीन 'अग्र'—जनबल, धनबल, और मनोबल, उसके मूल पर तीन प्रकार का आघात, उसको नाश करना, उसके साथियों का नाश करना, उसके नष्ट होने के बाद भी उसके बाद के पुत्र-पौत्रादि वा उसके दास-भृत्यादि का नाश करना।

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति।
तमर्चिषा स्फूर्जयञ्जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि वृङ्धि ॥११॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन्! दुष्टों को भस्म करने हारे! वह (यातु-धानः) पीड़ादायक साधनों से प्रजाओं को बांधने वाला दुष्ट पुरुष, आतंककारी प्रजापीड़क, (ते) तेरे (प्रसितिम्) बन्धन को (त्रिः एतु) तीन प्रकार से आवे (यः) जो (अनृतेन हन्ति) अपने असत्य वचन वा व्यवहार से दूसरे को दण्डित, पीड़ित, नष्ट करता है। हे (जात-वेदः) सब धनों के स्वामिन्! (तम्) उसको (अर्चिषा) अपने तीव्र ताप से (स्फूर्जयन्) बिजुलीवत् पीड़ित, भयभीत करता हुआ, (समक्षम्) सब के सामने (गृणते) प्रा णनाशील प्रजा जन के हितार्थ, (एनं निवृङ्धि) विशेष रूप से काट डाल।

तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजं येन पश्यसि यातुधानम्।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥ १२ ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन्! सर्वप्रकाशक! दुष्टों को दग्ध करने हारे! तू (येन) जिस न्यायदृष्टि से (शफारुजं यातुधानं पश्यसि) निन्दा

और कुत्सित वचनों से पीड़ा देने वाले (यातु-धानम्) पीड़ादायक पुरुष को (पश्यसि) देखता है, (तत्) उसी (चक्षुः) सत्य प्रकाशक चक्षु को (रेभे) प्रार्थना करने वाले, अपने दुःख निवेदन करने वाले, वा स्तुति कारा या शुभ वचन, सदुपदेश करने वाले पर (प्रति धेहि) डाल। (सत्यं धूर्वन्तम्) सत्य का नाश करने वाले (अचितम्) पाप को करने में न चेतने वाले, पाप के दुष्परिणाम को न जानने वाले पुरुष को (अथर्ववत्) निश्चल, अडिग, निष्प्रकम्प, स्थिरभाव से युक्त, निष्पक्षपात होकर (दैव्येन ज्योतिषा) अग्नि, आदि दिव्य पदार्थों की ज्योति से (नि ओष) खूब संतप्त कर, उन पर दिव्य परीक्षा का प्रयोग कर जिससे वे भय से सत्य कहें, असत्य न कहें।

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः। मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ॥१३॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! सत्मार्ग के दर्शक ! (अद्य) अब (यत्) जब (मिथुना शपातः) दो मिल कर एक दूसरे पर निन्दा जनक वचन, अपशब्दों का प्रयोग करें वा (देवाः) विद्वान् जन (वाचः तृष्टं जनयन्त) वाणी का कटु रूप प्रकट करें तब (या) जो वाणी (मन्योः) मननशील वा क्रोध वाले चित्त के लिये (शरव्या) वाण के समान वेदना जनक (जायते) होती है तू (तया) उससे भी (यातु-धानान्) पीड़ादायक जनों को (हृदये विध्य) हृदय में ताड़ित कर। अर्थात् यदि स्त्री पुरुष या मित्र या विद्वान् लोग कटु वचनों का प्रयोग करें और अपराधी हों तो उनको भी चुभती तीखी हृदय में लगने वाली वाणी से ही डांट बतला कर वाग्-दण्ड देना चाहिये।

परा शृणीहि तपसा यातुधानान्पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि। परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपो अभि शोशुचानः॥ १४॥

परा॑द्य दे॒वा वृ॑जि॒नं शृ॑णन्तु प्र॒त्यगे॑नं श॒पथा॑ यन्तु तृ॒ष्टाः ।
वा॒चास्ते॑नं शर॑व ऋच्छन्तु मर्म॒न्विश्व॑स्यैतु प्रसि॑तिं यातु॒धानः॑ ॥१५॥७

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन् ! तू (यातु-धानान्) पीड़ादायकों को (तपसा) संन्तापकारी साधनों से (परा शृणीहि) दूर तक मार भगा। (रक्षः) विघ्नकारी को (हरसा परा शृणीहि) संवरणकारी, अद्भुत आश्चर्यजनक साधन से दूर से ही नाश कर। (मूर-देवान्) मरने मारने वाले युद्धेच्छु, विजय चाहने वालों को वा मोह में पड़े हुओं को (अर्चिषा) अपनी तीव्रतायुक्त ज्वाला से (परा शृणीहि) दूर से ही पीड़ित कर। और तू (शोशुचानः) अति देदीप्यमान होकर (असु-तृपः) मनुष्यों के प्राणों से अपनी तृप्ति करने वालों वा केवल अपने प्राणों को ही तृप्त करने वाले को (अभि परा शृणीहि) उनका मुक़ाबला करके उनको पीड़ित करके दूर कर। इति सप्तमो वर्गः ॥

यः पौरु॑षेयेण क्र॒विषा॑ सम॒ङ्क्ते यो अश्व्ये॑न प॒शुना॑ यातु॒धानः॑ ।
यो अ॒घ्न्याया॒ भर॑ति क्षी॒रम॑ग्ने ते॒षां॑ शी॒र्षाणि॒ हर॒सापि॑ वृश्च ॥ १६ ॥

भा०—(यः) जो (यातुधानः) अन्यों को पीड़ा देने वाला होकर अर्थात् अन्यों को पीड़ा देकर अपने को (पौरुषेयेण क्रविषा) मनुष्योपयोगी अन्न आदि साधनों से (सम् अङ्क्ते) सजाता है और (यः) जो (अश्व्येन पशुना सम् अंक्ते) अन्य को पीड़ा देकर स्वयं घोड़े के समान वेग से जाने वाले पशु से अपने को चमकाता है, जो दूसरे को पीड़ा देकर (अघ्न्यायाः क्षीरं भरति) गौ का दूध लेता है, हे (अग्ने) ज्ञान और तेज के प्रकाशक ! तू ऐसे २ दुष्टों के (शीर्षाणि) शिरों को (हरसा वृश्च) तेज शस्त्र से काट डाला।

सं॒व॒त्स॒री॒णं पय॑ उ॒स्रिया॑या॒स्तस्य॒ माशी॑द्यातु॒धानो॑ नृचक्षः ।
पी॒यूष॑मग्ने यत॒मस्तितृ॑प्सा॒त्तं प्र॒त्यञ्च॑म॒र्चिषा॑ विध्य॒ मर्म॑न् ॥१७॥

भा०—हे (नृ-चक्षः) मनुष्यों के अध्यक्ष ! (यातु-धानः) प्रजाओं में अन्यों को पीड़ा देने वाला पुरुष (उस्रियायाः) गौ के (संवत्सरीणं) वर्ष भर में पैदा होने वाले (पयः) दूध को (मा अशीत्) मत खावे अर्थात् दण्डरूप में उसे गौ का दूध साल भर तक पीने को न मिले। और उन दण्डितों में से (यतमः पीयूषम् तितृप्सात्) जो कोई दूध पी लेवे, (तं प्रत्यंचम्) उस आज्ञा-भंगकारी, विपरीतगामी को (अर्चिषा) जलते अग्नि मय शस्त्र से (मर्मन् विध्य) मर्मस्थान पर वेध, ताड़ित कर।

विषं गवां यातुधानाः पिबन्त्वा वृश्च्यन्तामदितये दुरेवाः।
परैनान्देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्तात् ॥ १८ ॥

भा०—(यातु-धानाः) प्रजाओं को पीड़ा देने वाले, दुष्ट, अपराधी लोग (गवां विषं) गौओं का जल, मूत्र आदि (पिबन्तु) पान करें। और (अदितये दुरेवाः) अदिति, माता पिता, पुत्र आदि के प्रति बुरा व्यवहार करने वाले जन, (परा वृश्च्यन्ताम्) बहुत बुरी तरह से काटे जांय, पीड़ित किये जांय। (सविता देवः) प्रकाशमान सूर्य वा सूर्य का प्रकाश (एनान् परा ददातु) इन से परे रहे। उनको ऐसी अन्धेरी कोठड़ी में रखा जावे कि सूर्य का प्रकाश इन्हें न मिले। और वे (ओषधीनां भागं परा जयन्तु) ओषधियों का सेवनीय अंश भी प्राप्त न करें। वे रोगपीड़ित होकर कष्ट भोगें।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
अनु दह सहमूरान्क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ १९ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी सेनापते ! तू (यातु-धानान्) पीड़ादायक दुष्ट पुरुषों को (सनात् एव मृणसि) सदा से ही नाश करता है। (रक्षांसि) दुष्ट-राक्षस लोग (पृतनासु) संग्रामों में (त्वा न जिग्युः) तुझे न जीत पावें। (सह-मूरान् क्रव्यादः) मूल वा मारने वाले शस्त्रास्त्र

साधनों वा मारने वाले सैनिकों सहित क्रव्य अर्थात् मनुष्यों का मांस खाने वाले, वा प्रजाओं के अन्नों को खाजाने वाले, (ते) तेरे (दैव्यायाः) विजयशील सैनिकों के (हेत्याः) हननकारी अस्त्रों से (मा मुक्षत) मत छूटें ।

त्वं नो॑ अग्ने अध॒रादुद॑क्ता॒त्त्वं प॒श्चादु॒त र॑क्षा पु॒रस्ता॑त् ।
प्रति॒ ते ते॑ अ॒जरा॑स॒स्तपि॑ष्ठा अ॒घशं॑सं॒ शोशु॑चतो दहन्तु ॥२०॥८॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन् ! (त्वं) तू (नः) हमारी (अधरात्, उदक्तात्) नीचे से और ऊपर से और (त्वं) तू (पश्चात् उत पुरस्तात्) पीछे से और आगे से (रक्ष) रक्षा कर । (शोशुचतः ते) तेज से तेजस्वी तेरे (ते) वे नाना (अजरासः) बाण आदि फेंकने वाले वा कभी नष्ट न होने वाले, अन्यर्थं (तपिष्ठाः) खूब पीड़ादायक साधन, वा वीर पुरुष (अघशंसं) पाप से दूसरों की हिंसा करने वाले को (प्रति दहन्तु) प्रतिक्षण दग्ध करें, जलावें, निरन्तर पीड़ित करें । इत्यष्टमो वर्गः ॥

प॒श्चात्पु॒रस्ता॑दध॒रादुद॑क्ता॒त्क॒विः काव्ये॑न॒ परि॑ पाहि राजन् ।
सखे॒ सखा॑यम॒जरो॑ जरि॒म्णेऽग्ने॒ मर्ताँ॒ अम॑र्त्य॒स्त्वं नः॑ ॥ २१ ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन् ! विद्वन् ! हे (सखे) मित्र ! (अमर्त्यः त्वम्) किसी को न मारने वा किसी का प्राण नाश न करने हारा तू (नः मर्त्तान्) हम मनुष्यों की (पश्चात् पुरस्तात् अधरात् उदक्तात्) पीछे से, आगे से, नीचे से और उत्तर से (काव्येन पारिपाहि) विद्वान्, बुद्धिमानों के बनाये विधान आदि से सब प्रकार से रक्षा कर । हे (राजन्) राजन् ! तेजस्विन्! प्रजा के चित्त को प्रसन्न करने हारे ! तू (अजरः) न नाश होने वाला (अमर्त्यः) अमरणधर्मं होकर (सखायं परि पाहि) मित्र रूप प्रजावर्ग और मित्रवर्ग की रक्षा कर ।

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि ।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑ताम् ॥ २२॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ! हे तेजस्विन् ! नायक ! हे (सहस्य) शत्रुओं को पराजय करने हारे ! (वयं) हम लोग (पुरं) सबके पालक, (विप्रम्) परम मेधावी, (धृषद्-वर्णं) शत्रुओं को बलपूर्वक दबाने वाले स्वरूप या तेज को धारण करने वाले, (दिवे-दिवे) दिनों दिन (भंगुरावताम्) प्रजा पीड़कों के (हन्तारं) नाश करने वाले (त्वां) तुझको (परिधीमहि) सर्वत्र स्थापित करें और (त्वां परिधीमहि) तुझको सब ओर से परिधान करें, तेरी चारों ओर से हम रक्षा करें और तेरा आश्रय लें, तुझे केन्द्र में रख कर हम तेरे चारों ओर रहें ।

विषेण भङ्गुरावतः प्रति ष्म रक्षसो दह ।
अग्ने तिग्मेन शोचिषा तपुरग्राभिर्ऋष्टिभिः ॥ २३ ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन् ! अग्ने ! तू (रक्षसः) दुष्ट, विघ्नकारी पुरुषों को (तिग्मेन विषेण) तीखे विष से वा तीक्ष्ण, विशेष रूप से विविध प्रकार से जीवन का अन्त कर देने वाले (शोचिषा) तेज़ शस्त्र से (प्रति दह स्म) उसको भस्म कर, जला, पीड़ित कर । और (तपुः-अग्राभिः) तपे हुए अग्रभागों वाली (ऋष्टिभिः) संगीनों के सदृश शस्त्रों से (प्रति दह) भस्म कर ।

प्रत्यग्ने मिथुना दह यातुधाना किमीदिना ।
सं त्वा शिशामि जागृह्यदब्धं विप्र मन्मभिः ॥ २४ ॥

भा०—(अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् ! तू (मिथुना) जोड़े २ (यातु-धाना) अन्यों को पीड़ा देने वाले (किमीदिना) समय और दूसरे के किये कार्य वा पदार्थ और जीवन को कुछ न समझने वाले, गर्वीले स्त्री पुरुषों को (प्रति दह) खूब पीड़ित कर । (अदब्धं) अहिंसक (त्वा) तुझको हे (विप्र) मेधाविन् ! (मन्मभिः) उत्तम २ विचारों से (सं शिशामि) अच्छी प्रकार शासन करूं जिससे तू (जागृहि) सदा जाग, सावधान रहे ।

प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि विश्वतः प्रति ।
यातुधानस्य रक्षसो बलं वि रुज वीर्यम् ॥ २५ ॥ ९ ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन्! तू (रक्षसः हरः) दुष्ट पुरुष के तेज को (विश्वतः) सब प्रकार से अपने (हरसा) तेज से (प्रति शृणीहि) नष्ट कर । और (यातु-धानस्य) प्रजा पीड़क दुष्ट पुरुष के (बलं) बल को और (वीर्यम्) वीर्य, सामर्थ्य को (वि-रुज) विविध उपायों से नष्ट कर । इति नवमो वर्गः ॥

[८८]

ऋषिः मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—१—४, ७, १५, १९ विराट् त्रिष्टुप् । ५, ८ त्रिष्टुप् । ६, ९—१४, १६, १७ निचृत् त्रिष्टुप् । १८ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् ॥ एकोनविंशत्यृचं सूक्तम् ॥

हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधया पप्रथन्त ॥ १ ॥

भा०—(देवाः) सूर्य के चमकने और प्रकाश देने वाले किरणों और (स्वः-विदि) प्रकाश और ताप को प्रदान करने वाले, (दिवि-स्पृशि) भूमि और आकाश में व्यापने वाले (अग्नौ) अग्निमय सूर्य में (पान्तं) पान करने योग्य, (हविः) ग्रहण करने योग्य हवि के सदृश, (अजरं) अविनश्वर, (आहुतम्) प्रदान किये और (जुष्टम्) स्वयं ग्रहण किये जल तत्व को (तस्य) उसकी (भर्मणे) सर्वपोषणकारी (भुवनाय) पुनः व्यक्त रूप से प्रकट होने वाले (धर्मणे च)सबको धारण करने वाले जगत् के हितार्थ (स्वधया) स्व-शरीर वा चेतनादि की पोषणकारिणी 'स्वधा' अन्न वा जल रूप से (कं पप्रथन्त) विस्तृत करते हैं । इसी प्रकार (२) देव विद्वान् जीवगण वा प्राण गण जिस (पान्तं) पालक वा पीने खाने योग्य

अन्न को अपने जाठर अग्नि में आहुति करते हैं, उसके अग्नि के पोषणीय धारणीय देह की (स्वधया) स्वधा अर्थात् चेतना रूप से व्यक्त करते हैं। वे अन्न को खाकर उसी को चेतना रूप से देह में प्रकट करते हैं। (३) इसी प्रकार विद्वान् जन उस प्रभु रूप अग्नि में पालनीय प्रिय इस जीव को प्रभु में समर्पित करते हैं तो उसी सर्वपोषक, सर्व-धारक, सर्वोत्पादक प्रभु की स्वधा शक्ति से वे (कं पप्रथन्त) परम मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

गीर्णं भुवनं तमसापगूळ्हमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ ।
तस्य देवाः पृथिवी द्यौरुतापोऽरणयन्नोषधीः सख्ये अस्य॥२॥

भा०—(तमसा) तम से (भुवनं) यह समस्त संसार (गीर्णम्) अपने भीतर लील लिया जाता है तब वह (अप-गूढम्) अन्धकार में कहीं छुप जाता है। और (जाते अग्नौ) अग्निमय सूर्य के प्रकट होने पर (स्वः) वह सब प्रकट रूप में (आविः अभवत्) स्पष्ट हो जाता है। (२) इसी प्रकार यह समस्त जगत् 'तमस्', अव्यक्त प्रधान में लीन हो जाता है। और फिर अग्नि अर्थात् सर्वाग्रणी सत्त्वमय, तेजोमय हिरण्यगर्भ के प्रकट होने पर व्यक्त हो जाता है।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते
रात्र्यागमे ऽवशः पार्थ प्रभवन्त्यहरागमे ॥ गीता ॥

ब्रह्मा का एक दिन और एक रात्रि सहस्र २ युगों के होते हैं दिन के आने पर अव्यक्त से सब व्यक्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, रात्रि के आने पर सब फिर अव्यक्त में लीन हो जाते हैं। समस्त भूत-समूह, प्राणि-संसार

रात्रि के आने पर उसी में लीन होता है, और दिन के आने पर प्रकट होता है। यह घटना दिन रात्रि के दृष्टान्त से ही वर्णन की जाती है। (तस्य) उस जगत् के प्रभव और प्रलय करने वाले (अस्य) इस महान् 'अग्नि' रूप स्वप्रकाश प्रभु के (सख्ये) मित्रभाव में ही (देवाः) समस्त देव, (पृथिवी, द्यौः) पृथिवी और आकाश (उत आपः ओषधीः) और समस्त लोक और ओषधियां वा तेज-धारक सूर्य आदि (अरणयन्) रमण करते हैं, प्रसन्न होते हैं।

देवेभिर्न्विषितो यज्ञियेभिरग्निं स्तोषाण्यजरं बृहन्तम्।
यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम् ॥३॥

भा०—उसी महान् अग्नि का पुनः वर्णन करते हैं। मैं (यज्ञियेभिः) यज्ञ, देवपूजन और सत्संगति करने योग्य विद्वानों से (इषितः) प्रेरित होकर उस (अजरम्) अविनाशी, (बृहन्तम् अग्निम् स्तोषाणि) महान् अग्नि की स्तुति करूं (यः) जो (भानुना) अपने तेज से (पृथिवीम् उत द्याम्) इस पृथिवी और महान् आकाश को और (रोदसी अन्तरिक्षम्) पृथिवी, आकाश के बीच के अन्तरिक्ष को भी (आततान) विस्तृत करता है।

यो होतासीत्प्रथमो देवजुष्टो यं समाञ्जन्नाज्येना वृणानाः।
स पतत्रीत्वरं स्था जगद्यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः॥४॥

भा०—(यः) जो (प्रथमः) सब से प्रथम (देव-जुष्टः) सब विद्वानों से सेवित (होता आसीत्) समस्त जगत् को अपने भीतर लेने हारा है (यम्) जिसको (वृणानाः) वरण करने वाले भक्त जन (आज्येन सम् आञ्जन्) घृत से अग्नि के तुल्य प्रेम, भक्ति और सर्व प्रकाशक ज्ञानयुक्त वचन-विलास से अच्छी प्रकार प्रकट करते हैं (सः) वह ही (पतत्रि) उड़ने वाले, (इत्वरम्) गमनशील जंगम संसार को

और (स्थाः जगत्) स्थावर जगत् को और (श्वात्रम् जगत्) वेग से जाने वाले सूर्यादि लोकसमूह को (अकृणोत्) बनाता है। वही (अग्निः) अग्निवत् सर्वप्रणेता और (जात-वेदाः) समस्त पदार्थों में व्यापक है।

यज्जा॑तवेदो॒ भुव॑नस्य मू॒र्धन्नति॑ष्ठो अग्ने स॒ह रो॑च॒नेन॑। तं त्वा॑-हेम म॒तिभि॑र्गी॒र्भिरु॒क्थैः स य॒ज्ञियो॑ अभवो रोदसि॒प्राः॥५॥१०॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त उत्पन्न जगत् को व्यापने और जानने वाले! (अग्ने) हे स्वप्रकाश! सर्वप्रथम! प्रभो! (यत्) जब वा जो तू (रोचनेन) प्रकाश के समान (भुवनस्य मूर्धन्) समस्त उत्पन्न जगत् के शिर पर सूर्यवत् (अतिष्ठः) स्थिर, सर्वोपरि मूर्धन्य है। (तं त्वा) उस तुझ को हम (मतिभिः) बुद्धियों से, मननकारी चित्तों से, (गीर्भिः) वेदवाणियों से (उक्थैः) विद्वानों के व्याख्या-वचनों से (अहेम) हम प्राप्त हों, तेरा ज्ञान करें। (सः) वह तू (यज्ञियः) यज्ञों से पूजा योग्य और (रोदसि-प्राः अभवः) आकाश और भूमि सब को पूर्ण करने वाला, सर्वव्यापक (अभवः) है। इति दशमो वर्गः॥

मू॒र्धा भु॒वो भ॑वति॒ नक्त॑म॒ग्निस्तत॒ः सूर्यो॑ जायते प्रा॒तरु॒द्यन्। मा॒याम् तु य॒ज्ञिया॑नामे॒तामपो॒ यत्तूर्णि॒श्चर॑ति प्रजा॒नन्॥६॥

भा०—वह (अग्निः)प्रकट करने वाला, तेजोमय, जगत् का उत्पादक ही (नक्तम् भवति) 'नक्त' अर्थात् 'अव्यक्त' है। वह ही (भुवः) इस उत्पन्न जगत् का (मूर्धा भवति) मूर्धा, मस्तिष्क के समान सबका मूल आश्रय, प्रवर्त्तक और मूर्त्त जगत् को अपने में धारण करने वाला है। (ततः) उसी से (सूर्यः जायते) सूर्य उत्पन्न होता है जो कि (प्रातः उत् यन्) प्रातःकाल में, सृष्टि के आदि में उदित होता है। और (यत्) जो वह (तूर्णिः) अति वेगवान् होकर (प्रजानन्) सब कुछ जानता

हुआ ही (अपः चरति) समस्त कर्म करता है, जगत् को बनाता है, और (अपः) प्रकृति के समस्त परमाणुओं में व्यापता है, इसको ही (यज्ञियानां मायाम् अहेम) हम यज्ञ करने वाले विश्वस्रष्टाओं की माया अर्थात् जगत् निर्माण करने वाला शक्ति वा बुद्धि रूप से जानते हैं ।

दृशेन्यो यो महिना समिद्धोऽरोचत दिवियोनिर्विभावा ।
तस्मिन्नग्नौ सूक्तवाकेन देवा हविर्विश्व आजुहवुस्तनूपाः ॥७॥

भा०—(यः दृशेन्यः) जो दर्शनीय, सब के दर्शन करने योग्य, (महिना सम्-इद्धः) अपने महत्व या सामर्थ्य से प्रदीप्त, स्वयं प्रकाशित, (दिवि-योनिः) प्रकाश, पार्थिव शरीर और सूर्य वा तेजस्तत्व में आश्रित (वि-भावा) विशेष रूप से कान्तियुक्त होकर (अरोचत) सब को प्रिय मालूम होता है (तस्मिन् अग्नौ) उस अग्नि में (विश्वे देवाः) समस्त मनुष्य वा नाना कामनाशील, (तनू-पाः) देह की रक्षा करने वाले जीवगण (सूक्त-वाकेन) सुखपूर्वक कहने योग्य वचनों सहित (हविः आ जुहवुः) अन्न की आहुति करते हैं । वह अग्नि वैश्वानर है जो सबके उदर में स्थित है जिस में सब जीव प्रेमपूर्वक अन्न प्रदान करते हैं । भोजन करना अन्नाहुति है देखो मनु—

सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम् ।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥
(मनु० आ० २ । श्लो० ५२ परि०)

सूक्तवाकं प्रथममादिदग्निमादिद्धविरजनयन्त देवाः ।
स एषां यज्ञो अभवत्तनूपास्तं द्यौर्वेद तं पृथिवी तमापः ॥८॥

भा०—(देवाः) नाना कामनावान् जीवगण (प्रथमं सूक्तवाकम् अजनयन्त) सब से प्रथम सूक्तवाक, उत्तम वचन को प्रकट करते हैं । (आत् इत्) और अनन्तर (अग्निम् अजनयन्त) अग्नि को उत्पन्न करते

हैं, और उसके पश्चात् (हविः अजनयन्त) अन्न को उत्पन्न करते हैं। (सः) वह (एषां) इन जीवगण का (तनूपाः यज्ञः अभवत्) देह की रक्षा करने वाला यज्ञ ही होता है। (तं द्यौः वेद) उसको द्यौः अर्थात् सर्वोपरि मस्तक जानता है। (तं पृथिवी) उसको यह पृथिवीमय देह अनुभव करता है। (तम् आपः) उसको ये प्राणगण जानते हैं। अथवा उस यज्ञ को द्यौ, सूर्य, पृथिवी और आपः, जल (वेद) प्राप्त कराते हैं। (२) इसी प्रकार यज्ञ में प्रथम (इदं द्यावा पृथिवी ऋ०१।१८५।११॥) मन्त्र का पाठ होता है फिर अग्नि को मथ कर उत्पन्न किया जाता है और फिर आहुति योग्य हवि बनाता है। यह यज्ञ उस यज्ञ का अनुकरण है। जगत् में, भी प्रथम भोग्य पदार्थ की कामना उत्पन्न होती है, जो प्रिय सूक्तवाक है, फिर अग्नि अर्थात् बुभुक्षा तीव्र होती है, तब उसके शमन के लिये अन्न की साधना करते हैं।

यं दे॒वासो॒ऽज॑नयन्ता॒ग्निं यस्मि॒न्नाजु॑हवु॒र्भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
सो अ॒र्चिषा॑ पृथि॒वीं द्यामु॒तेमामृ॑जू॒यमा॑नो अतप॒न्महि॒त्वा ॥९॥

भा०—(यम् अग्निम्) जिस अग्नि को (देवाः अजनयन्त) देवगण रश्मियां वा प्राणगण प्रकट करते हैं, (यस्मिन्) जिसके आश्रय में (विश्वानि भुवनानि) समस्त भुवन, लोक वा प्राणगण (आजुहवुः) आहुति करते हैं। (सः) वह (अर्चिषा) अपनी कान्ति वा तेजोमय ज्वाला से (ऋजूयमानः) अति तृप्त होता हुआ, (इमाम् द्याम्, पृथिवीम्) इस द्यौ और पृथिवी रूप देह में शिर और समस्त देह को भी (महित्वा अतपत्) अपने महान् सामर्थ्य से तपाता, गरम रखता है।

स्तोमे॑न॒ हि दि॒वि दे॒वासो॑ अ॒ग्निमजी॑जन॒ञ्छक्ति॑भी रोदसि॒प्राम्।
तमू॑ अकृण्वन् त्रे॒धा भु॒वे कं स ओष॑धीः पचति वि॒श्वरू॑पाः
॥ १० ॥ ११ ॥

भा०—(स्तोमेन हि) स्तोम अर्थात् यथार्थ गुणों के वर्णन से ही (देवासः) विद्वान् पुरुषों ने उस (अग्निम् अजीजनन्) अग्नि को प्रकट किया। उसका स्वयं ज्ञान कर अन्यों को भी बतलाया जो अग्नि (शक्तिभिः रोदसि-प्राम्) नाना शक्तियों, बलों और सामर्थ्यों से भूमि और आकाश इन दोनों को पूर्ण कर रहा है। (तम् उ) उसको (कं) सुख कर (भुवे) होने के लिये (त्रेधा) तीन रूप में (अकृण्वन्) जाना। और (सः) वही (विश्व-रूपाः ओषधीः) नाना प्रकार की ओषधियों को (पचति) पकाता है। अग्नि के तीन रूप—१ पृथिवी में अग्नि, २ अन्तरिक्ष में, विद्युत् और ३ आकाश में सूर्य ऐसा शाकपूणि आचार्य का मत है। [यदस्य दिवि तृतीये तदसावादित्य इति हि ब्राह्मणम्।] यह जो आकाश में तीसरा है वह आदित्य है ऐसा ब्राह्मण में कहा है। यज्ञ में गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि है। देह में प्राणाग्नि, औदर्य अग्नि और वीर्याग्नि है। इत्येकादशो वर्गः॥

यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्।
यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन्भुवनानि विश्वा॥११॥

भा०—(यदा इत्) जब (यज्ञियासः देवाः) यज्ञशील, यज्ञ के साधक, (देवाः) विद्वान् जन (एनम्) इस (सूर्यम्) समस्त जगत् के प्रकाशक और प्रेरक सू[र्य] को (दिवि) आकाश में (आदितेयम्) 'आदितेय' अर्थात् अखण्ड शक्ति, प्रकृति के अधीन कभी अस्त न होने वाला, स्वतः अविनाशी रूप से (अदधुः) धारण करते हैं, जानते हैं, उसको प्राप्त करते हैं और (यदा) जब (चरिष्णू) सूर्य चन्द्र वा उषा और आदित्य के तुल्य दोनों (मिथुनौ) एक दूसरे का आश्रय देने वाले परस्परोपजीवी, परस्पर संगत (अभूताम्) होते हैं। (आत् इत्) अनन्तर ही वे (विश्वा भुवना) समस्त लोकों को (प्र अपश्यन्) देखते हैं।

(२) परमेश्वर महान् सूर्य है जो अदिति, प्रकृति का स्वामी होने से आदितेय है। अदिति अर्थात् प्रकृति और सूर्य, प्रभु जब दोनों परस्पर मिथुनीभाव में होकर जगत् को रचते हैं तभी नाना लोक बनते हैं।

विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।
आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन् ॥१२॥

भा०—(देवाः) विद्वानों ने (वैश्वानरम्) समस्त मनुष्यों के हितकारी (अग्निम्) अग्निरूप सूर्य को (विश्वस्मै भुवनाय) समस्त जगत् के लिये (अह्नाम् केतुम् अकृण्वन्) दिनों का बतलाने वाला वा बनाने वाला निश्चित किया, जाना। (यः) जो अग्नि (विभातीः) विशेष रूप से प्रकाश करने वाली, (उषसः ततान) उषाओं का निर्माण करता है, और (यन्) गमन करता हुआ (अर्चिषा) अपने तेज से (तमः अप-उ ऊर्णोति) अन्धकार को दूर करता है।

(२) परमेश्वर पक्ष में—कल्पों का प्रारम्भ काल 'उषा' है, और प्रलय कालिक घोर अज्ञात स्वरूप तम, अन्धकार है।

वैश्वानरं कवयो यज्ञियासोऽग्निं देवा अजनयन्नजुर्यम्।
नक्षत्रं प्रत्नममिनच्चरिष्णु यक्षस्याध्यक्षं तविषं बृहन्तम् ॥ १३ ॥

भा०—(वैश्वानरम्) समस्त मनुष्यों में विद्यमान (अग्निम्) ज्ञानवान् चेतनायुक्त 'अग्नि' को (यज्ञियासः) यज्ञ के उपासक (देवाः) ज्ञान के प्रकाशक (कवयः) विद्वान् लोग (अतनयन्) यज्ञाग्नि के तुल्य ही प्रकट करते हैं। वह (अजुर्यम्) कभी नाश न होने वाला, (नक्षत्रम्) सर्वव्यापक, (प्रत्नम्) अति पुरातन, (चरिष्णु) नाना कर्मों का फल भोगने वाला (यज्ञस्य अध्यक्षम्) इस यज्ञ रूप महान् संसार वा देह-प्रपञ्च का अध्यक्ष, शासक (बहन्तं तविषम्) महान् बलवान् है।

वैश्वानरं विश्वहा दीदिवासं मन्त्रैरग्निं कविमच्छा वदामः ।
यो महिम्ना परिबभूवोर्वी उतावस्तादुत देवः परस्तात् ॥ १४ ॥

भा०—(यः) जो प्रभु (महिम्ना) अपने महान् सामर्थ्य से (उर्वी परि बभूव) दोनों महान् लोकों को ढांपता, उनपर शासन करता है, जो (अवस्तात्) उनके नीचे उनका आश्रय रूप से है, (उत) और जो (देवः) सर्वप्रकाशक (परस्तात्) उनसे पर श्रेष्ठ, दूर तक भी व्यापक है, उस (वैश्वानरम्) समस्त मनुष्यों के हितकारी, सब के सञ्चालक (विश्वहा दीदिवांसम्) सब दिनों चमकने वाले (अग्निम्) सूर्य वा अग्नि के तुल्य स्वयं प्रकाश (कविम्) क्रान्तदर्शी, प्रभु को लक्ष्य करके हम (मन्त्रैः) मन्त्रों, नाना प्रकार के मनन संकल्पों से (अच्छ वदामः) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

द्वे स्रुती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥१५॥१२॥

भा०—(अहम्) मैं (द्वे स्रुती) दो मार्ग (अशृणवम्) श्रवण करता हूँ, गुरुजनों से उन दोनों मार्गों का उपदेश प्राप्त करता हूँ । एक (देवानाम्) देवों का मार्ग (उत) और दूसरा (मर्त्यानाम्) मर्त्य, अर्थात् मरणधर्मा प्राणियों का । एक मार्ग तो मोक्ष का है जिसमें प्रयाण करते हुए जीव फिर जन्म-मरण के चक्र में नहीं आता । दूसरा मार्ग मरणधर्मा प्राणियों का है जिसमें जीव आता और शरीरों को पुनः २ धारण करता है । (ताभ्याम्) उन दोनों मार्गों से (इदं) यह समस्त (विश्वम् एजत्) विश्व अर्थात् देह में प्रवेश करने वाला जीव-जगत् गति करता है । (यत्) जिस मार्ग से वह (पितरं मातरं च अन्तरा) पिता और माता इन दोनों के बीच पुत्र रूप से मैथुन-धर्म से (एति) उत्पन्न होता है ।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्त्तते पुनः ॥
नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
गीता अ० ८ । २६, २७ ॥

इसका विस्तृत वर्णन प्रश्न और छान्दोग्य उपनिषदों में किया गया है ।
इति द्वादशो वर्गः ॥

द्वे स॒मीची॑ बिभृतश्चर॑न्तं शी॒र्ष॒तो जा॒तं मन॑सा॒ विमृ॑ष्टम् ।
स प्र॒त्यङ् विश्वा॒भुव॑नानि तस्थावप्र॑युच्छन्त॒रणि॒र्भ्राज॑मानः॥१६॥

भा०—(समीची द्वे) परस्पर संगत होकर स्त्री पुरुष जिस प्रकार बालक को (बिभृतः) गर्भ में धारण करते हैं और वे दोनों (शीर्षतः जातम्) शिर के बल उत्पन्न हुए और (मनसा विमृष्टम्) मनोभावना द्वारा विशेष रूप से चिन्तित, (चरन्तम्) विचरते बालक को (समीची बिभृतः) मिलकर माता पिता दोनों पालन-पोषण करते हैं । उसी प्रकार (समीची) उत्तम रीति से सुंगत आकाश और पृथिवी दोनों उस (चरन्तम्) व्यापक महान् आत्मा को (बिभृतः) धारण करते हैं जो (शीर्षतः जातम्) शिरोभाग में (जातम्) प्रकट होता (मनसा विमृष्टम्) मनन, चिन्तन द्वारा विशेष रूप से विवेचन करने योग्य है । (सः) वह (प्रत्यङ्) प्रत्येक पदार्थ में प्रकाशित होने वाला, प्रत्यग् आत्मतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व (तरणिः) सब को सब प्रकार के दुःखों से तारने वाला, (भ्राजमानः) सर्वत्र प्रकाशमान देदीप्यमान (अप्रयुच्छन्) प्रमाद रहित होकर (विश्वा भुवना) समस्त लोकों को (तस्थौ) अधिष्ठाता रूप से विराजता है ।

यत्रा॒ वदे॑ते॒ अव॑रः॒ पर॑श्च यज्ञ॒न्यौः कत॒रो नौ॒ वि वे॑द ।
आ शे॑कु॒रित्स॑ध॒मादं॒ सखा॑यो॒ नक्ष॑न्त य॒ज्ञं क इ॒दं वि वो॑चत् १७

भा०—(यत्र) जिस परम, आत्मा के विषय में (वि वदेते) वादी और

प्रतिवादी विवाद करते हैं कि वह (अवरः) इस लोक में भी विद्यमान और (परः च) इस लोक से परे है, (नौ) दो पक्षों को स्थापन करने वालों हम दोनों में से (कतरः) कौनसा वादी है जो उन (यज्ञन्योः) महान् यज्ञ का संचालन करने वाले तत्त्वों के विषय में (विवेद) विशेष रूप से जानता है। (सखायः) समस्त रूप से आख्यान-प्रवचन करने वाले मित्रवत् आचार्य, विद्वान् जन (यज्ञम् नक्षन्त) जो उस सर्वपूज्य प्रभु तक बुद्धि द्वारा पहुंचते, उसकी साधना और साक्षात् करते हैं वे ही (सधमादम्) सहयोग से आनन्दकारी उस प्रभु को (आ शेकुः) प्राप्त कर सकते और बतला सकते, उस तक पहुंचते हैं। (इदम्) इस तत्त्व को (कः वि वोचत्) अन्य कौन विशेष रूप से बतला सकता है।

कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम् १८

भा०—(कति अग्नयः) अग्नि कितने हैं, कितने प्रकार के हैं, कौन २ से पदार्थ और कौन २ से जन 'अग्नि' कहाने योग्य हैं, इसी प्रकार (कति सूर्यासः) सूर्य कितने हैं, (उषासः कति) उषाएं कितनी हैं, (कति उ स्वित् आपः) और कितने प्रकार के 'आपः' हैं। हे (पितरः) पालक गुरुजनो! मैं (वः उपस्पिजम्) आप लोगों के प्रति स्पर्धा हीन विचार से यह प्रश्न (न वदामि) आप से नहीं कहता हूं। प्रत्युत (विद्मने) ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही मैं हे (कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वान् बुद्धिमान् जनों! (वः पृच्छामि) आप लोगों से यह प्रश्न (पृच्छामि) पूछ रहा हूं। इस प्रश्न का उत्तर बालखिल्य सूक्त (ऋ० ८। ५८। २॥) में दिया है,—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥ इति॥

'उपस्पिजं' इत्यस्य पदपाठे 'उप-स्फिजम्' इति रूपम् । स्फिक् शब्दो जंघैकदेशवचनः । उपस्फिजम् जंघायाः समीपम् । उपस्फिजः तत्-सदृशो वेगवान् सत्-ज्ञानमार्गे विद्यास्पर्धालुरिति भावः ॥ उपस्फिजमिति स्पर्धायुक्तं वचनमुच्यते इति सायणः ॥

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्योः३ वसते मातरिश्वः ।
तावद्दधात्युप यज्ञमायन्ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन् ॥१९॥१३॥

भा—(यावत्-मात्रम्) जब तक, जितने काल तक, (उषसः प्रतीकम्) उषा काल का प्रतीति कराने वाले तेज को, (न) मुख को वस्त्र के तुल्य (सुपर्ण्यः वसते) रात्रियें आच्छादित किये रहती हैं । हे (मातरिश्वः) अन्तरिक्षवत् आकाश, हृदय देश में विचरने हारे ! वा मातृ-तुल्य जगत्-प्रभु के आगे वेग से बढ़ने हारे साधक ! (तावत्) तबतक (अवरः ब्राह्मणः) श्रेष्ठ, एक वेदज्ञ ब्राह्मण विद्वान् (होतुः) होता रूप अग्नि के समीप (निषीदन्) बैठकर (आयन्) समीप आता हुआ (यज्ञम् उप दधाति) यज्ञ की उपासना करता है । यज्ञ में—होता रूप स्वयं दी हुई आहुति को लेने वाला अग्नि है, उसके समीप यज्ञकर्ता बैठ कर यज्ञ करने के पूर्व उषा के प्रकट होने तक केवल विना आहुति वैश्वानरीय सूक्त का जप करता है । वह यज्ञ की उपासना करता है । इसी प्रकार अध्यात्म में—विशोका ज्योतिष्मती 'उषा' है उसके प्रकाश को जबतक लोक-सुख की वासना रूप रात्रियां या व्युत्थान-वृत्तियां घेरे रहती हैं तब तक ब्रह्म का उपासक पुरुष उस सर्वसुखदाता प्रभु का (अवरः) दास वा शिष्य, या छोटे भाई के तुल्य होकर 'यज्ञ', सर्वप्रद, प्रभु के समीप आता हुआ उसका (उप दधाति) उपधान, उपासना-प्रणि-धान करता है । ईश्वरप्रणिधानाद्वा । पतञ्जलि ।

[८६]

ऋषिर्रेणुः ॥ देवता—१—४, ६—१८ इन्द्रः । ५ इन्द्रासोमौ ॥ छन्दः—१, ४, ६, ७, ११, १२, १५, १८ त्रिष्टुप् । २ आर्ची त्रिष्टुप् । ३, ५, ९, १०, १४, १६, १७ निचृत् त्रिष्टुप् । ८ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । १३ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् ॥ अष्टादशर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रं स्तवा नृतमं यस्य मह्ना विबबाधे रोचना वि ज्मो अन्तान् ।
आ यः पप्रौ चर्षणीधृद्वरोभिः प्र सिन्धुभ्यो रिरिचानो महित्वा १

भा०—(यस्य मह्ना) जो अपने महान् सामर्थ्य से (रोचना) चमकने वाले, तेजस्वी, सूर्य, चन्द्र, तारों के तुल्य अनेक तेजस्वियों को (वि-बबाधे) बाधित करता, पीड़ित करता, अपने अधीन करता है, और जो अपने महान् सामर्थ्य से (ज्मः अन्तान् वि) पृथिवी के प्रान्त भागों को भी विशेष रूप से पीड़ित करता, उनको प्रकाश, ताप आदि द्वारा शोषित करता तथा आंधी आदि चलाता है। (यः चर्षणी-धृत्) जो मनुष्यों को वा अध्यक्षों को धारण करने वाला, सर्वद्रष्टा सर्वाध्यक्ष सम्राट् के तुल्य होकर जगत् को (वरोभिः) नाना अन्धकार नाशक तेजों से (आ पप्रौ) पूर्ण करता है। और जो (महित्वा) अपने महत्व परिमाण वा गुणों और शक्ति सामर्थ्यों के महान् होने से (सिन्धुभ्यः प्र रिरिचानः) समुद्रों और महान् आकाशों से भी बड़ा है (नृ-तमं) नायकों में सर्वश्रेष्ठ, सर्वपुरुषोत्तम उस (इन्द्रं) सर्वजगत् के द्रष्टा, सर्वप्रकाशक परमेश्वर की तू (स्तव) स्तुति कर। (२) अध्यात्म में—नेता और प्राणों में सर्वश्रेष्ठ 'आत्मा' 'इन्द्र' है। उसकी इन्द्रिय 'रोचन' हैं। पार्थिव शरीर 'ज्म' है। ज्ञानेन्द्रिय 'चर्षणी' हैं। इच्छा शक्तियां, 'वरः' हैं और देहगत नाड़ियां 'सिन्धु' हैं।

स सूर्यः पर्युरू वरांस्येन्द्रो ववृत्याद्रथ्येव चक्रा ।
अतिष्ठन्तमपस्यं१न सर्गं कृष्णा तमांसि त्विष्या जघान ॥२॥

भा०—जिस प्रकार शिल्पी, वा शिल्पकला का वेत्ता विद्वान् (रथ्या इव चक्रा) रथ के वेग से चलने वाले चक्रों को चलाता है, उसी प्रकार (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी, वा (सूर्यः = सुवीर्यः) उत्तम बलशाली (इन्द्रः) इस समस्त जगत् को धारण करने वाला परमेश्वर (उरु वरांसि) महान्, जगह २ बटे हुए तेजोमय अनेकों सूर्यों वा लोकों को (परि ववृत्यात्) चला रहा है। और (अतिष्ठन्तम्) कभी न ठहरने वाले, (अपस्यम् न) मानो सदा कर्म करने वाले, (सर्गम्) जल के समान सदा गतिशील, बनने बिगड़ने वाले सृष्टिचक्र को भी (सः सूर्यः) वही सूर्यवत् महाशक्तिशाली प्रभु (परि ववृत्यात्) सब प्रकार से चलाता है। वही सूर्यतुल्य तेजोमय प्रभु उस (सर्गम् परि) इस जगत् के चारों ओर फैले (कृष्णा तमांसि) काले, कष्टदायी अन्धकारों को (त्विष्या) तीक्ष्ण कान्ति से नष्ट करता है।

समानमस्मा अनपावृदर्च क्ष्मया दिवो असमं ब्रह्म नव्यम् ।
वि यः पृष्ठेव जनिमान्यर्य इन्द्रश्चिकाय न सखायमीषे॥३॥

भा०—हे विद्वन्! तू (अस्मै) इस महान् प्रभु की (अर्च) उपासना पूजा कर। जो (समानम्) सर्वत्र समान, निष्पक्षपात, एकरस है। (अनप-वृत्) जो अपवृत् अर्थात् दूर विद्यमान नहीं, प्रत्युत सब के पास है, अथवा (अनप-वृत्) सबको प्रकट न होकर गूढ़ है। जो (क्ष्मया असमं) इस पृथ्वी के समान न स्थूल, परिमित होकर (दिवः असमं) आकाश वा सूर्य से भी कहीं (ब्रह्म) महान् होने से 'ब्रह्म' है। (यः) जो (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, तेजोमय, (अर्यः) सबका स्वामी होकर (जनिमानि) उत्पन्न होने वाले समस्त जीव प्राणियों को (पृष्ठा इव) पालनीय करके (विचिकाय)

जानता है और (सखायम्) अपने मित्र भक्त जीव को (न ईषे) कभी उद्विग्न नहीं करता, उसे परे नहीं धकेलता। प्रत्युत उसे अपनी शरण में रखता है। नंगा नहीं करता, प्रत्युत बचा कर रखता है। ईष उञ्छे। उञ्छनं विवासनम्।

इन्द्रा॑य॒ गिरो॒ अनि॑शितसर्गा अ॒पः प्रेर॑यं॒ सग॑रस्य बु॒ध्नात्।
यो अक्षे॑णेव च॒क्रिया॒ शची॑भि॒र्विष्व॑क्त॒स्तम्भ॑ पृथि॒वीमु॒त द्याम् ४

भा०—जो परमेश्वर (सगरस्य बुध्नात्) महान् आकाश के प्रदेश से (अनिशित-सर्गाः) अनल्प सृष्टि रचने वाले (अपः) जलों के तुल्य प्रकृति के परमाणुओं को और जीवों को वा लोकों को (प्रेरयम्) ऐसे प्रेरित करता है, जैसे (अक्षेण इव चक्रिया) अक्ष-दण्ड के बल से चक्र को चलाया जाता है। और (यः) जो (शचीभिः) अपनी अनेक शक्तियों से (पृथिवीम् विश्वक् तस्तम्भ) पृथिवी को सब ओर से थामे है (उत यः द्यां तस्तम्भ) और जो आकाश वा सूर्य को सब प्रकार से थामे है।

आपा॑न्तमन्युस्तृ॒पल॑प्रभर्मा॒ धुनि॒ः शिमी॑वा॒ञ्छरु॑माँ ऋजी॒षी।
सोमो॒ विश्वा॑न्यत॒सा वना॑नि॒ नार्वागिन्द्रं॑ प्रति॒माना॑नि देभुः ॥५॥१४॥

भा०—(आपान्त-मन्युः) जो अपने ज्ञान वा क्रोध वा तेज को चारों ओर विस्तृत करता है, (तृपल-प्रभर्मा) जो बड़े वेग से दुष्ट शत्रुओं का प्रहार करता है, (धुनिः) जो सब को कंपाता है, वह वायुवत् बलवान्, (शिमीवान्) अनेक कर्म करता है, जो (शरुमान्) नाना हिंसाकारी साधनों से सम्पन्न है (ऋजीषी) जो सब प्रजाओं को सरल, धर्म के सत्य के मार्ग से प्रेरित करता है, (सोमः) जो सबका संचालक, सर्वोत्पादक है। उस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवन्, तेजस्वी, दीप्तिमान् इन्द्र परमेश्वर को (विश्वानि) समस्त (प्रतिमानानि) मापक साधन भी (न देभुः) उसी प्रकार अपने से कम नहीं कर सकते जैसे (अतसा वनानि न इन्द्रम्)

समस्त सूखे काष्ठ और जंगल भी तेजस्वी विद्युत् वा अग्नि को नष्ट नहीं कर सकते। भड़कती आग वा बिजली के आगे चाहे जितने लक्कड़ वा जंगल के वृक्ष हों वह उनको जला ही डालता है, एक मिनट में नष्ट कर देता है उसी प्रकार ये सब प्रतिमान, अर्थात् मपे हुए सीमित पदार्थ उस महान् असीम प्रभु का मुकाबला नहीं कर सकते। वे अल्प हैं। इति चतुर्दशो वर्गः॥

न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः।
यदस्य मन्युरधिनीयमानः शृणाति वीळु रुजति स्थिराणि॥ ६॥

भा०—(द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी (यस्य प्रतिमानं न अक्षास्ताम्) जिसके बराबर माप को नहीं प्राप्त करते (न धन्व) न जल (न अन्तरिक्षम्) न अन्तरिक्ष, (न अद्रयः) न पर्वत वा मेघ, वह (सोमः) समस्त जगत् का शासक और उत्पादक है। (यस्य मन्युः) जिसका ज्ञान, शासन बल, (अधिनीयमानः) सर्वोपरि विराजमान होकर (वीडु शृणाति) बड़े २ बलशालियों को नष्ट करता है और (स्थिराणि रुजति) स्थिरों को भी तोड़ डालता है।

जघान वृत्रं स्वधितिर्वनेव रुरोज पुरो अरदन्न सिन्धून्।
बिभेद गिरिं नवमिन्न कुम्भमा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः॥७॥

भा०—(स्वधितिः वना इव) कुठार जिस प्रकार वनों की लकड़ियों को काट गिराता है, उसी प्रकार (इन्द्रः) तेजस्वी, ऐश्वर्यवान् अध्यात्म सम्पदाओं से सम्पन्न प्रभु वा आत्मा, (वृत्रम् जघान) आवरणकारी विघ्न वा अज्ञान का नाश करता है। (पुरः रुरोज) राजा जिस प्रकार शत्रु की नगरियों को तोड़ डालता है, उसी प्रकार ज्ञान और तप से ब्रह्म-तत्त्व का दर्शन करने वाला 'इन्द्र' (पुरः रुरोज) देह की नगरियों को भंग करता, उसका विविध प्रकार से छेदन भेदन करता है। और (सिन्धून् न अरदत्) जिस प्रकार कोई शिल्पी नाना नहरों को बनाता और भूतल पर प्रवाहित करता है

उसी प्रकार प्रभु वा आत्मा देह में अनेक रस-वाहिनी नाड़ियों को बनाता है और चलाता है। और (नवम् इत् न कुम्भम्) जिस प्रकार शिल्पी नये बने घड़े पर सूची यन्त्र से अनेक चित्र विचित्र रेखाएं खोदता है उसी प्रकार प्रभु इस पृथिवी के गोले पर अनेक नदियों को खोद डालता है। और (स्वयुग्भिः) अपने से संयोग करने वाले भक्त, साधक द्रष्टाओं द्वारा (इन्द्रः गाः आ अकृणुत) वह सर्वैश्वर्य प्रभु अनेक वाणियों को उसी प्रकार प्रकट करता है जिस प्रकार विद्युत् मेघ में से अनेक जल-धाराओं को प्रकट करता है।

त्वं ह त्यदृणया इन्द्र धीरोऽसिर्न पर्व वृजिना शृणासि।

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! जल अन्नादि ऐश्वर्यों के देने वाले प्रभो! (त्वं ह) तू निश्चय से (त्यत्) वह परम (ऋणयाः) धनों का देने वाला है। (असिः पर्व न) जिस प्रकार तलवार शरीर के पोरु २ को काट डालता है उसी प्रकार तू (वृजिना शृणासि) अनेक पापों को काट डालता है। शेष आधी ऋचा का अगले मन्त्र से सम्बन्ध है अतः उसका व्याख्यान भी अगली ऋचा के साथ करते हैं।

प्र ये मित्रस्य वरुणस्य धाम युजं न जना मिनन्ति मित्रम् ॥८॥
प्र ये मित्रं प्रार्यमणं दुरेवाः प्र संगिरः प्र वरुणं मिनन्ति।
न्य१मित्रेषु वधमिन्द्र तुम्रं वृषन्वृषाणमरुषं शिशीहि ॥ ६ ॥

भा०—(ये) जो (मित्रस्य धाम मिनन्ति) स्नेह करने वाले, प्राणों के रक्षक के पद वा दिये तेज का नाश करते हैं (ये वरुणस्य धाम मिनन्ति) और जो सर्वदुःखवारक प्रभु के दिये तेज का नाश करते हैं, (ये जनाः युजं मित्रं प्र मिनन्ति) जो मनुष्य अपने सहयोगी स्नेही की हिंसा करते हैं, और (ये) जो (दुः-एवाः) बुरे मार्ग से जाने वाले, (मित्रं प्र मिनन्ति) स्नेही का नाश करते हैं, और (ये अर्यमाणं प्र) न्यायकरी, राजा का नाश करते हैं, (ये संगिरः प्र मिनन्ति) जो एक समान वाणी

बोलने वाले समभाषा-भाषी का नाश करते हैं, (ये वरुणं मिनन्ति) जो दुःख-वारक श्रेष्ठ का नाश करते हैं इतने प्रकार के (अमित्रेषु) शत्रुओं के निमित्त हे (वृषन्) बल-शालिन् ! तू (तुम्रम्) अति वेगवान्, (वृषाणम्) बलशाली, (अरुषम्) चमचमाते, (वधम्) वधकारी दण्ड को सदा (शिशीहि) तीक्ष्ण रख ।

इन्द्रो॑ दि॒व इन्द्र॑ ईशे पृथि॒व्या इन्द्रो॑ अ॒पामिन्द्र॒ इत्पर्व॑तानाम् ।
इन्द्रो॑ वृ॒धामिन्द्र॒ इन्मेधि॑राणा॒मिन्द्रः॒ क्षेमे॒ योगे॒ हव्य॒ इन्द्रः॑ ॥१०॥१५॥

भा०—(इन्द्रः दिवः ईशे) वह परमेश्वर आकाश का स्वामी है, (पृथिव्याः ईशे) पृथिवी का स्वामी है । (इन्द्रः अपाम् ईशे) इन्द्र प्रभु समस्त जलों प्राणों और लोकों का स्वामी है। (इन्द्रः पर्वतानाम् इत् ईशे) वह परमेश्वर पर्वतों का भी स्वामी है । (इन्द्रः वृधाम् ईशे) इन्द्र बढ़तों, बढ़ाने वाले और वृद्धों का भी स्वामी है, (इन्द्रः मेधिराणाम् इत् ईशे) इन्द्र बड़े २ बुद्धिमानों का भी स्वामी है । (इन्द्रः क्षेमे हव्यः) वह इन्द्र क्षेम, अर्थात् प्राप्तव्य धन के रक्षा वा कुशल के लिये भी स्तुतियोग्य है और (इन्द्रः योगे हव्यः) वही प्रभु परमेश्वर्यवान् स्वामी योग अर्थात् अप्राप्त धन के प्राप्त करने और आत्म-समाधि के निमित्त भी प्रार्थना करने योग्य है । इति पञ्चदशो वर्गः ॥

प्राक्तुभ्य॒ इन्द्रः॒ प्र वृ॒धो अह॑भ्यः॒ प्रान्तरि॑क्षात्प्र स॑मु॒द्रस्य॑ धा॒सेः । प्र वात॑स्य॒ प्रथ॑सः॒ प्रज्मो अन्ता॒त्प्र सिन्धु॑भ्यो रिरिचे॒ प्र क्षि॒तिभ्यः॑ ११

भा०—वह (इन्द्रः अक्तुभ्यः प्रवृधः) परमेश्वर रात्रियों से भी बड़ा हुआ है, वह (अहभ्यः प्रवृधः) दिनों से भी बहुत बड़ा है, (अन्तरिक्षात् प्र) वह अन्तरिक्ष से भी बड़ा है, (समुद्रस्य धासेः प्र) समुद्र को अपने में धारण करने वाले विशाल स्थान से भी अधिक बड़ा है । (वातस्य प्रथसः प्र) वायु के विस्तृत स्थान से भी अधिक बड़ा है, वह (ज्मः अन्तात् प्र)

भूमि के अन्त, पर्यन्त भाग से भी बड़ा है, वह (सिन्धुभ्यः प्र रिरिचे) नदियों से भी महान् और (क्षितिभ्यः प्र रिरिचे) मनुष्यों, जीवों से भी कहीं महान् है।

प्र शोशुचत्या उषसो न केतुरसिन्वा ते वर्ततामिन्द्र हेतिः।
अश्मेव विध्य दिव आ सृजानस्तपिष्ठेन हेषसा द्रोघमित्रान् ॥१२॥

भा०—हे (इन्द्र) शत्रुओं का नाश करने वाले (ते) तेरा (हेतिः) शत्रुहनन करने का साधन-शस्त्र (असिन्वा) कहीं न बद्ध, खुला, दूर तक जाने वाला हो। उसकी गति कहीं रुकी न रहे। वह (शोशुचत्याः उषसः) चमकने वाली उषा के (केतुः न) रश्मि के तुल्य दूर तक प्रकाश करने वाला हो। (दिवः आ सृजानः अश्मा) आकाश से प्रकट होने वाली बिजली की तरह तू (आ सृजानः) चारों ओर शस्त्रास्त्रों का विसर्जन करता हुआ (तपिष्ठेन) अति तापकारी कष्टदायक, (हेषसा) भयंकर गड़गड़ाहट का शब्द करने वाले अस्त्र से (द्रोघ-मित्रान्) मित्र का द्रोह करने वाले दुष्ट जनों को (विध्य) ताड़ना कर उनको उससे दण्डित कर।

अन्वह मासा अन्विद्वनान्यन्वोषधीरनु पर्वतासः।
अन्विन्द्रं रोदसी वावशाने अन्वापो अजिहत जायमानम् ॥१३॥

भा०—(इन्द्रम् अनु) इन्द्र अर्थात् जल और प्रकाश के देने वाले सूर्य के अनुकूल (मासाः अजिहत) मास भी गति करते हैं, अर्थात् चन्द्र की नाना कलाओं और उनसे बने मास-विभाग सूर्य के अनुकूल बनते हैं अर्थात् चन्द्र के जितने भाग पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं तदनुसार उसकी कलाएं दीखती। (वनानि इत् इन्द्रम् अजिहत) वन, तेज, आकाश, और जलों की वृष्टि आदि भी सूर्य के अनुसार ही होती है। और (ओषधीः इन्द्रम् अनु अजिहत) ओषधियां भी सूर्य का अनुसरण करती हैं। (पर्वतासः अनु अजिहत) मेघ भी सूर्य का अनुसरण करते हैं। (वावशाने रोदसी)

नाना कान्तियों से चमकने वाले, आकाश और भूमि दोनों भी (इन्द्रम् अनु अजिहताम्) सूर्य का अनुगमन करती हैं। (जायमानम् इन्द्रम् अनु आपः अजिहत) प्रकट होते हुए सूर्य के अनुसार ही 'आपः'-प्राणगण भी अनुसरण कहते हैं। इसी प्रकार तेजस्वी के पीछे सब कोई चलते हैं।

कर्हि स्वित्सा त इन्द्र चेत्यासदघस्य यद्भिनदो रक्ष एषत्।
मित्रक्रुवो यच्छसने न गावः पृथिव्या आपृगमुया शयन्ते॥१४॥

भा०—हे (इन्द्र) तेजस्वी पुरुष! हे स्वामिन्! शत्रुविजयिन्! (ते) तेरी प्रसिद्ध (अघस्य चेत्या) पापी का नाश कर देने वाली शक्ति (कर्हि स्वित्) कब (असत्) प्रकट होगी? (यत्) जिससे तू (रक्षः भिनदः) दुष्ट शत्रुओं को भेदे, (मित्र-क्रुवः) मित्रों पर क्रूरकर्म करने वालों को (आ ईषत्) सब ओर से भयभीत करे (यत्) जिससे (शसने गावः नः) हत्यास्थान में पशुओं के तुल्य वे दुष्ट जन, भी (आपृक्) मर कर (अमुया पृथिव्याः) इस पृथिवी के ऊपर (शयन्ते) पड़ें।

शत्रूयन्तो अभि ये नस्ततस्रे महि व्राधन्त ओगणास इन्द्र।
अन्धेनामित्रास्तमसा सचन्तां सुज्योतिषो अक्तवस्ताँ अभि ष्युः॥१५

भा०—(ये) जो (शत्रूयन्तः) शत्रुओं के समान आचरण करने वाले (ओगणासः) संघ बनाये हुए, (महि व्राधन्तः) हमें बहुत २ पीड़ित करते हुए, (नः अभि ततस्रे) सब ओर गिराते हैं, हे (इन्द्र) शत्रुओं के नाश करने हारे! वे (अमित्राः) स्नेहरहित शत्रुगण, (तमसा अन्धेन) अन्धा कर देने वाले तम, अन्धकार से (सचन्ताम्) युक्त हों, और (तान्) उनको (सु-ज्योतिषः) उत्तम ज्योति वाले, सुप्रकाशित दिन और (अक्तवः) रात्रिगण (अभि स्युः) पराजित करें। अथवा (सु-ज्योतिषः) प्रकाशयुक्त सुज्ञानी और (अक्तवः) स्नेही जन (तान् अभिस्युः) उनको पराजित करें, वे उनके विपरीत हों।

पुरूणि हि त्वा सवना जनानां ब्रह्माणि मन्दन्गृणतामृषीणाम् ।
इमामाघोषन्नवसा सहूतिं तिरो विश्वाँ अर्चतो याह्यर्वाङ् ॥१६॥

भा०— हे प्रभो ! (त्वा) तुझे (जनानां) मनुष्यों के (पुरूणि हि सवनानि) अनेक अनेक उपासना, यज्ञादि और (गृणतां ऋषीणां) स्तुति करने वाले अनेकों मन्त्रार्थ द्रष्टाओं के (पुरूणि ब्रह्माणि) अनेकानेक मन्त्रगण (त्वा मन्दन्) तुझे प्रसन्न करते, तेरी स्तुति करते हैं। वे (इमाम्) इस (स-हूतिम्) एक साथ मिलकर करने योग्य प्रार्थना को भी (अवसा) ज्ञान और प्रेम से (त्वा आघोषन्) तेरी ही स्तुति प्रकट करते हैं। हे प्रभो ! (विश्वान् अर्चतः) अर्चना, उपासना और स्तुति करने वाले समस्त जीवों को (अर्वाङ्) अति समीप, साक्षात् (अवसा) प्रेम, रक्षा, दया, प्रकाश, ज्ञानादि सहित (तिरः याहि) प्राप्त हो ॥ तिरः सत इति प्राप्तस्येति निरु० ॥

एवा ते वयमिन्द्र भुञ्जतीनां विद्याम सुमतीनां नवानाम् ।
विद्याम वस्तोरवसा गृणन्तो विश्वामित्रा उत त इन्द्र नूनम् ॥१७॥

भा०—(एव) इस प्रकार हे (इन्द्र) ऐश्वर्यप्रद ! हे शत्रुनाशक ! (वयम्) हम लोग (ते) तेरी (भुंजतीनाम्) रक्षा करने वाली (नवानां) नई से नई, अति सुन्दर, स्तुति योग्य (सु-मतीनाम्) उत्तम २ बुद्धियों, अनुग्रह-व्यवस्थाओं, कृपाओं और योजनाओं को (विद्याम) सदा जानें, प्राप्त किया करें। हम (वस्तोः) दिन रात, (नूनम्) अवश्य (विश्वामित्राः) सब के स्नेही होकर (अवसा) ज्ञान और प्रेम से (ते) तेरी ही (गृणन्तः) स्तुति करते हुए (ते सु-मतीनाम्) तेरी उत्तम २ बुद्धियों और ज्ञान-वाणियों का भी (विद्याम) लाभ करें।

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् १८॥१६॥

भा०—हम लोग उस (मघवानम्) समस्त सुखदायक, पवित्र ऐश्वर्यों के स्वामी, (शुनं) महान् सुखस्वरूप, (इन्द्रम्) समस्त ऐश्वर्य के देने वाले, (वाज-सातौ नृ-तमम्) ऐश्वर्यों और ज्ञानों के देने में सब से श्रेष्ठ, नेता, (ऊतये) रक्षा के कार्य में (उग्रम्) सब से अधिक बलवान्, (शृण्वन्तं) भक्तों की सुनने वाले, (समत्सु) युद्धों में (वृत्राणि घ्नन्तम्) समस्त विघ्नों को नाश करने वाले और (धनानां सं-जितम्) समस्त ऐश्वर्यों का विजय करने वाले, उस प्रभु के (अस्मिन् भरे) इस समस्त पालनीय विश्व में, युद्ध में राजा के तुल्य सर्वोपरि जानकर (हुवेम) पुकारते हैं । इति षोडशो वर्गः ॥

[९०]

ऋषिर्नारायणः ॥ पुरुषो देवता ॥ छन्दः—१—३, ७, १०, १२, निचृदनुष्टुप् । ४—६, ९, १४, १५ अनुष्टुप् । ८ ११ विराडनुष्टुप् । १६ विराट् त्रिष्टुप् ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

भा०—पुरुष-सूक्त । (पुरुषः) पुर में व्यापक शक्ति वाले राजा के तुल्य समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक परम पुरुष परमात्मा (सहस्र-शीर्षाः) हजारों शिरों वाला है । (सः) वह (भूमिं) सब जगत् के उत्पादक, सर्वाश्रय प्रकृति को (विश्वतः वृत्वा) सब ओर से, सब प्रकार से वरण कर, व्याप कर (दश-अंगुलम् अति अतिष्ठत्) दश अंगुल अतिक्रमण करके विराजता है । अंगुल यह इन्द्रिय वा देह का उपलक्षण है, अर्थात् वह दशों इन्द्रियों के भोग और कर्म के क्षेत्र से बाहर है । वह न कर्म-बन्धन में बद्ध रहता है और न मन का विषय है । समस्त संसार के शिर उसके शिर हैं और समस्त

संसार के चक्षु और चरण भी उसी के चक्षु और चरणवत् हैं। सर्वत्र उसी की दर्शन शक्ति और गतिशक्ति कार्य कर रही है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

भा०—(पुरुषः एव इदं सर्वम्) यह सब कुछ वह पुरुष ही है (यद् भूतं यत् च भव्यम्) ये जो भूत अर्थात् उत्पन्न और जो भव्य अर्थात् आगे भी उत्पन्न होने वाले कार्य और कारण हैं। (उत) और वह (अमृतत्वस्य ईशानः) अमृतस्वरूप मोक्ष का स्वामी है, (यत्) जो (अन्नेन) अन्न से (अति रोहति) सर्वोपरि है। वही समस्त प्राणियों के अन्न अर्थात् भोग्य कर्मफल का स्वामी होकर उन सब पर वश किये हुए है।

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

भा०—(अस्य महिमा एतावान्) इस जगत् का महान् सामर्थ्य इतना है पर (पूरुषः) वह सर्वशक्तिमान् इस जगत् में व्यापक प्रभु (अतः ज्यायान्) इससे कहीं बड़ा है। (विश्वा भूतानि) समस्त उत्पन्न पदार्थ इस के (पादः) एक चरणवत् हैं। (अस्य त्रिपात्) इस के तीन चरण (दिवि) प्रकाशमय स्वरूप में (अमृतं) अविनाशी अमृत रूप हैं।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

भा०—(त्रिपात् पूरुषः) तीन चरण वाला, जो पूर्व अमृत स्वरूप कहा है, वह (ऊर्ध्वः) सब से ऊपर (उत् ऐत्) सर्वोत्तम रूप से जाना जाता है, (अस्य पादः पुनः इह अभवत्) इसका व्यक्त स्वरूप एक चरणवत्

यहां जगत् रूप से प्रकट है। (ततः) वह व्यापक प्रभु ही (विश्वङ् वि अक्रमत्) सर्वत्र व्यापता है। (स-अशन-अनशने अभि) जो 'अशन' अर्थात् भोजन व्यापार से युक्त प्राणिगण, चेतन और 'अनशन' अर्थात भोजन न करने वाले अचेतन, जड़ अथवा व्यापक और अव्यापक पदार्थ सब में वही विद्यमान है।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ गीता ॥

मैं जगत् भर को विशेष रूप से थाम कर बैठा हूं। मेरे एक अंश में जगत् स्थिर है।

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥ १७ ॥

भा०—(तस्मात्) उससे (विराट् अजायत) विराट् अर्थात् ब्रह्माण्ड रूप महान् शरीर समस्त शरीरों का समष्टि देह विविध पदार्थों से प्रकाशित, उत्पन्न हुआ, (विराजः अधि पूरुषः) उस विराट् ब्रह्माण्डमय देह के ऊपर अध्यक्ष रूप से 'पुरुष' देह में आत्मा, वा नगर में राजा के तुल्य ब्रह्माण्ड में स्वामी के तुल्य वह परम पुरुष है। (स जातः) वह व्यक्त होकर (अति अरिच्यत) सब से बड़ा होता है। वा परमेश्वर समस्त प्राणियों से अतिरिक्त, सब से पृथक् रहता है। (पश्चाद् भूमिम्) विराट् के प्रकट होने के उपरान्त, प्रभु ने भूमि को उत्पन्न किया (अथो पुरः) उसके अनन्तर नाना शरीर उत्पन्न किये। इति सप्तदशो वर्गः ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् मनुष्य (यद् यज्ञं) जिस यज्ञ को (हविषा पुरुषेण) पुरुष रूप साधन से (अतन्वत) प्रकट करते हैं। (अस्य) उस यज्ञ का (वसन्तः आज्यम् आसीत्) वसन्त घृत के तुल्य रहा, (ग्रीष्मः इध्मः) ग्रीष्म ऋतु इंधन अर्थात् जलती लकड़ी के तुल्य रहा,

और (शरत् हविः) शरद् ऋतु हवि के तुल्य था। ऋतुओं से ब्रह्माण्ड में संवत्सर यज्ञ हो रहें हैं। जैसे घृत से अग्नि अधिक दीप्त होता है इसी प्रकार वसन्त के अनन्तर ग्रीष्म अधिक तीव्र हो जाता है। शरत् फलप्रद होने से हविरूप है। सूर्य की रश्मियां 'देव' हैं जो सवंत्सर यज्ञ को करते हैं।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥

भा०—(तं यज्ञं) उस यज्ञ रूप सर्वपूज्य, (अग्रतः जातम्) सबसे पहले प्रकट हुए, (पुरुषं) पुरुष को (बर्हिषि) हृदयान्तरिक्ष में (प्रौक्षन्) यज्ञ में दीक्षित पुरुष के तुल्य ही अभिषिक्त करते हैं। (देवाः) विद्वान् गण, (साध्याः) साधना वाले, और (ये च ऋषयः) जो ऋषिगण हैं वे सब (तेन) उसी पुरुष के द्वारा (अयजन्त) यज्ञ उपासना करते हैं।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥

भा०—(सर्वहुतः) समस्त जगत् को अपने भीतर आहुतिवत् लेने वाले, सर्वपूज्य (यज्ञात्) यज्ञरूप (तस्माद्) उस परमेश्वर से (पृषत् आज्यं संभृतम्) तृप्तिकारक, सर्वसेचक, वर्धक, प्राणदायक अन्नादि और घृत, मधु, जल, दुग्ध आदि भी (सं-भृतम्) उत्पन्न हुआ है। (तान् पशून् चक्रे) वह परमेश्वर ही उन पशुओं, प्राणियों को भी बनाता है जो (वायव्यान्) वायु में उड़ने वाले पक्षी हैं। (आरण्यान्) जंगल में रहने वाले सिंह आदि और (ये च ग्राम्याः) और जो पशु ग्राम के गौ भैंस आदि हैं।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

भा०—(तस्मात्) उस (यज्ञात्) सर्वोपास्य यज्ञस्वरूप (सर्व-हुतः) सर्व जगत्-मय विराट् रूप परम पुरुष को अपने में धारण करने वाले परमेश्वर से (ऋचः) ऋचाएं, (सामानि) सामगण (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए। (छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्) उससे छन्द उत्पन्न हुए। (तस्मात्) उससे (यजुः अजायत) यजुर्वेद उत्पन्न हुआ। 'छन्दांसि'-पद से अथर्ववेद का ग्रहण है। (दशा०)

तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त॒ ये के चो॑भ॒याद॑तः।
गावो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॒त्तस्मा॑ज्जा॒ता अ॑जा॒वयः॑॥ १० ॥ १८ ॥

भा०—(तस्मात् अश्वाः अजायन्त) उससे अश्व उत्पन्न हुए और उससे वे पशु भी उत्पन्न हुए (ये के च) जो भी (उभयादतः) दोनों जबड़ों में दांतों वाले हैं। (तस्मात्) उससे (गावः ह जज्ञिरे) गौ आदि जन्तु भी उत्पन्न हुए, (तस्मात् अजावयः जाताः) उससे बकरी और भेड़ आदि छोटे पशु भी पैदा हुए। इत्यष्टादशो व ः॥

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन्।
मुखं॒ किम॑स्य॒ कौ बा॒हू का ऊ॒रू पादा॑ उच्येते ॥ ११ ॥

भा०—(यत्) जो (पुरुषं) पुरुष को (वि अदधुः) विशेष रूप से वर्णन किया तो (कतिधा) कितने प्रकारों से (वि अकल्पयन्) उसको विशेष रूप से कल्पित किया अर्थात् उस पुरुष को कितने भागों में विभक्त किया। (अस्य मुखम् किम्) इस पुरुष का मुख भाग क्या कहलाया, (बाहू कौ) दोनों बाहू क्या कहलाये और (ऊरू) जांघें क्या कहलाईं और (पादौ कौ उच्येते) दोनों पैर क्या कहाये। इन समस्त प्रश्नों का उत्तर अगली ऋचा में देते हैं—

ब्रा॒ह्म॒णो॑ऽस्य॒ मुख॑मासीद् बा॒हू रा॑ज॒न्यः॑ कृ॒तः।
ऊ॒रू तद॑स्य॒ यद्वैश्यः॑ प॒द्भ्यां शू॒द्रो अ॑जायत ॥ १२ ॥

भा०—(ब्राह्मणः अस्य मुखम्) ब्राह्मण इसका मुख (आसीत्) है। (राजन्यः बाहूकृतः) राजन्य इसके दोनों बाहू हैं। (यद् वैश्यः) जो वैश्य है (तत्) व (अस्य ऊरू) इसकी जांघें और वह पुरुष (पद्भ्यां) पैरों के भाग से (शूद्रः अजायत) शूद्र बना। अर्थात् जिस प्रकार समाज में ब्राह्मण प्रमुख, क्षत्रिय बलशाली और वैश्य संग्रही और शूद्र मेहनत करने वाले होते हैं उसी प्रकार शरीर में भी देहवान् आत्मा के भिन्न २ भागों की कल्पना विद्वानों ने की है। उसमें शिर भाग गले तक ब्राह्मण के तुल्य ज्ञान संग्रह करने वाला और अन्यों को ज्ञान मार्ग से लेजाने वाला है। बाहुएं, और छाती, शत्रु को मारने, शरीर को बचाने और वीर कर्म करने के लिये हैं और पेट और जांघ का भाग अन्न-भोजन का संग्रह वैश्य के समान करता और शरीर के अन्य अंगों को उचित रूप में पहुंचाता है, इसी प्रकार पैर शरीर को अपने ऊपर मज़दूर वा सेवकों के समान ढोते और उनकी आज्ञा पालन करते हैं। इस व्याख्यान से जन समुदाय और शरीर में अंग-समुदाय की तुलना करके चारों वर्णों के कर्त्तव्य भी वेद ने कहे हैं।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥

भा०—(मनसः) मन अर्थात् मनन करने के सामर्थ्य से (चन्द्रमा जातः) चन्द्र हुआ। (चक्षोः) रूप दर्शन के सामर्थ्य से (सूर्यः अजायत) सूर्य हुआ। (मुखात् इन्द्रः च अग्निः च) और मुख से इन्द्र और अग्नि, विद्युत् और आग अर्थात् तेजस्तत्व हुए। और (प्राणात्) प्राण से (वायुः अजायत) वायु हुआ।

जिस प्रकार पहले दो मन्त्रों में पुरुष, सदेह आत्मा की तुलना विशाल जन समुदाय की व्यवस्था से की है उसी प्रकार उस की तुलना विशाल ब्रह्माण्ड से भी की गई है। अर्थात् जिस प्रकार जगत् रूप विराट् देह में

चन्द्र है उसी प्रकार शरीर में मन है। जिस प्रकार चन्द्र मुख्य सूर्य से प्रकाशित होकर शीतल प्रकाश देता है रात्रि के अन्धकार में भी ज्योति देता है उसी प्रकार आत्मा के चैतन्य से मन चेतन है जो मनोमय संकल्प-विकल्पात्मक ज्योति पार्थिव निश्चेतन देह में सर्वत्र प्रकाश करती है। जिस प्रकार विशाल जगत् में सूर्य महान् ज्योति है और बाह्य जगत् को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार देह में चक्षु है जो बाह्य स्थूल जगत् को प्रकाशित करती, उसका ज्ञान हमें प्रदान करती है चक्षु से सभी ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिये जो हमें अनेक पदार्थों का ज्ञान कराते हैं। जिस प्रकार जगत् में सूर्य के अतिरिक्त भी अग्नि और विद्युत् ये दो तेज विद्यमान हैं उसी प्रकार देह में भी दो ज्योतियें हैं दोनों मुख में विद्यमान हैं। एक तो इन्द्र अहंतत्त्व वा ओज, जो मुख पर कान्ति रूप से चेतना रूप से रहता है, दूसरा अग्नि जो वाणी और पेट की अग्नि के रूप में विद्यमान है। इसी प्रकार जैसे पञ्चभूतमय विराट् जगत् में वायु अन्तरिक्ष में बहता है उसी प्रकार पञ्चभूतमय इस देह–जगत् में प्राण हैं। ये शरीर के मध्य भाग छाती, फेंफड़ों में गति करते और जलों, रुधिरों के हित देह भर में व्यापते हैं। इसी प्रकार महान् आत्मा, प्रभु परमेश्वर की इस आत्मा के तुल्य ही मन, चक्षु, मुख, प्राण आदि शक्तियों की कल्पना करके उन से विराट् जगत् में चन्द्र, सूर्य, इन्द्र (विद्युत्) अग्नि, वायु आदि महान् शक्तिमय तत्त्वों की उत्पत्ति या प्रकट होने की व्यवस्था जाननी चाहिये।

नाभ्या॑ आसीद॒न्तरि॑क्षं शी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्तत।
प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिशः॒ श्रोत्रा॒त्तथा॑ लो॒काँ अ॑कल्पयन् ॥ १४ ॥

भा०—(नाभ्याः अन्तरिक्षम् आसीत्) नाभि से अन्तरिक्ष को कल्पित किया है। (शीर्ष्णः) सिर भाग से (द्यौः सम् अवर्त्तत) विशाल आकाश कल्पित हुआ, (पद्भ्यां भूमिः) पैरों से भूमि और (श्रोत्रात्

दिशः) श्रोत्र अर्थात् कानों से दिशाएं (तथा लोकान् अकल्पयन्) और इस प्रकार से समस्त लोकों की कल्पना की है।

यहां भी पूर्व मन्त्र के समान ही विराट् जगन्मय देह के अन्तरिक्ष, द्यौ, भूमि, दिशा और अन्य लोकों के तुल्य नाभि, शिर, पैर, श्रोत्र इन्द्रिय तथा अन्यान्य अंगों की कल्पना जाननी चाहिये। इसी प्रकार जगत् के इन २ अंगों को देख कर परमेश्वर, महान् आत्मा की उन २ अनेक शक्तियों वा सामर्थ्यों को ही उनका मूल कारण वा आश्रय जानना चाहिये।

लोक-संमित पुरुष और पुरुष-सम्मित लोकों का विस्तृत वर्णन देखो (चरकसंहिता—शारीरस्थान शरीरविचयाध्याय० ५)

स॒प्तास्या॑सन्परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः।
दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न्पुरु॑षं प॒शुम् ॥ १५ ॥

भा०—देवयज्ञ का वर्णन करते हैं। (यत्) जो (यज्ञं तन्वानाः) यज्ञ, परस्पर संगति करते हुए (देवाः) देव, इन्द्रियें वा पञ्चभूतादि, (पशुम्) द्रष्टा, चेतन (पुरुषं) पुरुष को (अबध्नन्) बांध लेते हैं। उस समय (अस्य) इस आत्मा चेतन की (सप्त परिधयः) सात परिधियें, तथा (त्रिः सप्त समिधः कृताः) २१ समिधाएं बनी हैं। यह अध्यात्म यज्ञ का स्वरूप है, जिससे सूक्ष्म पञ्च तन्मत्राएं ही इन्द्रिय रूप देव होकर परस्पर संगति और शक्ति के दान-आदान पूर्वक यज्ञ रच रहे हैं। इसी प्रकार विशाल ब्रह्माण्ड में भी विद्वानों ने एक महान् यज्ञ की रचना वा कल्पना की है। उसमें उस परम प्रभु सर्वद्रष्टा पुरुष को योगी, ध्यानी, जन अन्तःकरण में ध्यान योग से बांधते हैं। अथवा पञ्चभूत रूप देव महत् अंहकारादि विकृतिये उस प्रभु व्यापक पुरुष को पशु अर्थात् सर्वोपरि द्रष्टा साक्षी रूप से बांधते, अर्थात् अपने ऊपर सर्पोपरि शासक प्रभु को अध्यक्ष रूप से व्यवस्थित वा नियमबद्ध मानते हैं। इस प्रकार यद्यपि परमेश्वर जीव के समान बद्ध नहीं तो भी धर्मात्मा राजा के तुल्य जगत् को नियमों में

बांधता हुआ स्वयं भी उन नियमों में बद्ध होता है। राजा यदि प्रजावर्ग को बांधता है तो प्रकारान्तर से प्रजावर्ग राजा को भी व्यवस्थित करते हैं क्योंकि यह व्यवस्था परस्परापेक्षित है। उस दशा में इस ब्रह्माण्ड की सात परिधियां हैं। गोल चीज़ के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण होता है उसको 'परिधि' कहते हैं सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं ईश्वर ने उन एक २ के ऊपर सात २ आवरण बनाये हैं। एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघ मण्डल अर्थात् वहां का वायु चौथा वृष्टि जल, उसके ऊपर पांचवाँ वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म धनंजय वायु, और सातवाँ सूत्रात्मा वायु जो बहुत सूक्ष्म है। यह सात आवरण एक दूसरे के ऊपर विद्यमान हैं (दया०)। इस समस्त ब्रह्माण्ड के घटक २१ पदार्थ २१ समिधा के तुल्य हैं। प्रकृति, महान्, बुद्धि आदि अन्तःकरण और जीव, यह एक सामग्री परम सूक्ष्म रूप में हैं। इनके दश इन्द्रियगण, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाणी, दो चरण, दो हस्त, गुदा और उपस्थ और पांच तन्मात्राएं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और पांच भूत पृथिवी, आपः, तेज, वायु और आकाश। ये सब मिलकर २१ सामग्रियां ब्रह्माण्ड महायज्ञ की २१ समिधाएं हैं। इसके अवयव रूप से अनेक तत्व हैं। इन सब में देव, विद्वान्गण परमेश्वर को ही सर्वसंचालक, सर्वघटक रूप से ध्यान करते और उसी को बांधते अर्थात् उसी की व्यवस्था नियत करते हैं।

इसके अनुकरण में यह वैदिक यज्ञ भी प्रवृत्त होता है—यज्ञ में सात परिधियां होती हैं, ऐष्टिक आहवनीय की तीन और उत्तर वेदी की तीन और सातवीं आदित्य 'परिधि' मानी जाती है। और २१ समिधाएं, काष्ठ की बनाई जाती हैं। जो संवत्सर यज्ञ में १२ मास, पांच ऋतु, तीन लोक और २१ वां आदित्य इनकी प्रतिनिधि होती हैं। वे जिस प्रकार सर्वद्रष्टा, सूर्य रूप पुरुष को व्यवस्थित करते हैं उसी प्रकार अध्यात्म यज्ञ में आत्मा को और यज्ञ में पशु को बांधते हैं।

संवत्सर यज्ञ किस प्रकार का वेद ने बतलाया है एतद्विषयक यजुर्वेद में 'यत् पुरुषेण०' । आदि मन्त्र विशेष हैं।

यज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन् । ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः॥१६॥१९।७

भा०—(यज्ञेन, यज्ञम् अयजन्त) यज्ञ से यज्ञ की संगति करते हैं और यज्ञ, आत्मा से ही यज्ञ, सर्वोपास्य प्रभु की उपासना करते हैं क्योंकि (तानि) वे ही (धर्माणि) संसार को धारण करने वाले अनेक बल (प्रथमानि) सर्वश्रेष्ठ, सब के मूलकारण रूप से (आसन्) होते हैं। (ते ह) और वे ही निश्चय से (महिमानः) महान् सामर्थ्य वाले होकर (नाकं सचन्त) परम सुख, आनन्दमय उस प्रभु को सेवते, और प्राप्त करते हैं (यत्र) जिस में (पूर्वे) पूर्व के, ज्ञान से पूर्ण, (साध्याः) साधना से सम्पन्न और अनेक साधनों वाले (देवाः) ज्ञान से प्रकाशित, सब को ज्ञान देने वाले, विद्वान् जन (सन्ति) रहते हैं। वे प्रभु के उपासक, मुक्त होकर मोक्ष को भोगते हैं। इत्येकोनविंशो वर्गः ॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

[९१]

ऋषिः अरुणो वैतहव्यः ॥ अग्निर्देवता ॥ छन्दः—१, ३, ६ निचृज्जगती । २, ४, ५, ९, १०, १३ विराड् जगती । ८, ११ पादनिचृज्जगती । १२, १४ जगती । १५ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ॥ पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

सं जा॑गृ॒वद्भि॒र्जर॑माण इध्यते॒ दमे॒ दमू॑ना इ॒षय॑न्नि॒ळस्प॒दे । विश्व॑स्य॒ होता॑ ह॒विषो॒ वरे॑ण्यो वि॒भुर्वि॒भावा॑ सु॒षखा॑ सखीय॒ते॥१॥

भा०—(जागृवद्भिः) जागरण करने वाले, नित्य सावधान, ज्ञानवान्, अप्रमादी, पुरुषों द्वारा (जरमाणः) स्तुति किया जाता हुआ, (दमे)

गृह में (दमूनाः) अग्नि के तुल्य, (दमे) समस्त जगत् के दमन, सम्यक् प्रकार से संचालन कार्य में (दमूनाः) दान्त चित्त वाला, (इड़ः पदे इषयन्) भूमि के प्राप्त करने में सेनाओं को संञ्चालित करने वाले राजा के तुल्य (इडः पदे इषयन्) वाणी के मार्ग में समस्त जनों को प्रेरित करता हुआ, (विश्वस्य हविषः होता) समस्त हवि के ग्रहण करने वाले यज्ञ-अग्नि के तुल्य, (हविषः विश्वस्य होता) हविवत् समस्त जगत् को अपने भीतर अन्नवत् लीलनेहारा, समस्त जगत् का अत्ता, भोक्ता, (वरेण्यः) सब से वरण करने योग्य, (विभुः) व्यापक, विशेष रूप से सर्वत्र सत्तावान्, (वि-भावा) विशेष कान्ति से सम्पन्न, (सखीयते सुसखा) सखाभाव से रहने वाले के हितार्थ उत्तम मित्र वह प्रभु है।

स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे वनेवने शिश्रिये तक्ववीरिव।
जनंजनं जन्यो नाति मन्यते विश आ क्षेति विश्यो३ विशंविशम् २

भा०—(सः) वह परमेश्वर (दर्शत-श्रीः) दर्शनीय विभूति वाला, (गृहे-गृहे अतिथिः) घर २ में अतिथि के तुल्य पूज्य एवं (गृहे-गृहे) प्रत्येक ग्रहण करने योग्य पदार्थ में बाह्य सत्ता को अतिक्रमण कर के अतीन्द्रिय रूप में विद्यमान, अन्तर्व्यापक (वने-वने) काष्ठ २ में (तक्वीः इव) व्यापक अग्नि के तुल्य (वने-वने) प्रत्येक जल बिन्दु, या प्रत्येक ऐश्वर्य युक्त पदार्थ में (शिश्रिये) शोभा को प्राप्त है, वह (जन्यः) समस्त उत्पन्न होने वाले प्राणियों का हितकारी और स्वयं भी समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाला है वह (जनं-जनं) प्रत्येक प्राणी में व्यापक रह कर भी (विशः) प्रजाओं को वा लोकों को (न अति मन्यते) अभिमान से तिरस्कृत नहीं करता, वह किसी की भी उपेक्षा नहीं करता, प्रत्युत वह (विश्यः) प्रजाओं का हितकारी होकर (विशं-विशं आ क्षेति) प्रत्येक प्रजा के भीतर राजावत् निवास करता है।

सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुरग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित्।
वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेक इद् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः॥३॥

भा०—हे (अग्ने) सबके नायक, सबको सन्मार्ग में लेजाने हारे प्रभो! तू (दक्षैः) सब बलों से (सु-दक्षः) उत्तम बलशाली है। तू (क्रतुना सु-क्रतुः असि) कर्म सामर्थ्य और प्रज्ञासामर्थ्य से उत्तम कर्म और प्रज्ञावाला है। तू (काव्येन) बुद्धिमान् जनों के उपयोगी ज्ञानमय वेद द्वारा ही (विश्ववित् कविः असि) समस्त संसार का जानने और जनाने द्वारा, क्रान्तदर्शी विद्वान् है। (यानि) जिन नाना ऐश्वर्यों को (द्यावा च पृथिवी च पुष्यतः) प्रकाशमय सूर्य, चन्द्र और पृथिवीवत् विस्तृत भूमि और आकाश दोनों पुष्ट करते हैं उन सब (वसूनां) ऐश्वर्यों और बसने वाले समस्त प्राणियों का भी (त्वम्) तू (एकः इत् क्षयसि) अकेला, अद्वितीय ही स्वामी है।

प्रजानन्नग्ने तव योनिमृत्वियमिळायास्पदे घृतवन्तमासदः।
आ ते चिकित्र उषसामिवेतयोऽरेपसः सूर्यस्येव रश्मयः॥४॥

भा०—हे (अग्ने) अग्निवत् स्वयंप्रकाश आत्मन्! तू (प्रजानन्) सर्वोत्कृष्ट ज्ञानवान् होकर (इडायाः पदे) भूमि के स्थान पर (घृतवन्तं योनिम्) जिस प्रकार बीज जमता है, अग्नि जिस प्रकार भूमि पर घृतयुक्त काष्ठ में रहता है और जिस प्रकार (इडायाः) भूमि रूप स्त्री के देह में ऋतु-कालानुसार या निषिक्त वीर्य से युक्त गर्भ में आत्मा विराजता है उसी प्रकार जल युक्त स्थान में (ऋत्वियम्) ऋतु-अनुसार (इडायाः पदे) वाणी, अति प्रबलतर इच्छा के भक्ति द्वारा ज्ञान वा प्राप्त करने योग्य रूप में (ऋत्वियम्) ऋतु अर्थात् ज्ञानी पुरुषों से प्राप्त करने योग्य (घृतवन्तम्) प्रकाश व तेज से युक्त (योनिम्) स्वरूप को (आ असदः) प्राप्त है। (ते) तेरी (एतयः) मतियें, ज्ञान वा प्राप्तियें, (उषसाम् इव एतयः)

उषाकालों के आगमनों के समान और (सूर्यस्य रश्मयः) सूर्य की किरणों के तुल्य (अरेपसः) निष्पाप, शुद्ध (चिकित्रे) जाने जाते हैं ।

तव॒ श्रियो॑ व॒र्ष्य॑स्येव वि॒द्युत॑श्चि॒त्राश्चि॑कित्र उ॒षसां॒ न के॒तवः॑ ।
यदोष॑धीर॒भिसृ॑ष्टो॒ वना॑नि च॒ परि॑ स्व॒यं चि॑नु॒षे अन्न॑मा॒स्ये॑॥५।२०॥

भा०—(वर्ष्यस्य इव विद्युतः) वर्षने वाले विद्युत् से युक्त चमचमाते मेघ की चमकती (श्रियः) शोभा या कान्तियों के तुल्य (तव श्रियः चिकित्रे) तेरी कान्तियां जानी जाती हैं । और (तव श्रियः) तेरी कान्तियें (उषसां केतवः न) प्रभात वेलाओं की रश्मियों के तुल्य प्रतीत होती हैं । (यत्) जिस प्रकार (अग्निः वनानि अभि-सृष्टः स्वयं परि चिनुते) काष्ठों के साथ लगकर स्वयं उसको जलाने लगता है उसी प्रकार (यत् ओषधीः अभिसृष्टः) जब आत्मा देहवान् होकर ओषधियों की ओर जाता है तो (स्वयं) आप से आप (आस्ये अन्नम् परि चिनुषे) मुख में अन्न, अर्थात् खाद्य पदार्थ को प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार परमेश्वर भी (ओषधीः अभि-सृष्टः) अग्नि आदि शक्तियों से सम्पन्न होकर (अन्नम्) अन्नवत् समस्त जगत् को अपने भीतर लील लेता है । इति विंशो वर्गः ॥

तमोष॑धीर्दधिरे॒ गर्भ॑मृ॒त्विय॒ं तमापो॑ अ॒ग्निं ज॑नयन्त मा॒तरः॑ ।
तमित्स॑मा॒नं व॒निन॑श्च वी॒रुधो॒ऽन्तर्व॑तीश्च सु॒व॑ते च वि॒श्वहा॑ ॥६॥

भा०—(ओषधीः ऋत्वियं गर्भम्) ओषधियें जिस प्रकार ऋतु-अनुसार प्राप्त गर्भ को धारण करती हैं और (आपः अग्निम्) जिस प्रकार जल तत्त्व अपने भीतर अग्नि तत्त्व को वा मेघस्थ जल विद्युत् अग्नि को धारण करते और (जनयन्त) प्रकट करते हैं, (वनिनः वीरुधः तम् अग्निम्) और जिस प्रकार वन की ओषधियें उस अग्नि को अपने में धारण करती हैं उसी प्रकार (ओषधीः मातरः) वीर्य को धारण करने वाली माताएं (तम्) उस (अग्निम्) स्वप्रकाश, (समानम्) ज्ञान से युक्त आत्मा को

(ऋत्वियम् गर्भम्) ऋतु-अनुसार प्राप्त गर्भ के रूप में (दधिरे जनयन्त) धारण और उत्पन्न करती हैं। और (अन्तर्वतीः) वे गर्भिणी होकर (विश्वहा च सुव्रते) सर्वदा उत्पन्न करते हैं।

वातोपधूत इषितो वशाँ अनु तृषु यदन्ना वेविषद्वितिष्ठसे ।
आ ते यतन्ते रथ्यो३ यथा पृथक्शर्धांस्यग्ने अजराणि धक्षतः॥७॥

भा०—जिस प्रकार (वात-उपधूतः) वायु से भभका हुआ अग्नि (वशान्) अपने इच्छानुसार चमकते काष्ठों को (वेविषत्) व्याप जाता है उसी प्रकार यह आत्मा (वात-उपधूतः) प्राण वायु से प्रेरित एवं प्रकाशित और (इषितः) इच्छावान् होकर (तृषु) शीघ्र ही, (यत्) जब हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप (अन्ना-अनु) अन्नों के तुल्य खाद्य वा भोग्य पदार्थों को (वेविषत्) प्राप्त करता और (वशान्) काम्य लोकों को (वितिष्ठसे) विशेष रूप से प्राप्त करता है, तब (ते शर्धांसि) तेरे नाना बल, (यथा रथ्यः) रथ में जुते अश्वों के तुल्य और (धक्षतः अजराणि शर्धांसि इव) जलाने वाले अग्नि के रथादि प्रेरक बलों के तुल्य (पृथक्-यतन्ते) पृथक् २ यत्न करते हैं। वे आंख नाक चक्षुओं के रूप में पृथक् २ नाना कर्म करते हैं। वे अग्नि द्वारा सञ्चालित यन्त्रों के तुल्य अपना २ कार्य करते हैं।

मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतमं मतिम् ।
तमिदर्भे हविष्या समानमित्तमिन्महे वृणते नान्यं त्वत् ॥ ८ ॥

भा०—हम लोग (मेधाकारं) उत्तम बुद्धि के उत्पन्न करने वाले, ज्ञान और सन्मति के देने वाले, (विदथस्य प्र-साधनं) ज्ञान, लाभ, और यज्ञ की उत्तम रीति से साधना करने वाले, (होतारं) सब सुखों के देने वाले वा प्रेम से सबको अपने पास बुलाने वाले, (परि-भूतमं) सर्वत्र व्यापक, सब से महान् (मतिं) ज्ञान-स्वरूप (अग्निम्) तेजःस्वरूप प्रभु

को हम (आ वृणीमहे) वरण करते हैं, उसी से सब वस्तुओं की याचना करते हैं। (समानम् इत्) हम उसे ही सर्वत्र सब के प्रति समान जानते हैं और (तम् इत् अर्भे हविषि) उसको ही अल्प से अल्प पदार्थ के निमित्त में भी प्रार्थना करते हैं। (महे) और महान् पदार्थ या कर्मफलादि के निमित्त भी (तम् इत् वृणते) उस ही की प्रार्थना करते हैं। हे प्रभो! (त्वत् अन्यं न वृणते) तेरे से भिन्न दूसरे को ये विद्वान् लोग नहीं वरते हैं।

त्वामिदत्र॑ वृण॒ते त्वा॒यवो॒ होता॑रमग्ने वि॒दथे॑षु वे॒धसः॑ ।
यद्दे॑व॒यन्तो॒ दध॑ति॒ प्रयां॑सि ते ह॒विष्म॑न्तो॒ मन॑वो वृ॒क्तब॑र्हिषः॥९॥

भा०—(यत्) जब (देवयन्तः) देव, सर्वसुखदाता, स प्रकाशक प्रभु की कामना करने वाले, (हविष्मन्तः) अन्नादि नाना पदार्थों और साधनों से सम्पन्न, (वृक्त-बर्हिषः) विघ्नों को कुशाओं के तुल्य छेदन करने वाले, (मनवः) ज्ञानी पुरुष (प्रयांसि) नाना अन्नों और साधनों को धारण करते हैं (अत्र) इस अवसर में हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप अग्ने ! प्रभो ! (त्वायवः) तेरी कामना करने वाले, तुझे चाहने वाले, तेरे भक्त, (वेधसः) कर्मकर्त्ता, विद्वान् जन, (विदथेषु) ज्ञान सत्संगों और यज्ञों में (त्वाम् होतारं वृणते) तुझ दाता से प्रार्थना करते हैं।

तवा॑ग्ने हो॒त्रं तव॑ पो॒त्रमृ॒त्वियं॒ तव॑ ने॒ष्ट्रं त्वम॒ग्निदृ॑ताय॒तः ।
तव॑ प्रशा॒स्त्रं त्वम॑ध्वरीयसि ब्र॒ह्मा चासि॑ गृ॒हप॑तिश्च नो॒ दमे॑ १०॥२१

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! ज्ञानस्वरूप ! (तव होत्रम्) होता का कर्म तेरा है (ऋत्वियं पोत्रं तव) ऋतु २ के अनुकूल होने वाला पोता का कार्य भी तेरा है, (तव नेष्ट्रम्) नेष्टा का कार्य भी तेरा ही है, (ऋतयतः अग्नित् त्वम्) यज्ञ करने वाले का अग्नीध्र भी तू ही है। (तव प्रशास्त्रम्) प्रशास्ता का काम भी तेरा ही है। (त्वं अध्वरीयसि) अध्वर्यु का कार्य भी तू ही

करता है। तू ही (ब्रह्मा च असि) ब्रह्मा है। और (नः दमे) हमारे घर में (गृहपतिः च असि) गृह-स्वामी, यजमान भी तू ही है। विश्व में प्रभु और देह में आत्मा ही यज्ञ के होता, पोता, नेष्टा, अग्नीध्र, प्रशास्ता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और यजमान हैं।

यस्तुभ्यमग्ने अमृताय मर्त्यः समिधा दाशदुत वा हविष्कृति।
तस्य होता भवसि यासि दूत्यमुप ब्रूषे यजस्यध्वरीयसि ॥११॥

भा०—(अग्ने) ज्ञानमय, जीवनस्वरूप ! (यः मर्त्यः) जो मनुष्य (अमृताय) मोक्ष प्राप्त करने के लिये, (समिधा तुभ्यं दाशत्) समिधा रूप से अपने को तेरे समर्पित करता है, अथवा (हविः-कृति) हवि रूप अपने को देने के कार्य में तुझे सौंपता है तू (तस्य होता भवसि) तू उसको अपने समीप बुलाने वाला होता है, तू उसी को (दूत्यं यासि) दूत के तुल्य नये से नया ज्ञान देने वाला होता है, तू (उप ब्रूषे) उसके समीप होकर गुरुवत् उपदेश करता है, तू (तस्य यजसि) उसे देव, पिता वा माता के समान ज्ञान, धन प्रदान करता है, और (तस्य अध्वरीयसि) उसके हिंसारहित यज्ञ की कामना करता है।

इमा अस्मै मतयो वाचो अस्मदाँ ऋचो गिरः सुष्टुतयः समग्मत।
वसूयवो वसवे जातवेदसे वृद्धासु चिद्वर्धनो यासु चाकनत् १२

भा०—(यासु वृद्धासु) अर्थ, गुण आदि में समृद्ध जिन वाणियों के आश्रय पर (वर्धनः चित्) सबको बढ़ाने वाला प्रभु (चाकनत्) समस्त उपासकों को चाहने लगता है, (अस्मान्) हमारी (इमाः मतयः) ये बुद्धियां, (इमाः वाचः) ये वाणियां, (इमाः ऋचः) ये ऋचाएं, स्तुतियां, (इमाः गिरः सु-स्तुतयः) ये उत्तम २ स्तुतियुक्त वाणियां, (वसूयवः) धनैश्वर्य को चाहने वाली प्रजाओं के तुल्य ही (वसवे जात-वेदसे)

सर्वैश्वर्यवान्, सर्वज्ञ, सर्वत्र व्यापक प्रभु को प्राप्त करने के लिये (सम् अग्मत) एक साथ प्राप्त होती हैं।

इमां प्रत्नाय सुष्टुतिं नवीयसीं वोचेयमस्मा उशते शृणोतु नः।
भुया अन्तरा हृद्यस्य निस्पृशे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥१३॥

भा०—मैं (अस्मै) इस (प्रत्नाय) अति पुरातन, सदातन, (उशते) सब के प्रिय, प्रभु की (इमां) इस (नवीयसीम्) अति उत्तम (सु-स्तुतिं) उत्कृष्ट स्तुति को (वोचेयम्) कहूं। वह (नः शृणोतु) हमारी स्तुति-प्रा ना सुने। (पत्ये) पति के लिये (उशती) कामना वाली, (सु-वासाः) सुन्दर वस्त्र पहिने, ऋतुस्नाता (जाया इव) स्त्री के तुल्य मैं (अन्तरा) भीतर (अस्य हृदि) इसके हृदय में (नि-स्पृशे भूयाः) खूब स्पर्श करने, उसके हृदय के अन्तःस्तल तक पहुंचने वाला होऊं। अथवा प्रभु! तू (अस्य) इस भक्त के (हृदि अन्तरा नि-पृस्शे भूयाः) हृदय के अन्तःस्तल तक स्पर्श करने वाला हो।

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनये चारुमग्नये॥१४॥

भा०—जिस प्रकार पशुपाल के अधीन (अश्वासः) अश्व, (ऋषभासः) बड़े २ बैल, (वशाः) गौएं और (मेषाः) भेड़े, बकरे आदि (अव-सृष्टासः) खुले छोड़ दिये जाते हैं और (आहुताः) फिर घर पर आजाते हैं उसी प्रकार (यस्मिन्) जिसके अधीन (अश्वासः) अश्वारोही, (ऋषभासः) श्रेष्ठ (उक्षणः) कार्य वहन करने वाले समर्थ पुरुष (वशाः) वशी और (मेषाः) विद्वान् वा वीरजन (अव-सृष्टासः) नियुक्त होकर दूर जाते और (आहुताः) आदरपूर्वक बुलाये जाते हैं उस (सोम-पृष्ठाय) ऐश्वर्य को धारण करने वाले (कीलाल-पे) आदरपूर्वक अर्घ्य जल का पान करने वाले वा कीलाल नाम उदक, सलिलमय प्रकृति के पालक

प्रभु (वेधसे) मतिमान् (अग्नये) सूर्यवत् तेजस्वी पुरुष के लिये (चारुम्-मतिम्) उत्तम स्तुति वचन (जनये) प्रकट करता हूं।

अहाव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः।
वाजसनिं रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम् १५।२२

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ! तेजस्विन् ! (स्रुचि घृतम् इव) स्रुच, में जिस प्रकार यज्ञ से घृत और हवि की आहुति दी जाती है, उसी प्रकार हे (अग्ने) तेजस्विन् ! (ते आस्ये) तेर मुख में (हविः अहावि) उत्तम ग्राह्य वचन हों। और (घृतम्) मुख पर तेज हो (चम्वि इव सोमः) चमस में सोम के तुल्य (चम्वि) तेरी सेना के आधार पर तेरा (सोमः) ऐश्वर्य हो। तु (अस्मे) हमें (वाजसनिं रयिम्) बल और अन्न देने वाला ऐश्वर्य, (प्रशस्तं सु-वीरम्) उत्तम, प्रशंसा योग्य, सुखदायी वीर जन और (बृहन्तं यशसम्) महान् यश (धेहि) प्रदान कर। इति द्वाविंशो वर्गः॥

[६२]

ऋषिः शार्यातो मानवः ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः—१, ६, १२, १४ निचृज्जगती। २, ५, ८, १०, ११, १५ जगती। ३, ४, ९, १३ विराड् जगती। ७ पादनिचृज्जगती। पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

यज्ञस्य वो रथ्यं विश्पतिं विशां होतारमक्तोरतिथिं विभावसुम्।
शोचञ्छुष्कासु हरिणीषु जर्भुरद्वृषा केतुर्यजतो द्यामशायत ॥१॥

भा०—अग्नि के दृष्टान्त से प्रभु का वर्णन। हे विद्वान् लोगो ! (वः) आप लोग अपने (यज्ञस्य होतारम्) यज्ञ, देवोपासना के होता, स्वीकार करने वाले ऐसे प्रभु को (अक्रणवत) स्वीकार करो जो अग्नि के तुल्य (यज्ञस्य होतारं) यज्ञ, आहुतिवत् योग को स्वीकार करने वाला और (रथम्) जो रथ में लगे अश्व के समान विश्व रूप रथ का संचालक है,

(विशां विश्पतिम्) प्रजाओं में राजा के तुल्य समस्त लोकों और जीव-प्रजाओं का पालक है, (अक्तोः अतिथिम्) रात्रिकाल में चन्द्र के तुल्य अतिथिवत् आह्लादक जनक और (अक्तोः अतिथिम्) दिन में आने वाले वा सर्वोपरि विराजने वाले सूर्य के तुल्य तेजस्वी है (विभावसुं) विशेष दीप्ति से युक्त तेजोमय ऐश्वर्य का स्वामी है । (शुष्कासु शोचन्) सूखी लकड़ियों में अग्नि के तुल्य, (हरिणीषु) समस्त शक्तियों के बीच देदीप्यमान (जर्भुरत्) सब को पालन पोषण करता हुआ, (वृषा) सब सुखों का वर्षक, बलवान्, (केतुः) ज्ञानवान्, (यजतः) सर्वोपास्य होकर (द्याम् अशायत) महान् आकाश एवं सूर्यादि में भी व्यापक है ।

इममंञ्जस्पामुभये अकृण्वत धर्माणमग्निं विदथस्य साधनम् ।
अक्तुं न यह्वमुषसः पुरोहितं तनूनपातमरुषस्य निंसते ॥ २ ॥

भा०—(उभये) दोनों, ज्ञानी और अविद्वान जन, (इमम् अग्निम्) इस अग्नि के तुल्य प्रकाशस्वरूप (अंजः-पाम्) अन्न के रक्षक मेघ के तुल्य (अञ्जः-पाम्) ज्ञान, और प्रकाश के रक्षक वा अन्न को जाठराग्निवत् जगत् के भक्षण करने वाले 'अत्तारूप' (धर्माणम्) जगत् भर को धारण करने वाले (विदथस्य) ज्ञानमय यज्ञ का (साधनम्) साधन स्वीकार करते हैं। उसी (अक्तुम् न यह्वम्) तेजोमय सूर्य के तुल्य महान् (उषसः पुरोहितम्) प्रभातवेला के प्रकाशक, सर्गारम्भ के प्रकट करने वाले, तापदायक सूर्यादि के स्रष्टा, (पुरः-हितम्) सब के साक्षिवत्, (अरुषस्य) तेजोमय आत्मा के (तनून-पातं) प्राण के तुल्य शरीर को न गिरने देने वाले उस विश्वात्मा को विद्वान् लोग (निंसते) प्राप्त करते हैं । उस तक पहुंचते हैं।

बळस्य नीथा वि पणेश्च मन्महे वया अस्य प्रहुता आसुरत्तवे ।
यदा घोरासो अमृतत्वमाशतादिज्जनस्य दैव्यस्य चर्किरन् ॥ ३ ॥

भा०—(अस्य पणेः) इस स्तुतियोग्य प्रभु की (नीथा) वाणी,

और नाना ज्ञान (बट्) सदा सत्य है। उनका (वि मन्महे च) विविध प्रकार से मनन करते और ज्ञान करते हैं। (अस्य अत्तवे) इसके खाने के लिये (वयः प्र-हुताः आसुः) नाना व्यापक शक्तियां अग्नि में आहुतियों के समान प्रदत्त हैं। (यदा) जब (घोरासः) घोर तपस्वी जन (अमृत-त्वम् आशत) अमृत तत्त्व को प्राप्त करते हैं (आत् इत्) अनन्तर ही (दैव्यस्य) देव इन्द्रियों, प्राणों सूर्यादि लोकों में व्यापक (जनस्य) सर्वोत्पादक प्रभु की वे (चर्किरन्) गुण-स्तुति करते हैं।

ऋतस्य हि प्रसितिर्द्यौरुरु व्यचो नमो मह्य१रमतिः पनीयसी।
इन्द्रो मित्रो वरुणः सं चिकित्रिरेऽथो भगः सविता पूतदक्षसः॥४॥

भा०—(ऋतस्य प्रसितिः) महान् तेज का उत्तम बन्धनस्थान (द्यौः) सूर्य, (उरु व्यचः) महान् अन्तरिक्ष, और (अरमतिः) विशाल, (पनीयसी) अति स्तुत्य (मही) पृथिवी, वे (नमः) उसी के शासन में हैं। (इन्द्रः मित्रः वरुणः) विद्युत्, वायु, जल, (अथो) और (भगः) सेवन योग्य वा ऐश्वर्ययुक्त (सविता) सर्वोत्पादक, सर्वप्रकाशक सूर्य, (पूत-दक्षसः) ये सब पवित्र बल वाले होकर उसी ही के (नमः चिकित्रिरे) शासन का ज्ञान कराते हैं।

प्र रुद्रेण ययिना यन्ति सिन्धवस्तिरो महीमरमतिं दधन्विरे।
येभिः परिज्मा परियन्नुरु ज्रयो वि रोरुवज्जठरे विश्वमुक्षते ५॥२३॥

भा०—(ययिना रुद्रेण) वेग से जाने वाले ओर गर्जना सहित वेग से जाने वाले मेघ से प्रेरित हुई (सिन्धवः) वेग से बहने वाली जल-धाराएं (अरमतिम् महीम्) विशाल भूमि को (तिरः दधन्विरे) आच्छादित करती हैं। (येभिः) जिन मरुद्गणों से (परि-ज्मा) चारों ओर व्यापने वाला मेघ (उरु-ज्रयः) बहुत वेगवान् होकर (जठरे वि रोरुवत्) अन्त-रिक्ष में विविध गर्जना करता है। और (विश्वम् उक्षते) समस्त विश्व

पर जल वर्षण करता है। उसी प्रकार (सिन्धवः) वेगयुक्त गति वाले प्राणगण वा रुधिर प्रवाह (रुद्रैण) रुद्र रूप आत्मा से प्रेरित होकर (मही तिरः दधन्विरे) इस भूमि के विकार से बने देह को व्यापते हैं। (येभिः) जिन प्राणों से व्याप्त अति वेगवान् होकर हृदय (जठरे रोरुवत्) शरीर के मध्य में ध्वनि करता है और (विश्वम् उक्षते) समस्त देह को सेंचता है। इति त्रयोविंशो वर्गः ॥

क्राणा रुद्रा मरुतो विश्वकृष्टयो दिवः श्येनासो असुरस्य नीळयः।
तेभिश्चष्टे वरुणो मित्रो अर्यमेन्द्रो देवेभिरर्वशेभिरर्वशः ॥ ६ ॥

भा०—(रुद्राः मरुतः) सब को रुलाने वाले, प्राणगण, (क्राणाः) शरीर में सब कामना करने वाले हैं, वे (विश्व-कृष्टयः) समस्त मनुष्य-देहों में विद्यमान हैं। वे (श्येनासः) उत्तम रीति से देह में गति करते हुए (दिवः असुरस्य) तेजःस्वरूप प्राणों के दाता आत्मा के (नीडयः) आधारस्थान हैं। (अर्वशः अर्वशेभिः) अश्वों का स्वामी जिस प्रकार अश्वों से आगे बढ़ता है, उसी प्रकार (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, (मित्रः) मृत्यु से बचाने वाला (अर्यमा) प्राणों का नियन्ता, (इन्द्रः) इस देह का संचालक आत्मा, (तेभिः देवेभिः) नाना अर्थों, विषयों की कामना करने और ज्ञान को प्रकाशित करने वाले उन इन्द्रियगणों से (चष्टे) समस्त तत्वों को देखता है।

इन्द्रे भुजं शशमानास आशत सूरो दृशीके वृषणश्च पौंस्ये।
प्र ये न्वस्यार्हणा ततक्षिरे युजं वज्रं नृषदनेषु कारवः ॥ ७ ॥

भा०—(शशमानासः) शम का अभ्यास करने वाले साधक वा स्तुतिकर्त्ता जन (इन्द्रे) शत्रुहन्ता, तेजस्वी और ऐश्वर्यवान् पुरुष में और उसके आश्रय (भुजं) पालन और रक्षा को (आशत) प्राप्त करते हैं क्योंकि वह (दृशीके) देखने में (सूरः) सूर्य के समान तेजस्वी

और (पौंस्ये) पौरुष और बल कर्म में (वृषणः च) बलवान् मेघ, विद्युत् के तुल्य सबके जीवन, ऐश्वर्य, सुख, अन्न, जलादि का वर्षाने वाला है। और (ये नु) जो (अस्य अर्हणा प्र ततक्षिरे) इस प्रभु की नित्य अर्चना और स्तुति करते हैं वे (नृ-सदनेषु) मनुष्यों और प्राणों के विराजने के स्थानों में या नेतृपदों पर (युजं वज्रं कारवः) अन्यों को भी सत्कर्म में लगाने वाले बल को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

सूरश्चिदा हरितो अस्य रीरमदिन्द्रादा कश्चिद्भयते तवीयसः।
भीमस्य वृष्णो जठरादभिश्वसो दिवेदिवे सहुरिस्तन्नबाधितः॥८॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर के (तवीयसः इन्द्रात्) बलवान्, शत्रुहन्ता, तेजस्वी और मेघ, जल के विदारक सामर्थ्य वा ऐश्वर्यसे (हरितः सूरः चित्) तेजोमय सूर्य भी (भयते) भय करता है। (अस्य तवीयसः) इस बलशाली से (कः चित् भयते) सभी कोई वा जल वायु भी भय करता है। (भीमस्य वृष्णः) इस भयानक बरसते मेघ के तुल्य बलशाली, (अभिश्वसः) सर्वत्र श्वासवत् प्राण लेने वाले वायुवत् व्यापक इस प्रभु के (जठरात्) मध्य में (दिवे दिवे) प्रति दिन (सहुरिः) सबको पराजित करने वाला मेघ (अबाधितः) बाधा रहित होकर (स्तन्) गर्जता है।

स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन।
येभिः शिवः स्ववाँ एवयावभिर्दिवः सिषक्ति स्वयशा निकामभिः ९

भा०—(येभिः) जिन (एव-यावभिः) वेग से जाने वाले शक्तिशाली पदार्थों सहित (स्ववान्) स्वयं शक्तिशाली (शिवः) सब का कल्याणकारी (स्व-यशः) स्वयं अपने सामर्थ्य से यशस्वी है उन ही (नि-कामभिः) नितरां कान्तियुक्त जनों से वह (दिवः सिषक्ति) नाना कामनावान् जनों की अभिलाषाओं को पूर्ण करता है। हे विद्वान् पुरुषो ! (अद्य) आज,

उसी (रुद्राय) गर्जते-बरसते मेघ के तुल्य, सुखों के वर्षक दुष्टों को रुलाने वाले, (शिक्वसे) शक्तिशाली (क्षयद्-वीराय) वीर पुरुषों को नाश करने वाले, वीर सेनापति के तुल्य एवं (क्षयद्-वीराय) वीरों को बसाने वाले, की (नमसा स्तोमं दिदिष्टन) विनय भाव से स्तुति करो।

ते हि प्रजाया अभरन्त वि श्रवो बृहस्पतिर्वृषभः सोमजामयः।
यज्ञैरथर्वा प्रथमो वि धारयद्देवा दक्षैर्भृगवः सं चिकित्रिरे १०।२४

भा०—(बृहस्पतिः) महान् आकाश का पालक सूर्य और (वृषभः) जलवर्षक मेघ और (देवाः) सूर्य की रश्मियां ये सब (सोम-जामयः) जिस प्रकार 'सोम' अर्थात् ओषधि वनस्पतिगण को उत्पन्न करने वाले उनके बन्धुवत् हैं (ते) वे ही (प्रजायाः) समस्त उत्पन्न जीव-प्रजा के लिये (श्रवः वि अभरन्त) अन्न को नाना प्रकार से पुष्ट करते और प्रदान करते हैं उसी प्रकार (हस्पतिः) वेदवाणी का पालक गुरु और महती प्रकृति का स्वामी जगदीश्वर (वृषभः) सर्वश्रेष्ठ, सर्वसुखों और ज्ञानों का दाता गुरु और जगत्-बीज का निषेक्ता प्रभु और (देवाः) विद्वान् जन एवं लोकोत्पादक पञ्चमहाभूतगण ये सब (सोम-जामयः) शिष्य के बन्धु तुल्य एवं जीवगण के उत्पादक, बन्धुवत् हैं। वे जीवों के शरीर धारण में कारण हैं। (अथर्वा) प्रजाओं को शान्ति देने वाला प्रजापालक (प्रथमः) श्रेष्ठ जन (यज्ञैः) नाना यज्ञों से (श्रवः वि धारयत्) अन्न को उत्पन्न करे वही (श्रवः विधारयत्) श्रवणीय ज्ञान विविध प्रकार के शिष्यों को धारण करावे और (भृगवः) भूमि और गौवों को पोषण करने वाले (दक्षैः) बलों उत्साहों से (सं चिकित्रिरे) भली प्रकार ज्ञान करे इसी प्रकार (भृगवः) वेद वाणियों के धारक तपस्वी शिष्य जन (दक्षैः) नाना कर्म-साधनों से (श्रवः संचिकित्रिरे) श्रवणीय ज्ञान का भली प्रकार अभ्यास करें। इति चतुर्विंशो वर्गः॥

ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः ।
देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्र रोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे ११

भा०—(ते हि) वे दोनों (द्यावा पृथिवी) सूर्य और भूमि के तुल्य माता पिता (भूरि-रेतसा) बहुत बल वीर्य पराक्रम वाले, और (नराशंसः) सब मनुष्यों से स्तुति किया हुआ, (चतुरङ्गः) चार अंगों वाला (यमः) नियन्ता, (अदितिः) सूर्यवत् तेजस्वी, (देवः त्वष्टा) दानशील, तीक्ष्ण तेजस्वी, उत्तम शिल्पी, (द्रविणोदाः) धन का देने वाला सम्पन्न पुरुष और (ऋभुक्षणः) उत्तम अन्न, धन, तेज को भोगने वाले, महान् पुरुष, (रोदसी) दुष्टों को रुलाने वाले सेनापति और (मरुतः) वायुवत् बलशाली वीर, विद्वान् और वैश्यजन और (विष्णुः) व्यापक सामर्थ्य वाला प्रभु ये सब (अर्हिरे) पूजा करने योग्य हैं ।

उत स्य न उशिजामुर्विया कविरहिः शृणोतु बुध्न्यो३ हवीमनि ।
सूर्यामासा विचरन्ता दिविक्षिता धिया शमीनहुषी अस्य बोधतम् १२

भा०—(उत) और (उशिजां नः) उत्तम कामना वाले हमारी (उर्विया) बहुत २ स्तुति को (स्यः) वह (कविः) क्रान्तदर्शी अन्तर्यामी, (अहिः बुध्न्यः) सर्वाश्रय, सर्वव्यापक ज्ञानी प्रभु (हवीमनि) यज्ञ में (शृणोतु) श्रवण करे । और (सूर्यामासा) सूर्य और चन्द्र के तुल्य प्रकाशमान्, प्रतापी और आह्लादक जन, (दिविक्षिता) ज्ञान में निवास करने वाले, वा (दिवि क्षिता धिया विचरन्ता) आकाश और भूमि में बुद्धि और कर्म सामर्थ्य से विचरण करते हुए, विविध सुखों को भोगते हुए, उत्तम स्त्री पुरुष वर्ग (शमी-नहुषी) कर्मों द्वारा बद्ध रह कर (अस्य बोधतम्) इस प्रभु वा आत्मा का ज्ञान करें ।

प्र नः पूषा चरथं विश्वदेव्योऽपां नपादवतु वायुरिष्टये ।
आत्मानं वस्यो अभि वातमर्चत तदश्विना सुहवा यामनि श्रुतम् १३

भा०—(पूषा) पृथ्वीवत् सब का पोषण करने वाला प्रभु (नः चरथम् प्र अवतु) हमारे चर, प्राणिवर्ग की रक्षा करे। (विश्व-देव्यः) सब देवों का आश्रय, (अपां नपात्) जलों को न गिरने देने वाले (वायुः) वायु के सदृश बलवान् सर्वप्राणप्रद प्रजा को न गिरने देने वाला मुख्य पुरुष (नः अवतु) हमारी रक्षा करे। हे विद्वान लोगो ! आप लोग (वातम्) सर्वव्यापक (आत्मानम्) आत्मा को (वस्यः अभि अर्चत) सर्वश्रेष्ठ रूप में उपासना करो। (तत्) उसी महान् आत्मा के सम्बन्ध में हे (सु-हवा) उत्तम यज्ञाहुति देने वाले स्त्री पुरुषो (यामनि) जीवन के संयमपूर्वक व्यवहार युक्त मार्ग में रह कर (श्रुतम्) ज्ञान का श्रवण किया करो।

विशामासामभयानामधिक्षितं गीर्भिरु स्वयशसं गृणीमसि।
ग्नाभिर्विश्वाभिरदितिमनर्वणमक्तोर्युवानं नृमणा अधा पतिम् १४

भा०—(आसाम् अभयानाम् विशाम्) इन भय रहित प्रजाओं के बीच (अधि-क्षितम्) राजा के तुल्य सब के ऊपर शासक रूप से विराजते हुए, (स्व-यशसम्) अपने पराक्रम और बल से यशस्वी, उस प्रभु की हम (गीर्भिः गृणीमसि) नाना वेद-वाणियों से स्तुति करते हैं। उस (अदितिं) अखण्ड, अविनाशी, (अनर्वाणम्) अन्य से न चलने वाले, स्वतन्त्र, (युवानम्) जवान के तुल्य सदा बलशाली, (पतिम्) गृहपति के तुल्य समस्त प्रजाओं के पालक, (नृमनाः) मनुष्यों के बीच ज्ञानी के तुल्य उन पर अनुग्रह करने वाले, प्रभु की (अक्तोः) रात्रि दिन हम (विश्वाभिः ग्नाभिः) समस्त वाणियों से (गृणीमसि) स्तुति करते हैं।

रेभदत्र जनुषा पूर्वो अङ्गिरा ग्रावाण ऊर्ध्वा अभि चक्षुरध्वरम्।
येभिर्विहाया अभवद्विचक्षणः पाथः सुमेकं स्वधितिर्वनन्वति १५।२५

भा०—(अत्र) इस संसार में (पूर्वः अंगिराः) सब से पूर्व विद्यमान एवं सबका पालक प्रभु ज्ञानवान् होकर (जनुषा) जगत् की

उत्पत्ति द्वारा (रेभत्) उपदेश करता है। (ग्रावाणः) उपदेष्टा (ऊर्ध्वाः) उत्तम कोटि के ज्ञानी पुरुष उसी (अध्वरम्) अविनाशी प्रभु का (अभि चक्षुः) सर्वत्र, सब प्रकार से साक्षात् करते हैं। और (अर्ध्वा ग्रावाणः) ऊपर के मेघगण जिस महान् यज्ञ स्वरूप को दर्शाते हैं। (येभिः) जिनसे (विचक्षणः) विश्व का द्रष्टा (विहायाः अभवत्) आकाशवत् व्यापक महान् है। वही (स्व-धितिः) अपने सामर्थ्य से जगत् को धारण करने वाला, (सुमेकं) उत्तम जलसेचक, वर्धक और उत्तम मेघ से युक्त (पाथः) पालनकारी जलयुक्त मेघ को (वनन्वति) जलादि से युक्त मार्ग में प्रेरित करता है। सुमेकं सुमेघयुक्तं। अथवा मेकशब्दो मुख-वचनः। इति केचिद्। आद्यः संवत्सरो, क्रतवो वा इति स्कन्दस्वामी। ऋ० १। ११३। ३॥ इति पञ्चविंशो वर्गः॥

[६३]

ऋषिस्तान्वः पार्थ्यः। विश्वेदेवा देवताः॥ छन्दः—१ विराट् पङ्क्तिः। ४ पादनिचृत् पङ्क्तिः। ५ आर्चीभुरिक् पङ्क्तिः। ६, ७, १०, १४ निचृत् पङ्क्तिः। ८ आस्तारपङ्क्तिः। ९ अक्षरैः पङ्क्तिः। १२ आर्ची पङ्क्तिः। २, १३ आर्ची-भुरिगनुष्टुप्। ३ पादनिचृदनुष्टुप्। ११ न्यङ्कुसारिणी बृहती। १५ पादनिचृद् बृहती। पञ्चदशर्चं सूक्तम्॥

मही द्यावापृथिवी भूतमुर्वी नारी यह्वी न रोदसी सदं नः।
तेभिर्नः पातं सह्यस एभिर्नः पातं शूषणि॥ १॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमिवत् स्त्री पुरुषो! आप दोनों (महि उर्वी) खूब विस्तृत और (नारी) उत्तम नरनारी होवो और (नः) हमारे बीच (यह्वी) शक्ति सामर्थ्य में महान् (रोदसी न) आकाश और भूमि के तुल्य परस्पर उपकारक (सदं) सदा होवें। अथवा आप दोनों (नः) हमें (सह्यसः) पराजयकारी

शत्रु से वा शत्रु-पराजयी राजा के (तेभिः) उन २ उपायों से (पातम्) रक्षा करो और (शूषणि) बल के निमित्त, (एभिः) इन २ उपायों से (नः पातम्) हमारी रक्षा करो ।

यज्ञेयज्ञे स मर्त्यो देवान्त्सपर्यति ।

यः सुम्नैर्दीर्घश्रुत्तम आविवासात्येनान् ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (दीर्घ-श्रुत्तमः) अति दीर्घ काल तक अनेक शास्त्रों का श्रवण करने वाला, (एनान् देवान् आ विवास) उन अनेक विद्वानों की सेवा शुश्रूषा करता है, (सः मर्त्यः) वह मनुष्य (यज्ञे यज्ञे) समस्त यज्ञों में (देवान् सपर्यति) उत्तम विद्वान् जनों की (सुम्नैः) नाना सुख-साधनों से सेवा करता है ।

विश्वेषामिरज्यवो देवानां वार्महः ।

विश्वेहि विश्वमहसो विश्वे यज्ञेषु यज्ञियाः ॥ ३ ॥

भा०—हे (विश्वेषाम्) सब के (इरज्यवः) स्वामी जनो ! (देवानाम्) देवों, वीरों, विद्वानों का (महः वाः) बड़ा भारी धन है । (विश्वे) आप सब लोग (हि) निश्चय से (विश्व-महसः) समस्त तेजों के धारण करने वाले, सर्व पूज्य, और (यज्ञेषु) यज्ञ के अवसरों पर (यज्ञियाः) यज्ञ अर्थात् दान-मान और पूजा के योग्य हो ।

ते घा राजानो अमृतस्य मन्द्रा अर्यमा मित्रो वरुणः परिज्मा ।

कद्रुद्रो नृणां स्तुतो मरुतः पूषणो भगः ॥ ४ ॥

भा०—(अर्यमा) न्यायकारी, शत्रुओं और दुष्ट जनों का नियन्त्रण करने वाला (मित्रः) सब का स्नेही, (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, (परि-ज्मा) सर्वत्र व्यापक, और (नृणां स्तुतः) मनुष्यों में प्रशंसित (रुद्रः) दुष्टों को रुलाने वाला, रोगों, दुःखों को दूर करने वाला,(पूषणः मरुतः) सब

के पोषक, दुष्टों के मारने वाले, वायुवत् तीव्र, वा स्थान २ पर जाने वाले मरुद् अर्थात् वैश्यगण, वीरगण और वर्षा जनक वायुगण और (भगः) ऐश्वर्य, वा स्वामी ये सब जन (मन्द्राः) स्तुत्य हैं (ते घ) वे सब जन (अमृतस्य राजानः) अमृत, कभी न नाश होने वाले अन्न, और ज्ञान, अमर आत्मा वा नित्य सुख के (राजानः) राजा हैं, वे उससे चमकने वाले हैं।

उत नो नक्तमपां वृषण्वसू सूर्यामासा सदनाय सधन्या।
सचा यत्साद्येषामहिर्बुध्नेषु बुध्न्यः ॥ ५ ॥ २६ ॥

भा०—(उत) और (यत्) जब (बुध्न्यः अहिः) अन्तरिक्ष मेघ वा सूर्य के तुल्य (बुध्न्यः) ज्ञाननिष्ठ, अमृत, अविनाशी आत्मा (एषाम् बुध्नेषु) इन प्राणों के बीच में (सचा सादि) इन के साथ इन में राजा वा प्रजापति के तुल्य विराजता है, तब (अपां) प्राणों के बीच (वृषण्वसू) बलशाली दो प्राण, (सूर्या मासा) जगत् में चन्द्र सूर्य के तुल्य (सधन्या) एक साथ गति करते हुए (सदनाय) यहां रहने के लिये (नः) हमें (नक्तं) रात्रिकाल में भी (उरुष्यताम्) हमारी रक्षा करें। इति षड्विंशो वर्गः ॥

उत नो देवावश्विना शुभस्पती धामभिर्मित्रावरुणा उरुष्यताम्।
महः स राय एषतेऽति धन्वेव दुरिता ॥ ६ ॥

भा०—(उत) और (अश्विना देवौ) वेग से जाने वाले देव, सुखप्रद, (शुभः पती) उत्तम कल्याणकारी कर्मों, व्रतों के पालक (मित्रा-वरुणौ) मित्र और वरुण, दिन और रात्रिवत् विद्वान् स्त्री और पुरुष, एवं उत्तम जन, (नः) हमारी (धामभिः) अनेक धारक-पोषक सामर्थ्यों से (उरुष्यताम्) रक्षा करें। (सः) वह (महः) महान् (रायः) ऐश्वर्यों को (आ ईषते) प्राप्त करता है और (धन्व इव दुरिता अति)

जल के समान दुखों और पापों को पार कर जाता है, जिसकी वे रक्षा करते हैं।

उत नो रुद्रा चिन्मृळतामश्विना विश्वे देवासो रथस्पतिर्भगः।
ऋभुर्वाज ऋभुक्षणः परिज्मा विश्ववेदसः ॥ ७ ॥

भा०—(उत) और (नः) हमें (रुद्रा चित् अश्विना) उत्तम उपदेश देने वाले, स्त्री पुरुष (मृडताम्) सुखी करें। (विश्वे देवासः) समस्त विद्वान् सुखी करें। (रथः-पतिः भगः) रथों का पालक, स्वामी ऐश्वर्यवान् हमें सुखी करे। (ऋभुः) सत्य ज्ञान से चमकने वाला (वाजः) बलवान्, ज्ञानी, ये (ऋभुक्षणः) सब महान् और (विश्व-वेदसः) समस्त ज्ञानों और धनों के स्वामी और (परि-ज्मा) सर्वत्रगामी वायु ये सब हमें सुखी करें।

ऋभुर्ऋभुक्षा ऋभुर्विधतो मद आ ते हरी जूजुवानस्य वाजिना।
दुष्टरं यस्य साम चिदृधग्यज्ञो न मानुषः ॥ ८ ॥

भा०—(ऋभुक्षाः ऋभुः) वह महान् प्रभु, सत्य ज्ञान, प्रकाश से चमकने वाला है, (विधुतः) जगत् को रचने वाले प्रभु का (मदः) हर्ष और आनन्द भी (ऋभुः) महान् है। हे प्रभो! (जुजुवानस्य) सब को सन्मार्ग में प्रेरणा करने वाले (ते हरी) तेरे धारण और आकर्षण करने वाले, महान् सामर्थ्य वाले (वाजिना) बल युक्त सूर्य चन्द्रवत् दोनों बल (आ) सर्वत्र विद्यमान हैं (यस्य साम चित् दुः-स्तरं) जिसका एक समान बल भी दुस्तर, अपार, सर्वोपरि है और जो स्वयं (मानुषः नः यज्ञः ऋधक्) सब मनुष्यों के प्रति एक समान पूजनीय और सब से पृथक्, सब से महान् है।

कृधी नो अह्रयो देव सवितः स च स्तुषे मघोनाम्।
सहो न इन्द्रो वह्निभिर्न्येषां चर्षणीनां चक्रं रश्मिं न योयुवे ॥९॥

भा०—हे (देव सवितः) समस्त सुखों और बलों को देने वाले ! हे जगत् के उत्पन्न करने और चलाने वाले ! (नः अह्रयः कृधि) हमें ऐसा उत्साही आर निष्पाप कर कि हमें कभी लज्जा से मुंह झुकाना न पड़े। (सः च) वह तू (मघोनाम्) ऐश्वर्यवानों में (स्तुषे) सब से अधिक स्तुति किया जाता है । (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रभु ही (एषाम् चर्षणीनाम्) इन समस्त लोकों के (सहः) वशकारी बल को (रश्मिम् चक्रं न) अश्वों के वशकारी रासों और रथ को चलाने वाले चक्र के तुल्य ही (नि यो युवे) नियन्त्रित करता है ।

ए॒षु द्या॑वापृथिवी धातं म॒हद॒स्मे वी॒रेषु॑ वि॒श्वच॑र्षणि॒ श्रवः॑ ।
पृ॒क्षं वाज॑स्य सा॒तये॑ पृ॒क्षं रा॒योत तु॒र्वणे॑ ॥ १० ॥ २७ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि के तुल्य राजा और प्रजा के वर्गो ! (अस्मे एषु वीरेषु) हमारे इन वीरों में (महत्) बड़ा (विश्व चर्षणि) सर्वमनुष्योपयोगी, वा समस्त पदार्थों के तत्व को दर्शाने वाला (श्रव) श्रवण योग्य ज्ञान (धातम्) प्रदान करो । और (वाजस्य सातये) ज्ञान और बल को प्राप्त करने के लिये (महत् पृक्षम् धातम्) बहुत वड़ा परस्पर का प्रेम और अन्न प्रदान करो, (उत राया तुर्वणे पृक्षं धातम्) और शत्रुओं को पार करने वा उनको नाश करने के लिये धन द्वारा (पृक्षं) परस्पर का सम्पर्क प्रदान कराओ। इति सप्तविंशो वर्गः ॥

ए॒तं शंस॑मिन्द्रास्म॒युष्ट्वं कूचि॒त्सन्तं॑ सहसावन्न॒भिष्ट॑ये
सदा॑ पाह्य॒भिष्ट॑ये । मे॒दतां॑ वे॒दता॑ वसो ॥ ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्य के देने हारे प्रभो ! हे (सहसावन्) बलशालिन् ! (त्वम् अस्मयुः) तू हमें चाहता हुआ, हमारा स्वामी (शंसम्) किसी भी स्थान पर रहते हुए इस स्तुति करने हारे भक्त (अभिष्टये (कूचित् सन्तं एतं सदा पाहि) उसकी अभीष्ट सिद्धि के लिये निरन्तर रक्षा

कर। हे (वसो) सब में बसने वाले सर्वव्यापक, (मेदताम् अभिष्टये) स्नेह करने वालों के बीच में भी अपने स्तोताओं की अभीष्ट सिद्धि के लिये तू (सदा वेदत) सदा जान।

एतं मे स्तोमं तना न सूर्ये द्युतद्यामानं वावृधन्त नृणाम्।
संवननं नाश्व्यं तष्टेवानपच्युतम् ॥ १२ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो! (सूर्ये तना न) सूर्य में जिस प्रकार रश्मियें विस्तृत प्रकाशमय ज्योति को विस्तारित करती हैं इसी प्रकार (सूर्ये) सब के सञ्चालक प्रभु के निमित्त (मे) मेरे (द्युतत्-यामानम्) चमकते मार्ग वाले, (एतम् स्तोमम्) इस स्तुति वचन को (वावृधन्त) बढ़ाओ बलशाली करो, अथवा मेरे लिये उस प्रभु की स्तुति वचनों का उपदेश करो। और (तष्टा इव) जिस प्रकार शिल्पी (नृणां संवननं:) शत्रु मनुष्यों को मारने वाले (अश्वं) शीघ्रगामी अश्वों से चलने वाले, (अनपच्युतं) न टूटने फिसलने वाले, रथ को बढ़ा कर बनाता है, उसी प्रकार वे विद्वान् लोग (नृणां संवननं) मनुष्यों में विभक्त करने योग्य, उनके सेवनीय, (अश्व्यं) अश्वों, इन्द्रियों से युक्त (अनपच्युतम्) दृढ़ शरीर वा स्तुति वचन की वृद्धि करें।

वावर्त येषां राया युक्तैषां हिरण्ययी।
नेमधिता न पौंस्या वृथेव विष्टान्ता ॥ १३ ॥

भा०—(येषाम्) जिसकी स्तुति-उपासना, (राया युक्ता) देने योग्य धन से युक्त हैं, (एषां) उनकी वाणी (हिरण्ययी) हित और रमणीय (ववर्त) होती है। और (नेमधिता) संग्राम में उनके (पौंस्या) बलों के समान जिनके पौरुष क (वृथा इव) अनायास ही यन्त्र घट माला के तुल्य (विष्ट-अन्ता) एक दूसरे से गुथे अन्तों वाले होते हैं। जिस प्रकार यन्त्र-घट माला में रस्सी के छोर एक दूसरे से बद्ध रहते हैं

उसी प्रकार उनके पौरुषों या बलों के आदि अन्त भाग परस्पर सम्बन्ध होते हैं। उनकी वाणी भी दातव्य धन वा सुख से युक्त, अथवा अर्थ-सम्पन्न, परस्पर, सम्बद्ध, ओजस्विनी होती है।

प्र तद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु ।
ये युक्त्वाय पञ्च शतास्मयु पथा विश्राव्येषाम् ॥ १४ ॥

भा०—(ये) जो (अस्मयु) हमें चाहते हुए, (पञ्चशता युक्त्वाय) पांच सौ को योग कर (पथा) मार्ग से गमन करते हैं (एषां विश्रावि) उनका विविध प्रकार का यश सुनाई देता है वा उनका ज्ञान विशेष रूप से श्रवण करने योग्य है, मैं (तत) उस ज्ञान को (दुःशीमे) पराजित न होने वाले, (पृथवाने) सर्वत्र विस्तृत, (वेने) कान्तियुक्त, (रामे) रमण करने योग्य, (असुरे) बलवान् प्राणप्रद प्रभु के सम्बन्ध में (मघवत्सु) अनेक धन सम्पन्न जनों के बीच (प्र वोचम्) उसका प्र वचन करूं।

अधीन्न्वत्र सप्ततिं च सप्त च । सद्यो दिदिष्ट तान्वः सद्यो दिदिष्ट पार्थ्यः सद्यो दिदिष्ट मायवः ॥ १५ ॥ २८ ॥

भा०—(तान्वः) तनु, देह के ज्ञान का वेत्ता, (अत्र) इस सम्बन्ध में (सप्त च सप्ततिं च) ७७ नाड़ियों, तन्तु केन्द्रों का (अधि दिदिष्ट) उपदेश करता है, (पार्थ्यः) विस्तृत शक्ति का स्वामी भी (सद्यः) शीघ्र ही ७७ को (अधि दिदिष्ट) वश करे और (मायवः सद्यः दिदिष्ट) ज्ञान की कामना वाला भी इन ७७ के सम्बन्ध में ज्ञान याचना करे।
इत्यष्टाविंशो वर्गः ॥

[९४]

ऋषिरर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ ग्रावाणो देवता ॥ छन्दः—१, ३, ४, १८, १३ विराड् जगती। २, ६, १२ जगती। ८, ९ आर्चीस्वराड् जगती। ५, ७ निचृत् त्रिष्टुप्। १४ त्रिष्टुप् ॥ चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः ।
यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः १

भा०—(एते) ये विद्वान् पुरुष (प्र वदन्तु) उत्तम २ उपदेश करें, और (वयम्) हम भी (ग्रावभ्यः) उत्तम विद्वानों की (वाचम्) वाणी को (प्र वदाम) उत्तम रीति से अन्यों को उपदेश करें, हे विद्वान् लोगो ! आप भी (वदद्भ्यः) भाषण करने वालों के लाभार्थ (वाचं वदत) उत्तम वाणी बोलो । (यत्) जब (अद्रयः) आदर योग्य (पर्वताः) मेघ तुल्य प्रजा शिष्यादि के पोषक, ((आशवः) वेगवान्, बलवान्, (सोमिनः) वीर्यवान्, वा सोम, पुत्र शिष्यादि के गुरु जन, (साकम्) एक साथ (इन्द्राय) तत्त्वदर्शी गुरु वा प्रभु के (श्लोकं) वेदमय उपदेश को (भरथ) प्राप्त करो और अन्यों तक पहुंचाओ ।

एते वदन्ति शतवत्सहस्रवदभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः ।
विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत २

भा०—(एते ग्रावाणः) ये ज्ञान का उपदेश करने वाले (शतवत् सहस्रवत्) सौ २ और सहस्रों शिष्यों वाले (वदन्ति) उपदेश करते हैं और वे (सु-कृतः) उत्तम कर्म करने वाले, (विष्ट्वी) गृहों में प्रवेश करके (हरितेभिः आसभिः) तेजस्वी मुखों से (सु-कृत्यया) उत्तम २ कृत्यों को (अभि क्रन्दन्ति) सर्वत्र उपदेश करते हैं। ऐसे उत्तम जनो ! आप लोग (पूर्वे) हे पूर्व आदर योग्य, विद्या और आयु में वृद्ध जनो ! आप लोग (होतुः चित् हविः-अद्यम् आशत) सात्विक दानशील जन के अन्नादि भोग्य पदार्थ का आदरपूर्वक भोजन करो, उसे स्वीकार करो ।

एते वदन्त्यविदन्नना मधु न्यूङ्खयन्ते अधि पक्व आमिषि ।
वृक्षस्य शाखामरुणस्य बप्सतस्ते सूभर्वा वृषभाः प्रेमराविषुः ३

भा०—(वृक्षस्य पक्वे आमिषि) वृक्ष के पके फल में जिस प्रकार (मधु अविदन्) मधुर रस आते हैं, वैसे ही उसको (अना) मुख से बतलाते और उसको पाते हैं इसी प्रकार (एते) ये विद्वान् लोग (वृक्षस्य) वृक्ष रूप देह के (आमिषि पक्वे अधि) आयु रूप फल के परिपाक होने पर अर्थात् आयु के बढ़ने पर (अना) मुख से (मधु) वेद ज्ञान का लाभ करते हैं और उसी का (वदन्ति) उपदेश करते हैं और (नि ऊंखयन्ते) नियम से उसका पुनः २ अभ्यास करते हैं। (ते सूभर्वाः) वे उत्तम सुख जनक फल वा अन्न का भोग करने वाले, (वृषभाः) उत्तम बलवान् जन, (अरुणस्य) तेजोमय, दीप्तियुक्त (वृक्षस्य शाखां बप्सतः) वृक्ष की शाखा का खाजाने वाले अग्नि के तुल्य संसार, वा वेद रूप वृक्ष की (शाखां बप्सतः) शाखा अर्थात् कांड का भोग करने वाले आत्मा वा (वृक्षस्य शाखा वप्सतः) महान् वृक्ष रूप संसार की व्यापक कारण या आश्रय रूप प्रकृति का भोग करने वाले परमेश्वर के विषय में वे (प्र ईम् अराविषुः) खूब अच्छी प्रकार वर्णन करते हैं।

बृहद्वदन्ति मदिरेण मन्दिनेन्द्रं क्रोशन्तोऽविदन्नना मधु ।
संरभ्या धीराः स्वसृभिरनर्तिषुराघोषयन्तः पृथिवीमुपब्दिभिः ॥४॥

भा०—(एते) ये (मन्दिना) स्तुति युक्त, (मदिरेण) हर्षप्रद, स्तुति वचन से (बृहत्) उस महान् प्रभु का (वदन्ति) उपदेश करते हैं, (अना) मुख से (इन्द्रम्) उस प्रभु को (क्रोशन्तः) पुकारते हुए (मधु अविदन्) उसके हर्षजनक ज्ञान को स्वामी से अन्नवत् प्राप्त करते हैं। वे (उपब्दिभिः) नाना उपदेशों से (पृथिवीम् आघोषयन्ति) गर्जनाओं से मेघों के तुल्य भूमि को आघोषित करते हुए (सं-रभ्याः) कार्य में दृढोद्योगी होकर (धीराः) बुद्धिमान् जन (स्वसृभिः) स्वतः चलने वाली शक्तियों या वाणियों सहित वा भगनीवत् सहयोगिनी प्रजाओं के साथ

(अनर्त्तिषुः) प्रसन्नता से नृत्य करते, आनन्द उल्लास का अभिनय करते हैं। वे प्रभु के प्रेम और उल्लास में नाच उठते हैं। खूब प्रसन्न होते हैं।

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः।
न्यङ्नि यन्त्युपरस्य निष्कृतं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्वितः॥५॥२९॥

भा०—(द्यवि) सूर्य में जिस प्रकार (सु-पर्णाः) रश्मिगण (कृष्णाः) जलाकर्षण करने वाले, (अनर्तिषुः) विविध स्थानों पर जाते हैं, (सूर्य-श्वितः) सूर्य की वे श्वेत किरण (पुरु रेतः दधिरे) बहुतसा जल धारण करते और (उपरस्य निष्कृतम् नियन्ति) मेघ का रूप धर लेते हैं (वाचम् अक्रत) बिजुली की गर्जना करते हैं उसी प्रकार (द्यवि) तेजोमय (आखरे) सर्वत्र चारों ओर सुखमय परमेश्वर में मग्न (सुपर्णाः) उत्तम मार्ग से जाने वाले, (कृष्णाः) तपस्वी, अपने देह और अन्तःकरण के दोषों का कर्षण करने वाले (इषिराः) शुभ इच्छा वाले, सन्मार्ग से जाने वाले, (वाचम् उप अक्रत) वाणी का उच्चारण करते, उपासना स्तुति प्रार्थना करते, (आ अनर्त्तिषुः) नाना हर्ष-प्रदर्शक क्रीड़ाएं करते हैं और (उपरस्य) मेघ के तुल्य सुखदायक प्रभु के (निष्कृतं नि यन्ति) स्थान को प्राप्त करते हैं, वे (सूर्यश्वितः) सूर्य के समान तेजस्वा जन (पुरु रेतः दधिरे) बहुत २ बल सामर्थ्य धारण करते हैं।

उग्रा इव प्रवहन्तः समायमुः साकं युक्ता वृषणो बिभ्रतो धुरः।
यच्छ्वसन्तो जग्रसाना अराविषुः शृण्व एषां प्रोथथो अर्वतामिव॥६

भा०—प्राणों का वर्णन। (उग्राः इव प्रवहन्तः) वेगवान् बहते वायु के झकोरों के समान वा (उग्राः इव) बलवान् वीर पुरुषों के समान वे (सम् आयमुः) एक साथ आते वा (सम् आयमुः) एक साथ नियम में बंध कर कार्य करते हैं। (साकम् युक्ताः वृषणः) जिस प्रकार एक साथ जुते बैल (धुरं बिभ्रतः) शकट के धुरे का भाग धारण करते हैं उसी

प्रकार वे भी देह में (साकम् युक्ताः) एक साथ लगे हुए, (वृषणः) बलवान् होकर (धुरः बिभ्रतः) धारण करने वाले देह के अंगों को पुष्ट करते हैं। (यत्) जब वे प्राणगण (श्वसन्तः) श्वास लेते हुए (जग्रसानाः) अन्नवत् वायु को भीतर ग्रास करते हुए (अराविषुः) ध्वनि करते हैं तब (एषाम्) इनका (अर्वताम् इव प्रोथथः शृण्वे) वेगवान् अश्वों के तुल्य ही शब्द श्रवण करता हूं।

दशा॑वनिभ्यो॒ दश॑कक्ष्येभ्यो॒ दश॑योक्त्रेभ्यो॒ दश॑योजनेभ्यः।
दशा॑भीशुभ्यो अर्चता॒जरे॑भ्यो॒ दश॒ धुरो॒ दश॑ यु॒क्ता वह॑द्भ्यः ॥७॥

भा०—(दश-अवनिभ्यः) दश गतियों, वा अंगुलियों के समान दश अंगों वाले, (दश-कक्ष्येभ्यो) दश प्रकोर के कर्मों का प्रकाश करने वाले, (दश योक्त्रेभ्यः) दश प्रकार की योजनाओं वाले, (दश-अभीशुभ्यः) दश प्रकार के नाना कर्मों और पदार्थों को भोगने या वश करने वाले, (अजरेभ्यः) शरीर को सञ्चालित करने वाले, (वहद्भ्यः) देह को धारण करने वाले प्राणों के (दश धुरः) दश प्रकार के धारण बलों को (अर्चत) वर्णन करो, उनका ज्ञान करो। वे दशों इस देह में (युक्ताः) रथ में अश्व के समान नियुक्त हैं।

ते अद्र॑यो॒ दश॑यन्त्रास आ॒शव॒स्तेषा॑मा॒धान॒ं पर्ये॑ति हर्य॒तम्।
त ऊं सु॒तस्य॑ सो॒म्यस्यान्ध॑सो॒ऽशोः पी॒यूषं॑ प्रथ॒मस्य॑ भेजिरे ॥८॥

भा०—(ते) वे (अद्रयः) नाना भोगों के भोगने वाले, (दश-यन्त्रासः) दश प्रकार के यन्त्र, अर्थात् उपकरणों के स्वामी, (आशवः) वेग से कार्य करने वाले हैं। (तेषाम्) उनका (हर्यतम्) अति कान्तियुक्त, अति सुन्दर, चाहने योग्य, (आधानम्) आश्रय आत्मा (परि एति) सर्वत्र जाता है, (ते उ) और वे (प्रथमस्य) सर्वश्रेष्ठ, उस सर्वप्रथम विद्यमान (सोम्यस्य सुतस्य अन्धसः) अभिषुत सोम के वा अन्न के (पीयू-

षम्) रस के समान उस (सुतस्य) सर्वप्रेरक (सोम्यस्य) वीर्यवान् (अन्धसः) प्राण धारक आत्मा के भी (पीयूषम्) रस को (भेजिरे) सेवन करते हैं। इसी प्रकार विद्वान् लोग भी दस इन्द्रिय रूप यन्त्रों वाले होकर उस परब्रह्म का सेवन करते हैं।

ते सो॑मा॒दो हरी॒ इन्द्र॑स्य निंसते॒ऽशुं दु॒हन्तो॒ अध्या॑सते॒ गवि॑ ।
तेभि॑र्दु॒ग्धं प॑पि॒वान्त्सो॒म्यं मध्विन्द्रो॑ वर्धते॒ प्रथ॑ते वृ॒षाय॑ते ॥ ९ ॥

भा०—(ते सोम-अदः) वे सोम, प्रेरक आत्मा की शक्ति को प्राप्त करने वाले (इन्द्रस्य हरी निंसते) उस ऐश्वर्यवान् आत्मा के ज्ञान और कर्म दोनों रूपों को प्राप्त करते हैं, वे (गवि) भूमि पर या वाणी द्वारा (अंशुम्) उस व्यापक प्रभु के प्रकाश को (दुहन्तः) गौ में से गो-दुग्ध के समान उसे प्राप्त करते हुए, (गवि अधि आसते) उस वाणी में ही आश्रय लेते हैं। इसी प्रकार अंशु अर्थात् भोक्तव्य अन्न रस प्राप्त करते हुए कृषकों के तुल्य (गवि) गौ अर्थात् पृथिवी के विकार रूप देह में विराजते हैं। उन प्राणों द्वारा (दुग्धं) दुहे गये, प्राप्त किये गये (सोम्यं मधु) सोम्य मधु, ईश्वरीय ज्ञान रस को, (पपिवान्) पान करता हुआ (इन्द्रः) आत्मदर्शी पुरुष, (वर्धते) वृद्धि को प्राप्त करता है, (प्रथते) बल और सामर्थ्य में बढ़ता और (वृषायते) सुखों के वर्षा करने वाले मेघ के तुल्य सर्वसुखकारी हो जाती है।

वृषा॑ वो अं॒शुर्न किला॑ रिषाथ॒नेळा॑वन्तः॒ सद॒मित्स्थ॒नाशि॑ताः ।
रै॒वत्ये॑व म॒हसा॒ चार॑वः स्थन॒ यस्य॑ ग्रावाणो॒ अजु॑षध्वमध्व॒रम् १०।३०

भा०—(वः अंशुः) आप लोगों में व्यापक प्रभु वा आत्मा जो (वृषा) समस्त सुखों का वर्षाने वाला, एवं बलवान् है। तो (न किल रिषाथन) आप लोग कभी नाश को प्राप्त नहीं हो सकते। (सदम् इत्) सदा ही, (इडावन्तः) अन्न, वाणी, कर्म फलों और भूमि आदि से युक्त और

(आशिताः) भोजन द्वारा तृप्त किये जाते (स्थन) रहो। हे (ग्रावाणः) विद्वान् उपदेष्टा लोगो ! (यस्य अध्वरम्) जिसके हिंसारहित यज्ञ को (अजुषध्वम्) सेवन करते हो, (रैवत्याः इव) धनवान् पुरुषों के समान (महसा) महान् सामर्थ्य से (चारवः) उत्तम आचार युक्त (स्थन) होकर रहो। इति त्रिंशो वर्गः ॥

तृदिला अतृदिलासो अद्रयोऽश्रमणा अशृथिता अमृत्यवः ।
अनातुरा अजराः स्थामविष्णवः सुपीवसो अतृषिता अतृष्णजः ११

भा—हे विद्वान् और वीर लोगो ! आप लोग (तृदिलाः) दुःखों और दुष्टों को तथा संशयों के काटने वाले, और (अतृदिलासः) स्वयं कभी छिन्न भिन्न, न होने वाले, निराशा से रहित, अच्छिन्न, संगठित होवो। और आप लोग (अद्रयः) आदर योग्य (अश्रमणाः) कार्य करते हुए कभी न थकने वाले, बलशाली, (अश्थिताः) सत्कार्य में शिथिल न होने वाले, (अमृत्यवः) मृत्यु से रहित, (अनातुराः) न घबराने वाले, (अजराः) जरा, अर्थात् बुढ़ापे से रहित, (अमविष्णवः) सदा गतिशील, (सुपीवसः) खूब हृष्ट पुष्ट, (अतृषिताः) तृष्णा, लोभ से रहित, (अतृष्णजः) निस्पृह, निर्मोह (स्थ) होवो।

ध्रुवा एव वः पितरो युगेयुगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते ।
अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रवुः॥१२॥

भा०—हे विद्वान् और वीर पुरुषो ! (वः पितरः) आप लोगों के पालक दलपति लोग, (ध्रुवाः एव) सदा स्थिर, दृढ़ रहें और (युगे-युगे) समय २ पर (क्षेम-कामासः) सदा सब का कल्याण और रक्षण करने की इच्छा वाले होकर (सदसः) भवनों के तुल्य (युंजते) मनोयोग देवें। वे (अजुर्यासः) जरारहित, (हरि-साचः) मनुष्यों का समवाय बनाने वाले, (हरिद्रवः) अश्वों के द्वारा वेग से जाने में समर्थ (रवेण)

गर्जना ध्वनि से मेघोवत् (द्याम् पृथिवीम्) आकाश और पृथिवी में (आ अशुश्रवुः) अपने संदेश सुनाने वाले और अन्यों का सुनने वाले होवें।

तदिद्वदन्त्यद्रयो विमोचने यामन्नञ्जस्पा इव घेदुपब्दिभिः।
वपन्तो बीजमिव धान्याकृतः पृञ्चन्ति सोमं न मिनन्ति बप्सतः १३

भा०—वे (अद्रयः) आदर योग्य, निर्भय जन (विमोचने) विविध संकटों से मोक्ष प्राप्त करने के निमित्त (यामन्) यम नियम पालन रूप सन्मार्ग में (तत् इत्) उसी परमेश्वर का (वदन्ति) उपदेश करें। वे (अञ्जःपा इव) व्यक्त ज्ञान-प्रकाश का रक्षण करने वाले विद्वानों और धान्य की रक्षा करने वाले कृषकों के तुल्य (उपब्दिभिः) उपदेश-ध्वनियों से (धान्य-कृतः) धान्य बोने वालों के तुल्य (बीजम् इव वपन्तः) बीजों का वपन करते हुए वा (धान्यकृतः बीजम् इव वपन्तः) धान का खेत काटने वालों के तुल्य वासनामय बीजों का छेदन करते हुए (सोमं पृञ्चन्ति) शिष्य पुत्रवत् आत्मा को वा प्रभु को स्नेह करें और (बप्सतः) स्वयं नाना कर्म फलों का भोग करते हुए भी किसानों के तुल्य ही (न मिनन्ति) अन्नवत् आत्मा, वा जीव के बीज का नाश नहीं करते।

सुते अध्वरे अधि वाचमक्रता क्रीळयो न मातरं तुदन्तः।
वि षू मुञ्चा सुषुवुषो मनीषां वि वर्तन्तामद्रयश्चायमानाः॥ १४॥
॥ ३१॥ ४॥

भा०—(चायमानाः) पूजा आदर, सत्कार पाते हुए (अद्रयः) आदर योग्य जन (अध्वरे अधि) अहिंसनीय (सुते अधि) ईश्वरोपासना के कार्य में (वाचम् अक्रत) वाणी का उपदेश करें। और (क्रीड़यः न मातरं तुदन्तः) खेलते हुए बालक जिस प्रकार माता को हाथों से ताड़ते

हैं, उसी प्रकार वे भी (क्रीडयः) नाना कर्मों को प्रसन्नतापूर्वक करते हुए (मातरं तुदन्तः) जगत् की माता प्रकृति के बन्धन को दूर करते हुए (वि वर्त्तन्ताम्) विविध प्रकार से रहते हैं। हे विद्वान् जन! तू (सुसुवुषः) जगत् के उत्पादक और संचालक प्रभु की (मनीषां वि सु मुञ्च) स्तुति को विविध प्रकार से कर। अथवा (सु-सुवुषः) उत्पन्न होने वाले जीव की (मनीषां) मन की भोग की चाह को (वि सु मुञ्च) विविध प्रकार से त्याग। इत्येकत्रिंशो वर्गः। इति चतुर्थोऽध्यायः॥

पञ्चमोऽध्यायः

[९५]

ऋषिः—१,३,६,८—१० १२,१४,१७ पुरूरवा ऐळः। २,४,५,७,११, १३,१५,१६,१८ उर्वशी। देवता—१,३,६,८—१०,१२,१४,१७ उर्वशी। २,४,५,७,११,१३,१५,१६,१८ पुरूरवा ऐळः छन्दः—१,२,१२ त्रिष्टुप्। ३,४,१३,१६ पादनिचृत् त्रिष्टुप्। ५,१० आर्ची भुरिक् त्रिष्टुप्। ६—८,१५ विराट् त्रिष्टुप्। ९,११,१४,१७,१८ निचृत् त्रिष्टुप्॥ अष्टादशर्चं सूक्तम्॥

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन्परतरे चनाहन्॥ १॥

भा०—सेना, सेनापति, प्रजा और राजा का पति पत्नीवत् परस्पर संवाद। हे (हये) 'हया' अर्थात् अश्व के समान सर्वाङ्ग में बलवति! (जाये) पुत्रोत्पन्न करने में समर्थ स्त्री के तुल्य अपने पालक नायक को अपने आप अपने बल पराक्रम से प्रसिद्ध करने वाली, वा (जाये) जय दिलाने वाली! हे (घोरे) घोर, दुष्कर संग्राम करने हारी! शत्रुसंहारकारिणि! तू (मनसा) ज्ञानसहित वा शत्रु स्तम्भक बल के साथ (तिष्ठ) स्थिर हो। हम दोनों (मिश्रा) परस्पर मिले हुए, दृढ़ सम्बन्ध बना रखने वाले (वचांसि) परस्पर प्रतिज्ञा-वचनों को (कृणवावहै नु) करें। क्या (नौ) हम दोनों के (एते) ये (अनु-दितासः मन्त्राः) परस्पर

अनुकूलता से सुरक्षित, परस्पर किये मन्त्र, विचार (परतरे चन अहनि) भविष्य के दिनों भी (मयः चन न करन्) सुख प्रदान नहीं कर सकते? करते ही हैं। जैसे स्त्री पुरुषों के परस्पर रहस्यालाप चिरकाल तक उनको सुखी, सुप्रसन्न बनाये रखते हैं उसी प्रकार सेना सेनापति आदि के भी गुप्त सुविचारित मन्त्र भविष्य में उनको सुखी करते हैं, वाक्य के आदि में 'न'-कार का प्रयोग प्रश्न-वाक्य का सूचक है।

किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि ॥ २ ॥

भा०—(उषसाम् अग्रिया-इव) प्रभात वेलाओं में सर्वश्रेष्ठ उषा जिस प्रकार सूर्य के आगे २ चलती है और (उषसाम् अग्रिया-इव) कामना वाली स्त्रियों में श्रेष्ठ वर वर्णिनी जिस प्रकार पति के आगे २ चलती हुई अग्नि-परिक्रमा करती है, इसी प्रकार सेना, (उषासम् अग्रिया) शत्रु को दग्ध करने वाली सेनाओं में सर्वश्रेष्ठ, सब से आगे चलने वाली होकर (प्र अक्रमिषम्) तेरे आगे चलूं, तू रक्षक, पालक गोपालवत् मेरे पीछे चल, और मैं आगे २ पराक्रम करती हुई पतिंवरा के तुल्य आगे कदम बढ़ाती जाऊं। तो (एता वाचा) इस वाणी से (किं कृणव) हम दोनों क्या करेंगे? हे (पुरूरवः) अनेक सैन्यदल के प्रति आज्ञा करने वाले सेनापति! (अहम् वातः इव) मैं प्रबल वात के समान ही (दुरापना अस्मि) शत्रु के वश आने वाली नहीं हूं। प्रत्युत (दुर्-आपना अस्मि) प्रबल आंधी के समान शत्रु को नाना दुःख प्राप्त कराने वाली हूँ। तू मुझ द्वारा विजय करके (पुनः अस्तम् परा इहि) अनन्तर घर को लौटना। इसी प्रकार स्त्री परिक्रमादि करने के बाद पति को स्वयं गृह में जाने की प्रेरणा करे। यह सब से उत्तम विदाई है।

इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।
अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः ॥ ३ ॥

भा०—सेनापति कैसा हो ? (इषुधेः इषुः न) तरकस के तीर के समान सेनापति (श्रिये) शोभा, राज्यलक्ष्मी के लिये और (असना) शत्रु को उखाड़ने के लिये हो। वह (गो-साः) भूमि का भोक्ता वा दाता और (शतसाः न) सैकड़ों सुखों को देने वाला तथा (रंहिः) वेगवान् रथ के तुल्य पराक्रमी और बलवान् हो। (अवीरे क्रतौ) वीरों से रहित वा युद्धादि से रहित कार्य में (न दविद्युतत्) वह नहीं चमकता, वीरोचित युद्धादि कार्य में ही उसकी शोभा है। और (उरा न) महान् अन्तरिक्ष के तुल्य (उरा) विस्तृत रणाङ्गण में (धुनयः) शत्रुओं के कंपा देने वाले वीर सेनाजन भी (मायुं चितयन्त) वायुओं के समान गर्जनाओं को करें और सेनाएं भी सेनापति के शब्द को जानें।

सा वसु दधती श्वशुराय वय उषो यदि वष्टयन्तिगृहात्।
अस्तं ननक्षे यस्मिञ्चाकन्दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन ॥ ४ ॥

भा०—(उषः) प्रभात वेला के समान कान्तिमती कन्या जिस प्रकार (वसु दधती) धनैश्वर्य को धारण करती हुई, (श्वशुराय वयः कामयते) अपने श्वशुर के दीर्घ जीवन वा अन्न की कामना करती है, और (अन्ति गृहात्) अपने पिता के घर से निकल कर (अस्तं ननक्षे) अपने पति के उस घर को प्राप्त होती है, (यस्मिन् दिवा नक्तं चाकन्) जिसके निमित्त वह दिन रात चाहती है, और दिन रात (वैतसेन श्नथिता) सुखानुभव से भरी पूरी रहती है। उसी प्रकार (उषः) शत्रु को संताप करने वाली सेना (यदि वयः वष्टि) जो बल, अन्न और जीवन चाहती है (सः) वह (श्वशुराय = स्वशूराय वसु दधती) अपने शूरवीर नायक के लिये ऐश्वर्य को धारण करती हुई (अन्तिगृहात्) समीप के मित्र-राज्य से, (अस्तं) शत्रु को उखाड़ने वाले बल को (ननक्षे) प्राप्त करे, (यस्मिन्) जिसके अधीन रहकर वह (दिवा नक्तं) दिन रात्रि (वैतसेन) बेंत की सी वृत्ति 'अर्थात्' प्रबल के आक्रमण को देख कर विनय से झुकने और

दुर्बल को देख कर फिर सिर उठा लेने वाले नायक से (श्नथिता) वशीभूत होकर (चाकन्) नाना सुखों की कामना करे।

त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेनोत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि ।
पुरूरवोऽनु ते केतमायं राजा मे वीर तन्व१स्तदासीः ॥५॥१॥

भा०—हे सेनानायक ! तू (मां) मुझको (अह्नः) न नाश होने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी शासक के (वैतसेन) ज्ञानमय प्रकाश से (त्रिः श्नथयः) तीनों प्रकार से बन्धन से युक्त कर। (उत) और (मे अव्यत्यै) मेरे अविरुद्ध, अनुकूल आचरण के लिये मुझे (पृणासि) पालन पोषण कर। हे (पुरूरवः) बहुतों को आज्ञा देने वाले शासक ! मैं (ते केतम् अनु आयम्) तेरे गृह, ज्ञान वा शरण को प्राप्त करूं। हे (वीरः) शूरवीर ! तू (मे तन्वः) मेरे विस्तृत राष्ट्र का स्त्री के शरीर का स्वामी के तुल्य (तत् राजा आसीः) तू वह परम शरण, राजा हो। इति प्रथमो वर्गः ॥

या सुजूर्णिः श्रेणिः सुम्नआपिर्ह्रदेचक्षुर्न ग्रन्थिनी चरण्युः ।
ता अञ्जयोऽरुणयो न सस्रुः श्रिये गावो न धेनवोऽनवन्त ॥६॥

भा०— (ग्रन्थिनी न) गांठ बांधे हुए पत्नी जिस प्रकार (सुजूर्णिः) सुख से पति के साथ वार्धक्य तक रहती है, (श्रेणिः) पति का आश्रय करती, (सुम्ने आपिः) पति के सुख के निमित्त उसके बन्धु के तुल्य रहती और (ह्रदे चक्षुः) ताल में देखने वाले मनुष्य के प्रति-बिम्बित चक्षु के समान अनुकूल अनुराग वाली होती है उसी प्रकार (या) जो सेना (सु-जूर्णिः) उत्तम वेग वाली, (श्रेणिः) नायक पर आश्रित वा उत्तम दलों और पंक्तियों में बद्ध, (सुम्ने आपिः) सुख के निमित्त नायक के बन्धु के तुल्य, (ह्रदे चक्षुः) तालाब में प्रतिबिम्बित चक्षुवत् समान अनुराग से युक्त होकर (चरण्युः) नायक के साथ विचरण करने वाली है। और (ताः) वे अनेक सेनाएं भी (अञ्जयः) सुव्यक्त भाव वाली (अरुणयः)

तेजस्विनी, (धेनवः न) दुधार गौओं के तुल्य (श्रिये सस्नुः) राजा की शोभा और राज्य-समृद्धि की वृद्धि के लिये (सस्नुः) आगे बढ़ें और (गावः न) गौओं और वाणियों के तुल्य (अनवन्तः) प्रेम से राजा की स्तुति करें।

समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धन्नद्यः स्वगूर्ताः ।
महे यत्त्वा पुरूरवो रणायावर्धयन्दस्युहत्याय देवाः ॥ ७ ॥

भा०—हे (पुरूरवः) महान् कीर्त्तियुक्त ! (यत्) जब (त्वा) तुझे (देवाः) विजयोत्सुक वीर पुरुष (दस्यु-हत्याय) शत्रुओं को हनन करने के निमित्त रण के लिये (अवर्धयन्) बढ़ावें तब (अस्मिन् जायमाने) इसके प्रकट होने पर (ग्नाः सम् अवर्धयन्) वाणियां वा प्रजाएं और पुरुषाधीन स्त्रियों के तुल्य उसके आश्रय (सम् आसत) मिल कर रहें, (उत) और मिल कर और (उत) उसको (स्वगूर्त्ताः) स्वयं उद्यमशील (नद्यः) समृद्ध प्रजाएं बढ़ावें।

सचा यदासु जहतीष्वत्कममानुषीषु मानुषो निषेवे ।
अप स्म मत्तरसन्ती न भुज्युस्ता अत्रसन्रथस्पृशो नाश्वाः॥८

भा०—(यत्) जब (सचा) एक साथ (जहतीषु) शस्त्रादि छोड़ती वा जाती हुई (आसु अमानुषीषु) इन साधारण मनुष्यों से भिन्न, प्रबल, मनन-शील वा अविवेकयुक्त सेनाओं के ऊपर (मानुषः भुज्युः) मननशील रक्षक सेनापति मैं (अत्कं निषेवे) अपने मुख्य रूप वा अधिकार का सेवन करूं तब वे (तरसन्ती न) मृगी के समान (यत् अप अत्रसन्) मेरे से भयभीत हों अथवा (रथ-स्पृशः अश्वाः न) रथ में लगे घोड़ों के तुल्य भय से शासन में रहें।

यदासु मर्तो अमृतासु निस्पृक्सं क्षोणीभिः क्रतुभिर्न पृङ्क्ते ।
ता आतयो न तन्वः शुम्भत स्वा अश्वासो न क्रीळयो दन्दशानाः ॥९॥

भा०—(यत्) जब (आसु अमृतासु) कभी नाश न होने वाली इन प्रजाओं और सेनाओं पर (निस्पृक् मर्त्तः) खूब स्नेहवान्, शत्रुमारक, बलवान् सेनापति (क्षोणीभिः) उत्तम वाणियों (न) और (क्रतुभिः) कर्मों से (पृंक्ते) सम्पर्क करता, स्नेह प्रकट करता है, (ताः) वे (आतयः न) गृहपत्नियों के तुल्य (स्वाः तन्वः शुम्भत) अपने २ देहों को अलंकृत करें। और (दंदशानाः) दांतों से लगाम को काटते हुए (अश्वासः न) घोड़ों के समान (क्रीडयः) नाना प्रकार की क्रीड़ा, विनोद करती और सन्मार्ग में चलती हैं। (२) [यदि नकारः प्रतिषाधार्थः] (यत् आसु निःस्पृक् न पृङ्क्ते) जब वह मनुष्य उनमें निस्पृह होकर उन में स्नेह नहीं करता, तब वे गृहपत्नियों के तुल्य ही (तन्वः न शुम्भन्त) अपने को नहीं सजाती, और (न क्रीडयः) न खेलती, विनोद करती और (आतयः न दंदशानाः) व्याधियों के सभान कष्टकारी पीड़ादायक होती हैं।

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि।
जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः ॥१०॥२॥

भा०—(या) जो (अप्या विद्युत् न) मेघ में उत्पन्न जल से बिजुली के समान (पतन्ती) वेग से जाती हुई और (मे) मेरे (काम्यानि) कामना योग्य पदार्थों को (भरन्ती) धारण करती हुई, (दविद्योत्) चमकती, शोभा पाती है, उसमें (अपः) कर्मकुशल, (नर्यः) मनुष्यों का हितकारी, (सु-जातः) शुभ गुणों में प्रसिद्ध पुत्र के तुल्य होता है। (उर्वशी) बहुतों को वश करने वाली सेना राष्ट्र को (आयुः दीर्घम् तिरत) दीर्घ आयु प्रदान करती है। (२) इसी प्रकार स्त्री भी उत्तम पुत्र को जन्म देकर पति को ही मानो दीर्घ आयु प्रदान करती है। इति द्वितीयो वर्गः॥

जज्ञिष इत्था गोपीथ्याय हि दधाथ तत्पुरूरवो म ओजः।
अशासं त्वा विदुषी सस्मिन्नहन्न म आशृणोः किमभुग्वदासि॥११॥

भा०—(इत्था) इस प्रकार तू (गोपीथ्याय हि जज्ञिषे) भूमि की रक्षा करने और इन्द्रियों वा वाणी के लिये समर्थ हो। हे (पुरु-रवः) बहुतों का शासक वा जितेन्द्रिय ! (हि) क्योंकि (मे) मेरे (तत् ओजः दधाथ) तू उस पराक्रम को धारण कर मैं (सस्मिन् अहनि) सब दिन (विदुषी) जानती हुई, ज्ञान वाली होकर (त्वा अशासन्) तुझको अनुशासन करती हूं। परन्तु तू (मे न अशृणोः) मेरा वचन नहीं सुनता। (अभुक्) पालन समर्थ न होकर (किं वदासि) तू क्या कह सकता है ? अतः तू मेरा वचन-कथन श्रवण कर और पालक होकर प्रजा पर शासन कर।

कदा सूनुः पितरं जात इच्छाच्चक्रन्नाश्रु वर्तयद्विजानन्।
को दम्पती समनसा वि यूयोदध यदग्निः श्वशुरेषु दीदयत् ॥१२॥

भा०—(सूनुः) पुत्र (जातः) उत्पन्न होकर (पितरं कदा इच्छात्) पिता को कब चाहने लगे और (वि-जानन्) विशेष ज्ञान वाला होकर भी (चक्रन्) रोता हुआ (अश्रु न वर्त्तयत्) आंसू नहीं बहाता। (कः) कौन ऐसा पुत्र है जो (समनसा दम्पती) समान चित्त वाले पति पत्नी (वि यूयोत्) पृथक् करता है ? और (यत्) जो अग्नि के समान तेजस्वी होकर (श्वशुरेषु दीदयत्) श्वशुर-गृह में चमकता है अर्थात् सभी पुत्र जब पिता को चाहते हैं तब वे रोते २ आंसू बहाते हैं। ऐसे समय में पुत्र कभी माता पिता को पृथक् नहीं करता प्रत्युत उनको और भी दृढ़ प्रेम से युक्त करता है, वह पति के श्वशुरालय में नहीं रहता प्रत्युत पतिगृह में रहता और वहीं चमकता है, इसी प्रकार जो अग्निवत् तेजस्वी नायक (श्वशुरेषु) आशुगामी वीर पुरुषों के बीच में चमकता है वह (जातः) प्रसिद्ध होकर (सूनुः) सेना का प्रेरक होता और (पितरं इच्छात्) सब कोई अपने पालक राजा को चाहता है और विशेष ज्ञानी होकर (अश्रु, चक्रं वर्तयत्) व्यापक राजचक्र या सैन्यचक्र को चलाता है, कौन ऐसा है जो एक चित्त हुए (दम्पती) पति-पत्नी के तुल्य राजा प्रजा

को वियुक्त करदे, अर्थात् कोई नहीं। राजा के शासन में ही सेनापति सैन्य-चक्र को चलाता और राजा प्रजा को स्थिर बनाये रखता है।

प्रति ब्रवाणि वर्तयते अश्रु चक्रन्न क्रन्ददाध्ये शिवायै।
प्र तत्ते हिनवा यत्ते अस्मे परेह्यस्तं नहि मूर मापः॥ १३॥

भा०—प्रजा या सेना प्रयाण के लिये उद्यत सेनापति वा राजा के प्रति कहती है—हे (मूर) शत्रुनाशक! सेनापते! (अहं ते प्रति ब्रवाणि) मैं तुझे प्रतिक्षण कहती हूं कि (चक्रन् न) रोते हुए मनुष्य के समान(अश्रु वर्त्तयते) आंसू बहाती है और (क्रन्दत्) रोती हुई (शिवायै आध्ये) कल्याण की कामना करती है, (यत् ते अस्मे) जो तेरा हम में हित है मैं प्रजागण (तत् ते प्रहिनव) उसे मैं तेरे लिये प्रदान करती हूं। तू (अस्तं परा इहि) गृह पर फिर वापिस आना, यदि वापिस नहीं आवेगा तो तू (मा नहि आपः) मुझ प्रजाजन को फिर नहीं प्राप्त करेगा।

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः॥१४॥

भा०—यदि (सु-देवः) उत्तम विजिगीषु भी (अनावृत्) अरक्षित होकर (परावतं परमां गन्तवै अध प्रपतेत्) दूर से दूर के परदेश को प्रयाण करने के लिये प्रस्थान करे (अध) और (निऋतेः उपस्थे) शत्रु-सेना के समीप असावधान होकर (शयीत) सोये, प्रमाद करे तब (रभसासः) बलवान् (वृकासः) भेड़ियों के तुल्य चोर डाकू आदि शत्रुजन (एनं अद्युः) उसको खा जाते हैं, उसे नष्ट कर देते हैं।

पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता॥१५॥३॥

भा०—हे (पुरु-रवः) बहुतों के शासक! तू (मा मृधाः) मृत्यु को

प्राप्त न हो, (मा पप्तः) दूर मत जा । तू मत भाग । (अशिवासः वृकासः) अकल्याणकारी वृक, चोर भेड़िये के स्वभाव के पुरुष (मा उ क्षन्) तुझे न खावें, तेरा नाश न करें । तू स्मरण रख, (स्त्रैणानि सख्यानि) स्त्री आदि भोग्य पदार्थों को उद्देश्य करके किये गये मैत्री आदि कार्य (न वै सन्ति) वास्तविक नहीं होते (एता) वे तो (सालावृकाणां) जंगली कुत्तों या भेड़ियों के (हृदयानि) हृदयों के तुल्य छल और क्रूरतादि से पूर्ण होते हैं । राज्य-समृद्धि आदि के लिये सन्धि आदि करके भी लोग एक दूसरे के प्राण-घात की योजना करते हैं । अतः सावधान होकर निर्व्यसन होकर रह । 'मृथाः' इति पदपाठः ॥

यद्विरूपाचरं मर्त्येष्ववसं रात्रीः शरदश्चतस्रः ।
घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नां तादेवेदं तातृपाणा चरामि ॥१६॥

भा०—(या) जो मैं सेना (वि-रूपा) विविध रूप वाली, नाना व्यूहों से नाना प्रकार की (अचरम्) गति करती हूं, (मर्त्येषु) शत्रुओं को मारने वाले वीरों में (चतस्रः) चार (रात्रीः शरदः) शरद् के चारों मासों के सब दिनों (अवसम्) बसती हूँ । और (अह्नः) अहिंसनीय, अपराजित (घृतस्य) तेजस्वी वीर नायक के (सकृत्) एक साथ उद्योग करने वाले (स्तोकं) शत्रुहिंसक बल का (आश्नाम्) भोग करती हूँ, (तात् एव) उसीसे (इदम्) इस प्रकार मैं (तातृपाणा) शत्रु की निरन्तर हिंसा करती हुई (चरामि) विचरती हूं ।

अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः ।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्तस्व हृदयं तप्यते मे ॥१७॥

भा०—मैं (वसिष्ठः) सब वसुओं, प्रजाजनों में श्रेष्ठ होकर (अन्तरिक्ष-प्राम्) अन्तरिक्ष अर्थात् विजिगीषु और शत्रु-भूमियों के मध्य भाग को पूर्ण करने वाली, (रजसः विमानीम्) रजस, धाम वा लोक या राष्ट्र को

विविध प्रकार से बनाने वाली, (उर्वशीं) बहुत बड़े २ राष्ट्र के वश करने में समर्थ सेना को मैं (उप शिक्षामि) वश करता हूं। हे सेने! (सु-कृतस्य) उत्तम रीति से किये कर्म का फल, पारितोषक आदि को (रातिः) देने वाला स्वामी, वह दान ही (त्वा उप तिष्ठात्) तुझे प्राप्त हो। तू (नि वर्तस्व) नियम में रह कर कार्य कर अन्यथा (मे हृदयं तप्यते) मेरा हृदय दुष्टों के प्रति प्रजा की पीड़ा के कारण संताप-अनुताप अनुभव करता है।

इति॑ त्वा दे॒वा इ॒म आ॑हुरैळ॒ यथे॑मे॒तद्भव॑सि मृ॒त्युब॑न्धुः ।
प्र॒जा ते॑ दे॒वान्ह॒विषा॑ यजाति स्व॒र्ग उ॒ त्वमपि॑ मादयासे ॥१८॥४॥

भा०—हे (ऐड) इडा अर्थात् भूमि के स्वामिन्! (यथा ईम्) जिस प्रकार इस प्रजा जन का (एतत्) वह परम (मृत्यु-बन्धुः भवसि) मृत्यु के तुल्य मारक, दण्डकर्त्ता और बन्धुवत् प्रिय भी तू होता है, अथवा तू ही (मृत्यु-बन्धुः भवसि) मृत्यु के समय सबका बन्धुवत् आश्वासक होता है, (इति) इसी प्रकार (इमे देवाः त्वा आहुः) ये सब विद्वान् लोग तेरे सम्बन्ध में तुझे बतलाते हैं। (ते प्रजा) तेरी प्रजा (देवान्) देवों, विद्वानों को (हविषा यजाति) अन्नादि से सत्कार करे, (त्वम् अपि स्वर्गे) तू भी सुख-समृद्धि से युक्त राज्य में (मादयासे) आनन्द लाभ कर। इति चतुर्थो वर्गः॥

[९६]

ऋषिर्वरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः ॥ देवता—हरिस्तुतिः ॥ छन्दः—१, ७, ८, जगती। २—४, ६, १० जगती। ५ आर्ची स्वराड जगती। ६ विराड् जगती। ११ आर्ची भुरिग्जगती। १२, १३ त्रिष्टुप् ॥ त्रयोदशर्चं सूक्तम् ॥

प्र ते॑ म॒हे वि॒दथे॑ शंसिषं॒ हरी॒ प्र ते॑ वन्वे व॒नुषो॑ हर्य॒तं मद॑म् ।
घृ॒तं न यो हरि॑भि॒श्चारु॒ सेच॑त॒ आ त्वा॑ विशन्तु॒ हरि॑वर्पसं॒ गिरः॑ १

भा०—(विदथे) संग्राम में (हरी) जिस प्रकार दो अश्वों की प्रशंसा की जाती है, उसी प्रकार (महे विदथे) बड़े भारी ज्ञानमय यज्ञ में हे प्रभो (ते हरी) तेरे दुःख और अज्ञान के हरने वाले दोनों गुणों से युक्त रूपों की मैं (प्र शंसिषम्) स्तुति करता हूँ। (वनुषः ते) भजन, सेवन करने योग्य तेरे (हर्यतम् मदम् प्रशंसिषम्) कान्तियुक्त, अति कमनीय, सबके चाहने योग्य आनन्द-सुख की प्रशंसा करता हूं। (हरिभिः घृतं न) आहरणशील किरणों से जल को सूर्य के समान जो प्रभु (हरिभिः) ज्ञान धारक विद्वानों द्वारा (चारु सेचते) सेवन योग्य, कर्म का उपदेश करता और जो (हरिभिः) मनोहर उपायों से (चारु) योग्य कर्म फल को (सेचते) प्रदान करता है। ऐसे (त्वा) तुझे (हरि-वर्पसम्) मनोहर, रमणीय रूप वाले, रश्मिमय रूपवान्, तेजोमय सूर्यवत् (त्वा) तुझको (गिरः आविशन्तु) वाणियां, वा स्तुति करने वाले प्राप्त हों, तुझ में प्रवेश करें, तन्मय हों।

हरिं हि योनिमभि ये समस्वरन्हिन्वन्तो हरी दिव्यं यथा सदः।
आ यं पृणन्ति हरिभिर्न धेनव इन्द्राय शूषं हरिवन्तमर्चत ॥२॥

भा०—(ये) जो (योनिम् हरिम् अभि) सर्वाश्रय, सर्वोत्पादक प्रभु की (सम्-अभिस्वरन्) मिल कर स्तुति करते हैं, वे (हरी हिन्वन्तः) ज्ञान और कर्म दोनों के इन्द्रियगणों को प्रेरित करते हुए, उसको (यथा दिव्यं सदः तथा सम् अस्वरन्) दिव्य भवन के समान शरण योग्य रूप से उसकी स्तुति करते हैं। (धेनवः हरिभिः न) गौवें जिस प्रकार मनोहर दुग्धों से बच्चे को पालन कर पुष्ट करती हैं उसी प्रकार (धेनवः) वाणियें मनोहर वचन (यं पृणन्ति) जिस को पूर्ण करते हैं उस (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् प्रभु के (हरिवन्तं शूषम्) मनोहर, सुखदायक, दुःखहारक गुणों वाले बल की (अर्चत) हे विद्वानो ! आप स्तुति करो।

सो अस्य वज्रो हरितो य आयसो हरिर्निकामो हरिरा गभस्त्योः।
द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायक इन्द्रे नि रूपा हरिता मिमिक्षिरे ३

भा०—(सः अस्य वज्रः) वह इसका बज्र अर्थात् बल है (यः) जो (आयसः हरितः) स्वर्ण के समान रूप वाला, पीत रूप का, तेजोमय है। वह स्वयं (नि-कामः) अति कान्तियुक्त, (हरिः) सब के दुःखों वा अज्ञानों के अन्धकार को सूर्यवत् हरण करने वाला है, उसके (गभस्त्योः) बाहुओं में बल के तुल्य अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य और चन्द्र दोनों का (हरिः) सञ्चालन करने वाला है। वह (द्युम्नी) तेजस्वी, ऐश्वर्यवान्, (सु-शिप्रः) उत्तम बलशाली, (हरिमन्यु-सायकः) दुष्टों को हरण करने वाले क्रोध रूप शस्त्र वाला, जिसका कोप ही दुष्ट जनों को वाणादिवत् पीड़ित करता है, उस (इन्द्रे) ऐश्वर्यवान्, दुष्ट नाशक तेजोमय प्रभु में (हरिता रूपा निमिमिक्षिरे) हरित, तेजोमय, कमनीय मनोहर अनेक रूप वा गुण प्राप्त होते हैं।

दिवि न केतुरधि धायि हर्यतो विव्यचद्वज्रो हरितो न रंह्या।
तुददहिं हरिशिप्रो य आयसः सहस्रशोका अभवद्धरिम्भरः ॥४॥

भा०—(दिविः केतुः न) आकाश में ज्ञापक प्रकाश वा सूर्य के समान वह (हर्यतः) कमनीय, कान्तियुक्त प्रभु (अधि धायि) सर्वोपरि स्थापित है। उसका (वज्रः) बल (विव्यचत्) विविध प्रकार से जगत् को व्यापता है, (रंह्या) वेग से (हरितः न) अश्वों के तुल्य उसके प्रेरित लोक सूर्यादि वेग से गति कर रहे हैं। (यः) जो (आयसः) 'अयस्' रूप ज्ञानयय (हरि-शिप्रः) दुःखहारी रूप वाला, शत्रुनाशक बल वाला होकर (अहिं तुदत्) सूर्य को भी चलाता है वा (अहिम्) गतिरहित प्राकृत जगत् को चला रहा है, वह (हरिम्-भरः) समस्त जीवों का पालक-पोषक (सहस्र-शोकाः अभवत्) सहस्रों दीप्तियों का दाता, धाता, स्वामी है।

त्वन्त्वमहर्यथा उपस्तुतः पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः ।
त्वं हर्यसि तव विश्वमुक्थ्य१मसामि राधो हरिजात हर्यतम् ॥५॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे (हरि-केश) तेजोमय किरणों वाले, तू (पूर्वेभिः यज्वभिः) पूर्व के देव-उपासना करने वाले यज्ञशील जनों से (उप-स्तुतः) स्तुति करने योग्य (त्वम्-त्वम्) तू ही एकमात्र (अहर्यथाः) सब दुःखों को दूर करता है । (त्वम् हर्यसि) तू ही सबको चाहता है, (तव विश्वम् उक्थ्यम्) तेरी ही समस्त प्रशंसा है, और हे (हरि-जात) समस्त लोकों और किरणों के उत्पादक ! सूर्यवत् प्रभो ! (तव) तेरा ही (विश्वं) समस्त (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (असामि) असाधारण, पूर्ण, (हर्यतम् राधः) कान्तियुक्त मनोहर धन और आराधना करने योग्य रूप है । इति पञ्चमो वर्गः ॥

ता वज्रिणं मन्दिनं स्तोम्यं मद इन्द्रं रथे वहतो हर्यता हरी ।
पुरूण्यस्मै सवनानि हर्यत इन्द्राय सोमा हरयो दधन्विरे ॥६॥

भा०—(ता) वे अनेक (हर्यता हरी) आगे बढ़ने वाले, भूमि और सूर्यवत् नर नारी (मदे) हर्षजनक (रथे) रमणीय सुख के निमित्त अपने चित्त में (वज्रिणम्) बलशाली, सर्वशक्तिमान्, (मन्दिनं) हर्ष-आनन्दयुक्त, (स्तोम्यं) स्तुत्य (इन्द्रं) परमेश्वर को (वहतः) अपने अन्तःकरण में राजा को रथ में अश्वों के तुल्य धारण करते हैं । (सोमः हरयः) उत्पन्न हुए लोक वा प्राणी, मनुष्य जन (अस्मै हर्यते) इस कामना योग्य (इन्द्राय) सर्वैश्वर्यवान् प्रभु की ही (सवनानि) उपासनाओं, वा ऐश्वर्यों को (दधन्विरे) धारण करते हैं ।

अरं कामाय हरयो दधन्विरे स्थिराय हिन्वन्हरयो हरी तुरा ।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्जोषमीयते सो अस्य कामं हरिवन्तमानशे॥७॥

भा०—(हरयः) मनुष्य (कामाय) सबसे चाहने योग्य प्रभु को

प्राप्त करने के लिये (अरं) बहुत अधिक अपने आपको (दधन्विरे) रखते हैं। और (हरयः) वे मनुष्य (स्थिराय) स्थिर नित्य पुरुष को प्राप्त करने के लिये (तुरा हरी) वेगवान् इन्द्रियवर्गों को (हिन्वन्) प्रेरित करते हैं, (यः) जिसको (अर्वद्भिः हरिभिः) आगे बढ़ने वाले मनुष्य (जोषम् ईयते) प्रेमपूर्वक प्राप्त होते हैं, (सः) वह प्रभु (अस्य) इस जीव के (हरिवन्तम् कामम्) हरणशील इन्द्रियों से युक्त कमनीय वा कामनावान् आत्मा को (आनशे) व्यापता है। उसकी प्रत्येक कामना को पूर्ण करता है।

हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्वाजिनीवसुरति विश्वा दुरिता पारिषद्धरी ॥८॥

भा०—(हरि-श्मशारुः) किरणों को श्मश्रुवत् धारण करने वाला और (हरि-केशः) किरणों को केशों के समान धारण करने वाला तेजोमय सूर्य के तुल्य, (आयसः) सुवर्ण के बने पदार्थ के तुल्य कान्तिमान्, (यः) जो (हरि-पाः) सब मनुष्यों और जीवों का पालक (तुरः-पेये) अति शीघ्र पालन करने के कार्य में (अवर्धत) सबसे बड़ा है, (यः अर्वद्भिः हरिभिः) जो आगे बढ़ने वाले मनुष्यों द्वारा (वाजिनी-वसुः) अन्न-ऐश्वर्यादि को उत्पादन करने वाली पृथिवी रूप धन का स्वामी, उसे बसाने वाला है वह प्रभु वा स्वामी राजा के तुल्य ही (हरी) स्त्री-पुरुष दोनों वर्गों को (विश्वा दुरिता) समस्त दुःखों और दुष्टाचरणों से (अति पारिषत्) पार करे।

स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः।
प्र यत्कृते चमसे मर्मृजद्धरी पीत्वा मदस्य हर्यतस्यान्धसः ॥९॥

भा०—(यस्य) जिसके शासन में (स्रुवा इव) यज्ञ में दो स्रुवों के समान (हरिणी) दीप्तियुक्त सूर्य और चन्द्र (वि पेततुः)

विशेष रूप से गति करते हैं, और जिसकी (हरिणी) आकाश और पृथिवी दोनों (शिप्रे) दो दाढ़ों के समान (वाजाय) अन्न-ऐश्वर्य, जल आदि वा बल कार्य के निमित्त (दविध्वतः) चल रही हैं। और (यत् कृते) जिसके बनाये (चमसे) कर्मफल भोगने योग्य इस विश्व में (मदस्य) अति हर्ष-सुखदायक (हर्यतस्य) अति कान्तियुक्त (अन्धसः) प्राण धारण कराने वाले के रस को (पीत्वा) पान कर आत्मा (हरी प्र मर्मृजत्) अपने इन्द्रिय वर्गों को पवित्र कर लेता है, वह प्रभु है। या वह प्रभु अन्न की (पीत्वा) रक्षा करके (हरी मर्मृजत्) समस्त नर नारी वर्गों को शुद्ध करता है।

उत स्म सद्म हर्यतस्य पस्त्यो३रत्यो न वाजं हरिवाँ अचिक्रदत्।
मही चिद्धि धिषणाहर्यदोजसा बृहद्वयो दधिषे हर्यतश्चिदा १०॥६॥

भा०—(उत) और (पस्त्योः) आकाश और भूमि का बना यह (सद्म) गृह के समान महान् भवन भी (हर्यतस्य स्म) उस कान्तिमान् सूर्यवत् स्वयं-प्रकाश प्रभु का ही है। (अत्यः वाजं न) अश्व जैसे संग्राम की ओर जाता है वैसे ही (हरिवान्) समस्त लोकों का स्वामी प्रभु इस गृह में (अचिक्रदत्) व्यापता है। वह (मही चित् धिषणा) समस्त लोकों को धारण करने वाले आकाश और भूमि दोनों को (ओजसा) बल और पराक्रम से सञ्चालित करता, चाहता और प्रकाशित करता है इसी कारण वह प्रभु (हर्यतः) 'हर्यत' है। वह कान्तिमान् सर्वसञ्चालक होकर (बृहत् वयः आ दधिषे) बड़ा भारी बल धारण करता है। इति षष्ठो वर्गः ॥

आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यंनव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम्।
प्र पस्त्यमसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय ॥ ११ ॥

भा०—हे स्वामिन्! प्रभो! तू (महित्वा) महान् सामर्थ्य से

(रोदसी हर्यमाणः) आकाश और भूमि दोना को कान्तियुक्त, प्रकाशित करता हुआ (नव्यम्-नव्यम् मन्म हर्यसि) सूर्य जैसे नये से नया दिन प्रकट करता है ऐसे ही तू भी नया ही नया मनन करने योग्य ज्ञान प्रकट करता है । हे (असुर) प्राणों के देने हारे ! हे बलशालिन् ! तू (हरये सूर्याय) सब लोकों के प्रेरक सूर्य के और (गोः) इस भूमि के लिये भी (पस्त्यम्) गृह के तुल्य इस महान् आकाश को (आविः कृधि) प्रकट करता है ।

आ त्वा हर्यन्तं प्रयुजो जनानां रथे वहन्तु हरिशिप्रमिन्द्र ।
पिबा यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हर्यन्यज्ञं सधमादे दशोणिम् ॥१२॥

भा०—हे प्रभो ! (जनानां) मनुष्यों के बीच में (रथे) रस स्वरूप एवं रमणीय रूप मे (प्रयुजः) उत्तम योग करने वाले अभ्यासी जन (हरि-प्रियं) सब मनुष्यों क प्यारे, (हर्यन्तम्) सबको चाहने वाले (त्वा आवहन्तु) तुझको सब प्रकार से धारण करें । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (प्रति-भृतस्य मध्वः) प्रीति पूर्वक लाये गये, आदर पूर्वक प्रदान किये अन्न, जल, घृत को अतिथिवत्, चरु को अग्निवत्, जलादि को मेघ वा सूर्यवत्, (प्रति-भृतस्य मध्वः हर्यन्) प्रेम पूर्वक उपाहृत, मधुर, हर्षकर वचन की कामना करता हुआ, (सध-मादे) साथ मिलकर हर्ष आनन्द लाभ के अवसर में (दश-ओणिम्) दश अङ्गों से युक्त (यज्ञं) यज्ञ का (पिब) पालन कर । (दशोणिं यज्ञं) दसों अंगुलियों से किये गये देवपूजन रूप नमस्कार को स्वीकार कर ।

अपाः पूर्वेषां हरिवः सुतानामथो इदं सवनं केवलं ते ।
ममद्धि सोमं मधुमन्तमिन्द्र सत्रा वृषञ्जठर आवृषस्व ॥१३॥७

भा०—हे (हरिवः) समस्त मनुष्यों, जीवों और लोकों के स्वामिन् ! तू (पूर्वेषां सुतानां) पूर्व उत्पन्न लोकों को भी (अपाः) पालन करता रहा । (अथो) और (इदं सवनं) यह उत्पन्न भुवन भी (ते केवलम्)

केवल एकमात्र तेरी ही विभूति है। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! तू (मधुमन्तं सोमम्) मधुर वचनों वाले जीव को पुत्रवत् (ममद्धि) हर्षित कर। वा हे (वृषभ) बरसते मेघ के तुल्य सुखों के वर्षक प्रभो! तू (सत्रा) नित्य ही उसे (जठरे) अपने भीतर शिष्य को गुरु के तुल्य अपने गर्भ में (आवृषस्व) सब प्रकार से ग्रहण कर और ज्ञान और हर्ष से गर्भित बीजों को मेघ के तुल्य सेचित, परिवर्धित कर। इति सप्तमो वर्गः॥

[९७]

ऋषिः—१—२३ भिषगाथर्वणः॥ देवता—ओषधीस्तुतिः॥ छन्दः—१, २, ४—७, ११, १७ अनुष्टुप्। ३, ९, १२, २२, २३ निचृदनुष्टुप्। ८, १०, १३—१६, १८—२१ विराडनुष्टुप्॥ पञ्चदशर्चं सूक्तम्॥

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥ १॥

भा०—(याः) जो (ओषधीः) ओषधियां (पूर्वाः) अनेक रूप, एवं जीवों को पालने में समर्थ रस आदि से पूर्ण (देवेभ्यः) किरणों द्वारा वा मनुष्यों के हितार्थ (पुरा) पहिले ही (त्रि-युगम्) तीनों ऋतुओं में (जाताः) उत्पन्न होती हैं उन (बभ्रूणाम्) पक्व होकर पीली पड़ी, देह की पोषक उन ओषधियों का मैं (मनै नु) अवश्य ज्ञान प्राप्त करूं। और उनके (शतं धामानि) सौ तेजों और (सप्त धामानि) सातों धारण करने योग्य सामर्थ्यों को (मनै) जानूं। (शतं०) अथवा—धारक पोषक ओषधियों के (सप्त शतं धामानि) ७०० धाम अर्थात् मनुष्य देह में विद्यमान ७०० वे मर्म जानूं जहां इन ओषधियों के अद्भुत २ प्रभाव प्रकट होते हैं। "सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणां, तेषु एना दधातीति। निरु० ९। २८॥

तीन युग तीन ऋतु हैं। शत धाम सौ वर्ष हैं। सात धाम सात देह-गत प्राण हैं। अथवा सप्त, शत, ७०० मर्मस्थान हैं जिन पर ओषधियों का प्रयोग होता है।

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।

अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत ॥ २ ॥

भा०—हे (अम्ब) माता की तरह जीवों को पालने वाली, रोग-नाशक ओषधियो ! (वः शतं धामानि) तुम्हारे सैकड़ों जन्म, सैकड़ों वीर्य और तदनुरूप नाम हैं, (उत) और (वः) तुम्हारे (सहस्रं रुहः) सहस्रों अंकुर वा पोधे हैं। (अध) और (यूयम्) तुम सब (शत-क्रत्वः) अनेक कर्म सामर्थ्यों से युक्त हो। (मे इमं) मेरे इस देह वा व्याधि-पीड़ित जन को (अगदं कृत) रोग से रहित, नीरोग करो।

ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।

अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः ॥ ३ ॥

भा०—हे (ओषधीः) ओषधियो ! तुम (पुष्पवतीः) फूलों और (प्र-सू-वरीः) नाना उत्तम फलों वाली होकर (प्रति मोदध्वम्) बराबर हृष्ट, प्रसन्न रहो। तुम (अश्वाः इव स-जित्वरीः) अश्व सेनाओं के तुल्य एक साथ ही रोगरूप शत्रुओं पर विजय करने वाली और (वीरुधः) विविध प्रकार से उगने और विविध भावी और वर्त्तमान रोग-पीड़ाओं को रोकने वाली तथा (पारयिष्णवः) रोगी को कष्ट से पार करने वाली और रोग का अन्त कर देने वाली, और रोगी को मृत्यु के कष्टों से बचाने वाली हो। (२) इसी प्रकार अश्व-सेनाएं भी (पुष्पवतीः) राष्ट्र-पोषक सामर्थ्य, बल से युक्त, (प्र-सूवरीः) सन्मार्ग में प्रेरक नायक वा उत्तम धन-धान्य उत्पादक भूमि वाली, (सजित्वरीः) विजयशालिनी, (वीरुधः) शत्रु को विविध प्रकार से रोकने वाली और (पारयिष्णवः) युद्ध

से पार करने और प्रजाओं का पालन करने वाली हों। इसी प्रकार यह सूक्त उत्तम प्रजा और सन्तानोत्पादक गृहस्थ माताओं वा स्त्रियों के पक्ष में भी लगता है। जिसका निदर्शन अगले मन्त्रों में करेंगे।

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे।
सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष ॥ ४ ॥

भा०—(ओषधीः) हे ओषधियो ! हे (मातरः) माता के तुल्य हितकारिणी, आरोग्य देने वाली, ओषधियो ! मैं (वः) तुमको (देवीः उपब्रुवे) देवियों के तुल्य सुखप्रद और रश्मियों के तुल्य रोगनाशक रूप से तुम्हारा अन्यों को उपदेश करता हूँ। हे (पुरुष) मनुष्य ! विद्वन् ! मैं ओषधियों को प्राप्त करने के लिये (अश्वं) घोड़ा, (गां) गौ, भूमि, (वासः) वस्त्र, और (आत्मानं) अपने आप को भी (तव) तेरे निमित्त (सनेयम्) देता हूं। रोग से मुक्त होने के लिये मनुष्य सर्वस्व देने पर भी तैयार होजाता है और वैद्य की सब प्रकार से सेवा करता है। (२) विजयशालिनी सेनाएं भी 'देवी' हैं। वे तेज धारने से 'ओषधि', शत्रु नाशक होने से 'माता' हैं। उनको अश्व, वस्त्र, भूमि और मनुष्य सब देना आवश्यक होता है।

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ ५ ॥ ८ ॥

भा०—हे ओषधियो ! (वः नि-सदनम्) तुम्हारा आश्रय (अश्वत्थे) आशुगामी वायु पर स्थित मेघ पर है। (वः वसतिः) तुम्हारा निवास वा आच्छादन (पर्णे) पत्र समूह पर (कृता) बना है। तुम (गो-भाजः इत् किल असथ) भूमि, सूर्य और रश्मियों का सेवन करने वाली हो, (यत्) जिससे तुम (पूरुषम् सनवथ) पुरुष के देह का सेवन करती हो, देह का पोषण करती, उसको बल देती हो। (२) सेनाएं अर्थात् अश्व बल राष्ट्र-बल पर स्थित, राजा पर आश्रित और (पर्णे) पालक स्वामी पर

आश्रित होती हैं। वे (गो-भाजः) स्वामी की आज्ञा पालन करतीं और नायक पुरुष की सेवा करती हैं। इत्यष्टमो वर्गः ॥

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ ६ ॥

भा०—(राजानः समितौ इव) राजा लोग जिस प्रकार सभा में विराजते हैं उसी प्रकार (यत्र ओषधयः सम् अग्मत) नाना ओषधिगण एकत्र होती हैं (सः विप्रः भिषक् उच्यते) वह विद्वान् पुरुष चिकित्सक कहाता है, वह (रक्षः-हा) पीड़ादायी दुष्ट पुरुषों के नाशक के तुल्य ही (अमीव-चातनः) रोगों का नाश करता है।

अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥ ७ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष ! तू (अश्व-वतीम्) अश्व के तुल्य गन्ध वाली, और (सोम-वतीम्) सोम के समान रस, वीर्य, विपाक वाली, (ऊर्जयन्तीम्) बल उत्पन्न करने वाली और (उत्-ओजसम्) उत्तम पराक्रम बढ़ाने वाली ओषधि को और (सर्वाः ओषधीः) अन्यान्य समस्त ओषधियों को भी (अस्मै अरिष्ट-तातये) इस मनुष्य के आरोग्य सुख के लिये (आवित्सि) सब प्रकार से और सब स्थानों से प्राप्त कर। (२) सेनापक्ष में वह अश्वयुक्त और प्रेरक नायक से युक्त होती है उनको राष्ट्र का नाश न होने देने के लिये प्राप्त करे।

उच्छुष्मा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते।
धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष ॥ ८ ॥

भा०—(गावः गोष्ठात् इव) गोशाला से जिस प्रकार गौएं आती हैं उसी प्रकार (ओषधीनां) ओषधियों के बीच में से (शुष्मा उत् ईरते) नाना प्रकार के बल उत्पन्न होते हैं। हे पुरुष उसी प्रकार (तव) तेरे

(आत्मानं सनिष्यन्तीनां) देह का सेवन करने वाली इन ओषधियों का (धनं) धनवत् संचित सामर्थ्य या रस भी प्राप्त होता है। (२) शत्रु को तीव्रताप देने वाला तेज 'ओष' है, उसको धारण करने वाली ओषधि सेनाएं हैं, वे जब नायक पुरुष और धन, वेतन आदि प्राप्त करती हैं तब उनका शत्रु-शोषक बल उठता, प्रकट होता है।

इष्कृ॑ति॒र्नाम॑ वो मा॒ताथो॑ यू॒यं स्थ॒ निष्कृ॑तीः ।
सी॒राः प॑त॒त्रिणीः॑ स्थन॒ यदा॒मय॑ति॒ निष्कृ॑थ ॥ ९ ॥

भा०—हे ओषधिगण ! (वः माता इष्कृतिः नाम) तुम्हारी माता, पृथिवी 'इष्कृति' अर्थात् अन्न को उत्पन्न करने वाली है। (अथो) और (यूयं निः-कृतीः स्थ) तुम सब भी रोगांश को बाहर निकालने वाली हो। जब तुम (सीराः) देह की रक्त नाड़ियों को प्राप्त कर उन में (पतत्रिणीः स्थन) वेग से गति करती हो, तब (यत् आमयति) जो पदार्थ शरीर को पीड़ित कर रहा होता है, उसको (निः कृथ) बाहर निकाल देती, दूर कर देती हो। (२) इसी प्रकार सेनाओं का निर्माता 'इष्' प्रेरणाकारी, आज्ञापक होने से 'इष्कृति' है और सेनाएं शत्रुओं को खदेड़ने से 'निष्कृति' हैं वे नदियों के तुल्य वेग से आगे बढ़ने वाली होती हैं। जो प्रजा या राष्ट्र को दुःख देता है वे उसको दबातीं और बाहर कर देती हैं।

अति॒ विश्वाः॑ परि॒ष्ठाः स्ते॒न इ॑व व्र॒जम॑क्रमुः ।
ओष॑धीः॒ प्राचु॑च्यवु॒र्यत्किं च॑ त॒न्वो॒३॒॑ रपः॑ ॥ १० ॥ ९ ॥

भा०—(स्तेनः इव व्रजम्) चोर या लुटेरा जिस प्रकार 'व्रज' अर्थात् पथिक समूह पर (अति अक्रमीत्) आक्रमण करता है उसी प्रकार (विश्वाः) समस्त (परिस्थाः) देह में सर्वत्र विद्यमान रह कर (ओषधीः) ओषधियां (व्रजम् अति अक्रमुः) रोग समूह पर आक्रमण करती हैं (यत् किञ्च तन्वः

रपः) जो कुछ देह का कष्टदायी रोग का कारण है उसको (प्र अचुच्युवुः) देह से दूर करती हैं। (२) इसी प्रकार सेनाएं राष्ट्र में पापी पुरुष को दण्डित कर दूर करती हैं। इति नवमो वर्गः ॥

यदि॒मा वा॒जय॑न्न॒हमोष॑धी॒र्हस्त॑ आद॒धे ।
आ॒त्मा यक्ष्म॑स्य नश्यति पु॒रा जी॑व॒गृभो॑ यथा ॥ ११ ॥

भा०—(यत्) जब (अहम्) मैं (वाजयन्) बल प्राप्त करता हुआ (इमाः ओषधीः) इन ओषधियों को (हस्ते आ-दधे) हाथ में लेता हूं। तब (यथा जीव-गृभः) जिस प्रकार जीवों को पकड़ने वाले प्राणघाती से भयभीत होकर प्राणी, पक्षी आदि भागते हैं उसी प्रकार (यक्ष्मस्य) रोग का (आत्मा) व्यापक अंश भी (पुरा) पूर्ववत् (नश्यति) लुप्त हो जाता है।

यस्यौ॑षधीः प्र॒सर्प॒थाङ्ग॑मङ्गं॒ परु॑ष्परुः ।
तत॒ यक्ष्मं॒ वि बा॑धध्व उ॒ग्रो म॑ध्यम॒शीरि॑व ॥ १२ ॥

भा०—ये (ओषधीः) ओषधियां! (यस्य) जिस मनुष्य के (अंगम्-अङ्गम् परुः २) अंग २ और पोरु २ में (प्रसर्पथ)व्याप जाती हैं (उग्रः मध्यमशीः) मध्यस्थ बलवान् पुरुष के समान वे (ततः यक्ष्मं वि बाधध्वे) उसके शरीर में से रोग को नष्ट कर देती हैं।

सा॒कं य॑क्ष्म॒ प्र प॑त॒ चाषे॑ण किकिदी॒विना॑ ।
सा॒कं वात॑स्य॒ ध्राज्या॑ सा॒कं न॑श्य नि॒हाक॑या ॥ १३ ॥

भा०—हे (यक्ष्म) पीड़ादायी रोग ! (त्वं) तू (चाषेण साकं नश्य) अति भक्षण, या भूख के साथ दूर हो। और (किकिदीविना साकं नश्य) कि, कि, आदि विशेष वेदना सूचक ध्वनि करने वाले रोग के साथ नष्ट हो। (वातस्य ध्राज्या साकं नश्य) वात की गति के साथ नष्ट हो और (निहाकया साकं नश्य) 'हा, मरा' इत्यादि कष्ट ध्वनिकारक

पीड़ा के साथ तू नष्ट हो। पित्तोद्रेक में राक्षसी भूख के साथ होने वाले शोष रोग वा जो रोग खाने की तीव्र इच्छा को उत्पन्न करे और अधिक खाने से ही वह बढ़ जाय उस लक्षण के साथ २ ही वह रोग नष्ट हो। कि, कि, आदि ध्वनि कास, हिचकी आदि कफ़जन्य रोग 'किकिदीवि' हैं जिनमें मनुष्य कराहता है उन लक्षणों सहित रोग भी नष्ट हो, वात की गति से सन्धि-वेदनाएं उत्पन्न होती हैं, वे वात की गति के साथ २ शान्त हों, सन्निपातिक रोग में हा मरा, उंह २ आदि जो तीव्र वेदना प्रकट करने वाली 'निहाका' है उसके सहित रोग भी नष्ट हो।

'चाषः'—चष भक्षणे भ्वादिः॥ किकिदीवी—किकिना ध्वनिविशेषेण दीव्यति व्यवहरति इति किकिदीवी ; यया पीड़या निहतोस्मि हा कष्टम् इति जायते सा पीड़ा 'निहाका'। इति सायणः। तै० सं० भाष्ये 'श्येनेन' इति पाठः।

अ॒न्या वो॑ अ॒न्याम॑वत्व॒न्यान्यस्या॒ उपा॑वत।
ताः सर्वाः॑ संवि॒दाना इ॒दं मे॒ प्राव॑ता॒ वचः॑॥ १४॥

भा०—(वः अन्या अन्याम् अवतु) तुम में से एक दूसरे की रक्षा करे। (अन्यस्याः उप अवत) एक दूसरे के समीप आओ, (ताः) वे सब आप (सं विदानाः) परस्पर अच्छी प्रकार सलाह करती हुई प्रजाओं के तुल्य, एक दूसरे को प्राप्त करती हुई, (मे इदं वचः प्र अवत) मेरे इस वचन की रक्षा करो। ये ही उपदेश सेना और प्रजा के मनुष्यों की भी रक्षक है।

याः फ॒लिनी॒र्या अ॑फ॒ला अ॑पु॒ष्पा याश्च॑ पु॒ष्पिणीः॑।
बृ॒ह॒स्पति॑प्रसूता॒स्ता नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः॥ १५॥ १०॥

भा०—(याः फलिनीः) जो फल वाली हैं, (याः अफलाः) जो फल से रहित हैं, (याः अपुष्पाः च पुष्पिणीः) और, जो फूल से रहित और फूल वाली हैं (ताः) वे (बृहस्पति-प्रसूताः) भूमि और आकाश के पालक सूर्य से

वा विद्यावान् विद्वान् द्वारा प्रदत्त या बनाई जाकर (नः अंहसः मुञ्चन्तु) हमें पापमय कष्टों या दुःखों से मुक्त करें। (२) जो सेनाएं फल वाली अर्थात् तलवार, बाण वा विस्फोट पदार्थों के अस्त्रों से युक्त या उन से रहित हैं, और पुष्प अर्थात् पोषक, सहायक सेना से युक्त वा रहित हैं वे देश को पाप या दुष्ट शत्रु से बचावें, बड़े राष्ट्र की पालक, उसका शासक हो। इति दशमो वर्गः ॥

मुञ्चन्तु॑ मा शप॒थ्या॒३॒॑दथो॑ वरु॒ण्या॑दु॒त ।
अथो॑ य॒मस्य॒ पड्वी॑शा॒त्सर्व॑स्माद्देवकिल्बि॒षात् ॥ १६ ॥

भा०—(मा शपथ्यात् एनसः मुञ्चन्तु) मुझे शपथ अर्थात् जिस रोग में मनुष्य बके, उलटा सुलटा कहे, ऐसे बकने वाले रोग से मुक्त करें। (अथो वरुण्यात् उत मुञ्चन्तु) और ओषधियां मुझे वरुण = जल की प्यास वाले या अपान के विकार से या वरुण अर्थात् रात्रिकाल में बढ़ने वाले रोग से मुक्त करें। (अथो यमस्य पड्वीशात्) और वे यम, अर्थात् समस्त देह को बांधने या जकड़ देने वाले रोग के पैरों को बांधने वाले दुष्ट भाव से मुक्त करें। वह रोग जो पैरों में जकड़ उत्पन्न करे 'यम का पड्वीश' है। और वे ओषधियां (सर्वस्मात् देव-किल्विषात्) सब प्रकार के दिव्य पदार्थों के योग से उत्पन्न रोग से मुक्त करें।

अ॒व॒पत॑न्तीरवदन्दि॒व ओष॑धय॒स्परि॑ ।
यं जी॒वम॒श्नवा॑महै॒ न स रि॑ष्याति॒ पूरु॑षः ॥ १७ ॥

भा०—(ओषधयः) ओषधि, ताप को धारण करने वाली (दिवः परि अव-पतन्तीः) सूर्य की किरणों के तुल्य रोग नाशक तीव्र, ओषधियां आकाश से नीचे आती हुई वा भूमि से हमें प्राप्त होती हुई (अवदन्) मानों कहती हैं कि (यं जीवम् अश्नवामहै) हम जिस जीवित देह को व्याप लेती हैं (सः पूरुषः न रिष्याति) वह पुरुष-देह रोगों से पीड़ित नहीं होता।

या ओष॑धीः॒ सोम॑राज्ञी॒र्बह्वीः॑ श॒तवि॑चक्षणाः ।
तासा॑ं त्वम॑स्युत्त॒मा॒रं॑ कामा॑य॒ शं हृ॒दे ॥ १८ ॥

भा०—(याः ओषधीः सोम-राज्ञीः) जो ओषधियां सोम के समान गुणों में चमकने वाली, (बह्वीः शत-विचक्षणाः) बहुतसी सैकड़ों गुण दिखाने वाली हैं, (तासां) उनमें से (त्वम्) तू (उत्तमा असि) उत्तम है । और (कामाय अरं) मेरे इष्ट लाभ को प्राप्त कराने में पर्याप्त और (हृदेशम्) हृदव को शान्ति देने वाली हों ।

या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु ।

बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सं दत्त वीर्यम् ॥ १९ ॥

भा०—(याः सोम-राज्ञीः ओषधयः) वे ओषधियां जिन में सोम ओषधि के गुण वा सोम-तत्त्व मुख्य हैं, जो (पृथिवीम् अनु विष्ठिताः) भूमि २ के गुण से विशेष २ रूप से स्थित हैं वे विद्वान् व्यक्ति से दी जाकर (अस्मै वीर्यं सं दत्त) इस मनुष्य को बल प्रदान करें ।

मा वो रिषत्खनिता यस्मै चाहं खनामि वः ।

द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् ॥ २० ॥

भा०—(वः खनिता मा रिषत्) तुम को खोदने वाला स्वयं पीड़ा को प्राप्त न हो और (खनिता वः मा रिषत) खोदने वाला भी तुम को नाश न करे, समूल उच्छेद न करे । और (यस्मै च अहं वः खनामि स मा रिषत्) जिसके आरोग्य के लिये मैं तुम को खोदता हूं वह पीड़ित न हो । (अस्माकं द्विपत् चतुष्पत्) हमारे दोपाये और चौपाये (सर्वम्) सब प्राणी वर्ग (अनातुरम् अस्तु) रोग से रहित हों । (२) सैन्यपक्ष में—(वः खनिता मा रिषत्) शत्रु को मूल से उखाड़ने में समर्थ वीर नायक तुम्हें पीड़ित न करे । मैं राजा जिस प्रजाजन के सुखार्थ शत्रु को उखाड़ता हूं वह भी (वः मा रिषत्) तुम को नष्ट न करे । हमारे दोपाये, चौपाये सुखी हों ।

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः ।

सर्वाः सङ्गत्य वीरुधोऽस्यै सं दत्त वीर्यम् ॥ २१ ॥

भा०—(याः च) जिनको लक्ष्य कर के (इदम्) यह विशेष गुण-वचन (उप शृण्वन्ति) शिष्य आदि गुरु जनों से श्रवण करते हैं और (याः च दूरं परागताः) जो दूर २ तक फैली हुई हैं (सर्वाः वीरुधः संगत्य) वे सब ओषधियां मिल कर (अस्मै) इस रोग-युक्त काय को (वीर्यं सं दत्त) बल देवें । (२) सैन्य पक्ष में—(याः च इदम् उप शृण्वन्ति) जो अपने नायक का वचन सुनतीं या दूर २ तक फैलती हैं वे (वीरुधः) शत्रु को रोकने वाली इस राजा वा राष्ट्र प्रजा को बल दें ।

ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा ।

यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन्पारयामसि ॥ २२ ॥

भा०—(ओषधयः सोमेन राज्ञा) ओषधियां राजा सोम अर्थात् मुख्य सोमलता के साथ (सं वदन्ते) संवाद करती हैं, उसके गुणों के समान गुण रखती हैं और मानों कहती हैं (यस्मै कृणोति ब्राह्मणः) वेदज्ञ विद्वान् जिस के लिये हमारा प्रयोग करता है हे (राजन्) राजन् ! हम (तं पारयामसि) उसको पूर्ण, तृप्त और संकट से पार कर देतीं हैं ।

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षा उपस्तयः ।

उपस्तिरस्तु सो३स्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥२३॥११॥

भा०—(ओषधे) ओषधे (त्वम् उत्तमा असि) तू उत्तम है । (वृक्षाः तव उपस्तयः) नाना वृक्ष तेरे समीप हैं । (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें नाश करे, जो हमारा शत्रु है (सः अस्माकं उपस्तिः अस्तु) वह हमारे पास, हमारे वश होकर रहे । इत्येकादशो वर्गः ॥

[९८]

ऋषिर्देवापिरार्ष्टिषेणः ॥ देवा देवताः ॥ छन्दः—१, ७ भुरिक् त्रिष्टुप् । २, ६, ८, ११, १२ निचृत् त्रिष्टुप् । ३, ५ त्रिष्टुप् । ९ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ४, १० विराट् त्रिष्टुप् ॥ द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि मित्रो वा यद्वरुणो वासि पूषा ।
आदित्यैर्वा यद्वसुभिर्मरुत्वान्त्स पर्जन्यं शन्तनवे वृषाय ॥ १ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) वेदवाणी के पालक ! हे बड़ी भारी शक्ति के स्वामिन् ! विद्वन् ! राजन् ! प्रभो ! तू (मित्रः वा) मित्र है और (वरुणः वा असि) वरण करने योग्य श्रेष्ठ दुःखों का निवारक भी है । (वा पूषा असि) और तू जगत् का सूर्य, वायु वा पृथिवी, वा मेघ की तरह से पोषण करने वाला भी है । तू (आदित्यैः) पृथ्वी पर से जलों के लेने वाले वा सूर्य से उत्पन्न किरणों वा १२ मासों के तुल्य आदान-प्रतिदान करने वाले वा तेजस्वी जनों से और (वसुभिः) सबको बसाने वाले जनों से (मरुत्वान्) वीरों, मनुष्यों का स्वामी है । (सः) वह तू (शं-तनवे) शान्ति विस्तार करने वाले राजा के लिये वा शान्ति से विस्तृत होने वाले राज्य-सुख के लिये (वर्षय) नाना सुखों की वृष्टि करा ।

आ देवो दूतो अजिरश्चिकित्वान्त्वद्देवापे अभि मामगच्छत् ।
प्रतीचीनः प्रति मामा ववृत्स्व दधामि ते द्युमतीं वाचमासन् २

भा०—हे (देवापे) प्रभु के बन्धु ! सब सुखों के देने वाले प्रभु को वा विद्वानों को प्राप्त करने हारे उपासक ! (त्वत्) तेरी ओर से, तेरा जो (देवः) प्रकाशयुक्त (दूतः) संतप्त, (अजिरः) नित्य, (चिकित्वान्) ज्ञानवान् आत्मा है । वह (माम् अभि गच्छत्) सब ओर से हट कर मेरी तरफ हो । और तू (प्रतीचीनः) सब बाह्य विषयों से विमुख होकर (माम् प्रति आववृत्स्व) मेरे प्रति ही लौट आ । (ते आसन्) तेरे मुख में मैं (द्युमतीम् वाचम् आ दधामि) तेजस्विनी, भाव-पूर्ण, बलवती वाणी को प्रदान करता हूं । आधिदैविक में—बृहस्पति सूर्य, देवापि जल है, अजिर दूत वायु है । जल उठ कर सूर्य के प्रति जाता है, मेघ रूप होकर द्युमती वाक् अर्थात् विद्युत् रूप से गर्जना रूप वाणी को धारण करता है ।

अस्मे धेहि द्युमतीं वाचमासन्बृहस्पते अनमीवामिषिराम् ।
यया वृष्टिं शन्तनवे वनाव दिवो द्रप्सो मधुमाँ आ विवेश ॥३॥

भा०—(बृहस्पते) ब्रह्माण्ड के वा वाणी के पालक! प्रभो! (अस्मे आसन् द्युमतीं वाचम् धेहि) हमें हमारे मुख में ज्ञान-प्रकाश वाली ऐसी वाणी का प्रदान कर जो (अनमीवाम्) समस्त प्रकार के दोषों से रहित और अन्यों को पीड़ा न देने वाली, (इषिराम्) व्यापक, एवं इच्छा शक्ति को सन्मार्ग में चलाने वाली हो। हे प्रभो! (यया) जिससे हम दोनों (शं-तनवे) शान्ति के विस्तार वा जीव के देह की शान्ति के लिये (वनाव) एक दूसरे को प्राप्त हों। (दिवः) प्रकाशमय, तुम से (मधुमान् द्रप्सः) मधुर, सुखकारी रस (आ विवेश) भीतर अन्तःकरण में प्राप्त हो। (२) मेघ-सूर्य पक्ष में—हे (बृहस्पते) बड़ी शक्ति के पालक सूर्य! तू हमें द्युमती 'वाक्' विद्युत् को प्रदान कर, अर्थात् प्रकाशयुक्त अन्न परिपाक करने वाले ताप का प्रदान कर। जो (इषिरा) अन्न जल देने वाली और (अनमीवा) रोग नाशक हो। विश्व के प्राणी देह-धारियों के शान्ति-सुख-कल्याण के लिये (वृष्टिं वनाव) हम स्त्री पुरुष व राजा प्रजा जल वृष्टि को प्राप्त करें। (दिवः) आकाश से (मधुमान्) जल और अन्न से युक्त (द्रप्सः) रस भूमि को प्राप्त हो।

आ नो द्रप्सा मधुमन्तो विशन्त्विन्द्र देह्यधिरथं सहस्रम् ।
नि षीद होत्रमृतुथा यजस्व देवान्देवापे हविषा सपर्य ॥ ४ ॥

भा०—(नः) हमें (मधुमन्तः द्रप्साः) मधुर रस, आनन्दप्रद सुख (आ विशन्तु) प्राप्त हों। हमारे अन्तःकरण में वे आनन्द रस प्रवेश करें। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! हे तेजस्विन्! (अधिरथम् सहस्रं देहि) अति अधिक सर्वातिशायी, सहस्रों प्रकार का रस प्रदान कर। हे (देवापे) देव प्रभु को प्राप्त होने वाले! हे परमेश्वर के बन्धु! जीव! तू (होत्रं)

पुकारने योग्य वा सर्वसुख दाता प्रभु की ओर (नि सीद) जा और उसी के आश्रय रह। (ऋतुथा यजस्व) समय २ पर वा प्राणों के बल पर (यजस्व) प्रभु की ठीक नियम से उपासना, देवपूजा कर। और (देवान्) विद्वानों वा प्राणों को (हविषा सपर्य) उत्तम ग्राह्य अन्न जल से पूज, उनका सत्कार कर। (२) वृष्टि-पक्ष में—हमें (मधुमन्तः द्रप्साः) अन्न-जल युक्त रस, वृष्टि जल प्राप्त हों। (सहस्रं) खूब बलयुक्त जल सूर्य देवे। 'देव' अर्थात् सूर्य की किरणों को प्राप्त करने वाला विद्वान् समय २ पर ऋतु अनुसार यज्ञ को करे। सूर्य की किरणों को ऐसे (हविषा) द्रव्य साधन से युक्त करे जो जल को ग्रहण करें।

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि ॥५॥

भा०—(देव-सुमतिं चिकित्वान्) प्रभु परमेश्वर के प्रति शुभ मति, बुद्धि और स्तुति को जानने वाला (देवापिः) प्रभु का बन्धु, भक्त जन (आर्ष्टिषेणः) दर्शनकारिणी शक्तियों को सेनावत् वश करने वाला जितेन्द्रिय, (ऋषिः) यथार्थ तत्वदर्शी होकर (होत्रम् निषीदन्) पुकारने योग्य प्रभु की उपासना करता है, उसी में निष्ठा करता है। (सः) वह (उत्तरस्मात्) उत्कृष्ट समुद्रवत् आनन्द सागर प्रभु से (अधरं समुद्रं) नीचे के समुद्रवत् अपने अन्तःकरण के प्रति (दिव्याः वर्ष्याः अपः अभि असृजत्) दिव्य सुख-वृष्टि रूप आनन्दमय रसों को प्राप्त कराता है। (२) मेघ-वृष्टिपक्ष में—(देवापिः) किरणों को अपना हविः-तत्व प्राप्त कराने वाला विद्वान् (देव-सुमतिं चिकित्वान्) देवों, वायु, जल, सूर्य रश्मियों के उत्तम मति अर्थात् ज्ञान, वायु विज्ञान, जल-विज्ञान को जानने वाला पुरुष, (आर्ष्टिषेणः) ऋष्टि अर्थात वृष्टि की 'सेना' अर्थात् दलों के स्वामी मेघ का ज्ञाता होकर (होत्रम् निषीदन्) आहुतिमय यज्ञ को निष्ठा पूर्वक

करे। और उत्तर समुद्र अर्थात् आकाश से अधर समुद्र अर्थात् भूतल की ओर दिव्य आकाशी वृष्टियों को नीचे लावे।

अस्मिन्त्समुद्रे अध्युत्तरस्मिन्नापो देवेभिर्निवृता अतिष्ठन्।
ता अद्रवन्नार्ष्टिषेणेन सृष्टा देवापिना प्रेषिता मृक्षिणीषु ॥६॥१२॥

भा०—(अस्मिन् उत्तरस्मिन् समुद्रे अधि) इस उत्कृष्ट, सबको तराने वाले, समुद्रवत् अपार आनन्द सागर प्रभु में (देवेभिः निवृताः आपः अतिष्ठन्) पात्र वा जलाशय में जलों की न्याईं समस्त विद्वानों द्वारा किये गये या चाहे गये प्राप्तव्य फल रहते हैं। (आर्ष्टिषेणेन) जितेन्द्रिय (देवापिना) प्रभु के बन्धु उस भक्त द्वारा (सृष्टाः) व्यक्त किये जाकर (ताः प्र-इषिताः) वे भली प्रकार चाहे जाकर आपः आनन्द व्यापक रस (मृक्षणीषु) नदियों में जलों के तुल्य शुद्ध प्रजाओं और योग-भूमियों पर धारित (अद्रवन्) प्राप्त होते हैं। (२) मेघ-वृष्टि पक्ष में—देवों किरणों से (निवृताः) खुब एकत्र जल (अस्मिन्, उत्तरस्मिन् समुद्रे अधि) इस ऊपर के महान् आकाश में सुरक्षित रूप में रहते हैं। (देवापिना आर्ष्टिषेणेन) वृष्टि-दल के पति मेघ की विद्या का ज्ञाता, बहुतसी प्रजाओं का रक्षक, रश्मियों में हवि प्राप्त कराने वाले विद्वान् या वायु से (सृष्टाः) प्रेरित या बल रूप में उत्पादित होकर (मृक्षणीषु) विशुद्ध भूमियों पर (अद्रवन्) आ बहते हैं। इति द्वादशो वर्गः ॥

यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥ ७ ॥

भा०—(होत्राय वृतः पुरोहितः) यज्ञ कर्म के लिये वरण किये गये पुरोहित के तुल्य (होत्राय) ज्ञान प्रदान करने के लिये (वृतः) स्वीकार किया (पुरोहितः) समक्ष स्थित, (यत् देवापिः) जो देव का बन्धु भक्त (शन्तनवे) शान्ति-सुख विस्तारने के लिये, (कृपयन्) कृपा करता हुआ, सब पर अनुग्रह करता हुआ (अदीधेत्) नाना कर्म करता

है। वह (बृहस्पतिः) बड़ी वेद वाणी का पालक प्रभु (देव-श्रुतं) विद्वानों द्वारा श्रवण करने योग्य (वृष्टि-वनिं) समस्त दुःखों को काटने वाली, सुखप्रद ऐश्वर्य विभूति को (रराणः) देता हुआ, (अस्मै वाचम् अयच्छत्) इस भक्त जन को वाणी प्रदान करे। (२) मेघ-वृष्टि पक्ष में— (शन्तनवे) विश्व में शान्ति विस्तार करने के लिये (देवापिः) रश्मि-विज्ञान वा मेघ-विज्ञान का जानने वाला, विद्वान् (होत्राय वृतः) यज्ञ के लिये वरण किया जाकर (कृपयन् अदीधेत्) समस्त प्रजाओं पर अनुग्रह करता हुआ समस्त यज्ञ कर्म करे। वह (बृहस्पतिः) बड़ी शक्ति का स्वामी सूर्य (देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणः) देव, दातृसम मेघ से स्रवित होने वाले जलवृष्टि के अंश को देता हुआ (अस्मै वाचम् अयच्छत्) इस मेघ को विद्युत् रूप वाणी प्रदान करता है।

यं त्वा देवापिः शुशुचानो अग्न आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे।
विश्वेभिर्देवैरनुमद्यमानः प्र पर्जन्यमीरया वृष्टिमन्तम् ॥ ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप! (यत्) जब (देव-आपिः) प्रभु के बन्धु के तुल्य प्रिय, प्रभु तक स्तुति उपासना से प्राप्त होने हारा (शुशुचानः) शुद्ध पवित्र, तेजस्वी होता हुआ (अर्ष्टिषेणः) दर्शन शक्तियों की सेना अर्थात् इन्द्रियगण पर विजयी एवं (मनुष्यः) मननशील होकर (त्वा सम् ईधे) तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करता है, तेरे गुणों का प्रकाश करता है, तब तू (विश्वेभिः देवैः अनु-मद्यमानः) समस्त मनुष्यों और उपासकों से प्रति दिन स्तुति किया जाता हुआ, (वृष्टिमन्तं पर्जन्यम् प्र ईरय) वृष्टि वाले मेघ के तुल्य अपने आनन्दमय रसों के दाता रूप को प्रकट कर। मेघ-वृष्टिपक्ष में—जब देवों के विज्ञान का ज्ञाता वृष्टिज्ञानी पुरुष यज्ञ करे तो सब दिव्य गुणों से पुष्ट होकर अग्नि वा सूर्य जलप्रद मेघ को प्रकट करता है।

त्वां पूर्व ऋषयो गीर्भिरायन्त्वामध्वरेषु पुरुहूत विश्वे ।
सहस्राण्यधिरथान्यस्मे आ नो यज्ञं रोहिदश्वोप याहि ॥ ९ ॥

भा०—(पूर्वे ऋषयः) पूर्व के ऋषिजन, (गीर्भिः त्वाम् आयन्) स्तुति वाणियों से तुझको प्राप्त होते हैं, हे (पुरुहूत) बहुतों से पुकारे जाने वाले, बहुतों में उपाश्रित ! (त्वाम्) तुझको (विश्वे) सब मनुष्य (अध्वरेषु) यज्ञों से स्तुतियों द्वारा उपासना करते हैं । (अस्मे) हमारे (सहस्राणि अधि रथानि) रथों से युक्त सहस्रो ऐश्वर्यों, देह युक्त सहस्रों अनेक सुख व बल आदि प्राप्त हों । हे (रोहिद्-अश्व) लाल, देदीप्त तेज रूप में व्यापने वाले ! तू (नः यज्ञम् उपयाहि) हमारे यज्ञ को प्राप्त हो ।

एतान्यग्ने नवतिर्नव त्वे आहुतान्यधिरथा सहस्रा ।
तेभिर्वर्धस्व तन्वः शूर पूर्वीर्दिवो नो वृष्टिमिषितो रिरीहि ॥१०॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजःस्वरूप ! (एतानि नवतिः नव) ये ९९ वर्ष, और (अधिरथा सहस्रा) रथ अर्थात् देह पर आश्रित बलशाली, प्राण आदि (त्वे आहुतानि) तेरे पर ही आश्रित, तुझ पर ही समर्पित हैं, हे (शूर) दुष्टों के नाशक ! (तेभिः) उनसे तू (पूर्वीः तन्वः) अनेक रूपों के तुल्य नाना व्यापक शक्तियों को (वर्धस्व) बढ़ा, प्रकट कर । (इषितः) प्रार्थित होकर (नः) हमें (दिवः वृष्टिम् रिरीहि) ज्ञान-प्रकाश की वृष्टि प्रदान कर । (२) मेघ-वृष्टि पक्ष में—अग्नि में नाना (नवतिः नव सहस्रा अधिरथा) ९९ सहस्र घृतसहित चरु की आहुति देने से अग्नि अनेक देहों, ज्वालाओं से बढ़ता है । वह (इषितः) तीव्र होकर आकाश से वृष्टि प्राप्त कराता है ।

एतान्यग्ने नवतिं सहस्रा सं प्र यच्छ वृष्ण इन्द्राय भागम् ।
विद्वान्पथ ऋतुशो देवयानानप्यौलानं दिवि देवेषु धेहि ॥११॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजोमय ! विद्वन् ! तू (वृष्णे इन्द्राय)

सब समस्त सुखों की वर्षा करने वाले (इन्द्राय) सूर्यवत् प्रभु को प्रसन्न करने के लिये (एतानि नव नवतिम् सहस्रा) इन ९९ सहस्रों को (भागम् सं प्रयच्छ) सेवनीय रूप से प्रदान कर । और (देवानाम् पथः विद्वान्) विद्वानों के गमन करने योग्य मार्गों को जानता हुआ (ऋतुशः) समय २ पर (औलानम्) जीव को (देवि देवेषु धेहि) ज्ञानमार्ग में विद्वानों के बीच रख । (२) मेघ की वृष्टि पक्ष में—अग्नि चरु हव्य आदि की ९० सहस्र आहुतियों को वृष्टिकारक मेघ के निमित्त वातावरण में प्रदान करे । देव अर्थात् किरणों के गमन मार्गों को जानता हुआ विद्वान् (औलानम्) मेघ को अन्तरिक्ष में किरणों के बल पर बना लेता है ।

अग्ने बाधस्व वि मृधो वि दुर्गहापामीवामप रक्षांसि सेध ।
अस्मात्समुद्राद् बृहतो दिवो नोऽपां भूमानमुप नः सृजेह १२।१३

भा०—हे (अग्ने) स्वप्रकाश ! तू (मृधः वि बाधस्व) हिंसाकारियों को विविध प्रकारों से पीड़ित कर । (दुर्गहा वि) दुःख से ग्रहण करने योग्य दुष्पार कष्टों को दूर कर । (अमीवाम् अप) रोग को दूर कर । (रक्षांसि अप सेध) दुष्टों और विघ्नों को दूर कर । (अस्मात् बृहतः समुद्रात्) इस महान् आकाशवत् समुद्र से और (बृहतः दिवः) महान् तेजोमय सूर्य से (इह) इस भूमि लोक पर (नः) हमारे लिये (अपां भूमानम् उप सृज) जलों का बहुत भारी भाग प्राप्त करा, प्रदान कर । (२) प्रभो ! तू हमारे सब भीतरी नाशकारी क्रोध आदि शत्रुओं को नाश कर, कष्टों को दूर कर, रोग और विघ्नों को हटा और इस महान् तेज के परम सुखदायक समुद्रवत् प्रभु से हमें (अपां भूमानं) प्रकृति परमाणुओं वा लोकों के बीच उस महान् प्रभु, वा प्राणों के बीच भूमा, आत्मा को हमें प्राप्त करा ।

[९९]

ऋषिर्वम्रो वैखानसः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ७, ११ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ५, ६, १२ त्रिष्टुप् । ३, ६ विराट् त्रिष्टुप् । ४ आसुरी स्वराडार्ची निचृत् त्रिष्टुप् । ८ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । १० पादनिचृत् त्रिष्टुप् ॥ द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

कं नश्चित्रमिषण्यसि चिकित्वान्पृथुग्मानं वाश्रं वावृधध्यै ।
कत्तस्य दातु शवसो व्युष्टौ तक्षद्वज्रं वृत्रतुरमपिन्वत् ॥ १ ॥

भा०—हे स्वामिन् ! तू (चिकित्वान्) ज्ञानवान् होकर (नः) हमें (चित्रं) ज्ञान देने वाले, अति पूज्य (पृथुग्मानं) परिमाण में बहुत बड़ा होजाने वाले, (वाश्रम्) स्तुत्य (कं) सुखप्रद धनैश्वर्य, ज्ञान को (नः ववृधध्यै) हमारी वृद्धि के लिये (इषण्यसि) जल को मेघवत् हमें प्रदान करता है । (तस्य शवसः) उस ज्ञानी और बलशाली प्रभु का (दातु कम्) कितना भारी दान है, उसका क्या ठिकाना है, जो (व्युष्टौ) नाना प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करने के निमित्त (वृत्रतुरं वज्रं) मेघ के छिन्न भिन्न करने वाले बलशाली विद्युत् के सदृश, अज्ञान, कष्ट आदि के नाशक ज्ञान रूप वज्र को (तक्षत्) बनाता है, उपदेश करता और फिर (अपिन्वत्) जगत् को मेघ के तुल्य ज्ञान जलों से सेंचता, और जगत् को अन्न, धन-धान्य, प्रजा आदि से बढ़ाता है ।

स हि द्युता विद्युता वेति साम पृथुं योनिमसुरत्वा ससाद ।
स सनीळेभिः प्रसहानो अस्य भ्रातुर्न ऋते सप्तथस्य मायाः २

भा०—(सः हि) और वह (द्युता) चमकने वाले, प्रकाशमय (विद्युता) विशेष कान्तियुक्त, तेज से (साम) एक समान, बलयुक्त, शान्तिदायक, (पृथुम्) विशाल आश्रय स्थान के आकाश को (वेति) व्यापता है । प्रकाशित करता है । (सः) वह परम प्रभु (सनीडेभिः)

अपने २ आश्रयों सहित सूर्य वायु आदि द्वारा (प्र-सहानः) जगत् भर को वश करता हुआ, (असुरत्वा) सर्वजगत् सञ्चालक व प्राणप्रद बल से (ससाद) विराजता है। (ऋते) सत्य ज्ञान, वा परम कारण रूप सत् प्रकृति में ही (अस्य भ्रातुः न) समस्त विश्व के भरण-पोषण करने वाले (सप्तथस्य) सर्वव्यापक वा षड्-विकारों से अतिरिक्त सातवें इस प्रभु की ही (मायाः) समस्त ये निर्माण शक्तियां या बुद्धि-कौशल हैं। अध्यात्म में मन सहित छहों इन्द्रियों से अतिरिक्त सातवां आत्मा इन्द्र है। जो प्राण के प्रेरक बल से देह में विराजता है। स्व २ स्थानों में स्थित इन्द्रियों वा अंगों से समस्त ग्राह्य विषयों को ग्रहण करता है।

स वाजं यातापदुष्पदा यन्त्स्वर्षाता परि षदत्सनिष्यन्।
अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवाँ अभि वर्पसा भूत् ॥३॥

भा०—(सः वाजं याता) वह महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। वह (अप-दुः-पदा) दुःख-संवेदना से रहित, सुखमय वा दुष्टाचार से रहित पुण्य मार्ग से (यन्) जाता हुआ (स्वः-साता) सुख लाभ के निमित्त, (परि सदत्) सर्वत्र विराजता या आगे बढ़ता है। और (यत्) जो (अनर्वा) अहिंसक होकर (शत-दुरस्य वेदः) सैकड़ों द्वारों वाले प्रभु के वेद्य, ऐश्वर्य या ज्ञान को (सनिष्यन्) सेवन करना चाहता हुआ (वर्पसा) अपने बल से (शिश्न-देवान्) मूल इन्द्रिय सम्बन्धी कामना-युक्त भावों को (घ्नन्) विनष्ट करता हुआ (अभि भूत्) सामर्थ्यवान् हो। मनुष्य सदाचार से चले, सुख के लिये निष्ठा से रहे। अहिंसक होकर शतद्वार अथवा शत वर्ष अवधि तक जीने वाले देह के परम सुख को ब्रह्मचर्य पूर्वक प्राप्त करे।

स यह्व्यो३वनीर्गोष्वर्वा जुहोति प्रधन्यासु सस्निः।
अपादो यत्र युज्यासोऽरथा द्रोण्यश्वास ईरते घृतं वाः ॥ ४ ॥

भा०—(सः अर्वा) सूर्य जिस प्रकार (प्रधन्यासु गोषु यह्वयः अवनीः आजुहोति) उत्तम धान्य योग्य भूमियों में बहुत २ जलधाराओं और रश्मियों को प्रदान करता है। उन भूमियों में (अपादः) पाद रहित, (अरथाः) रथादि से रहित (युज्यासः द्रोणि-अश्वासः) वेगवान् व्यापक गुणों वाले वायुगण (वाः उदकम्) उत्तम जल (ईरते) प्रदान करते हैं। उसी प्रकार (अर्वा) देह से देहान्तर में जाने वाला आत्मा (प्रधन्यासु गोषु) उत्तम ऐश्वर्य-विभूति से सम्पन्न इन (गोषु) गमन योग्य, पार्थिव देह-भूमियों में (यह्वयः अवनीः) बड़ी २ पालनकारिणी शक्तियों या अन्न जलादि साधनों की आहुति करता है। इन देहभूमियों में (अपादः) स्वयं ज्ञानरहित (अरथाः) वेग रहित (युज्यासः) अश्वों के समान देह में लगे हुए (द्रोणि-अश्वासः) द्रुत गति से भागने वाले इन्द्रियगण (घृतम् वाः ईरते) ज्ञानप्रकाशक, वरणीय पदार्थ के प्रति गमन करते हैं। इसी प्रकार प्रभु परमेश्वर समस्त लोकों और प्रजाओं में अपनी (यह्वयः अवनीः) बड़ी २ पालक शक्तियों को प्रदान करता है। सूर्यादि पिण्ड पाद से रहित रथादि या नाना साधनों से रहित भी वेग से जाते हुए (घृतं वाः ईरते) प्रकाश और जल प्रदान करते हैं।

स रुद्रेभिरशस्तवार ऋभ्वा हित्वी गयमारे अवद्य आगात्।
वम्रस्य मन्ये मिथुना विवव्री अन्नमभीत्यारोदयन्मुषायन् ॥५॥

भा०—जिस प्रकार (ऋभ्वा) प्रकाश वा जल से सामर्थ्यवान् सूर्य वा मेघ अपने (गयम् हित्वी) नियत स्थान वा समुद्र को छोड़ कर आता है (विवव्री मिथुना अभि इत्य) विपरीत रूप वाले मिथुन नक्षत्रों को प्राप्त होकर (अन्नम् मुषायन्) अन्न का नाश करता और (अरोदयत्) रुलाता है, उसी प्रकार (सः) वह (ऋभ्वा) महान् आत्मा (आरे-अवद्यम्) निन्दनीय पापादि से रहित (गयम्) परम शरण रूप प्रभु को (हित्वी) छोड़ कर (अशस्त-वारः) अप्रशस्त, निन्दित मार्ग को वरण कर के

(रुद्रेभिः सह आ अगात्) इन प्राणों सहित इस देह में आता है। वह (वम्रस्य) वमन करने वाले, खा २ कर पुनः २ छोड़ने, उगलने वाले इस देह के ही (मिथुना विवव्री) नर नारी रूप नाना दो २ जोड़ों को (अभि इत्य) प्राप्त करके (अन्नम् मुषायन्) अन्नवत् नाना भोगों को प्राप्त करता हुआ (अरोदयत्) प्राणियों को वा अपने को पीड़ित करता है। ऐसा (मन्ये) मानता हूं।

स इद्दासं॑ तुवी॒रवं॒ पति॒र्दन्ष॑ळ॒क्षं त्रि॑शी॒र्षाणं॑ दमन्यत्।
अ॒स्य त्रि॒तो न्वोज॑सा वृधा॒नो वि॒पा व॑रा॒हमयो॑अग्रया ह॒न् ६॥१४

भा०—(सः इत् पतिः) वह ही आत्मा का स्वामी, (तुवि-रवम्) बहुत शब्द करने वाले गर्जनाशील (दासम्) नाशकारी दुष्ट मन को वा इन्द्रिय-भृत्यादि को (दन्) दमन करता हुआ (षड् अक्षम्) ६ आंखों वाले और (त्रि-शीर्षाणम्) तीन शिरों वाले वर्ष को सूर्य के समान इस देह को जिस में मन सहित छः इन्द्रियों वाले और शिरोवत् तीन धातुएं वा पेट, हृदय और मस्तक ऐसे मुख्य अंगों वाले देह को (दमन्यत्) वश करता है। वह (त्रितः) तीनों लोकों में व्यापक वा तीनों दुखों से मुक्त आत्मा (ओजसा) अपने बल से (वृधानः) बढ़ता हुआ, (अयः-अग्रया) लोहे की सूई की धार के समान तीक्ष्ण (विपा) बुद्धि से (वराहम् हन्) सर्वश्रेष्ठ प्रभु को प्राप्त करता है।

स द्रु॒ह्वणे॒ मनु॑ष ऊर्ध्वसा॒न आ सा॑विषदर्शसा॒नाय॒ शरु॑म्।
स नृत॑मो॒ नहु॑षो॒ऽस्मत्सुजा॑तः॒ पुरो॑ऽभिन॒दर्ह॑न्दस्यु॒हत्ये॑ ॥ ७ ॥

भा०—(सः) वह (ऊर्ध्व-सानः) उच्च पद को प्राप्त करने वाला, उत्तम पुरुष (द्रुह्वणे) द्रोही और (अर्शसानाय) हिंसाकारी मनुष्य को दण्ड देने के लिये (शरुम् आ साविषत्) हिंसाकारी साधन का प्रयोग करे। (सः नृ-तमः) वह नरश्रेष्ठ, (सु-जातः) उत्तम, (नहुषः) दुष्टों का

बन्धनकारी, (अर्हन्) पूज्य होकर (अस्मत् दस्यु-हत्ये) हमारे नाशकारी शत्रुओं के विनाशकारी उद्योग, संग्राम में (पुरः) शत्रु के शरीरों और दृढ़ दुर्गों को (अभिनत्) तोड़े, उसी प्रकार वह प्रभु द्रोही, हिंसक, दुष्ट जनों को दुःख देता है। और दुष्टों के दण्ड देने के लिये उनके शरीरों को भी नष्ट करता है।

सो अभ्रियो न यवस उदन्यन्क्षयाय गातुं विदन्नो अस्मे।
उप यत्सीददिन्दुं शरीरैः श्येनोऽयोपाष्टिर्हन्ति दस्यून् ॥ ८ ॥

भा०—(यवसे न) जिस प्रकार जौ आदि अन्न की पुष्टि के लिये (उदन्यन्) जल से पूर्ण होकर (अभ्रियः) मेघसंघ (गातुम् विदत्) भूमि को प्राप्त करता है, बरसता है उसी प्रकार (नः क्षयाय) हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाने के लिये (सः) वह प्रभु, राजा भी (नः गातुम् विदत्) हमारी प्रार्थना को प्राप्त करे। (अस्मे श्येनः) हमारे बीच में प्रशंसनीय आचार-चरित्रवान् (यत्) जो पुरुष (शरीरैः) नाना शरीरों से जन्म-जन्मान्तरों से (इन्दुम्) उस परमैश्वर्यवान्, दयालु, तेजस्वी को (उप सीदत्) प्राप्त कर लेता है तब वह (अयः-अपाष्टिः) लोह की बनी एड़ी वाले पुरुष के समान बलशाली, (अयः-अपाष्टिः) आवागमन से दूर व्यापक आत्मा वाला होकर (दस्यून् हन्ति) नाशकारी काम, क्रोधादि को शत्रुओं के तुल्य (हन्ति) नष्ट करता है।

स व्राधतः शवसानेभिरस्य कुत्साय शुष्णं कृपणे परादात्।
अयं कविमनयच्छस्यमानमत्कं यो अस्य सनितोत नृणाम् ॥ ९ ॥

भा०—(सः) वह (व्राधतः) महान् प्रभु (शवसानेभिः) बलशाली उपायों से (कुत्साय) निन्दाकारी दुष्ट जन को दण्ड देने के लिये उस पर (शुष्णम्) शोषक, संतापक-दुःख जनक कष्ट (अस्य) डालता और (कृपणे) प्रार्थना करने वाले भक्त पर आये (शुष्णम्) दुःख को

परा अदात्) दूर कर देता है। और (यः) जो (नृणां) मनुष्यों के बीच में (अस्य) इस के (अर्कं) व्यापक रूप वा ज्ञान को (सनिता) प्रदान करता है उस (कविम्) क्रान्तदर्शी विद्वान् को (प्रथम् शस्यमानं) यह प्रशंसनीय पद (अनयत्) प्राप्त कराता है।

अयं दंशस्यन्नर्येभिरस्य दस्मो देवेभिर्वरुणो न मायी।
अयं कनीनं ऋतुपा अवेद्यमिमीतारुं यश्चतुष्पात् ॥ १० ॥

भा०—(अयम् वरुणः) वह सर्वश्रेष्ठ प्रभु (दस्मः) सब दुःखों का नाश करने वाला, (मायी न) बुद्धिमान्, चतुर पुरुष के तुल्य ही (नर्येभिः देवेभिः) सर्वमनुष्योपकारक, सर्वहितकारी किरणों से सूर्य के तुल्य, (देवेभिः) विजिगीषुओं, विद्वानों या दानशील पुरुषों से राजा के तुल्य इन्द्रियों वा सूर्य, जल, अग्नि आदि पदार्थों से (दशस्यन्) सुखों को प्रदान करता हुआ (अस्य) सब दुष्टों का नाश करता है, (अयम्) यह (कनीनः) कान्तिमान्, तेजस्वी, (ऋतु-पाः) ऋतुओं, प्राणों, सदस्यों, राजाओं और सत्यवान् सज्जनों का पालक (अवेदि) जाना जाता है (यः) जो स्वयं (चतुः-पात्) धर्मादि चार चरणों वाला वा चतुष्पाद् ब्रह्म होकर (अरुम् अमिमीत) खूब २ रुलाने वाले दुष्ट जन का, वा दुखदायी कष्ट का नाश करता है।

अस्य स्तोमेभिरौशिज ऋजिश्वा व्रजं दरयद्वृषभेण पिप्रोः।
सुत्वा यद्यजतो दीदयद् गीः पुर इयानो अभि वर्पसा भूत् ॥११॥

भा०—(यत्) जब (सुत्वा) उपासक (यजतः) देवपूजा करने वाला भक्त (गीः) स्तोता होकर (दीदयत्) अपने गुणों को प्रकाशित करता है (पुरः इयानः) अपने देहों को प्राप्त होता हुआ भी उन समस्त देहों को (वर्पसा) बल से वा उत्तम आत्मा रूप से (अभि भूत्) अपने वश कर लेता है। तब वह (ऋजिश्वा) वशीभूत इन्द्रियों वाला (औशिजः) तेजोमय प्रभु का उपासक होकर (अस्य स्तोमेभिः) उस प्रभु के स्तुति

वचनों से ही (वृषभेण) वलवान्, सुखवर्षक रूप से (पिप्रोः) नित्य पालनीय इस देह के (व्रजम्) समूह को (दरयत्) दलित करता है। देहों को तोड़ कर मुक्त हो जाता है।

एवा महो असुर वक्षथाय वम्रकः पड्भिरुप सर्पदिन्द्रम्।
स इयानः करति स्वस्तिमस्मा इषमूर्जं सुक्षितिं विश्वमाभाः
॥ १२ ॥ १५ ॥ ८ ॥

भा०—हे (असुर) प्राणों के देने हारे बलवान् प्रभो ! (एव) इस प्रकार (महः वक्षथाय) महान् ऐश्वर्य को धारण करने के लिये वा समस्त संसार को वहन करने वाले तुझ महान् प्रभु को प्राप्त करने के लिये (पड्भिः)नाना ज्ञानमय आचरणों से, कदम बकदम, (वम्रकः इन्द्रम् उप-सर्पत्) स्तोता वह भक्त उस ऐश्वर्यवान् प्रभु को प्राप्त कर लेता है। (सः इयानः) वह प्रभु प्राप्त होकर (अस्मै) इस जीव का (स्वस्ति करति) कल्याण करता है और इसके हितार्थ ही (इषम् ऊर्जम् सु-क्षितिम्) उत्तम वृष्टि, अन्न और भूमि बनाता है और इस प्रकार (विश्वम्) देह में प्रविष्ट जीव और समस्त जगत् जिस में ये सब प्राणी और लोक प्रविष्ट हैं उनको (आ अभाः) पाल रहा है। इति पञ्चदशो वर्गः ॥ इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

[१००]

ऋषिर्दुवस्युर्वान्दनः ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः—१—३ जगती । ४, ५, ७, ११ निचृज्जगती । ६, ८, १० विराड् जगती । ९ पादनिचृज्जगती । १२ विराट् त्रिष्टुप् ॥ द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्र दृह्य मघवन्त्वावदिद्भुज इह स्तुतः सुतपा बोधि नो वृधे।
देवेभिर्नः सविता प्रावतु श्रुतमा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥१॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् प्रभो ! हे (मघवन्) पूज्य धनयुक्त! तू (भुजे) भोक्ता जीव के हितार्थ वा (भुजे) पालन करने के लिये

(त्वावत् इत् इद्य) तुझ जैसे अविनाशी, चेतन आत्मा को दृढ़कर, उसको बल दे। (स्तुतः) स्तुति किया जाता हुआ (सुत-पाः) उपासक की पुत्रवत् रक्षा करने हारा होकर (सः वृधे बोधि) वह तू हमारी वृद्धि के लिये सदा जान और हमें भी ज्ञान दे। तू (सविता) सबका उत्पादक और प्रेरक प्रभु (देवेभिः) विद्वानों, वीरों और इन्द्रियों द्वारा (नः) हमारी (प्र अवतु) अच्छी प्रकार रक्षा, स्नेह आदि कर, हमें प्राप्त हो, हमें ज्ञान दे। हम (श्रुतम्) गुरु-उपदेश द्वारा श्रवण करने योग्य (सर्वतातिम्) सर्वहितकारी, सब जगत् के विस्तारक (अदितिम्) उस अखण्ड, माता पिता के तुल्य प्रभु को (आ वृणीमहे) सब प्रकार से वरण करते हैं, उसे चाहते हैं।

भराय सु भरत भागमृत्वियं प्र वायवे शुचिपे क्रन्ददिष्टये।
गौरस्य यः पयसः पीतिमानश आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे २

भा०—हे विद्वान् लोगो ! आप लोग (भराय) सब के पालन पोषण करने वाले, (वायवे) वायु के समान बलवान्, सबके प्राणवत् प्रिय, (शुचि-पे) शुद्ध अन्न जल का उपभोग करने वाले, (क्रन्दत्-इष्टये) इष्टि, अभिलषित का उपदेश करने वाले के लिये (ऋत्वियम्) ऋतुओं के योग्य (भागं) सेवनीय अंश को (सु भरत) उत्तम रीति से प्राप्त कराओ। (यः) जो स्वयं (गौरस्य) शुद्ध पवित्र, गौ के तुल्य भूमि में दिये (पयसः) पुष्टिप्रद दूध के समान अंश को (पीतिम्) पान को (आनशे) पुत्रवत् प्राप्त करता है उस (अदितिम्) अदीन सूर्यवत् तेजस्वी (सर्व-तातिं) सर्वमंगलकारी शुभ राजा वा प्रभु को हम (आ वृणीमहे) आदर पूर्वक वरण करते हैं।

आ नो देवः सविता साविषद्वय ऋजूयते यजमानाय सुन्वते।
यथा देवान्प्रतिभूषेम पाकवदा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ ३ ॥

भा०—(सविता देवः) सब जगत् का उत्पादक, सूर्यवत् सबका

प्रेरक, (नः) हम में से परमेश्वर (ऋजूयते) सरल धर्म मार्ग से जाने वाले (सुन्वते यजमानाय) उपासना करने वाले, आत्म-समर्पक, यज्ञशील जन के हितार्थ (पाकवत्) पाक से युक्त (वयः) अन्न के तुल्य (पाकवत् वयः) परिपक्व बल, ज्ञान (साविषत्) प्रदान करे। (यथा) जिस से हम (देवान् प्रति भूषेम) विद्वान् जनों की अपने प्राणों के तुल्य सेवा करें, उन्हें तृप्त, संतुष्ट करें। हम (सर्वतातिम् अदितिम् आवृणीमहे) उस सर्वमंगलकारी, जगद्-विस्तारक, अखण्ड तेजस्वी प्रभु से याचना और प्रार्थना करते हैं।

इन्द्रो॑ अ॒स्मे सु॒मना॑ अस्तु वि॒श्वहा॒ राजा॒ सोमः॑ सुवि॒तस्याध्ये॑तु नः।
यथा॑यथा मि॒त्रधि॑तानि सन्द॒धुरा स॒र्वता॑तिम॒दि॑तिं वृणीमहे ॥४॥

भा०—(विश्वहा) सब दिनों (इन्द्रः) इन्द्र ऐश्वर्यवान्, जल, अन्न का दाता प्रभु, (अस्मे सु-मनाः अस्तु) हमारे लिये शुभ चित्त वाला हो। (राजा) सूर्यवत् प्रकाशमान् (सोमः) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक, शासक प्रभु (नः अधि एतु) हम पर शासन करे। हमें प्राप्त हो (यथा-यथा) जिससे समस्त लोग (मित्र-धितानि) सर्वस्नेही प्रभु के दिये वा बनाये पदार्थों को (सं-दधुः) यथायोग्य रीति से प्राप्त करते हैं। उस (अदितिं) माता पितावत् अखूट भण्डार के स्वामी प्रभु को हम (आ वृणीमहे) प्राप्त करते हैं।

इन्द्र॑ उ॒क्थेन॒ शव॑सा॒ परु॑र्दधे॒ बृह॑स्पते प्रतरी॒तास्यायु॑षः।
य॒ज्ञो मनुः॒ प्रम॑तिर्नः पि॒ता हि कमा स॒र्वता॑ति॒मदि॑तिं वृणीमहे ५

भा०—(इन्द्रः) जल, अन्न का दाता, ऐश्वर्यवान् प्रभु (उक्थेन शवसा) स्तुत्य वा उपदेश योग्य, ज्ञान-बल से (परुः दधे) सबके पालक अन्न का धारण-पोषण करता और सब को प्रदान करता है। हे (बृहस्पते) महान् विश्व एवं ब्रह्म-ज्ञान के पालक प्रभो! तू ही (आयुषः प्र-तरीता असि)

जीवन, आयु का देने और बढ़ाने वाला है। तू (मनुः) ज्ञानवान्, माननीय (प्र-मतिः) सब से उत्तम बुद्धि और ज्ञान से सम्पन्न, सर्वोत्कृष्ट विचारवान् और (यज्ञः) सब सुखों का दाता, सर्वपूज्य, (नः पिता हि कम्) हमारा पालक पिता-मातावत् है। उस (सर्व-तातिम्) समस्त जगत् के हितकारी (अदितिम्) भूमि सूर्यवत् अन्न जल, प्रकाश तापवत् ज्ञान अन्न जीवन के देने वाले तुझको (आवृणीमहे) हम सब प्रकार से वरण करते हैं।

इन्द्रस्य नु सुकृतं दैव्यं सहोऽग्निर्गृहे जरिता मेधिरः कविः ।
यज्ञश्च भूद्विदथे चारुरन्तम आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥६॥१६॥

भा०—(इन्द्रस्य) महान् ऐश्वर्यवान्, तेजस्वी, सूर्यवत् सर्वप्रकाशक प्रभु वा आत्मा का (नु) ही निश्चय से (सु-कृतम्) सुखजनक उत्तम रीति से सम्पादित वा उत्तमोत्तम पदार्थों को उत्पन्न करने वाला (दैव्यं) देव, इन्द्रियों, विद्वानों, पृथिव्यादि लोकों का उपकारक (सहः) बल है। वह (गृहे) गृह में (अग्निः) अग्नि के तुल्य (जरिता) सबको जीर्ण, पक्व करने वाला, ज्ञानी के तुल्य उपदेष्टा, वही (मेधिरः कविः) बुद्धिमान् क्रान्तदर्शी, विद्वान् के तुल्य है। वही (विदथे) ज्ञान में (यज्ञः) पूज्य (चारुः) सर्वत्र व्यापक और (अन्तमः) हमारे अति समीपतम है। उस (सर्वतातिम् अदितिं वृणीमहे) सर्वजगत् प्रसारक, अखण्ड देव की प्रार्थना करते हैं। इति षोडशो वर्गः ॥

न वो गुहा चकृम भूरि दुष्कृतं नाविष्ट्यं वसवो देवहेळनम् ।
माकिर्नो देवा अनृतस्य वर्पस आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥७॥

भा०—हे (वसवः) गृह में बसे माता पितावत् पूज्य जनो ! हम लोग (गुहा) छुपे घर वा मन में (दुष्कृतम्) पाप (न भूरि चकृम) सर्वथा न करें और (आविः-त्यम्) और प्रकट रूप में कर्म से भी (भूरि दुष्कृतम् न चकृम) बहुत बार २ पाप न किया करें। जिससे (देव-

हेडनम्) परमेश्वर और राजा तथा विद्वानों का क्रोध (नः माकिः) हमें न प्राप्त हो । (सर्वतातिं अदितिं आ वृणीमहे) हम सर्वमंगलकारी, प्रभु से यही प्रार्थना करते हैं ।

अपामीवां सविता साविषन्न्य१ग्वरीय इदप सेधन्त्वद्रयः ।
ग्रावा यत्र मधुषुदुच्यते बृहदा सर्वतातिमादितिं वृणीमहे ॥ ८ ॥

भा०—(सविता) सूर्यवत् तेजस्वी, प्रभु (अमीवाम् अप साविषत्) दुःखदायी रोग पाप आदि को दूर करे । (अद्रयः) मेघ तुल्य उदार जन (वरीयः) बड़े २ पापों को भी (न्यक् अप सेधन्तु) जल के तुल्य नीचे दूर बहा दें । (यत्र) जिस के आश्रय (ग्रावा) विद्वान् उपदेष्टा, मेघवत् (मधुसुत् उच्यते) जलों, अन्नों के तुल्य ज्ञान को देने वाला कहा जाता है उस (बृहतः सर्वतातिं अदितिं वृणीमहे) महान्, सर्वमंगलकारी सूर्य-भूमिवत् ज्ञानप्रकाश अन्नादि के दाता प्रभु से हम प्रार्थना करते हैं ।

ऊर्ध्वो ग्रावा वसवोऽस्तु सोतरि विश्वा द्वेषांसि सनुतर्युयोत ।
स नो देवः सविता पायुरीड्य आ सर्वतातिमादितिं वृणीमहे ६

भा०—हे (वसवः) पृथिवी, सूर्य, प्राणों आदि के तुल्य माता, पिता और गुरु आदि विद्वान् जनो ! (सोतरि) सब के शासक, उत्पादक प्रभु के आश्रय ही (ग्रावा) उत्तम उपदेष्टा (ऊर्ध्वः) सब से उच्च है । आप लोग (सनुतः) हमारे छिपे (द्वेषांसि) सब द्वेषों को भी (युयोत) दूर करो । (सः देवः) वह देव, सब सुखों का दाता, सर्वप्रकाशक प्रभु (नः) हमारा (पायुः) पालक और (ईड्यः) वन्दनीय और स्तुत्य है । उस (सर्वतातिम् अदितिं आ वृणीमहे) सर्वमंगलकारी प्रभु से हम प्रार्थना करते हैं ।

ऊर्जं गावो यवसे पीवो अत्तन ऋतस्य याः सदने कोशे अङ्ध्वे ।
तनूरेव तन्वो अस्तु भेषजमा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ १० ॥

भा०—(याः) जो (ऋतस्य सदने) परम कारण या सत्य ज्ञान के आश्रय रूप (कोशे) कोश रूप आनन्दमय कोश में (अङ्ध्वे) अपना सत् प्रकाश प्रकट करती हैं, हे (गावः) वाणियो ! वे आप (यवसे ऊर्जं पीवः) चारे के आश्रय पर जैसे गौवें बलकारक दुग्धरस प्रदान करती हैं उसी प्रकार आप भी (ऋतस्य पीवः ऊर्जम्) ज्ञान का बहुत बड़ा बल वा रस (अत्तन) प्राप्त कराओ, आस्वादन कराओ। (तनूः एव तन्वः भेषजम् अस्तु) एक प्रकार का देह दूसरे प्रकार के देह के रोग का निवारक हो। अर्थात् जिस प्रकार गौ का देह दुग्ध, मूत्रादि से मानव देहों के नाना रोग शान्त करता है उसी प्रकार हम में भी एक व्यक्ति गुरु, सहायक होकर दूसरे देहवान् प्राणी के कष्टों का ओषधिवत् दूर करने वाला हो। (सर्वतातिं अदितिं आ वृणीमहे) सब प्रकार के सुखप्रद भूमि माता को हम वरण करते हैं।

क्रतुप्रावा जरिता शश्वतामव इन्द्र इद्भद्रा प्रमतिः सुतावताम्।
पूर्णमूधर्दिव्यं यस्य सिक्तय आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥११॥

भा०—(इन्द्रः) तेजोयुक्त, प्रकाशमान् सूर्य जिस प्रकार (क्रतु-प्रावा) समस्त ऋतुओं का पूर्ण करने वाला, प्रवर्त्तक और (जरिता) काल-धर्म से सबकी आयु का ह्रास करने हारा और (सुतावताम्) उत्पन्न प्राणियों से युक्त (शश्वताम् अवः इत्) सब लोकों का प्रवर्तक, बल, रक्षक है, (यस्य भद्रा प्रमतिः) जिस की सार्वमंगलकारिणी, सर्वसुखदायिनी सबसे उत्कृष्ट ज्ञानमयी बुद्धि वा वेदमयी स्तुति वाणी है। (यस्य) जिसके मेघादि (पूर्णम् ऊधः) जल का धारण करने वाले, जल से पूर्ण मेघ स्तन के समान (सिक्तये) लोक के सेचने, वा तृप्त करने के लिये हैं उस (अदितिम्) पृथिवी-सूर्यवत् प्रकाश, अन्न आदि के अक्षय भण्डार रूप प्रभु की हम (आ वृणीमहे) सब प्रकार से प्रार्थना करते हैं।

चित्रस्ते भानुः क्रतुप्रा अभिष्टिः सन्ति स्पृधो जरणिप्रा अधृष्टाः ।
रजिष्ठया रज्या पश्व आ गोस्तूतूर्षति पर्यग्रं दुवस्युः॥१२॥१७॥

भा०—हे प्रभो ! (ते भानुः) तेरा प्रकाश (चित्रः) ज्ञान देने वाला, अद्भुत, (क्रतु-प्राः) कर्म और ज्ञान का देने वाला और (अभिष्टिः) सबके चाहने योग्य है । और (ते स्पृधः) तेरी इच्छाएं और शक्तियां भी (जरणि-प्राः) स्तोता, विद्वानों की इच्छाओं को पूर्ण करने वाली, (अधृष्टाः) किसी से न दबने वाली, सदा अपराजित सेनाओं के तुल्य (सन्ति) हैं । जिस प्रकार के (दुवस्युः) सेवक (पश्वः गोः-अग्रम्) बैल पशु के आगे २ के नासिका आदि भाग को (रज्या परि तुतूर्षति) रस्सी के द्वारा पीड़ित करता और आगे २ वेग से लेजाता है, इसी प्रकार मैं (दुवस्युः) तेरा सेवक (गोः-अग्रम्) वाणी के श्रेष्ठ अंश को (रजिष्ठया) अति सरल (रज्या) स्तुति से (परि तुतूर्षति) तेरी ओर वेग से आजाना चाहता है । इति सप्तदशो वर्गः ॥

[१०१]

ऋषिर्बुधः सौम्यः ॥ देवता—विश्वेदेवा ऋत्विजो वा ॥ छन्दः—१, ११ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ८ त्रिष्टुप् । ३, १० विराट् त्रिष्टुप् । ७ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ४, ६ गायत्री । ५ बृहती । ९ विराड् जगती । १२ निचृज्जगती ॥ द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीळाः ।
दधिक्रामग्निमुषसं च देवीमिन्द्रावतोऽवसे नि ह्वये वः ॥ १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्र जनो! आप लोग (स-मनसः) एक समान चित्त वाले और समान चित्त सहित, वा समान ज्ञान सहित होकर (उद्-बुध्यध्वं) जागो, ज्ञानवान् होवो। (इन्द्रवतः) प्रभु परमेश्वर वा आत्मा

वाले (वः) आप लोगों को (अवसे) ज्ञान, स्नेह और प्रेम इत्यादि के लिये मैं (नि ह्वये) बुलाता और उपदेश करता हूं कि आप लोग (बहवः) बहुत से मिल कर (स-नीड़ाः) एक समान आश्रय या स्थान में रहते हुए (अग्निम् सम् इन्धवं) यज्ञाग्निवत् ज्ञान के प्रकाशक प्रभु परमेश्वर को अच्छी प्रकार प्रकाशित करो और उसी प्रकार (दधि-क्राम्) समस्त विश्व को, देह को आत्मवत् धारण करने वाले को और (अग्निम्) सब से पूर्व विद्यमान अग्निवत् प्रकाशस्वरूप प्रभु वा आत्मा (उषसं च देवीम्) उषावत् कान्तियुक्त सर्वसुखप्रद शक्ति देवी माता के तुल्य प्रभु को भी (सम् इन्धवम्) प्रकाशित करो, उसकी उपासना करो।

मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपरणीं कृणुध्वम्।
इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं प्रणयता सखायः ॥ २ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्र जनो ! आप लोग (मन्द्रा कृणुध्वम्) हर्ष, आनन्द जनक कर्म और स्तोत्र आदि करो। (धियः) उत्तम २ कर्म और ज्ञानों का (आ तनुध्वम्) विस्तार करो। (अरित्र-परणीं नावं चप्पू द्वारा पार ले चलने योग्य नौका को (कृणुध्वम्) बनाओ, इसी प्रकार शत्रु से बचने और युद्ध से पार करने वाली सेना, काम क्रोधादि से बचने और जगत् से पार उतारने वाली वेद वाणी का सम्पादन करो। (आयुधा) नाना शस्त्र अस्त्रादि को (इष् कृणुध्वम्) खूब बनाओ और (अरं कृणुध्वम्) अच्छी पर्याप्त मात्रा में बनाओ। (यज्ञं) पूज्य प्रभु वा आदरणीय नायक को (प्राञ्चं प्र नयत) सबसे आगे चलने हारा करो, और सर्वोक्त प्रभु की सबसे पूर्व स्तुति करो।

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्कमेयात् ॥ ३॥

भा०—आप लोग (सीरा युनक्त) हलों को जोतो, (युगा वि तनुध्वं)

जूओं को विस्तृत करो। (कृते योनौ) सुसम्पादित क्षेत्र रूप स्थान में, (इह) इस लोक में (बीजं वपत) बीज को बोवो। और (गिरा च) वेदवाणी द्वारा (नः) हमारे (स-भराः श्रुष्टिः असत्) अन्न खूब पुष्ट हो और (सृण्यः) दातरी, (पक्वम् नेदीयः) पके धान्य के पास (आ इयात्) आवे। अध्यात्म में—(सीरा युनक्त) हे अभ्यासी जनो नाड़ियों में ध्यान-योग का अभ्यास करो। (युगा वि तनुध्वम्) योग के नाना अंगों को विशेष रूप से करो। (इह योनौ) इस लोक वा देह में (कृते) किये कर्म के (बीजम् वपत) बीज का वपन करो। (गिरा च श्रुष्टिः सभराः असत्) वेद वाणी रूप आश्रय द्वारा उत्तम सुखप्रद श्रवण पूर्वक ज्ञान हो, और (सृण्यः) सरणशील जीव (पक्वम्) परिपक्व ज्ञान के प्रति प्राप्त हो।

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नया ॥ ४ ॥

भा०—(कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वान् लोग (सीरा युञ्जन्ति) खेत जोतने के साधन हल आदि को जोतते हैं (युगा वि तन्वते) नाना युगों को पृथक् २ करते हैं। (धीराः) कर्म और ज्ञान वाले विद्वान् जन (देवेषु) ज्ञानप्रद विद्वानों के बीच (सुम्नया) सुख प्राप्त करने के लिये नाना कर्म करते हैं। अध्यात्म में—वे नाना योगाङ्गों का अनुष्ठान करते, नाड़ियों में चित्त को लगाते और देवों, इन्द्रियों में सुषुम्ना नाड़ी द्वारा अभ्यास करते हैं।

निराहावान्कृणोतन सं वरत्रा दधातन।
सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम् ॥ ५ ॥

भा०—हे विद्वान् जनो ! आप लोग (आहावान् निः कृणोतन) गौओं के पानी पीने के नाना स्थान बनाओ। (वरत्राः सम् दधातन) उत्तम २ रज्जुओं, रस्सियों का परस्पर जोड़ो। (वयम्) हम (उद्रिणम्)

उत्तम जलयुक्त (सु-सेकम्) उत्तम रीति से खेत सींचने में समर्थ, (अनुपक्षितम्) कभी क्षीण न होने वाले, (अवतम्) कूप को (सिञ्चामहे) सींचें। अध्यात्म में—परम सुखप्रद, प्रेममय, समृद्ध, सर्वरक्षक प्रभु (अनुपक्षितम्) कभी न खुटने वाले रस का समुद्र है। उससे हम अपने क्षेत्र, देह, नाना आत्मा वा हृदय और जीवन को सींचें। इसलिये (वरत्राः) उत्तम व्रत-पालन आदि क्रियाओं को और प्रभु की (आहावान्) स्तुतियों को (कृणोतन) करें।

इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्।
उद्रिणं सिञ्चे अक्षितम्॥ ६॥ १८॥

भा०—मैं (इष्कृत-आहावम्) सुन्दर जलपान के स्थान से सुसज्जित (सु-वरत्रम्) उत्तम रज्जु से युक्त, (सु-सेचनम्) उत्तम रीति से सुखपूर्वक सेचन करने वाले, (उद्रिणम्) जल वाले (अक्षितम्) अक्षय (अवतम्) कूप को प्राप्त कर (सिञ्चे) सिंचाई करूं। (२) ऐसा अक्षय, अविनाशी रस का रक्षास्थान प्रभु है। वह उत्तम वरणीय त्राता होने से 'सुवरत्र' है। रक्षक होने से 'अवत', स्तुत्य होने से 'आहाव' से युक्त है। मैं उसके रस से अपने आपको सीचूं। इत्यष्टादशो वर्गः॥

प्रीणीताश्वान्हितं जयाथ स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम्।
द्रोणाहावमवतमश्मचक्रमंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम्॥७॥

भा०—(अश्वान् प्रीणीत) हे विद्वान् पुरुषो! अश्वों को, देह में, इन्द्रियों को तृप्त, प्रसन्न, सन्तुष्ट, हृष्ट-पुष्ट रक्खो। (हितं जयाथ) अपना हित कारक अन्न प्राप्त करा। (स्वस्ति-वाहं रथम्) सुखपूर्वक दूर तक लेजाने वाले उत्तम अश्व, वृषभादि से युक्त रथ को (इत् कृणुध्वम्) अवश्य बनाओ, वा अपने (रथं) रमण साधन देह को (स्वस्ति-वाहं कृणुध्वम्) सुखदायक कल्याण, कर्म फल प्राप्त करने वाला बनाओ। हे मनुष्यो! आप लोग

(नृपाणं) मनुष्यों का पालन करने वाले, (अंसत्रं-कोशम्) कवच के समान कोष या आवरण को धारण करने वाले, (अश्म-चक्रम्) पत्थर के घेरे वाले, वा सदा गतिशील दृढ़ चक्र से युक्त, (द्रोण-आहावम्) काष्ठ के बने जलपान-पात्र से युक्त (अवतम्) कूप को प्राप्त कर (सिञ्चत) उससे खेत आदि को सींचो। (२) उसी प्रकार अध्यात्म में (नृ-पाणम्) सबप्राणों के रक्षक, (द्रोण-आहावम्) रसयुक्त स्तुति वाले, (अश्म-चक्रम्) भोक्ता या व्यापक कर्म साधनों वाले, कवचवत् पञ्च कोशों को धारण करने वाले आत्मा को (सिञ्चत) प्राप्त कर उससे रस प्राप्त करो। उसके आनन्द रस से क्षेत्रवत् देह को युक्त करो।

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि ।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ॥८॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! आप लोग (व्रजं कृणुध्वम्) गमन योग्य मार्ग को अच्छी प्रकार बनाओ। आप लोग गौओं के रहने योग्य गोष्ठ आदि बनाओ। (सः हि वः नृ-पाणः) वह निश्चय से आप लोगों के समस्त मनुष्यों, प्राणों और वीरों आदि की रक्षा करने वाला है। आप लोग (बहुला) बहुत से (पृथूनि) बड़े २ (वर्म) नाना कवचों को (सीव्यध्वम्) सीयो। आप लोग (अधृष्टाः) शत्रु से न जीते जाने योग्य, (आयसीः) लोह की बनी, शस्त्रादि से सुसज्जित, दृढ़ (पुरः कृणुध्वम्) पुरियें, नगरियें बनाओ। (वः चमसः) आप लोगों का चमस, पात्र भी (मा सुस्रोत्) चूए नहीं, वह भी दृढ़ हो। (तम् दृंहत) उसको भी दृढ़ करो। अध्यात्म में यह देह 'जो' इन्द्रियों के रहने का स्थान है, जीव गण इसको उत्तम करें। वही 'नृ' आत्मा का पालक, सुख से रसपान करने का स्थान है, यही वर्म अर्थात् कवचवत् है। ये जीव नाना कोशों को बनाते हैं। ये ही नगरियों के तुल्य हैं। प्राणयुक्त होने से ये 'आयसी' हैं। नाना सुख रस

भोगने के कारण यही देह 'चमस' है। इसका रस-वीर्य स्रवित न हो, प्रत्युत दृढ़ हो।

आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवा देवीं यजतां यज्ञियामिह।
सा नो दुहीयद्यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः ९

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! मैं (वः) आप लोगों की (यज्ञियां धियं) पूज्य परमेश्वर को प्राप्त करने योग्य कर्म और बुद्धि को (आ वर्त्ते) प्रेरित करता हूँ। आप लोग (ऊतये) रक्षा के लिये (यज्ञियाम्) यज्ञ योग्य (यजतां) पूजनीय, सुखदायी (देवीम्) प्रभुशक्ति वा वाणी को धारण करो, उसकी उपासना करो। (यवसा इव गत्वी गौः) घास, भुस, अन्नादि को पाकर पुष्ट गौ के समान वह (मही) महती शक्ति (सहस्र-धारा) सहस्रों सुखों को धारण करने वाली, वा सहस्रों वाणियों वाली होकर (नः पयसा दुहीयत्) हमें दूधवत् ज्ञान, बल से पूर्ण करे।

आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः।
परि ष्वजध्वं दश कक्ष्याभिरुभे धुरौ प्रति वह्निं युनक्त ॥१०॥

भा०—हे उपासक! (हरिम् आ सिञ्च) तू सर्वदुःखहारी प्रभु के सुखमय ज्ञान-रस को (ईम् द्रोः) इस द्रुत गति से जाने वाले मन के (उपस्थे) बीच में पात्र में रस के समान सेचन कर। (अश्मन्-मयीभिः वाशीभिः) लोहसार की बनी वसूलियों से काष्ठ के पात्र के समान (अश्मन्-मयीभिः) व्यापक प्रभु के गुणों से युक्त वा आत्मा की (वाशीभिः) मन को वश करने वाली योग-क्रियाओं वा वाणियों से (तक्षत) प्रभु की स्तुति करो और मनोभूमि को तैयार करो। (कक्ष्याभिः) रज्जुओं से अश्वों के समान (दश) दशों इन्द्रियों को (कक्ष्याभिः) द्रष्टा आत्मा वा प्राण की वृत्तियों द्वारा (परि स्वजध्वम्) चारों ओर से नियमित करो। और उसे (परि-सु-अजध्वम्) सन्मार्ग पर चलाओ। (उभे धुरौ) दोनों प्रकार

की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को (धुरौ) रथ को धारण करने वाले दो अश्वों के तुल्य जान कर (वह्निं प्रति युनक्त) शरीर को वहन करने वाले आत्मा को संयुक्त करो। "प्रति वह्नी युनक्त" यह सायण-सम्मत पाठ है।

उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।
वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम् ११

भा०—(वह्निः) देह को वहन करने वाला आत्मा (आ-पिब्दमानः) सर्वत्र पूर्ण, प्रसन्न होता हुआ, (योना इव द्वि-जानिः) गृह में दो स्त्रियों के स्वामी के समान (उभे धुरौ अन्तः) देह के भीतर दोनों देहधारक इन्द्रिय-शक्तियों का (चरति) भोग करता है। और उनके बीच में गति करता है। (वनस्पतिम्) नाना विषयों को सेवन करने वाले इन्द्रियगण के पालक आत्मा को (वने) संभजन योग्य प्रभु में (आ-स्थापयध्वम्) स्थापित करो। (नि दधिध्वम्) आत्मा को उस में स्थिर करो। और (उत्सम्) रसों के परम आश्रय उस प्रभु को (अखनन्त) कूप के समान श्रमपूर्वक खोदकर, श्रम कर के जलवत् परम रस प्राप्त करो।

कपृन्नरः कपृथमुद्दधातन चोदयत खुदत वाजसातये।
निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये
॥ १२ ॥ १९ ॥

भा०—हे (नरः) मनुष्यो ! वह प्रभु (कपृत्) सुख से जगत् को पूर्ण करने वा सुख का विस्तार करने वाला है। उस (कपृथम्) सुख-पूरक, आनन्दघन प्रभु को (उत् दधातन) सबसे ऊंचा करके अपने चित्त में धारण करो। और (वाज-सातये) ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, आनन्द लाभ के लिये, अन्न के लिये जल से पूर्ण मेघ के तुल्य ही (चोदयत) उसकी स्तुति करो। (खुदत) उसी में आनन्द लाभ करो। उसी में रमो और

विहरो। हे (सबाधः) लोक-पीड़ाओं से दुःखी जनो! वा बाधना अर्थात् प्रतिपक्ष भावना के अभ्यासी जनो! आप लोग (इह) इस लोक में (ऊतये) रक्षा के निमित्त (निष्टिग्र्यः पुत्रम्) निःशेष तीक्ष्ण वा आत्म शक्ति के वा 'निष्टि' नाश वाले देह विश्व आदि को जीर्ण करने वा अपने भीतर लेने वाले, नित्य शक्ति वाले प्रभु के 'पुत्रवत्', बहुतों के पालक (इन्द्रम्) इन्द्र, आत्मा को (आच्यावय) सब प्रकार से प्राप्त करो। इत्येकोनविंशो वर्गः॥

[१०२]

ऋषिर्मुद्गलो भार्म्यश्वः ॥ देवता—द्रुघण इन्द्रो वा ॥ छन्दः—१ पादनिचृद् बृहती। ३, १२ निचृद् बृहती। २, ४, ५, ९ निचृत् त्रिष्टुप्। ६ भुरिक् त्रिष्टुप्। ७, ८, १० विराट् त्रिष्टुप्। ११ पादनिचृत् त्रिष्टुप्॥

प्र ते रथं मिथूकृतमिन्द्रोऽवतु धृष्णुया।
अस्मिन्नाजौ पुरुहूत श्रवाय्ये धनभक्षेषु नोऽव ॥ १ ॥

भा०—हे जीव! (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् शत्रुओं और विघ्नों का नाशक परमेश्वर ही (धृष्णुया) दुष्टों के नाशक बल से (ते) तेरे (मिथू-कृतम्) सारथी बने (रथम्) सुखप्रद साधन देह की (अवतु) रक्षा करे। हे (पुरु-हूत) बहुतों के पुकारने योग्य! (अस्मिन्) इस (श्रवाय्ये) श्रवण करने योग्य (आजौ) संग्राम तुल्य, जय योग्य प्राप्तव्य मार्ग में और (धन-भक्षेषु च) धनैश्वर्य के सेवन के अवसरों में (नः अव) हमारी रक्षा कर।

उत्स्म वातो वहति वासो अस्या अधिरथं यदजयत्सहस्रम्।
रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ भरे कृतं व्यचेदिन्द्रसेना ॥२॥

भा०—(यत्) जब (वातः) वायु के समान बलशाली पुरुष (रथीः) रथस्वामी, महारथी होकर (सहस्रम्) सहस्रों, बलवान् शत्रुओं

का (अजयत्) विजय करता है, तब वह (अधि रथम्) रथ के ऊपर रह कर (अस्याः) इस सेना वा भूमि का (वासः) वस्त्र के तुल्य लज्जा-संगोपन तथा रक्षा के कार्य को अपने ऊपर धारण करता है। उस समय वह अधीन सेना (गविष्टौ) भूमियों को प्राप्त करने के निमित्त (मुद्गलानी अभूत्) हर्षों, सुखजनक साधनों को प्राप्त कराने वाली होती है। और वही (इन्द्र-सेना) शत्रु के नाशक वीर पुरुष की सेना (भरे कृतम्) संग्राम में किये विजय-लाभ और लक्ष्मी-लाभ को (वि अचेत्) विशेष रूप से, विविध प्रकार से प्राप्त करे। (२) आधिभौतिक पक्ष में—जब वायु इस भूमि के ऊपर के आच्छादक मेघ को धारण करता है (रथीः) वेगवान् रसमय मेघ से युक्त होकर (सहस्रम्) तेजस्वी सूर्य को विजय कर लेता है तब (मुद्गलानी) सुखप्रद अन्नों को देने वाली (इन्द्र-सेना) अन्नप्रद सूर्य वा किसान की स्वामित्व वाली भूमि (गो-इष्टौ) भूमि-यज्ञ, कृषि के करने पर (भरे) प्रजापोषण के निमित्त (कृतम् वि-अचेत्) उत्पन्न अन्न को विविध रूप से प्राप्त करती है।

अ॒न्तर्य॑च्छ जिघां॑सतो वज्र॑मिन्द्राभि॒दास॑तः।
दास॑स्य वा मघवन्नार्य॑स्य वा सनु॒तर्य॑वया व॒धम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यशालिन्! शत्रु को नाश करने हारे! (जिघांसतः) मारना चाहने वाले (अभिदासतः) नाश करने वाले शत्रु के (अन्तः) भीतर तू अपने (वज्रम्) बल वीर्य को वा शस्त्र बल को (यच्छ) स्थापित कर। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्! (दासस्य वा आर्यस्य वा) अपने सेवक और श्रेष्ठ पुरुष के (सनुतः) सदा गूढ़ रूप से किये (वधम्) नाशकारी वध-प्रयोग को (यवय) दूर कर। अथवा—(दासस्य आर्यस्य) नाशकारी और चढ़ाई करने योग्य शत्रु के वधकारी शस्त्र वा घातक प्रयोग को हम से दूर कर।

उद्नो ह्रदमपिबज्जर्हृषाणः कूटं स्म तृंहदभिमातिमेति।
प्र मुष्कभारः श्रव इच्छमानोऽजिरं बाहू अभरत्सिषासन्॥४॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य या मेघ (उद्नः ह्रदम्) जल से भरे जलाशय को (अपिबत्) पान कर लेता है, और (जर्हृषाणः) उसे हरण करता हुआ (कूटम् तृंहत्) पर्वत से टकराता है, (मुष्कभारः) पृथ्वी से लिये जल को (बाहू) मानों दोनों बाहुओं से (श्रवः प्र अभरत्) इच्छापूर्वक अन्न प्रदान करता है, और (अजिरं सिषासन्) निरन्तर वेग से जल विभक्त करता है उसी प्रकार वीर पुरुष (जर्हृषाणः) हर्षित होकर (ह्रदम् अपिबत्) उत्तम बलदायक रस का पान करता हुआ (कूटम्) छल से युक्त (अभिमातिम् एति) अभिमानी शत्रु पर आक्रमण करता है, (श्रवः इच्छमानः) यश चाहता हुआ, (मुष्क-भारः) परिपुष्ट सामर्थ्यवान् होकर (सिषासन्) ऐश्वर्य चाहता हुआ (अजिरं) वेग से (बाहू प्र अभरत्) शत्रु के पीड़ाकारी दोनों सैन्यदलों से प्रहार करे।

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन्वृषभं मध्य आजेः।
तेन सूभर्वं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय॥५॥

भा०—(एनम् वृषभम् उप यन्तः) इस वर्षणशील मेघ को प्राप्त होते हुए वायुगण (नि अक्रन्दयन्) गर्जना कराते हैं और (आजेः मध्ये) अन्तरिक्ष के बीच में (अमेहयन्) उससे वृष्टि कराते हैं। (तेन) उसी से (मुद्ग-लः) सबको हर्ष प्राप्त कराने वाला (सूभर्वं) उत्तम कर्म-फल के अन्नवत् भोक्ता (शतवत् सहस्रं गवाम्) गतिशील सैकड़ों, हज़ारों प्राणियों को (प्रधने) उत्तम अन्न आदि ऐश्वर्य के निमित्त (जिगाय) वश करता है। (२) उसी प्रकार विद्वान् लोग (वृषभम् उप प्रयन्तः) बलवान्, सर्वसुखवर्षी प्रभु की उपासना करते हुए (नि अक्रन्दयन्)

उसकी खूब २ स्तुति करते हैं। इसी स्तुति कर्म से (प्रधने) उत्कृष्ट धन-सम्पन्न प्रभु के निमित्त (मुद्गलः) आनन्द प्राप्त करने वाला विद्वान् (सूभर्वम्) सुख से ग्रहण-धारण करने योग्य (गवां शतवत् सहस्रं) सौ से युक्त सहस्र वाणियों अर्थात् अनेक वाणियों को भी (जिगाय) प्राप्त करता है।

क॒कर्द॑वे वृष॒भो यु॒क्त आ॑सी॒दवा॑वची॒त्सार॑थिरस्य के॒शी।
दु॒धेर्यु॒क्तस्य॑ द्र॒वत॑: स॒हान॑स ऋ॒च्छन्ति॑ ष्मा नि॒ष्पदो॑ मुद्ग॒ला-
नीम् ॥ ६ ॥ २० ॥

भा०—(ककर्दवे) दुःख बन्धन को काटने के लिये (वृषभः) समस्त सुखों को वर्षाने वाले प्रभु को (युक्तः आसीत्) योग द्वारा समाहित चित्त से ध्यान किया जाता है। वह ही (केशी) सूर्य के तुल्य नाना ज्ञानरश्मियों से सम्पन्न, तेजस्वी होकर (अस्य) इस जीव संसार को (सारथिः) रथ-सञ्चालक के समान (अवावचीत्) उसको स्पष्ट रूप से उपदेश करता है। (अनसा) प्राण शक्ति या जीवन के साथ (द्रवतः) वेग से जाने वाले (युक्तस्य) योगद्वारा समाहित, ध्यान किये गये (दुधेः) दुःख से धारण करने योग्य, दुर्गम्य, (निष्पदः) ज्ञान-क्षेत्र से दूर उस आत्मतत्त्व की (मुद्गलानीम्) सुखदात्री परमानन्द दायक शक्ति को (अनसा सह ऋच्छन्ति) अपने प्राण के साथ ही साक्षात् करते हैं।

उ॒त प्र॒धिमुद॑हन्नस्य वि॒द्वानुपा॑युन॒ग्वंस॑ग॒मत्र॒ शिक्ष॑न्।
इन्द्र॒ उदा॑व॒त्पति॒मघ्न्या॑ना॒मरं॑हत॒ पद्या॑भिः क॒कुद्मा॑न् ॥ ७ ॥

भा०—(विद्वान्) ज्ञानवान् पुरुष, (अस्य प्रधिम्) इस संसार के सर्वोत्कृष्ट धारक पालक प्रभु को (उत् अहन्) उत्तम रीति से प्राप्त करे। वह (इन्द्रः) तत्वदर्शी पुरुष (अत्र) इसी देह में (शिक्षन्)

अपने को समर्पण करता हुआ (वंसगम्) समस्त लोकों के संञ्चालक, और उनमें व्यापक, (अघ्न्यानां पतिम्) अविनाशी शक्तियों के पालक प्रभु को (उत् आवत्) उत्तम पद पर प्राप्त करता है, और (कुकुद्मान्) श्रेष्ठ होकर (पद्याभिः अरंहत) उत्तम चलने योग्य मार्गों से गति करता है।

शुनमष्ट्राव्यचरत्कपर्दी वरत्रायां दार्वानह्यमानः।
नृम्णानि कृण्वन्बहवे जनाय गाः पस्पशानस्तविषीरधत्त॥८॥

भा०—(कपर्दी) सुख से जगत् भर को पूर्ण करने वाला महान् सामर्थ्य वाला, (अष्ट्रावी) व्यापक शक्तिमान् होकर (वरत्रायाम्) सर्वोत्तम रक्षाकारक शक्ति में (दारु) छिन्न भिन्न होने वाले जगत् को (आनह्यमानः) सब प्रकार से बांधता हुआ, (शुनम् अचरत्) सुख पूर्वक व्याप रहा है। वह (बहवे जनाय) बहुतसे उत्पन्न होने वाले जीवों के सुखार्थ (नृम्णानि) मनुष्यों के चाहने योग्य अनेक ऐश्वर्यों को उत्पन्न करता हुआ, (पस्पशानः) जगत् को अध्यक्षवत् देखता हुआ (तविषी गाः अधत्त) अनेक बलवती संञ्चालक शक्तियों को धारण करता है।

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्।
येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु॥९॥

भा०—(इमं तं) इस उस (वृषभस्य) परम सुखवर्षी प्रभु के (युञ्जं) योग या नियोजक, प्रेरक बल को (पश्य) देख, (काष्ठायाः मध्ये) दिशा, उपदिशा, प्रकृति के परमाणु और सूर्यादि सब के बीच में (द्रु-घनम्) अपने वेगवान् गति या शक्ति से सबको आघात करने वाला वा उसमें (शयानम्) व्यापक है। (येन) जिस योग के द्वारा (मुद्गलः) वह आनन्दप्रद (गवां शतवत् सहस्रं) सूर्यों और भूमियों के सैकड़ों, हज़ारों को (पृतनाज्येषु जिगाय) संग्रामों में वीर के तुल्य मनुष्यों से बसने योग्य लोकों में विजय करता, वश करता है। अध्यात्म में—आत्मा वह वृषभ

है। इसका यह देह रूप 'काष्ठा' है। उसमें यह द्रुघन = चित्-घन होकर रह रहा है, इससे वह इस देह में (शतवत् गवां सहस्रं) सौ वर्षों वाले सहस्रों सूर्यों अर्थात् दिनों को पार कर लेता है।

आरे अघा को न्वि१त्था ददर्श यं युञ्जन्ति तम्वा स्थापयन्ति।
नास्मै तृणं नोदकमा भरन्त्युत्तरो धुरो वहति प्रदेदिशत् ॥१०॥

भा०—वह प्रभु ऐसा है कि (अघा आरे) उससे सब प्रकार के पाप दूर हैं। (इत्था) ऐसे शुद्ध, बुद्ध निर्मल, निष्पाप प्रभु का (कः ददर्श) कौन साक्षात् करता है? योगी लोग (यं युञ्जन्ति) जिसकी योग द्वारा उपासना करते हैं (तम् उ) उस प्रभु को ही (आस्थापयन्ति) स्थिर करते हैं, हृदय में दृढ़ करते हैं। (न अस्मै तृणम्, न उदकम् आभरन्ति) उस परमेश्वर उपास्य आत्मा लिये न घास, पत्ता और न जल लाते अर्थात् आसन, जल आदि पूजार्थ नहीं लाते हैं तो भी वह (उत्तरः) सबसे उत्कृष्ट और सबको तराने वाला होकर (प्रदेदिशत्) सबको सन्मार्ग बतलाता हुआ, सबको सञ्चालित करता हुआ (धुरः वहति) धारण करने योग्य समस्त लोकों को धारण करता है। वह प्रभु सब जगत् रूप शकट को उठाता हुआ भी घास, जल आदि की अपेक्षा नहीं करता। (२) इसी प्रकार इस मन्त्र में ऐसे यन्त्र का भी वर्णन कर दिया है जिसको रथ में अश्व के स्थान पर जोड़ते हैं उसको ही उस रथ में सारथिवत् बैठाते हैं। वह पशु के तुल्य स्वयं भूमि पर खड़ा होता, न घास और न जल चाहता है, उत्तम वेग से जाता, प्रकाश करता और रथ के धुरा भाग को अपने वेग से चलाता है। ऑटोमेटिक मशीनों में सबमें यही सिद्धान्त कार्य करता है।

परिवृक्तेव पतिविद्यमानट् पीप्याना कूचक्रेणेव सिञ्चन्।
एषैष्या चिद्रथ्या जयेम सुमङ्गलं सिनवदस्तु सातम् ॥११॥

भा०—(परि-वृक्ता इव) जिस प्रकार पिता से दी गई कन्या

(पीप्याना) शरीर और आयु में बढ़ती हुई (पति-विद्यम् आनट्) प्राप्त करने और वरने, विवाह विधि से संबन्ध करने योग्य पति, पालक को (आनट्) प्राप्त करती है उसी प्रकार यह (चित्) चेतना वा ज्ञान करने वाली बुद्धि (परि-वृक्ता) सबसे पृथक् रह कर (पीप्याना) बढ़ती हुई, (पति-विद्यम्) पालक स्वामी आत्मा के ज्ञान को (आनट्) प्राप्त करती है। (कूचक्रेण इव सिञ्चन्) जैसे मेघ पृथिवी पर चक्रवत् होकर वर्षा करता है उसी प्रकार यह आत्मा चित्त भूमि पर (सिञ्चन्) आनन्द की वर्षा करता है। वह चित्, ज्ञानमयी बुद्धि (एष-एष्या) नाना इच्छाओं को निरन्तर करने वाली है, उससे हम (रथ्या) रमण योग्य इस देह में होने वाले नाना सुखों, कर्मों और ज्ञानों को (जयेम) विजय करते हैं। (सातम् सिनवत्) हमारा भोग किया सुखादि भी अन्न के समान (सुमंगलम् अस्तु) हमें उत्तम सुखप्रद हो।

त्वं विश्वस्य जगतश्चक्षुरिन्द्रासि चक्षुषः।
वृषा यदाजिं वृषणा सिषासासि चोदयन्वध्रिणा युजा १२॥२१

भा०—(त्वं) तू (विश्वस्य जगतः चक्षुषः) समस्त विश्व के प्रकाशक, सूर्यादि का भी (चक्षुः असि) प्रकाशक और आंख का भी आंख, परम ज्ञान का प्रकाशक है। (यत्) क्योंकि तू (वृषा) बलवान्, सर्वशक्तिमान् होकर तू (वध्रिणा युजा) सर्वव्यापक सबको मार्ग में नियोजन करने वाले बल से (वृषणा चोदयन्) रथ में लगे दो अश्वों के तुल्य प्राणों वा मन और इन्द्रिय वर्गों को सूर्य, चन्द्रवत् (चोदयत्) प्रेरित करता हुआ (सिषाससि) सबको वश करता है। इत्येकविंशो वर्गः॥

[१०३]

ऋषिरप्रतिरथ ऐन्द्रः ॥ देवता—१—३, ५—११ इन्द्रः। ४ बृहस्पतिः। १२ अप्वा। १३ इन्द्रो मरुतो वा। छन्दः—१, ३—५, ९ त्रिष्टुप्। २ स्वराट् त्रिष्टुप्। ६ भुरिक् त्रिष्टुप्। ७, ११ निचृत् त्रिष्टुप्। ८, १०, १२ विराट् त्रिष्टुप्। १३ विराडनुष्टुप्॥ त्रयोदशर्चं सूक्तम्॥

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः ॥१॥

भा०—सेनापति रूप से इन्द्र । (आशुः) शीघ्रकारी, व्यापक, वेग से शत्रु पर आक्रमण करने वाला, (शिशानः) अति तीक्ष्ण, (वृषभः न भीमः) सांड के समान भयानक, वृष्टिकारी, मेघ के तुल्य भयजनक, (घनाघनः) शत्रुओं को नाश करने वाला, (चर्षणीनां क्षोभणः) सब मनुष्यों को विक्षुब्ध करने वाला, (सं-क्रन्दनः) शत्रुओं को ललकारने वाला वा शत्रुओं को रुलाने वाला, (अनिमिषः) कभी न झंपकने वाला, सदा सावधान, अप्रमादी, (एकवीरः) एकमात्र वीर्यवान्, शूरवीर, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, शत्रुओं को निवारण करने वाला है । वह (शतं सेनाः) नायकों सहित सैकड़ों दलों का एक साथ विजय करता है । ऐसा शूरवीर सेनापति ही 'इन्द्र' पद के योग्य है । (२) परमेश्वर व्यापक, (शिशानः) शासक, दुष्टों को भयंकर, सब मनुष्यों को भयप्रद, उनको सन्मार्ग में चलाने वाला, उत्तम उपदेष्टा, सदा जागृत, एक, अद्वितीय, शक्तिशाली है, वह अनेक सौर मण्डलों को एक साथ वश कर रहा है ।

सङ्क्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥ २ ॥

भा०—हे (युधः नरः) योद्धा नायक, वीर पुरुषो ! तुम लोग (सं-क्रन्दनेन) शत्रुओं को रुलाने वाले या उनका ललकारने वाले, निरन्तर सावधान, न चूकने वाले, (जिष्णुना) विजयशील, (युत्कारेण) युद्धकारी अति वीर (दुः-च्यवनेन) शत्रुओं से कभी विचलित या पराजित न होने वाले, मैदान छोड़ कर न भागने वाले, दृढ़ (धृष्णुना) शत्रुओं का मान-भंग करने वाले, (इषु-हस्तेन) वाण रूप साधनों से सम्पन्न (वृष्णा) बलवान् (इन्द्रेण) शत्रुहन्ता सेनापति के द्वारा (तत् जयत) उस युद्ध का विजय करो । (तत् सहध्वम्) उस शत्रु दल का पराजय करो ।

स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन ।
संसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥ ३ ॥

भा०—(सः) वह (इषुहस्तैः) बाण आदि हनन साधनों को हाथों में लिये पुरुषों के द्वारा (वशी) शत्रुओं को वश करने वाला है । (सः) वह (नि-षङ्गिभिः) तूणीर, तलवार वालों के द्वारा (वशी) सब राष्ट्र को वश करनेहारा है । (सः) वह (संस्रष्टा) उत्तम व्यवस्थाकर्त्ता, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, शत्रुहन्ता, (गणेन युधः) अपने सहकारी जनों सहित युद्ध करने वाला है । वह (सोम-पाः) प्रजा, ऐश्वर्य को पालने वाला, (संसृष्ट-जित्) परस्पर मिलकर युद्ध करने वाले शत्रुओं को भी जीतने वाला, (बाहु-शर्धी) बाहु-बल से सम्पन्न, (उग्र-धन्वा) भयंकर धनुर्धर है । वह (प्रति-हिताभिः) शत्रु पर फेंकी वा उसके प्रति सञ्चालित शास्त्रास्त्रों वा सेनाओं से (अस्ता) शत्रु को उखाड़ फेंकने में समर्थ हो ।

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः ।
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम् ॥४॥

भा०—हे (बृहस्पते) बड़े भारी राष्ट्र, सेना और ऐश्वर्य के पालक ! तू (रथेन) वेगयुक्त रथ नाम सेनाङ्ग से (परि दीयाः) आगे बढ़ । तू (रक्षः-हा) दुष्टों, विघ्नों का नाशक होकर और (अमित्रान् अप-बाधमानः) शत्रुओं को दूर से ही पीड़ित कर भगाता हुआ, (सेनाः) नायकों सहित शत्रु दलों को (प्रभञ्जन्) तोड़ता फोड़ता हुआ, (प्रमृणः) हिंसाकारी शत्रुओं को (युधा) युद्ध द्वारा (जयन्) विजय करता हुआ, (अस्माकं रथानां) हम रथारोहियों, वा हमारे रथों का (अविता एधि) रक्षक हो । (२) अध्यात्म में—यह आत्मा 'इन्द्र' है । वह देह रथ से आगे बढ़े । सब बाधक काम क्रोधादि पर वश करे । और रथों, रमण साधन इन्द्रियों की रक्षा करे ।

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोवित्॥५॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् ! तू (बल-विज्ञायः) सब बलों को विशेष रूप से जानने वाला, सेना बल, और शस्त्रास्त्र, यन्त्रादि बलों का उत्तम ज्ञाता हो । (स्थविरः) तू महान्, ज्ञान-वृद्ध, अनुभव-वृद्ध और युद्ध में स्थिर, (प्रवीरः) उत्तम वीर्यवान्, शूरवीर, बलवान् पुरुषों से सम्पन्न, (सहस्वान्) शत्रु विजयकारी बल से सम्पन्न, (वाजी) बल, ज्ञान, धन का स्वामी, (सहमानः) शत्रु दल का पराजय करता हुआ, (उग्रः) अति तीक्ष्ण, भयंकर, (अभिवीरः) वीरों से घिरा हुआ, वा वीर्यवान् पुरुषों को पराजय करने में समर्थ, (अभि-सत्वा) बलवान् पुरुषों से सम्पन्न, (सहोः-जाः) शत्रु पराजयकारी, बल में निष्ठ, उसमें विख्यात, पराक्रमी, (गोवित) भूमि को युद्धादि से प्राप्त करने वाला, है । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! शत्रुहन्ता ! तू (जैत्रं रथम्) विजयकारी रथ पर (आतिष्ठ) विराज ।

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ।
इमं सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ६॥२२॥

भा०—हे (स-जाताः) बल, कीर्ति, वंश आदि से समान रूप से विख्यात सहयोगी, सहोद्योगी वीर पुरुषो ! आप लोग (गोत्र-भिदम्) शत्रु-वंशों के नाशक, प्रतिपक्षी भूमि के रक्षक, शत्रुओं के गढ़ों और दलों के भेदक ! (गो-विदं) पृथ्वी के प्राप्त करने वाले, (वज्र-बाहुम्) बाहु-बलशाली वीर्यवान्, (अज्म जयन्तम्) संग्राम का विजय करने वाले और (ओजसा) बल पराक्रम से (प्रमृणन्तं) शत्रुओं को खूब नाश करने वाले (इमम् इन्द्रम्) इस इन्द्र, सेनापति को (अनु वीरयध्वम्) अनुसरण करके खूब साहसो, वीर बनाओ और स्वयं भी वीर के तुल्य शौर्य का कार्य करो । हे

हो (सखायः) मित्र जनो ! आप लोग (अनु संरभध्वम्) उसके अनुकूल ही मिल कर उद्योग करो। इति द्वाविंशो वर्गः ॥

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाळयुध्यो३स्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ॥ ७ ॥

भा०—(शत-मन्युः) सैकड़ों क्रोधों, गर्वों और ज्ञानों वाला (इन्द्रः) शत्रुहन्ता सेनापति, (वीरः) वीर, (अदयः) शत्रु पर निर्दय, अन्यों से अपनी रक्षा की अपेक्षा न करने वाला, (सहसा) शत्रु पराजय-कारी बल से (गोत्राणि अभि) भूमि के रक्षाकारी शत्रु सैन्यों के प्रति (गाहमानः) आगे बढ़ता हुआ (दुश्च्यवनः) कठिनता से पदच्युत न करने योग्य (पृतना-षाड्) सैन्यों और संग्रामों का विजय करने वाला (अयुध्यः) ऐसा प्रचन्ड हो कि उससे शत्रुगण युद्ध न कर सकें। वह (युत्सु) युद्धों में (अस्माकं सेनाः प्र अवतु) हमारी सेनाओं का रक्षा करे।

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥ ८ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र, परम ऐश्वर्ययुक्त शत्रु के व्यूहों को तोड़ने में समर्थ सेनापति (आसां नेता) इन सेनाओं का नायक हो। 'बृहस्पति' बड़े भारी बल, अधिकार, महती सेना का पालक, वह (यज्ञः) सर्वपूज्य, सबका दाता होकर (दक्षिण।) सर्वसैन्य का अन्न दाता होकर रहे। वह (सोमः) सब का शास्ता होकर (पुरः एतु) सबके आगे आवे। (अभि-भञ्जतीनां) शत्रुओं को सब प्रकार तोड़ती फोड़ती, (जयन्तीनां) विजय करती हुई, (देव-सेनानाम्) विजयाभिलाषी वीरों की सेनाओं के (अग्रम्) अग्र, मुख्य पद को प्राप्त कर आगे २ (मरुतः) शत्रुओं का मारने में समर्थ वायुवत् बलवान् शूरवीर पुरुष (यन्तु) चलें।

इन्द्र॑स्य॒ वृष्णो॒ वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ आदि॒त्यानां॑ म॒रुतां॒ शर्ध॑ उ॒ग्रम् ।
म॒हाम॑नसां भुवनच्य॒वानां॒ घोषो॑ दे॒वानां॒ जय॑तामु॒द॑स्थात् ॥ ९॥

भा०—(वृष्णः) बलवान् (इन्द्रस्य) शत्रुहन्ता, सेनापति का, और (वरुणस्य) प्रजा द्वारा स्वयं वरण किये गये सर्वश्रेष्ठ राजा का, और (आदित्यानां मरुताम्) आदित्यवत् तेजस्वी, पुरुषों, वा परस्पर लेन-देन करने वाले सम्पन्न व्यवसायियों, और (मरुताम्) वायुवत् वृक्षों के तुल्य शत्रुओं को समूल उखाड़ देने वाले, वीर योद्धाओं का (उग्रं शर्धः) भयंकर, तीव्र बल, और (महामनसां) बड़े मनस्वी, विज्ञानवान् (भुवनच्यवानाम्) भूलाक वा समस्त भुवनों को कंपा देने वाले (जयताम्) विजयी (देवानां) वीरों, राजाओं का (घोषः) नाद (उत् अस्थात्) ऊपर उठे और फैले ।

उद्ध॑र्षय मघव॒न्नायु॑धान्यु॒त्सत्व॑नां माम॒काना॒ं मनां॑सि ।
उद्वृ॑त्रहन्वा॒जिनां॒ वाजि॑ना॒न्युद्रथा॑नां॒ जय॑तां यन्तु॒ घोषाः॑ १०

भा०—हे (मघवन्) प्रशस्त धनैश्वर्य से सम्पन्न ! तू (सत्वनाम् मामकानाम्) मेरे पक्ष के बलवान् वीर पुरुषों के (आयुधानि उद् हर्षय) शस्त्र अस्त्रों को उत्साहित कर । और उनके (मनांसि उत्-हर्षय) चित्तों को हर्षित कर । हे (वृत्रहन्) शत्रुओं के नाशक ! (वाजिनां वाजिनानि) वेगवान् घुड़सवारों की वेगयुक्त गतियों को (उत्) उत्साहित कर । (जयतां रथानां) विजयशील रथों के (घोषाः उत् यन्तु) घोष, नाद उठें ।

अ॒स्माक॒मिन्द्रः॒ समृ॑तेषु ध्व॒जेष्व॒स्माकं॒ या इष॑व॒स्ता जय॑न्तु ।
अ॒स्माकं॑ वी॒रा उत्त॑रे भवन्त्व॒स्माँ उ॑ देवा अवता॒ हवे॑षु ॥ ११ ॥

भा०—(अस्माकं) हमारे (ध्वजेषु समृतेषु) ध्वजों, ध्वजा वाले वीर नायकों के एकत्र मिलकर जुट जाने पर (इन्द्रः) हमारा सेनापति

और (अस्माकं याः इषवः) हमारे जो बाण आदि युक्त सैन्य हैं (ताः) वे सब (जयन्तु) विजय लाभ करें। (अस्माकं वीराः) हमारे वीर जन (उत्तरे भवन्तु) उत्तर, अर्थात् शत्रुओं पर विजयी हों। हे (देवाः) वीर विजिगीषु लोग (हवेषु) युद्ध के अवसरों में (अस्मान् उ अवत) हमारी रक्षा करो।

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥१२॥

भा०—हे (अप्वे) शत्रुद्वारा न पराजित होने वाली सेने! तू (अमीषां) इन शत्रुओं के (चित्तं प्रति-लोभयन्ती) चित्त को मोहित करती हुई उनके (अंगानि गृहाण) अंगों को पकड़ ले, उन पर वश कर। तू (परा इहि) दूर तक जा। (अभि प्र इहि) आगे बढ़ती चली जा। (शोकैः) अग्नि की लपटों, आग्नेय अस्त्रों से (अमित्रान्) शत्रुओं को (हृत्सु निर्दह) हृदय में दग्ध कर। वा, उनके हृदयों को शोकों से दग्ध कर। (अन्धेन तमसा) अन्धकारयुक्त खेद, शोकादि से वे (सचन्ताम्) युक्त हों।

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥ १३ ॥ २३ ॥

भा०—हे (नरः) वीर नायको! (प्र इत) आगे बढ़ो। (जयत) विजय लाभ करो। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रभु, स्वामी (वः शर्म यच्छतु) तुम्हें सुख प्रदान करे। (वः बाहवः) आप लोगों की बाहुएं (उग्राः) ऐसी बलशाली हों (यथा) कि तुम लोग (अनाधृष्याः असथ) कभी पराजित न होने वाले होवो। इति त्रयोविंशो वर्गः ॥

[१०४]

ऋषिरष्टको वैश्वामित्रः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, २, ७, ८, ११ त्रिष्टुप्। ३, ४ विराट् त्रिष्टुप्। ५, ६, १० निचृत् त्रिष्टुप्। ९ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ॥ एकादशर्चं सूक्तम् ॥

असावि सोमः पुरुहूत तुभ्यं हरिभ्यां यज्ञमुप याहि तूयम्।
तुभ्यं गिरो विप्रवीरा इयाना दधन्विर इन्द्र पिबा सुतस्य ॥१॥

भा०—हे (पुरु-हूत) बहुतों से स्वीकृत (तुभ्यम्) तेरे लिये वा तेरा ही यह (सोमः) पुत्रवत् उत्पन्न जगत् (असावि) उत्पन्न होता है। तू (यज्ञम्) इस महान् जगत् रूप यज्ञ को (हरिभ्याम्) धारण, आकर्षण, अग्नि और जल, इन दोनों शक्तियों से (तूयम् उप याहि) शीघ्र ही प्राप्त होता है। (वि-प्र-वीराः) बुद्धिमान् उत्तम स्तुतियों को कहने वाले और वीर पुरुष (तुभ्यम्) तेरे ही लिये, तुझे ही लक्ष्य करने वाली, वा तेरी ही (गिरः दधन्विरे) वाणियों को धारण करते हैं। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! शक्तिशालिन्! अन्न जल के दाता प्रभो! तू (सुतस्य पिब) इस समस्त उत्पन्न जगत् को पुत्रवत् पालन कर। (२) इसी प्रकार राजा के भी कर्त्तव्य हैं।

अप्सु धूतस्य हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्य जठरं पृणस्व।
मिमिक्षुर्यमद्रय इन्द्र तुभ्यं तेभिर्वर्धस्व मदमुक्थवाहः ॥२॥

भा०—हे (हरिवः) समस्त मनुष्यों, प्राणियों और शक्तिशाली समस्त लोकों के स्वामिन्! (अप्सु धूतस्य) जलों के सदृश सरल एवं देह में व्यापक रक्त, रसों वा प्राणों के आश्रय पर संचालित और (नृभिः सुतस्य) नरों, पुरुषों द्वारा गर्भ में निषिक्त वा उत्पन्न जीव के (जठरम्) गर्भ वा उदर को (इह) इस लोक में (पृणस्व) पालन और पूर्ण करता है। तू ही उसकी रक्षा कर। हे (इन्द्र) सूर्यवत् जल अन्न के देने हारे! (यम्) जिस (मदम्) तृप्तिकारक, सुखप्रद जल वा अन्न को (अद्रयः) मेघगण (मिमिक्षुः) पृथ्वी पर बरसाते हैं, वह भी (तुभ्यम्) तेरा ही है, वा हे (इन्द्र) जीव! वह तेरे लिये ही है। और हे (उक्थ-वाहः) उत्तम ज्ञान-वचन, वेद को धारण करने वाले! (तेभिः वर्धस्व) उनसे तू बढ़। उनके कारण तू महान् है, तू उन सबको बढ़ा।

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम् ।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ॥३॥

भा०—हे (हर्यश्व) मनुष्यों वा जीवों में भी व्यापक ! सब लोकों के सञ्चालक ! (वृष्णे तुभ्यम्) समस्त सुखों को बरसाने वाले, तुझ बलवान् की (सुतस्य) उत्पन्न हुए जगत् विषयक (उग्राम्) सदा उद्यत, सावधानता पूर्वक की गई, बलवती (सत्याम्) सच्ची, सत्कारणों पर आश्रित (तुभ्यम् पीतिम्) तेरी रक्षा की (प्रयै) उत्तम पद प्राप्त करने के लिये (प्र इयर्मि) अच्छी प्रकार स्तुति करूं। तू (शच्या) शक्ति और वाणी द्वारा (गृणानः) सबको उपदेश करता हुआ वा स्तुति किया जाता हुआ, हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (धेनाभिः) सबको रस पान कराने वाली वाणियों और (विश्वाभिः धीभिः) सर्वत्र व्यापक ज्ञान-बुद्धियों वा धारक-शक्तियों और कर्म-सामर्थ्यों से (इह मादयस्व) इस जगत् में सबको सुखी करता है ।

ऊती शचीवस्तव वीर्येण वयो दधाना उशिज ऋतज्ञाः ।
प्रजावदिन्द्र मनुषो दुरोणे तस्थुर्गृणन्तः सधमाद्यासः ॥ ४ ॥

भा०—हे (शचीवः) वेदवाणी और प्रभु की शक्ति के स्वामिन् ! (तव ऊती) तेरी रक्षा, स्नेह और प्रेम तथा शत्रुनाशक बल और (वीर्येण) जगत् के सञ्चालक और उत्पादक वीर्य, सामर्थ्य से (वयः दधानाः) बल और दीर्घ आयु को धारण करते हुए (ऋत-ज्ञाः) सत्य ज्ञान, वेद, यज्ञ और प्रकाश को धारण करने वाले (उशिजः) तेरी कामना करने वाले विद्वान्गण, हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् ! प्रभो ! (मनुषः) मनुष्य के (प्रजावत् दुरोणे) प्रजा, पुत्रादि से सम्पन्न गृह में (सध-माद्यासः) सब के साथ हर्ष, प्रसन्नता अनुभव करते हुए (गृणन्तः) उपदेश और तेरी स्तुति करते हुए (तस्थुः) विराजें ।

प्रणीतिभिष्टे हर्यश्व सुष्टोः सुषुम्नस्य पुरुरुचो जनासः ।
मंहिष्ठामूतिं वितिरे दधाना: स्तोतार इन्द्र तव सूनृताभिः ५॥२४॥

भा०—हे (हर्यश्व) समस्त मनुष्यों और लोकों में व्यापक ! समस्त लोकों के सञ्चालक ! (सुस्तोः सु-सुम्नस्य) उत्तम स्तुति योग्य, शुभ ज्ञान, सुख. धन के स्वामी (ते) तेरे (प्र-नीतिभिः) उत्तम नीतियों से, उत्तम कार्यों से (जनासः) जन, जीवगण (पुरु-रुचः) बहुतसी कान्तियों वा नाना रुचियों वाले होते हैं ! और हे (इन्द्र) ऐश्वर्य, अन्न जल, ज्ञान के देने वाले प्रभो ! वे (सूनृताभिः) उत्तम सत्य ज्ञानमय वाणियों से (तव स्तोतारः) तेरी स्तुति करने वाले होकर (वि-तिरे) अन्यों को भी दान करने और स्वयं भी पार होने के लिये (मंहिष्ठाम् ऊतिम् दधानाः) तेरी बड़ी पूज्य, श्रेष्ठ रक्षा को धारण करते हैं । इति चतुर्विंशो वर्गः ॥

उप ब्रह्माणि हरिवो हरिभ्यां सोमस्य याहि पीतये सुतस्य ।
इन्द्र त्वा यज्ञः क्षममाणमानड् दाश्वाँ अस्यध्वरस्य प्रकेतः ॥६॥

भा०—हे (हरिवः) मनुष्यों वा समस्त जीवों और लोकों के स्वामिन् ! तू (सुतस्य सोमस्य) उत्पन्न हुए इस जगत् के (पीतये) पालन करने के लिये (हरिभ्यां) अपने ज्ञान और कर्म रूप दोनों सञ्चालक बलों से (ब्रह्माणि उप याहि) समस्त लोकों वा ज्ञानों को प्राप्त है । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (क्षममाणम् त्वा) शक्तिमान्, सामर्थ्यवान् तुझे (यज्ञः आनट्) यज्ञ प्राप्त होता है । हे (प्र-केतः) सर्वोत्तम ज्ञान वाले ! तू (अध्वरस्य दाश्वान् असि) नाश न होने वाले कर्मफल का दाता है ।

सहस्रवाजमभिमातिषाहं सुतेरणं मघवानं सुवृक्तिम् ।
उप भूषन्ति गिरो अप्रतीतमिन्द्रं नमस्या जरितुः पनन्त ॥७॥

भा०—(जरितुः गिरः) स्तोता की वाणियां उस ही (सहस्र-वाजम्)

सहस्रों ऐश्वर्यों, बलों, ज्ञानों के स्वामी (सुते-रणम्) उत्पन्न जगत् में रमने वाले, (अभिमाति-सहम्) अभिमानी जीवों को वश करने वाले (मघ-वानम्) समस्त ऐश्वर्यों के मालिक (सु-वृक्तिम्) उत्तम स्तुति योग्य प्रभु को ही (उप भूषन्ति) सुशोभित करती हैं और उसको लक्ष्य कर प्रकट होती हैं। और (जरितुः नमस्याः) स्तोता की समस्त नमस्कार सहित क्रियाएं और वन्दनाएं उसी (अप्रति-इतम्) अद्वितीय, सर्वोपरि (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् प्रभु की ही (पनन्त) स्तुति करती हैं।

सप्तापो देवीः सुरणा अमृक्ता याभिः सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भित्।
नवतिं स्रोत्या नव च स्रवन्तीर्देवेभ्यो गातुं मनुषे च विन्दः ॥८॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (पूर्भित्) देहपुरी का भेदन करने वाला है । तू (याभिः) जिनसे (सिन्धुम् अतरः) बन्धनकारी वा प्रवाह से नित्य बहने वाले जगत्-प्रवाह को (अतरः) तरता वा तरा देता है। वे (सप्त) सात (आपः) प्राणगण (देवीः) ज्ञान देने वाले, (सु-रणाः) उत्तम सुखपूर्वक रमण योग्य (अमृक्ताः) कभी नाश नहीं होते। तू (देवेभ्यः मनुषे च) विद्वान् देवों, नाना कामनावान् जीवों और मननशील ज्ञानी पुरुष को भी (नवतिं नव च स्रोत्या स्रवन्तीः) ९९ वें बहती नदियों के तुल्य ९९ वर्षों को (गातुम्) मार्ग के तुल्य (विन्दः) प्रदान करता है। पक्षान्तर में—इन्द्र तत्वदर्शी जीव स्वयं इनको प्राप्त करता है।

अपो महीरभिशस्तेरमुञ्चोऽजागरास्वधि देव एकः।
इन्द्र यास्त्वं वृत्रतूर्ये चकर्थ ताभिर्विश्वायुस्तन्वं पुपुष्याः ॥ ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे इस जगत् को अन्न जल देने वाले सूर्यवत् तेजस्विन् ! सूर्य जिस प्रकार (वृत्र-तूर्ये) मेघ के छेदन करते हुए (याः मही अपः चकर्थ) जिन उत्तम जीवनप्रद जलों को उत्पन्न करता है (ताभिः) उनसे ही (तन्वं पुष्णाति) सब जीवों के देहों को पुष्ट करता

है। वह (आसु अधि अजागरः) उन सब के ऊपर अध्यक्षवत् प्रकाशित होता है, और उनको (अभि-शस्तेः अमुञ्चः) मेघ से मुक्त करता है (२) इसी प्रकार प्रभो! (त्वम्) तू (याः) जिन (महीः अपः) सुखप्रद बड़े प्राणों वा विद्वान् आप्तजनों को (वृत्र-तूर्ये) आवरक अज्ञान के नाश करने में (चकर्थ) समर्थ करता है, उनको (अभि-शस्तेः) हिंसक शत्रु और निन्दादि से (अमुञ्चः) मुक्त करता है। (आसु अधि) उनके ऊपर (एकः देवः) एक अद्वितीय देव, दाता, प्रकाशक होकर (अजागरः) तू ही जागता है। (ताभिः) उन द्वारा ही (विश्वायुः) सबका जीवन दाता होकर (तन्वं पुपुष्याः) सबके शरीरों को पुष्ट करता है।

वीरेण्यः क्रतुरिन्द्रः सुशस्तिरुतापि धेना पुरुहूतमीट्टे।
आर्दयद्वृत्रमकृणोदु लोकं ससाहे शक्रः पृतना अभिष्टिः ॥ १० ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रभु (वीरेण्यः) वीरों के नायक सेनापति के तुल्य, वीरों, विद्वानों और प्राणों का नायक है। वह (क्रतुः) सब जगत् का कर्त्ता और (सु-शस्तिः) उत्तम ज्ञान का उपदेष्टा है। (उत-अपि) और (धेना) वाणी (पुरु-हूतम् ईट्टे) बहुतों से पूजित प्रभु की ही स्तुति करती हैं। जो (वृत्रम् आर्दयत्) आवरणकारी अन्धकार का नाश करता है और (लोकम् उ अकृणोत्) प्रकाश को उत्पन्न करता है और जो (शक्रः) शक्तिशाली (अभिष्टिः) आक्रमणकारी होकर (पृतनाः ससहे) सेनाओं को भी पराजित करता है।

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ११॥२५॥

भा०—व्याख्या देखो (मं० १०। सू० ८९। मं० १८) इति पञ्चविंशो वर्गः॥

[१०५]

ऋषिः कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो* वा ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१ पिपीलिकामध्या उष्णिक् । ३ भुरिगुष्णिक् । ४, १० निचृदुष्णिक् । ५, ६, ८, ९ विराडुष्णिक् । २ आर्ची स्वराडनुष्टुप् । ७ विराडनुष्टुप् । ११ त्रिष्टुप् ॥

कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आव श्मशा रुधद्वाः ।
दीर्घं सुतं वाताप्याय ॥ १ ॥

भा०—हे (वसो) जगत को देह में बसाने वाले आत्मन् ! (हर्यते) सबके चाहने वाले वा सबसे अधिक कान्तिमान्, (वाताप्याय) वायु के समान, प्राणवत् सबको बढ़ाने वाले जीवनप्रद के लिये (कदा स्तोत्रम्) स्तुति-वचन कब कहें ? (श्मशा) खेत में फैली नाली जिस प्रकार (वाः आ अव रुधत्) जल को चारों ओर से रोक कर नीचे की ओर बहाती है उसी प्रकार (श्मशा) शरीर में व्यापक चेतन आत्मा (वाः) वरण करने योग्य (दीर्घम् सुतम्) दीर्घ काल तक उपासना योग्य प्रभु को वा दूर २ तक जाने वाले चित्त को (वाताप्याय) वात अर्थात् प्राणों के निरोध द्वारा प्राप्य, ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करने के लिये (आ अव रुधत्) सब ओर से रोके । उसी का चित्त निरोध द्वारा मनन करे (२) । हे(वसो) समस्त जगत् को बसाने वाले ! (हर्यते स्तोत्रम् कदा) कब कान्तियुक्त सूर्य की स्तुति का वचन कहें ? वह तो (दीर्घं सुतम्) बहुत बड़े भारी सूक्ष्म जल-राशि को (श्मशा) महान् आकाश में (अव अरुधत्) रोकता है, और (वाताप्याय) वायु द्वारा प्राप्त करने योग्य वृष्टि-जल को प्राप्त करने या बरसाने के लिये (वाः अरुधत्) जल को रोक लेता है और प्राप्त कराता है ।

हरी यस्य सुयुजा विव्रता वेरर्वन्तानु शेपा ।
उभा रजी न केशिना पतिर्दन् ॥ २ ॥

* नाम्ना दुर्मित्रो गुणतः सुमित्रो यद्वा नाम्ना सुमित्रो गुणतो दुर्मित्रः स ऋषिरिति सायणः ।

भा०—(यस्य वेः) जिस कान्तियुक्त तेजस्वी पुरु के (विव्रता) विविध व्रताचरण करने वाले, (सु-युजा) उत्तम रीति से सत्कर्मों में लगने वाले, (अर्वन्ता) दो अश्वों के तुल्य (उभा) दोनों (केशिना) केशों के तुल्य तेजों से युक्त सूर्य चन्द्रवत् आकाश और पृथिवीवत् (रजी) सबको अनुरंजित करने वाले (शेपा) बलयुक्त, दृढ़ अंगों वाला है। (पतिः) वह स्वामी (दन्) सब कुछ देने वाला है। (२) सूर्यपक्ष में—उसके दोनों प्रकार के किरण (वि-व्रता) विविध वर्षादि कर्म कराने वाले, विविध अन्नों के उत्पादक (रजी) सबको रंजित करते हैं।

अप योरिन्द्रः पापज आ मर्तो न शश्रमाणो बिभीवान्।
शुभे यद्युयुजे तविषीवान् ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) शत्रुओं का नाश करने वाला (तविषीवान्) बलवती शक्ति से युक्त होकर (शश्रमाणः मर्त्तः न) श्रम करने वाले उद्योगी मनुष्य के तुल्य है वह, (पापजे) पाप से उत्पादक दुष्ट पुरुष, वा पाप कर्म से उत्पन्न दुःख को दूर करने के लिये मैं (विभीवान्) भयकारक साधन वाला होकर (अप योः) उसको पाप से दूर करता और (शुभे युयुजे) शुभ कर्म के लिये प्रेरित करता है।

सचायोरिन्द्रश्चर्कृष आँ उपानसः सपर्यन्।
नदयोर्विव्रतयोः शूर इन्द्रः ॥ ४ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, सर्वशक्तिमान् अन्नदाता प्रभु, (उप-अनसः) अपने समीप प्राण धारण करने वाले (आयोः सचा) मनुष्य का सहायक होकर (सपर्यन्) उसका आदर करता हुआ (आ चर्कृषे) सब काम करता है। और (वि-व्रतयोः नदयोः) व्रत, सत्कर्म से विपरीत गरजते हुए शत्रुओं के ऊपर (शूरः इन्द्रः) वह शत्रुहन्ता शूरवीर के तुल्य है। वही स्वामी, (वि-व्रतयोः नदयोः) विविध कर्म करने वाले समुद्रवत्

स्त्री पुरुषों के ऊपर (इन्द्रः) स्वामी है। परमेश्वर आकाश और भूमि दोनों पर सूर्यवत् शासक है।

अधि यस्तस्थौ केशवन्ता व्यचस्वन्ता न पुष्टयै।
वनोति शिप्राभ्यां शिप्रिणीवान् ॥ ५ ॥ २६ ॥

भा०—(यः) जो (केशवन्तौ) रश्मियुक्त (व्यचस्वन्ता) दूर दूर तक विविध दिशाओं में फैलने वाले प्रकाशों से युक्त सूर्य चन्द्र वायु वा मेघ दोनों पर (पुष्टयै) जगत् के पोषण के लिये (अधि तस्थौ) सूर्य के तुल्य उन पर अध्यक्ष रूप से विराजता है, वह (शिप्रिणीवान्) बलवती सेना के तुल्य शक्ति का स्वामी होकर (शिप्राभ्याम्) जबड़ों के तुल्य सूर्य और पृथिवी दोनों से (वनोति) जीवों को नाना ऐश्वर्य, सुखादि प्रदान करता है। इति षड्विंशो वर्गः ॥

प्रास्तौदृष्वौजा ऋष्वेभिस्ततक्ष शूरः शवसा।
ऋभुर्न क्रतुभिर्मातरिश्वा ॥ ६ ॥

भा०—(ऋष्व-ओजाः) दर्शनीय महान् बल-पराक्रम वाला प्रभु (ऋष्वेभिः) ज्ञान का साक्षात् दर्शन करने वाले ऋषियों, विद्वानों द्वारा (प्र अस्तौत्) ज्ञान का उपदेश करता है वा उत्तम रीति से स्तुति किया जाता है। वह (शूरः) शूरवीर अज्ञान का नाशक (ऋभुः) सत्य ज्ञान से प्रकाशित होने वाला, महान् तेजस्वी, (शवसा) ज्ञान और बल से (क्रतुभिः) नाना कर्मों द्वारा (मातरिश्वा) जगत् के निर्माण करने वाला प्रकृति में व्यापक प्रभु ही (ततक्ष) इस जगत् को बनाता है।

वज्रं यश्चक्रे सुहनाय दस्यवे हिरीमशो हिरीमान्।
अरुतहनुरद्भुतं न रजः ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (हिरीमशः) कान्तियुक्त, उज्ज्वल तेज वाला, (हिरीमान्) वेगवान्, पदार्थों या शक्तियों का स्वामी, (दस्यवे सुहनाय)

नाशकारी दुष्ट जनों को ताड़ना करने के लिये (वज्रं) पापों से बचाने वाले शस्त्र रूप प्राणदण्ड या बल को प्रकट करता है (अरुत-हनुः) उसकी दण्डदात्री शक्ति कभी बाधित नहीं होती, और उसका (रजः अद्भुतं न) तेज भी आश्चर्यजनक ही है।

अव नो वृजिना शिशीह्यृचा वनेमानृचः।
नाब्रह्मा यज्ञ ऋधग्जोषति त्वे ॥ ८ ॥

भा०—हे प्रभो ! तू (नः) हमारे (वृजिनानि) पापों को (अव शिशीहि) नष्ट कर। हम (ऋचा) स्तुति, मन्त्र द्वारा वा अर्चना द्वारा, (अनृचः) अर्चना न करने योग्य, मन्त्र रहित अभव्य जनों वा कर्मों को (वनेम) नाश करें। (अब्रह्मा यज्ञः) विना वेद वा वेदज्ञ के यज्ञ (ऋधक्) सर्वथा ही (त्वे न जोषति) तुझे प्रसन्न नहीं करता। ऋधक् इति स्वीकारार्थे।

ऊर्ध्वा यत्ते त्रेतिनी भूद्यज्ञस्य धूर्षु सद्मन्।
सजूर्नावं स्वयशसं सचायोः ॥ ९ ॥

भा०— (यत्) जो (ते) तेरी (यज्ञस्य) महान् यज्ञ की (त्रेतिनी) तीनों लोकों में व्यापक शक्ति (धूः सु) जगत् की धारक शक्तियों वा विद्युत् आदि में और (सद्मनि) सर्वाश्रय सूर्य में (भूत्) है, वह (आयोः) मनुष्य या जीवमात्र की (सचा) सहायक और (सजूः) समान रीति से सबको प्रेरणा देती है। उस (स्वयशसम्) स्वयं यशोरूप (नावम्) सबको सन्मार्ग में चलाने वाली शक्ति को हम प्राप्त करें और जानें।

श्रिये ते पृश्निरुपसेचनी भूच्छ्रिये दर्विररेपाः।
यया स्वे पात्रे सिञ्चस उत् ॥ १० ॥

भा०—(उप-सेचनी) जलों वा रसों को सेचन करने वाली मेघ, विद्युत् वा सूर्य की शक्ति (ते श्रिये भूत्) तेरी भी समृद्धि को बतलाने के लिये है। (यया) जिससे तू (स्वे पात्रे) अपने पात्रवत् जगत् को पालन करने वाले लोक इस पृथिवी में (अरेपाः) निष्पाप एवं निष्पक्षपात होकर

(उत सिञ्चसे) ऊपर सेचता है । जल, सुख, अन्न सम्पदा की वृष्टि करता है, वह (दर्विः) पर्वत आदि को विदारण करने वाली विद्युत् भी (तव श्रिये) तेरी ही शोभा के लिये होती है ।

शतं वा यदसुर्य प्रति त्वा सुमित्र इत्थास्तौद्दुर्मित्र इत्थास्तौत् ।
आवो यद्दस्युहत्ये कुत्सपुत्रं प्रावो यद्दस्युहत्ये कुत्सवत्सम्
॥ ११ ॥ २७ ॥ ५ ॥

भा०— हे (असुर्य) प्राणों में रमण करने वाले जीवों के हितकारक प्रभो ! हे बलवन् ! (त्वा प्रति) तुझे लक्ष्य कर (सु-मित्रः) सुख के कारण तुझे स्नेह करने वाला, (शतम्) सैकड़ों वार (इत्था अस्तौत्) इस प्रकार सत्य २ स्तुति करता है, और (शतम्) सैकड़ों वार (दुः-मित्रः) दुःख के कारण तेरा मित्र, स्नेही जीवगण भी (इत्था अस्तौत्) इसी प्रकार तेरी स्तुति करता है। तू वही है (यत्) जो (दस्यु-हत्ये) दुष्टों को नाश करने के लिये (कुत्स-पुत्रम् आवः) दुष्टों को काटने वाले और बहुतों की रक्षा करने वाले बल की रक्षा करता और (दस्यु-हत्ये) दुष्टों के नाश के लिये (यत्) जो (दस्यु-वत्सम्) दुष्टों को बसाने वाले को (प्र आवः) खूब विनष्ट करता है । अत्र अवतिर्हिंसार्थः । इति षष्ठोऽध्यायः । इति सप्तविंशो वर्गः । इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

[१०६]

ऋषि र्भूतांशः काश्यपः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः—१—३, ७ त्रिष्टुप् । २, ४, ८—११ निचृत त्रिष्टुप् । ५, ६ विराट् त्रिष्टुप् ॥ एकादशर्चं सूक्तम् ॥

उभा उं नूनं तदिदर्थयेथे वि तन्वाथे धियो वस्त्रापसेव ।
सध्रीचीना यातवे प्रेमजीगः सुदिनेव पृक्ष आ तंसयेथे ॥ १ ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! (उभा उ) आप दोनों ही (नूनं) निश्चय से (तत् इत) उसी प्राप्तव्य ब्रह्म को (अर्थयेथे) प्रार्थना करो, उसको

प्राप्त करने का यत्न करो। (अपसा इव) शिल्पी लोग जिस प्रकार (वस्त्रा) नाना वस्त्रों को फैलाते हैं उसी प्रकार आप दोनों भी (अपसा) कर्मशील होकर (धियः) नाना कर्मों को (वि तन्वाथे) विशेष रूप से करते रहो। आप दोनों (सध्रीचीना) एक साथ मिलकर (ईम् यातवे) उस उद्देश्य की ओर जाने के लिये (प्र अजीगः) आप दोनों विद्वान् उपदेश करें। और (सु-दिना इव) उत्तम दिन रात्रि के समान (पृक्षः) परस्पर के सम्पर्क वा प्रेम को (आ तंसयेथे) उत्तम ही उत्तम बनाओ।

उष्टारेव फर्वरेषु श्रयेथे प्रायोगेव श्वात्र्या शासुरेथः।
दूतेव हि ष्ठो यशसा जनेषु माप स्थातं महिषेवावपानात् ॥ २ ॥

भा०—आप दोनों (उष्टारा) एक दूसरे की सदा कामना करते हुए, परस्पर चाहते हुए, (फर्वरेषु) पूर्ण करने योग्य कार्यों में (श्रयेथे) एक दूसरे का आश्रय लेवें। आप दोनों (प्रायोगा इव) उत्तम योग से युक्त, उत्तम रीति से सम्बद्ध होकर, वा बड़ों से सत्कार्यों में प्रयुक्त होकर (श्वात्र्या) उत्तम धन सम्पन्न, एवं कार्य कुशल होकर (शासुः आ इथः) शास्ता, उपदेष्टा के अधीन होकर रहो। (जनेषु) मनुष्यों के बीच, (दूता इव यशसा हि स्थः) विद्वानों, दूतों, नव संदेश लाने वालों के समान यशस्वी होवो। (महिषा इव) महिष, भैंसें जिस प्रकार (अव-पानात्) जलाशय से दूर नहीं जाते उसी प्रकार आप दोनों (महिषा) महान्, बल-सामर्थ्यवान् होकर (अव-पानात्) पालनीय कर्त्तव्य से (मा अप स्थातम्) दूर कभी न हों।

साकंयुजा शकुनस्येव पक्षा पश्वेव चित्रा यजुरा गमिष्टम्।
अग्निरिव देवयोर्दीदिवांसा परिज्मानेव यजथः पुरुत्रा ॥ ३ ॥

भा०—आप दोनों (शकुनस्य-इव पक्षा) पक्षी के दो पांखों के समान (शकुनस्य) आप दोनों को ऊपर, उन्नत मार्ग में उठा लेने में समर्थ प्रभु के (पक्षा) ग्रहण करने वाले होकर (साकं-युजा) सदा साथ मिलकर

रहने वाले होओ और (चित्रा पश्वा इव) पूज्य होकर दो पशुओं के तुल्य एक साथ मिलकर वा ज्ञानदर्शी (यजुः आ गमिष्टम्) यज्ञ को प्राप्त होओ। (देवयोः) विद्वानों और देवों, शुभ गुणों की कामना करने वाले यज्ञशील स्त्री पुरुषों के (अग्निः इव) अग्नि के समान (देवयोः) एक दूसरे को चाहने वाले आप दोनों में से प्रत्येक (अग्निः इव) अग्निवत् तेजस्वी होकर (दीदिवांसा) चमकते हुए (परि-ज्माना इव) चारों ओर जाने वाले दो ग्रहों वा सूर्य चन्द्र के तुल्य, (पुरु-त्रा) अनेक स्थानों और कालों में (यजथः) परस्पर संगत होकर रहो।

आपी वो अस्मे पितरेव पुत्रोग्रेव रुचा नृपतीव तुर्यै।
इर्येव पुष्ट्यै किरणेव भुज्यै श्रुष्टीवानेव हवमा गमिष्टम् ॥ ४ ॥

भा०—(वः) आप दोनों (अस्मे आपी) हमारे बन्धु होवो। आप दोनों (पितरा इव पुत्रा) मां बाप के समान गुण धारण करने वाले योग्य पुत्रों वा माता पिता के तुल्य पालक जनों के प्रति पुत्रों के तुल्य आज्ञाकारी, स्नेही, वा (पितरा इव) माता पिता के समान (पुत्रा) बहुतों को पालन करने वाले होवो। (रुचा) कान्ति से (उग्रा इव) उग्र, प्रखर, उदय होते हुए सूर्य और चन्द्र के तुल्य तेजस्वी होवो। (तुर्यै नृपती इव) शीघ्रता से कार्य सम्पादन करने वाले भृत्य-जनता के लिये दो राजा-रानी के तुल्य होवो। (पुष्ट्यै इर्या इव) पुष्टिदायक अन्न समृद्धि के लिये, अन्नप्रद मेघ और सूर्य दोनों के तुल्य होवो। और (भुज्यै किरणा इव) पालन और अन्नादि भोग्य सामग्री की उत्पत्ति के लिये सूर्य की प्रकाश और ताप देने वाली दो प्रकार की किरणों के तुल्य होओ। और आप दोनों (हवम्) यज्ञ को (श्रुष्टीवाना इव) शीघ्रगामी रथों से युक्त रथी सारथी के तुल्य अन्न समृद्धि से युक्त सुखी होकर (आ गमिष्टम्) आओ।

वंसगेव पूषर्या शिम्बाता मित्रेव ऋता शतरा शातपन्ता।
वाजेवोच्चा वयसा घर्म्येष्ठा मेषेवेषा सपर्या पुरीषा ॥ ५ ॥ १ ॥

भा०—आप दोनों (वंसगा इव) दो वृषभों के तुल्य (पूषर्या) स्वयं परिपुष्ट और अन्यों को अन्नों से पुष्ट करने वाले स्वामी होवो। (मित्रा इव) परस्पर दो स्नेही मित्रों के समान (शिम्बाता) एक दूसरे को सुख-प्राप्त कराने वाले, (ऋता) परस्पर सत्य व्यवहार से युक्त, धर्म मार्ग पर चलने वाले, (शतरा) सैकड़ों, अनेक धनों से सम्पन्न वा सैकड़ों धन देने वाले, (शातपन्ता) सैकड़ों व्यवहारों वा स्तुत्य कार्यों को करने वाले होवो। (वाजा इव उच्चा वयसा) बलवान् दो अश्वों के तुल्य ऊंचे और अवस्था वा बल में भी बड़े आप दोनों (घर्म्ये-स्था इव) तेजस्वी रूपों में स्थित, (मेषा इव) मेष मेषी के तुल्य वा वसन्त के दो मासों के तुल्य, (इषा सपर्या) अन्न से सेवन योग्य, (पुरीषा) अन्यों को भी पुष्ट करने वाले होवो। इति प्रथमो वर्गः॥

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥ ६॥

भा०—(सृण्या इव) सन्मार्ग में लेजाने वाले दो नायकों के समान (जर्भरी) चेष्टा वा अधीनों का पालन करते हुए, (तुर्फरीतू) शत्रुओं का विनाश करते हुए और (नैतोशा इव तुर्फरी) दुष्टों का बध करने वाले राजा के पुत्रों के समान (तुर्फरी) दुष्टों का नाश करते हुए, (पर्फरीका) प्रजाओं का पालन और पोषण करते हुए, (उदन्यजा) जल में उत्पन्न समुद्र के दो रत्नों वा मोतियों के समान (जेमना) विजयशील, (मदेरू) सदा सुप्रसन्न होवो। (ता) वे आप दोनों (मे) मेरे (जरायु) वृद्धावस्था को प्राप्त होने वाले और (मरायु) मरणशील देह को (अजरम्) वृद्धावस्था से रहित करो।

द्विविधा सृणिर्भवति भर्त्ता च हन्ता च। तथाश्विनौ चापि भर्त्तारौ। जर्भरी भर्त्तारावित्यर्थः तुर्फरीतू हन्तारौ। नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका नितोशस्यापत्यं नैतोशं नैतोशेव तुर्फरी क्षिप्रहन्तारौ। उदन्यजेवेत्युदकजे

इव रत्ने सामुद्रे चान्द्रमसे मवा जेमने जयमाने जेनमा मदारू तामे जराय्व-जरं मरायु। एतज्जरायुजं शरीरं शरदमजीर्णम्॥ नि० १३। ५॥

पज्रेव चर्चरं जारं मरायु क्षद्मेवार्थेषु तर्तरीथ उग्रा।
ऋभू नापत्खरमज्रा खरज्रुर्वायुर्न पर्फरत्क्षयद्रयीणाम्॥७॥

भा०—आप दोनों (पज्रा इव) बलवान् पुरुषों के समान होकर (चर्चरम्) कर्मफल प्राप्त करने योग्य, (जारम्) जरा से जीर्ण होने वाले, (मरायु) अन्त में प्राण से वियुक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होने वाले शरीर को (अर्थेषु) प्राप्तव्य, सुखदायी उद्देश्यों के लिये (क्षद्म इव) जल के समान (तर्तरीथः) पार करो। आप दोनों (उग्रा) बलवान् (ऋभु) तेज और सत्य ज्ञान से प्रकाशित सूर्य-चन्द्र के तुल्य (खर-मज्रा) सुखप्रद प्रभु में मग्न रहते हुए उन दोनों को (वायुः न) वायु के समान (खर-ज्रु) तीक्ष्ण गति से वा आनन्द प्रद रूप से व्यापने वाला प्रभु (आपत्) सब सुखप्रद पदार्थ प्राप्त करावे और (रयीणां पर्फरत्) समस्त ऐश्वर्य प्रदान करे और (क्षयत्) उनको बसावे वा ऐश्वर्यवान् करे।

घर्मेव मधु जठरे सनेरू भगेविता तुर्फरी फारिवारम्।
पतरेव चचरा चन्द्रनिर्णिङ् मनऋङ्गा मनन्या३ न जग्मी॥८॥

भा०—(घर्मा इव) तेजोयुक्त और आसेचन करने वाला मेघ जैसे (मधु सनेरू) जल को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार आप दोनों भी (घर्मा) तेजस्वी होकर (जठरे) उदर में (मधु सनेरू) अन्न जल को ग्रहण करने वाले होवो। आप दोनों। (भगे-अविता) ऐश्वर्य के बल पर अपनी और अन्यों की रक्षा करने वाले तथा (तुर्फरी) शत्रुओं का नाश करने वाले और (अरं फारिवा) अति अधिक उत्तम आयुओं को धारण करने वाले होवो। आप दोनों (पतरा इव) पक्षियों के समान स्वतन्त्र एवं सुख से विचरण करते हुए, (चन्द्र-निर्णिक्) चन्द्र के समान शुद्ध,

सुखप्रद रूप वाले होकर (मनन्या न) मननशील विद्वानों के तुल्य (जग्मी) सत्-मार्ग पर चलने वाले होओ।

बृहन्तेव गम्भरेषु प्रतिष्ठां पादेव गाधं तरते विदाथः।
कर्णेव शासुरनु हि स्मराथोंऽशेव नो भजतं चित्रमप्नः॥९॥

भा०—(बृहन्ता इव) बड़े, लम्बे ऊंचे, कद्दावर या महा-पुरुषों के तुल्य आप लोग (गम्भरेषु) भीर स्थानों पर भी (प्रतिष्ठां विदाथः) प्रतिष्ठा को प्राप्त करो। (तरते पदा इव) तैरने वाले के पैरों के तुल्य (गाधम् विदाथः) जल की थाह के तुल्य अपने इच्छित पदार्थ प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य को प्राप्त कराओ। (कर्णा इव शासुः) कानों के तुल्य शासक प्रभु या गुरु के वचनों को (अनु स्मराथः) निरन्तर स्मरण करते रहो। (अंशा इव) व्यापक तेज वाले सूर्य चन्द्रवत् (नः) हमारे बीच (चित्रम् अप्नः भजतम्) अद्‌भुत रूप, धन एवं कर्म का सेवन करो।

आरङ्गरेव मध्वेरयेथे सारघेव गवि नीचीनवारे।
कीनारेव स्वेदमासिष्विदाना क्षामेवोर्जा सूयवसात्सचेथे ॥१०॥

भा०—आप दोनों (आरंगरा इव) खूब उपदेश देने वाले अध्यापकों के तुल्य वा शब्द करने वाले सूर्य मेघों के तुल्य (मधु आ ईरयेथे) जल अन्न, तेज़, ज्ञान के तुल्य मधुर वचन का प्रयोग करो। (नीचीन-वारे) नीचे की ओर द्वार वाले सत्पात्र में (गवि) वाणी में (सारघा इव) मधु मक्षियों के तुल्य। सारग्राही होकर (मधु आ ईरयेथे) आनन्दप्रद मधु के समान ज्ञान, अन्न और तेज का प्रदान करो। (कनारा इव) दो किसानों के तुल्य (स्वेदम् आसिस्विदाना) पसीना बहाते हुए (क्षामा इव) कृश गौ वा भूमि के तुल्य, (सु-यवसात्) उत्तम अन्न प्राप्त करते हुए (ऊर्जा सचेथे) बल, अन्नादि से परस्पर संयुक्त होकर, मिलकर प्रेमपूर्वक रहो।

ऋध्याम स्तोमं सनुयाम वाजमा नो मन्त्रं सरथेहोप यातम्।
यशो न पक्वं मधु गोष्वन्तरा भूतांशो अश्विनोः काममप्राः॥११॥२॥

भा०—हम विद्वान् जन (स्तोमं ऋध्याम) स्तुति योग्य उपदेश-ज्ञान को बढ़ावें और (वानम् सनुयाम) ज्ञान, ऐश्वर्य और बल को प्राप्त करें और अन्यों को प्रदान करें। हे स्त्री पुरुषो! आप दोनों (इह) इस लोक में (स-रथा इह नः मन्त्रं) समान रति, बल, वेग तथा स्नेह से युक्त होकर हमारे इस मन्त्र, मनन करने योग्य ज्ञान को (उप यातम्) प्राप्त होवो। (पक्वं यशं गोषु) भूमियों में पके अन्न के तुल्य, (गोषु अन्तः मधु न) गौओं के बीच मधुर दुग्ध के समान (भूत-अंशः) समस्त प्राणियों में व्यापक प्रभु (अश्विनोः) जितेन्द्रिय स्त्री पुरुषों के (कामम् आ अप्राः) अभिलाषाओं को पूर्ण करे। इति द्वितीयो वर्गः ॥

[१०७]

ऋषिर्दिव्य आंगिरसो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा, तद्दातारो वा ॥ छन्दः—१, ४, ७ त्रिष्टुप्। २, ३, ६, ६, ११ निचृत् त्रिष्टुप्। ८, १० पादनिचृत् त्रिष्टुप्। ४ निचृज्जगती ॥ एकादशर्चं सूक्तम् ॥

आविर्भून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि।
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि ॥१॥

भा०—(एषां) जिस प्रकार इन जीवों के लिये (महि माघोनम्) बड़ा भारी सूर्य का प्रकाश (आविः अभूत्) प्रकट होता है, और (विश्वं जीवं) समस्त जीव संसार (तमसः) अन्धकार से (निर्-अमोचि) मुक्त हो जाता है। उसी प्रकार (माघोनं) धनवान् पुरुष वा प्रभु का (महि) महान् सामर्थ्य (आविः अभूत्) प्रकट हो। और (विश्वं जीवं) समस्त जीव संसार (तमसः) दुःख से (निर् अमोचि) मुक्त हो। (पितृभिः महि ज्योतिः दत्तम्) जगत् के पालक रश्मिगण से दिया हुआ महान् प्रकाश जिस प्रकार प्राप्त होता है और (दक्षिणायाः) अन्न की उत्पत्ति का (उरुः पन्थाः अदर्शि) महान् मार्ग दृष्टिगत होता है उसी प्रकार (पितृभिः

दत्तम्) पालक जनों से दिया (महि ज्योतिः) महान् प्रकाश (आ अगात्) प्राप्त हो। और (दक्षिणायाः) दान-शीलता का (उरुः पन्थाः) महान् मार्ग (अदर्शि) दिखाई देवे।

उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्र तिरन्त आयुः ॥२॥

भा०—(दक्षिणावन्तः दिवि उच्चा अस्थुः) अन्न के उत्पादक सूर्य के किरण जिस प्रकार उच्च आकाश में स्थिर होते हैं उसी प्रकार दानशील पुरुष सदा (दिवि) आकाश में तारों के तुल्य (उच्चा अस्थुः) ऊंची स्थिति को प्राप्त करते हैं। (ये) जो (अश्व-दाः) अनेक अश्वों का दान करते हैं, अपनी विद्या के बल से राष्ट्र या जन-समाज को वेग से जाने वाले अश्व, रथ और अन्य वेगवान् साधन प्रदान करते हैं (ते) वे (सूर्येण सह) सूर्य के साथ (अस्थुः) स्थिर होते हैं। (हिरण्य-दाः) सुवर्ण आदि का दान देने वाले, वा हित और रमणीय, सुन्दर उपदेश देने वाले (अमृतत्वं भजन्ते) मोक्षस्वरूप अमृत का सेवन करते हैं। हे (सोम) विद्वन् (वासः-दाः) वस्त्र को देने वाले वा सज्जनों को उत्तम गृह आदि आश्रय देने वाले (आयुः प्र तिरन्ते) अपनी दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं।

दैवी पूर्तिर्दक्षिणा देवयज्या न कवारिभ्यो नहि ते पृणन्ति।
अथा नरः प्रयतदक्षिणासोऽवद्यभिया बहवः पृणन्ति ॥ ३ ॥

भा०—जिस प्रकार (देवयज्या) देव अर्थात् प्रकाशवान् किरणों से दी जाने योग्य (दक्षिणा) जल अन्न सम्पदा (दैवी पूर्त्तिः) देव, भगवान् वा सूर्यादि देवों की जगत् के जीवों को पालन करने की रीति है उसी प्रकार (देव-यज्या दक्षिणा) विद्वानों को आदर सत्कार से दिया जाने वाला (दक्षिणा) अन्न द्रव्यादि का दान भी (दैवी पूर्त्तिः) देव अर्थात्

दाता द्वारा की गई विद्वानों की पालना की उत्तम व्यवस्था है। वह उत्तम पालन करने का साधन (कत्र-अरिभ्यः न) कदर्य, कु-स्वामी वा कुत्सित धनों के मालिकों को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि (नहि ते पृणन्ति) वे दूसरे का पालन नहीं करते। (अथ) और (बहवः) बहुतसे (प्रयत-दक्षिणासः) दक्षिणा, अन्न, द्रव्यादि के देने वाले (नरः) लोग (अवद्य-भिया निन्दनीय पाप या निंदा से भय कर के, (पृणन्ति)अन्यों का पालन करते हैं।

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते हविः।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सङ्गमे ते दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्॥४॥

भा०—(नृ-चक्षसः ते) मनुष्यों को उपदेश करने वाले वे विद्वान् पुरुष (हविः) अन्न और दान योग्य उत्तम द्रव्य को (शत-धारं वायुम् अभि चक्षते) सैकड़ों को धारण करने वाले को वायु के तुल्य प्राणदायक 'वायु' बतलाते हैं और (स्वर्विदं अर्कं हविः अभि चक्षते) सब को सुखदायी, अर्चना करने का उत्तम साधन बतलाते हैं। (ये पृणन्ति) जो अन्यों का पालन करते हैं, और जो (सं-गमे) सबको एकत्र होने के अवसर यज्ञ आदि में (दक्षिणां प्र यच्छन्ति) अन्न और द्रव्य-दान अर्थात् दक्षिणा रूप उत्साहजनक वस्तु का दान करते हैं वे (सप्त-मातरं दुहते) सात प्राणों को उत्पन्न करने वाली अत्मशक्ति को पूर्ण करते हैं वा (सप्त-मातरम्) सर्पणशील अनेक जन्तुओं की माता पृथिवी का (दुहते) दोहन करते हैं, गोमाता से दूध के समान भूमि-माता से वे अन्न-वस्त्र आदि द्रव्यों को प्राप्त करते हैं।

दक्षिणावान्प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय॥५॥ ३॥

भा०—अन्न द्रव्य का दाता स्वामी, (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ, रूप से (हूतः) स्वीकृत होकर (एति) सबको प्राप्त होता है। और (दक्षिणावान्) दक्षिणावान्,

दानशील पुरुष (ग्रामणीः) जन संघों को सन्मार्ग पर ले जाने हारा होकर (अग्रम् एति) अग्रासन पर आता है। (जनानां) मनुष्यों के बीच में (तम् एव नृपतिं मन्ये) उसको ही मैं मनुष्यों का पालक राजावत् मानता हूं। (यः) जो (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ होकर (दक्षिणाम् आ विवाय) दूसरों के उत्साह को उत्पन्न करने वाला दान, भृति, वेतनादि प्रदान करता है।

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम् ।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो (प्रथमः) सब से प्रथम, सर्वश्रेष्ठ पुरुष (दक्षिणया) अन्न आदि बल, उत्साहजनक पदार्थ से (रराध) सब को अपने वश करता है, (सः) वह (शुक्रस्य) कान्तियुक्त, शीघ्र कार्य कराने में समर्थ, और शुद्ध पवित्र शुक्र के (तिस्रः तन्वः) तीन रूपों को (वेद) जानता, या प्राप्त करता है। (तम् एव) उसको ही (ऋषिम् आहुः) ऋषि, तत्वार्थदर्शी बतलाते हैं (तम् ब्रह्माणम् आहुः) उसको ही ब्रह्मा, महान् शक्तिमान्, स्वामी कहते हैं। (तम् उ यज्ञन्यं) उसको ही यज्ञ का नेता, (साम-गाम्) साम का गान करने वाला, सब के प्रति शान्तिदायक, समानतायुक्त वचन का उपदेश देने वाला और उसको ही (उक्थ-शासम्) उत्तम वेद वचनों का शासक या उपदेष्टा कहते हैं।

दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम् ।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् ॥७॥

भा०—(यः) जो (दक्षिणा अश्वम् ददाति) दक्षिणा रूप से अश्व का दान करता है (दक्षिणा चन्द्रं ददाति) जो दक्षिणा रूप से सुवर्ण, रजत आदि, धन को प्रदान करता है, (उत यत हिरण्यम्) और जो सुवर्ण रूप दक्षिणा प्रदान करता है, और (यः) जो पुरुष (दक्षिणा) दक्षिणा रूप से (अन्नं ददाति) अन्न प्रदान करता है इसी प्रकार जो दक्षिणा रूप से अश्व, गो,

रजत, सुवर्ण, अन्न आदि दक्षिणा रूप से (वनुते) स्वीकार करता है वह (नः आत्मा) हमारा आत्मा, 'स्व' होकर (वि-जानन्) विशेष ज्ञानी होकर (दक्षिणां वर्म कृणुते) दक्षिणा को कवच के समान सब विघ्नों, कष्टों और दुखों को वारण करने वाला बना लेता है।

न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।
इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत्सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति ॥ ८ ॥

भा०—(भोजाः) रक्षा करने वाले जन (न मम्रुः) कभी मरण को प्राप्त नहीं होते। (नि-अर्थम्) निकृष्ट अर्थ, या नीच गति को (न ईयुः) प्राप्त नहीं होते (न रिष्यन्ति) कभी पीड़ित नहीं होते, वे (भोजाः) रक्षक, दाता जन (न व्यथन्ते) क्लेश को प्राप्त नहीं होते। (इदं यत् विश्वं भुवनं) यह जो समस्त उत्पन्न जगत् और (ऐतत सर्वं स्वः) यह समस्त सुख है वह सब (एभ्यः दक्षिणा ददाति) उनको उत्साह शक्ति ही प्रदान करती है।

भोजा जिग्युः सुरभिं योनिमग्रे भोजा जिग्युर्वध्वं१ या सुवासाः।
भोजा जिग्युरन्तः पेयं सुराया भोजा जिग्युर्ये अहूताः प्रयन्ति॥६॥

भा०—(भोजाः) दूसरों की रक्षा करने वाले और अन्यों को नाना ऐश्वर्यों का भोग देने में समर्थ पुरुष ही (सुरभि योनिम्) सुख देने वाले दृढ़ गृह और लोक को (अग्रे) सबसे प्रथम (जिग्युः) प्राप्त करते हैं। (या सुवासाः) जो उत्तम वस्त्र धारण करती है, वा जो सुख से गृह में रहती और गृह को बसाती है ऐसी (वध्वं) वधू को वे (भोजाः) उक्त दाता और पालक जन ही सबसे प्रथम (जिग्युः) प्राप्त करते हैं। (भोजाः) रक्षक जन ही (सु-रायाः) उत्तम सुखदायी जल के (अन्तः पेयम्) आतिथ्य-सत्कारपूर्वक गृह में पान करने योग्य वा सुखद राज्य लक्ष्मी के राष्ट्र के भीतर रक्षणीय अंश को (जिग्युः) प्राप्त करते हैं। (ये अहूताः प्रयन्ति) जो विना बुलाये ही अन्यों पर प्रयाण करते हैं उनको भी (भोजाः जिग्युः) उत्तम दाता और पालक जन विजय कर लेते हैं।

भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्या३शुम्भमाना ।
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम् ॥ १० ॥

भा०—(भोजाय अश्वं आ संमृजन्ति) रक्षक, दाता, स्वामी के लिये ही शीघ्र वेग से जाने में समर्थ अश्व को अलंकृत करते हैं । (भोजाय) दानशील, रक्षक स्वामी के लिये ही (शुम्भमाना कन्या आस्ते) वस्त्र, भूषणादि से अलंकृत कन्या होती है। (भोजस्य) रक्षक स्वामी का ही (इदं वेश्म) यह गृह (पुष्करिणी इव) पुखरिणी के समान नाना फूलों से अलंकृत तथा (देव-माना इव) विद्वानों से बना (चित्रं) अद्भुत (परिष्कृतम्) सुसज्जित होता है ।

भोजमश्वाः सुष्ठुवाहो वहन्ति सुवृद्रथो वर्तते दक्षिणायाः ।
भोजं देवासोऽवता भरेषु भोजः शत्रून्त्समनीकेषु जेता ॥११॥४॥

भा०—(सुष्ठु-वाहः) उत्तम रीति से रथ वा सवार को लेजाने वाले (अश्वाः) उत्तम अश्व (भोजं वहन्ति) रक्षक, दाता को ही ले जाते हैं। (दक्षिणायाः) अन्न द्रव्यादि दान देने वाले का रथ भी (सुवृत् वर्त्तते) उत्तम २ चक्र आदि से युक्त होता है । हे (देवासः) विद्वान् और तेजस्वी विजयेच्छुक पुरुषो ! आप लोग (भरेषु) संग्रामों में (भोजम् अवत) सर्वपालक दाता स्वामी की ही रक्षा करो । क्योंकि (सम्-अनीकेषु) नाना सैन्य बलों के एकत्र होने के योग्य युद्धों में (भोजः) वही रथ का स्वामी (शत्रून् नेता) शत्रुओं को जीतने में समर्थ होता है। इति चतुर्थो वर्गः ॥

[१०८]

ऋषिः पणयोऽसुराः । २, ४, ६, ८, १०, ११ सरमा देवशुनी ॥ देवता—१, ३, ५, ७, ९ सरमा । २, ४, ६, ८, १०, ११ पणयः ॥ छन्दः—१ । विराट् त्रिष्टुप् । २, १० त्रिष्टुप् । ३—५, ७—९, ११ निचृत् त्रिष्टुप् ६ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ॥ एकादशर्चं सूक्तम् ॥

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि ॥१॥

भा०—(सरमा) एक देह से दूसरे देह में जाने वाली यह चेतना, जीव रूप चित् (किम् इच्छन्ती) क्या चाहती हुई (इदम्) इस देहमय जड़ पिण्ड को (प्र आनट्) प्राप्त होती, इसे व्याप रही है। (दूरे हि अध्वा) वह मार्ग जो ठीक लक्ष्य तक पहुंचादे वह तो बहुत दूर है । यह मार्ग (पराचैः जगुरिः) विषयों से पराङ्मुख जाने वाले साधनों या साधकों से जाने योग्य है । हे चिति शक्ते ! (अस्मे हितिः का) तू ही बता, यह हमारे शरीरों में स्थित सुख-दुःखों का ज्ञान कराने वाली कौनसी शक्ति है ? (का परि-तक्म्या) यह दुःख अनुभव करने वाली, रात्रिवत् प्रसुप्त या चारों ओर जाने भागने वाली, वा देह में उष्णता रूप से व्याप्त यह कौनसी चेतना रूप शक्ति है ? यह (रसायाः) रस वा, रुधिर रूप धातु से व्याप्त (पयांसि) द्रवों को (कथम् अतरः) किस प्रकार 'पार कर' के ज्ञान वा चेतना रूप में व्यक्त होती है।

इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन्वः।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतरं पयांसि ॥२॥

भा०—हे (पणयः) लोक-व्यवहार में प्रवृत्त इन्द्रियगणो ! मैं चेतना (इन्द्रस्य) इरा अर्थात् जलवत् द्रव, रुधिर, वा द्रुत गति से बहने वाले, तेजोमय आत्मा की (दूतीः) दूती के समान उसकी इच्छा बतलाने वाली, वाणी रूप से, वा उसकी शक्ति रूप से देह को उष्ण रखने वाली, (इषिता) उसी से इच्छापूर्वक प्रेरित होकर (चरामि) प्रवृत्त होती हूँ, देह में सुख दुःखादि फल भोगती हूं । और (वः) आप लोगों के (महः निधीन् इच्छन्ती) बड़े २ खज़ानों, ज्ञानों को चाहती हुई, उनका अभ्यास करती हुई (चरामि) वाणी रूप से सर्वत्र प्रचरित होती

हूं। (अति-स्कदः) सबको अतिक्रमण कर जाने वाले उसी परब्रह्म के (भियसा) भय से (नः) हमारा (तत्) वह परब्रह्म का ज्ञान ही (आवत्) रक्षा करता है। (तथा) उसी प्रकार से मैं (रसायाः) इस पृथिवीमय देह के (पयांसि) परिपोषक जलों को (अतरम्) पार कर लेती हूं।

कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात्।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाथा गवां गोपतिर्नो भवाति ॥३॥

भा०—हे (सरमे) वेग से जाने वाली चित्त-वृत्ते ! (इन्द्रः कीदृङ्) वह इन्द्र आत्मा कैसा है ? (का दृशीका) उसकी दर्शनशक्ति क्या है ? (यस्य दूतीः) जिसकी दूती के तुल्य तू (पराकात्) दूर स्थित परम कर्त्ता वा, सुखमय आत्मा से (इदम् असरः) इस जड़ देह में व्यापती है। वह (मित्रम्) हमारा स्नेही (आगच्छात् च) हमें प्राप्त हो तो (एनं दधाम) उसको ही हम धारण करें, जानें। (अथ) और वह (नः) हमारी (गवां) गौओं, वाणियों या वृत्तियों का (गो-पतिः) पालक (भवाति) रहे।

नाहं तं वेद दभ्यं दभत्स यस्येदं दूतीरसरं पराकात्।
न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे ॥ ४ ॥

भा०—(अहम्) मैं (तम्) उसको (दभ्यम्) कभी नाश होने योग्य (न वेद) नहीं जानतीं, क्योंकि (सः दभत्) वह समस्त वस्तुओं का विनाशक, उनको वश करने हारा है। (तस्य दूतीः) उसकी दूती, अर्थात् शक्ति के लिये मैं (पराकात्) इन्द्रियों से अगम्य परम स्थान से (असरम्) आरही हूं। (स्रवतः) स्रवण करती हुई (गभीराः) गहरी धाराएं भी (न तम् गूहन्ति) उसको नहीं छुपातीं। उसी (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान्, तेजस्वी, सूर्यवत् यशस्वी से (हताः) ताड़ित या व्याप्त होकर

हे (पणयः) सर्वव्यवहार-साधक प्राणगण! वा प्राणी जनो! तुम (शयध्वे) सोते, वा सुख दुःख प्राप्त करते हो।

इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तान्सुभगे पतन्ती।
कस्त एना अव सृजादयुध्व्युतास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा॥५॥५॥

भा०—हे (सरमे) उत्तम ज्ञान रूप से जानने योग्य वाणि! या शक्ते! हे (सु-भगे) उत्तम ऐश्वर्य युक्ते! तू (दिवः अन्तान् परि पतन्ती) आकाश के अन्त भागों तक पहुंचती हुई भी (याः गावः ऐच्छः) जिन वाणियों या धाराओं को चाहती है वे (इमाः गावः) ये सब भूमिवत् वाणियां हैं। (कः) कौन (एनाः) इनको (अयुध्वी) विना युद्ध किये, विना प्रहार किये (अव सृजात्) नीचे गिरा सकता है, उन पर वश कर सकता है (उत) और (अस्माकं) हमारे (तिग्मा आयुधा सन्ति) तीक्ष्ण आयुध हैं। अर्थात् हम प्राणगण भी अपने दुःख-सुखादि जनक उपायों से देह पर वश करते हैं। इति पञ्चमो वर्गः॥

असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात्॥६॥

भा०—हे (पणयः) व्यवहार में मग्न इन्द्रियगण! (वः) आप लोगों के (वचांसि) सब वचन (असेन्या) सेना अर्थात् उत्तम स्वामी से युक्त शक्ति से सम्पन्न पुरुष के वचनों के समान नहीं हैं। इसीलिये (अनिषव्याः) बाण के समान स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से रहित (तन्वः) ये सब देह (पापीः सन्तु) पापिष्ठ अर्थात् मृतशव के तुल्य हो जानी सम्भव हैं। (वः पन्थाः) आप लोगों का मार्ग (एतवै) जाने के लिये (अधृष्टः अस्तु) असमर्थ, अयोग्य हो जाता यदि (बृहस्पतिः) वाणी महती शक्ति का पालक आत्मा, (वः उभया न मृडयात्) आपके ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों वर्गों को सुखी न कर सके?

अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिर्वसुभिन्यृष्टः।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्थ ॥ ७ ॥

भा०—हे (सरमे) उत्तम चेतना के तुल्य व्यापक शक्ते ! (अयं) यह (निधिः) ज्ञानों को धारण करने वाला कोष (अद्रि-बुध्नः) अन्न को खाने वाले देह वा प्राणों पर आश्रित है। और यह (गोभिः) ज्ञानेन्द्रिय, (अश्वेभिः) कर्मेन्द्रियों और (वसुभिः) आठ प्राणों से (नि ऋष्टः) व्याप्त है। (ये सु-गोपाः) जो उत्तम रक्षकवत् (पणयः) नाना व्यवहार के कारण मुख्य प्राण कान, नाक आदि उपकरण हैं वे ही (तं) उस निधि रूप देह की (रक्षन्ति) रक्षा किया करते हैं। हे चितिशक्ते ! तू (रेकु पदम्) इस शंकास्पद स्थान को (अलकम् = अलं आजगन्थ) व्यर्थ ही आई है, यहां मत आ।

एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः।
त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथैतद्वचः पणयो वमन्नित् ॥ ८ ॥

भा०—(इह) इस देह में (नव-ग्वाः) संख्या में नव मार्गों से गति करने वाले (अंगिरसः) अंग में बल के तुल्य प्राण गण (सोम-शिताः) प्रेरक वीर्य बल से तीक्ष्ण होकर (ऋषयः) ग्राह्य रूपादि का दर्शन करने वाले इन्द्रिय गण और (अयास्यः) मुख में स्थित मुख्य प्राण भी (आ गमन्) प्राप्त हैं। (ते) वे (एतम्) इस (गोनाम् ऊर्वं) इन्द्रियद्वारों के समूह रूप देह को (वि अभजन्त) विविध रूप से सेवन कर रहे हैं। (अथ) और (पणयः) स्तुतिकर्त्ता, उपदेष्टा जन (एतत् इत वचः) इसी बात को (वमन्) मुख से निकालते हैं, कहते हैं।

एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम ॥ ९ ॥

भा०—हे (सरमे) चितिशक्ते ! हे चित्तवृत्ते ! हे ज्ञानकर्त्रि बुद्धे ! (त्वं एव च) तू इस प्रकार (दैव्येन प्र-बाधिता) शक्तिप्रद, सर्वप्रकाशक

(सहसा) बल, तेज से प्रेरित होकर (आ-जगन्थ) आई है । (त्वा) तुझे (स्व-सारं) स्वसा, भगिनी के समान हम अपना सहयोगी बनाते हैं । (मा पुनः गाः) तू अब यहां से न जा । हे (सु-भगे) उत्तम ऐश्वर्ययुक्त ! (ते) तुझे भी हम (गवाम् अव भजेम) इन्द्रियों में बांट देते हैं ।

नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः ।
गोकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीयः ॥ १० ॥

भा०—हे (पणयः) व्यवहार योग्य अंगो ! (अहम् भ्रातृत्वं न वेद) मैं बुद्धि या चित्तवृत्ति, देह इन्द्रियादि के भरण पोषण करने वाले स्वामी का पद नहीं प्राप्त करती, (नो स्वसृत्वम्) और न 'स्व', आत्मा तक पहुंचने वाला सामर्थ्य (वेद) ही प्राप्त करती हूं । पोषक पद को तो (इन्द्रः वेद) वह तेजोमय आत्मा ही प्राप्त करता है और (घोराः) उसके तेज से सम्पन्न (अंगिरसः च) अन्य प्राण ही (स्वसृत्वम्) अर्थात् आत्मा से प्रेरित होने के सामर्थ्य को प्राप्त करते हैं। वे (गो-कामाः) इन्द्रिय स्थाना को प्राप्त करना चाहने वाले प्राणगण (यत्) जब मुझे (अच्छदयन्) आच्छादित कर लेते हैं तब मैं (आयम्) प्राप्त होती हूं हे (पणयः) व्यवहार-योग्य बाह्य साधनो ! आप लोग (वरीयः अप इत) बहुत दूर तक जाओ ।

दूरमित पणयो वरीय उद् गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन ।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः
॥ ११ ॥ ६ ॥

भा०—हे (पणयः) व्यवहार योग्य साधनो ! (वरीयः अप इत) तुम बहुत दूर तक जाओ ! (ऋतेन) तेज से (मिनन्ती) अज्ञान-अन्धकार को नाश करती हुई (गावः) वाणियां किरणों के तुल्य (उत् यन्तु) ऊपर उठें । (याः) जिनको (बृहस्पतिः अविन्दत्) वेद का पालक विद्वान्

प्राप्त करता है (याः नि गूढ़ा) जिन गुप्त, गंभीर अर्थ वाली वाणियों को (सोमः अविन्दत्) वीर्य-पालक ब्रह्मचारी वा शासक प्राप्त करता है और (याः) जिनको (ग्रावाणः) उत्तम उपदेष्टा और (ऋषयः) ज्ञानदर्शी (विप्राः) बुद्धिमान् जन (अविन्दन्) प्राप्त करते और जानते हैं। इति षष्ठो वर्गः ॥

[१०९]

ऋषिर्जुहूर्ब्रह्मजायोर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः—१ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ४, ५ त्रिष्टुप् । ६, ७ अनुष्टुप् ॥ सप्तर्चं सूक्तम् ॥

तेऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा ।
वीळुहरास्तप उग्रो मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतेन ॥ १ ॥

भा०—(ते) वे (प्रथमा) सबसे आदि में वर्त्तमान, (अकूपारः) दूर वर्त्तमान सूर्य (सलिलः) गतियुक्त व्यापक जल और (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में व्यापक वायु, (ब्रह्म-किल्विषे) ब्रह्म परमात्मा की रचना के विषय में (अवदन्) हमें तत्व ज्ञान बतलाते हैं कि (ऋतेन) कारण रूप से वे (प्रथम-जाः) सब से प्रथम प्रकट होने वाले तीनों तत्त्व (वीडु-हराः) उस प्रभु परमेश्वर के ही वीर्य वा शक्ति को धारण करने वाले हैं। उसी से वे तीनों क्रम से (उग्रः तपः) (१) उग्र रूप से तपने वाला सूर्य, (मयः-भूः) (२) शान्ति सुख का देने वाला वायु और (आपः देवीः) दिव्यगुण युक्त 'आपः' अर्थात् जल हुए।

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय ॥२॥

भा०—(राजा) देदीप्यमान (सोमः) समस्त जगत् का उत्पादक और प्रेरक परमेश्वर (प्रथमः) सबसे पूर्व विद्यमान था। उसने

(ब्रह्म-जायाम्) महान् विश्व को जन्म देने वाली प्रकृति को (पुनः प्रायच्छत्) प्रलय के अनन्तर फिर २ प्रबद्ध किया, पुनः सृष्टि रूप में रचा। और (अनु-अर्तिता) पीछे प्रकट होने वाला (वरुणः) सबको आवरण वरने वाला, आकाश और (मित्रः) मृत्यु से बचाने वाला वायु, और (अग्निः) अग्नि, ये तत्त्व थे। (होता) समस्त विश्व को अपने में लेने हारा प्रभु उस प्रकृति को (हस्त-गृह्य) हस्त अर्थात् अपने व्यापक बल से वश करके मानो हाथ से पकड़ कर (आ निनाय) उस प्रकृति को विश्व रूप से चलाता है। उसके एक २ परमाणु को मानो वह पकड़ २ कर विश्व रूप में बनाता है।

हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन्।
न दूताय प्रह्ये तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥ ३ ॥

भा०—(अस्याः आधिः) इसका सब ओर से वशीकृत स्वरूप (हस्तेन) हाथ के समान व्यापक बल से ही (ग्राह्यः) ग्रहण करने योग्य है। विद्वान् जन इसका (ब्रह्म-जाया इति च) महान् परमेश्वर की, वा महान् विश्व रूप पुत्र की उत्पादक जाया के समान ही (अवोचन्) उपदेश करते हैं। (एषा) वह प्रकृति (दूताय) संतापकारी, अन्य अवान्तर कारक के वा (प्रह्ये) प्रेरक के अधीन (न तस्थे) विद्यमान न थी। प्रत्युत उसी सर्वशक्तिमान् की प्रेरणा के अधीन थी (तथा) उस प्रकार से (क्षत्रियस्य) बल, वीर्यशाली परमेश्वर का (राष्ट्रम्) देदीप्यमान तेज, बलशाली राजा के राष्ट्र के समान ही (गुपितम्) सुरक्षित रहता है।

देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥४॥

भा०—(ये) जो (एतस्याम्) इसमें (पूर्वे) पूर्व ही विद्यमान, (सप्त-ऋषयः) सात ज्ञान निदर्शक, कारण रूप तत्त्व, या ज्ञानवान् तत्त्वदर्शी

ऋषि (तपसे निषेदुः) तप के लिये विराजे वे (देवाः) देव, प्रकाश-मान तत्त्व या विद्वान् जन इस प्रकृति के समन्ध में (अवदन्त) बतलाते हैं कि (ब्राह्मणस्य) ब्रह्म, परमेश्वर की शक्ति से उत्पन्न संसार की (जाया) उत्पन्न करने वाली, परमेश्वर की पत्नी के तुल्य प्रकृति (उप-नीता) समीप प्राप्त होकर (भीमा) अति भयानक है, वह विशाल अति-शक्तिशा-लिनी है। वह प्रभु (परमे वि-ओमन्) परम व्योम, परम रक्षा, बल पर ही उस (दुर्धाम्) दुर्धारणीय विशाल प्रकृति को (दधाति) धारण करता है।

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम् ।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ॥५॥

भा०—(ब्रह्मचारी) महान् ब्रह्माण्ड में व्यापक वह परमेश्वर (विषः वेविषत्) व्याप्त होने योग्य समस्त प्रकृति के परमाणुओं में व्यापक होता हुआ (चरति) सर्वत्र विद्यमान रहता है। (सः) वह (देवानां) प्रकाश से युक्त समस्त सूर्य, जल, पृथिवी आदि तत्वों का (एकम्) एक अद्वितीय (अङ्गम् भवति) प्रकाशक होता है। (तेन) इसी कारण से वह (बृहस्पतिः) बड़े ब्रह्माण्ड, वा महती शक्ति का पालक प्रभु ही (जायाम्) स्त्री को ब्रह्म-चारी के तुल्य, प्रकृति को (अनु अविन्दत्) अपने अनुकूल रूप से प्राप्त करता है। (न) और उस (जुह्वं) अग्नि, जल, पृथिवी, वायु आदि तत्व रूप से ग्रहण की हुई (सोमेन) उस जगद्-उत्पादक प्रभु से (नीतां) वश की हुई को हे (देवाः) विद्वान् जनो ! आप लोग (अनु अविन्दत) ध्यान योग से, ज्ञान से साक्षात् कर उसका उपदेश करो। वा उस प्रभु का अनुकरण कर के पत्नी आदि का ग्रहण करो।

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत ।
राजानः सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥ ६ ॥

भा०—(सत्यं कृण्वानाः) सत्य का उपदेश वा सत्य ब्रह्म का ज्ञान

करते हुए (देवाः) विद्वान् मनुष्य (उत मनुष्याः) और मननशील विद्वान् जन (उत राजानः) और तेजस्वी पुरुष (ब्रह्मजायां) परमेश्वर की सर्वोत्पादक प्रकृति को (पुनः पुनः पुनः ददुः) बार २ त्यागते हैं। वे सत्य ज्ञान प्राप्त करके इस प्रकृति-बन्धन से पुनः २ मुक्त होते हैं।

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्विषम्।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासते ॥ ७ ॥ ७ ॥

भा०—इस प्रकार (देवैः = देवाः) विद्वान् जन (ब्रह्म-जायां) जगत्-उत्पादक प्रकृति को (पुनर्दाय) पुनः २ त्याग कर और अपने को (किल्विषं कृत्वी) निष्पाप करके (पृथिव्याः इस पृथिवी, के विस्तृत प्रकृतिमय देह वा (ऊर्जं) अन्नवत् फल को (भक्त्वाय) सेवन करके (उरु-गायम्) उस महान् स्तुत्य ज्ञानमय प्रभु की (उपासते) उपासना करते, उसी को प्राप्त कर उस ही में रमते हैं।

इसी प्रकार ५ वें मन्त्र में कहे प्रकार से, विद्वान् जन ब्रह्मचर्य के अनन्तर गृहस्थ करते हैं। और गृहस्थ-जाल से मुक्त होकर देव, ब्राह्मण, मनुष्य, वैश्य, राजा, क्षत्रिय, तीनों वर्ण वनस्थ होकर गृहस्थ को त्यागते हैं। फिर निष्पाप होकर मुक्त हो जाते हैं। यह तत्त्व भी वेद ने कहा है। इति सप्तमो वर्गः ॥

[११०]

ऋषिः जमदग्नी रामो वा भार्गवः ॥ देवता आप्रियः ॥ छन्दः—१, २, ५, १०, ११ निचृत् त्रिष्टुप्। ३ आर्ची त्रिष्टुप्। ४, ८ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ॥ ६, ७, ९ त्रिष्टुप् ॥ एकादशर्चं सूक्तम् ॥

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥१॥

भा०—अग्निवत् गृहपति, ज्ञानी, और आत्मा का वर्णन। (अद्य) आज (मनुषः दुरोणे) मनुष्य के गृह में (समृद्धः) अग्निवत् ज्ञान से प्रदीप्त होकर, हे (जात-वेदः) ज्ञान को प्राप्त करने हारे ! ज्ञानवन् ! तू (देवः) ज्ञानों का प्रकाशक होकर (देवान् यजसि) विद्या आदि के अभिलाषी जनों को शुभ गुणों का प्रदान करता है। हे (मित्र-महः) सूर्यवत् तेजस्विन् ! वा स्नेही पुरुषों के आदर करने हारे ! उनको मित्रवत् ज्ञान आदि के देने हारे ! तू (चिकित्वान्) ज्ञानवान् होकर (देवान् आ वह च) विद्वानों, शुभ गुणों को धारण कर। (त्वं दूतः) तू उत्तम ज्ञान को देने वाला, (कविः) विद्वान्, क्रान्तदर्शी (प्र-चेताः असि) उत्तम चित्त और ज्ञान वाला हो। अध्यात्म में—देह में आत्मा जातवेदा अग्निवत् है, 'देव' इन्द्रियगण हैं। वह सूर्य वा अग्निवत् उनको प्रकाशित करता और धारण करता है।

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २ ॥

भा०—हे (तनूनपात्) देहवत् विस्तृत समाज को भी नीचे न गिरने देने हारे ! हे (सु-जिह्व) उत्तम, सुखदायक वाणी वाले ! (यानान्) जाने योग्य (ऋतस्य पथः) सत्य ज्ञान और धर्म के मार्गों को (मध्वा) मधुर ज्ञानोपदेश से (सम्-अञ्जन्) अच्छी तरह प्रकाशित करता हुआ (स्वदय) उनका अन्यों को आनन्द रस का आस्वादन करा। उनको अधिक सुखप्रद कर। तू (धीभिः) उत्तम बुद्धियों और कर्मों से (मन्मानि) अनेक ज्ञानमय कर्मों को और (यज्ञम्) यज्ञ को (ऋन्धन्) सम्पादन करता हुआ, (देवत्रा च) मनुष्यों के बीच में भी (नः अध्वरं) हमारा हिंसारहित यज्ञ (कृणुहि) सम्पादन कर।

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥ ३ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के तुल्य यथार्थ अर्थों के प्रकाश करने वाले विद्वन् ! (त्वम्) तू (आ-जुह्वानः) ग्राह्य पदार्थों को ग्रहण करता एवं ज्ञान-प्रकाशों को सर्वत्र प्रदान करता हुआ ही (ईड्यः वन्द्यः च) स्तुति और वन्दना करने योग्य है। तू (स-जोषाः) प्रीति से युक्त होकर (वसुभिः) अपने अधीन ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने वाले शिष्यों सहित (आ याहि) आ। हे (यह्वः) महान् ! तू (देवानां होता असि) ज्ञानार्थी जनों को ज्ञान आदि का देने वाला और उनको सन्मार्ग में स्वीकार करने वाला है। (सः) वह तू (यजीयान्) सबसे श्रेष्ठ दाता, सत्संगकारक और पूज्य होकर (इषितः) प्रार्थित होकर (एनान् यक्षि) इनको ज्ञान, सुख प्रदान कर।

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ ४ ॥

भा०—(अह्नाम् अग्रे) दिनों के प्रारम्भ में (अस्याः पृथिव्याः वस्तोः) इस पृथिवी को आच्छादित करने, या बसाने के लिये, (प्र-दिशा) विशेष ज्ञानोपदेश सहित, (प्राचीनं बर्हिः) पूर्व में प्रकट हुए सूर्य के तुल्य सर्वोत्कृष्ट महान् ज्ञान (वृज्यते) प्रदान किया जाता है। वह (वि-तरं) विविध प्रकार से शिष्य-परम्परा से दिया जाने योग्य एवं (वि-तरम्) विस्तृत, या विशेष रूप से जीवों को दुःख से तराने वाला, और (वरीयः) महान्, सर्वश्रेष्ठ होकर (वि प्रथते उ) विविध रूपों में विस्तृत होता है और वह (देवेभ्यः) मनुष्यों के लिये और (अदितये) समस्त जगत्, पृथिवी, माता-पिता पुत्र आदि सबके लिये (स्योनम्) सुखकारी होता है। वह 'प्राचीन बर्हि' आदित्य के प्रकाश के तुल्य वेद है।

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥५॥८॥

भा०—(शुम्भमानाः) उत्तम गुणों और आभूषणों, वस्त्रों से सजती हुईं (जनयः न) गृह देवियां जिस प्रकार (पतिभ्यः) अपने २ पतियों के लिये (सु-प्र-अयनाः) सुख प्राप्त कराने वाली होती हैं उसी प्रकार (द्वारः) द्वार, गृह, के द्वार (देवीः) प्रकाश से युक्त (व्यचस्वतीः) विशेष विस्तृत, (उर्विया) विशाल, (बृहतीः) बड़े, (विश्वमिन्वाः) सबको प्रसन्न और सुखी करने वाले होकर (उर्विया) बहुत २ (वि श्रयन्तां) खुलें, अनेक सुख प्रदान करें, और (देवेभ्यः) उत्तम मनुष्यों के लिये (सु-प्र-अयणाः भवत) सुख से आने जाने के लिये, सुखप्रद हों। इसी प्रकार (बृहताः) वेद-वाणियां भी (वि-अचस्वतीः) विविध ज्ञान की प्रकाशक, (उर्विया वि श्रयन्तां) बहुत ज्ञान, विविध प्रकार से देने वाली हैं। (विश्व-मिन्वाः) जगत् के समस्त ज्ञान को देने वाली, (सु-प्र-अयणाः) सुखमय उत्तम मार्ग बतलाने वाली हों। इत्यष्टमो वर्गः ॥

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥ ६ ॥

भा०—(उषासानक्ता) दिन रात्रिवत् एक दूसरे के पीछे चलने वाले, (यजते) एक दूसरे का आदर करने वाले, परस्पर संगत, (सु-स्व-यन्ती) खूब सुखपूर्वक उत्तम मार्ग से जाते हुए, सदाचारपरायण, होकर स्त्री पुरुष (योनौ) गृह में (उपाके नि सदताम्) समीप में रहें। वे दोनों (दिव्ये) परस्पर की कामना वाले, और (योषणे) एक दूसरे से मिले हुए, (बृहती) गुणों में महान्, (सु-रुक्मे) उत्तम रुचि वाले, वा उत्तम आभूषणादि से सुशोभित, (शुक्र-पिशं श्रियं अधि दधाने) कान्तियुक्त, तेजस्वी रूप वाली शोभा को धारण करते हुए हों।

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥७॥

भा०—(देव्या) अग्नि और सूर्य के समान देव अर्थात् शुभगुणों को किरणों के तुल्य धारण करने वाले, देव, विद्वानों के हितकारी, (होतारा) सबको सुख, अन्न, ज्ञान आदि देने हारे, (प्रथमा) श्रेष्ठ, (सु-वाचा) उत्तम वाणी के ज्ञाता, एवं प्रयोग करने वाले, (यजध्यै यज्ञं मिमाना) देवपूजा के लिये यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले, (विदथेषु) यज्ञों, और ज्ञानोपार्जनादि सत्-कार्यों में (प्र चोदयन्ता) सबको प्रेरणा करते हुए, (कारू) स्वयं उन सत्कर्मों का अनुष्ठान करने वाले, (प्र-दिशा) उत्तम उपदेश करने वाले, वेद-ज्ञान द्वारा (प्राचीनं ज्योतिः) अत्यन्त प्राचीन सर्वोत्कृष्ट ज्ञानमय प्रकाश का (दिशन्ता) अन्यों को निर्देश करते हुए उत्तम स्त्री-पुरुष हों।

आ नो॑ य॒ज्ञं भार॑ती॒ तूय॑मे॒त्विळा॑ मनु॒ष्वदि॒ह चे॒तय॑न्ती ।
ति॒स्रो दे॒वीर्ब॒र्हिरे॒दं स्यो॒नं सर॑स्वती॒ स्वप॑सः सदन्तु ॥ ८ ॥

भा०—(नः यज्ञम्) हमारे यज्ञ को (भारती) सूर्य की सी कान्ति वाली, और (मनुष्वत्) ज्ञानी मनुष्य के समान (चेतयन्ती) ज्ञानयुक्त करने वाली (इडा) वाणी, और (सरस्वती) उत्तम ज्ञानोपदेश से युक्त सरस्वती, वेद वाणी (तूयम्) शीघ्र ही प्राप्त हो। (तिस्रः) तीनों (सु-अपसः) उत्तम कर्म करने वाली, (देवीः) प्रकाश और ज्ञान के देने वाली, (इदं बर्हिः) इस उत्तम आसन पर (स्योनं) सुखपूर्वक (सदन्तु) विराजें। देह में ये तीन देवी इडा, पिंगला और सुषुम्ना हैं, राष्ट्र में तीन सभाएं राजसभा, न्यायसभा, विद्वत्-सभा। लोक में, जनशक्ति, धनशक्ति और मन्त्रशक्ति ज्ञान में—ऋग्, यजुः और साम, अर्थात् मन्त्र, कर्म, और संगीत।

य इ॒मे द्यावा॑पृथि॒वी जनि॑त्री रू॒पैरपिं॑शद्भुव॑नानि॒ विश्वा॑ ।
तम॒द्य हो॑तरिषि॒तो यजी॑यान्दे॒वं त्वष्टा॑रमि॒ह य॑क्षि वि॒द्वान् ॥ ९ ॥

भा०—(यः) जो (जनित्री) जगत् को उत्पन्न करने वाले (द्यावा

पृथिवी) आकाश और भूमि दोनों को (रूपैः अपिंशत्) नाना रूपों और रुचिकर पदार्थों से सुशोभित करता है, और जो (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवनों को (रूपैः अपिंशत्) नाना रूप के पदार्थों से सुशोभित करता है, हे (होतः) विद्वान् पुरुष ! तू (इषितः) उत्तम इच्छा वा कामना वाला (यजीयान्) उत्तम यज्ञशील, उपासक होकर (इह) इस लोक में (त्वष्टारम् देवं) जगत् के निर्माता, देव, सर्वसुखदाता प्रभु की (यक्षि) उपासना कर।

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि ।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥१०॥

भा०—हे विद्वन् ! तू (त्मन्या) अपने ही आत्म-सामर्थ्य से (ऋतुथा) ऋतु २ के अनुसार (देवानां) मनुष्यों और दिव्य पदार्थों के योग्य (पाथः) पान योग्य जलों और (हवींषि) अन्नों को (सम् अञ्जन्) प्रकट करता हुआ, (उप अव-सृज) अन्यों को प्रदान कर। (वनस्पतिः) सेव्य पदार्थों या, विषयों वा सेवनीय इन्द्रियगण का पालक स्वामी, जितेन्द्रिय, तेजस्वी, (शमिता) शान्तिदायक और (अग्निः देवः) ज्ञानवान्, ज्ञानदाता पुरुष सब (मधुना घृतेन) मधुर अन्न-जल से (हव्यं स्वदन्तु) खाद्य पदार्थ का आस्वाद लें वा (मधुना घृतेन हव्यं स्वदन्तु) मधुर, प्रकाश से प्राप्य परम सुख को प्राप्त करें।

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः ।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ११॥६॥

भा०—(सद्यः जातः अग्निः) शीघ्र प्रकट हुआ अग्निवत् तेजस्वी पुरुष (यज्ञं वि अमिमीत) यज्ञ का अनुष्ठान करता है। वह (देवानां पुरः-गाः अभवत्) सब मनुष्यों का अग्रणी होता है। (यस्य होतुः प्र-दिशि) इस ज्ञानदाता के शासन में और (ऋतस्य वाचि) सत्यमय वेद की

वाणी में (स्वाहा कृतम्) उत्तम रीति से उत्तम वाणी द्वारा प्रदत्त (हविः) ज्ञान और अन्न का (देवाः अदन्तु) समस्त मनुष्य उपभोग करें। इति नवमो वर्गः ॥

[१११]

ऋषिरष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, २, ४ त्रिष्टुप् । ३, ६, १० विराट् त्रिष्टुप् । ५, ७, ६ निचृत् त्रिष्टुप् । ८ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ॥ एकादशर्चं सूक्तम्॥

मनीषिणः प्र भरध्वं मनीषां यथायथा मतयः सन्ति नृणाम् ।
इन्द्रं सत्यैरेरयामा कृतेभिः स हि वीरो गिर्वणस्युर्विदानः ॥१॥

भा०—हे (मनीषिणः) बुद्धिमान्, उत्तम स्तुति करने वाले जनो ! (यथा-यथा) जैसी जैसी (नृणां मतयः सन्ति) श्रेष्ठ मनुष्यों की बुद्धियां वा ज्ञान होते हैं वैसी-वैसी ही (मनीषाम् प्र भरध्वम्) स्तुति करो। हम (सत्यैः कृतेभिः) अपने सत्य आचरणों से (इन्द्रम् आ ईरयाम) उस प्रभु को अपनी ओर आकर्षित करें। (सः हि वीरः) वह विविध ज्ञानों का देने वाला, विविध लोकों को सञ्चालन करने वाला, बलशाली, प्रभु (विदानः) सब कुछ जानने हारा है। वह (गिर्वणस्युः) वाणी द्वारा उपासना करने वाले भक्त को चाहता और उसका स्वामी है।

ऋतस्य हि सदसो धीतिरद्यौत्सं गार्ष्टेयो वृषभो गोभिरानट् ।
उदतिष्ठत्तविषेणा रवेण महान्ति चित्सं विव्याचा रजांसि ॥ २ ॥

भा०—(ऋतस्य) सत्य ज्ञान, तेज, अन्न, धन, और जगत्-कारण-रूप प्रकृति और (सदसः) सब के आश्रय रूप महान् आकाश का (धीतिः) धारण करने वाला प्रभु (अद्यौत्) सूर्य के समान देदीप्यमान है। (गार्ष्टेयः वृषभः गोभिः) एक बार प्रसूत गौ से उत्पन्न वृषभ जिस प्रकार गौओं के साथ शोभा देता है उसी प्रकार (गार्ष्टेयः) एक बार ही समस्त

जगत् का प्रसव करने वाली प्रकृति का स्वामी, (वृषभः) सब सुखों का वर्षण करने वाला, प्रभु (गोभिः) वेदवाणियों वा स्तुतियों से प्राप्त होता है, उससे उसका ज्ञान होता है, वह (तविषेण रवेण) बड़े बल से युक्त, सर्वशासक वेदमय शब्द से, गर्जन से मेघ के तुल्य ही (उत् अतिष्ठत्) सबसे ऊपर विराजता है। और (महान्ति रजांसि सं विव्याच) बड़े २ लोकों को भी व्यापता है, (२) मेघ जल का धारक, अन्न का पोषक, भूमि का पालक है। बरसने से 'वृषभ', भूमि का हितकारी होने से 'गार्ष्टेय' है। वह गर्जना सहित उठता है और समस्त भूमि की धूलियों को जल से पूर्ण करता है।

गार्ष्टेयः—सकृत् प्रसूता गौ गृष्टिः। इति सायणः। प्रत्यग्रप्रसूता इति काशिका। विश्वक्सेनप्रिया गृष्टिर्वाराही वदरेति च इति अमरः। अत्र लता काचित् बदरी गृष्टिः। गृह्णातेः। क्तिच्। पृषोदरादित्वात् साधुः॥ गर्षति हिनस्ति रोगम्। गृषु हिंसायां क्तिन्। इति मुकुटः। घृष्टिः इति पाठान्तरम्। गृजेर्वा, गृञ्जेर्वा शब्दार्थात् जृषेर्वा, गृणोतेर्वा, गृह्णातेर्वा गृहेर्वा क्तिन्, तिर्वौणादिकः, पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः।

इन्द्रः किल श्रुत्या अस्य वेद स हि जिष्णुः पथिकृत्सूर्याय।
आन्मेनां कृण्वन्नच्युतो भुवद् गोः पतिर्दिवः सनजा अप्रतीतः॥२॥

भा०—(इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् प्रभु (श्रुत्यै) श्रवण द्वारा प्राप्त करने योग्य वेद से ही (अस्य) इस जगत् के ज्ञान को (वेद) प्राप्त कराता है। (सः हि जिष्णुः) वही सबका विजय करने वाला, सर्वोपरि है। वही (सूर्याय पथि-कृत्) सूर्य का मार्ग बनाने हारा है। (आत्) अनन्तर वही (अच्युतः) अविनाशी, अपरिज्ञेय प्रभु (मेनां कृण्वन्) सर्वमाननीय, ज्ञान कराने वाली वेदवाणी को प्रकट करता हुआ (दिवः) ज्ञान-प्रकाश और (गोः पतिः) वाणी का स्वामी अथवा (दिवः गो-पतिः) आकाश, सूर्य और भूमि का पालक (भुवत्) है। वह (सन-जाः)

सनातन से विद्यमान और (अप्रतीतः) अपरिज्ञात तथा सबसे अधिक शक्तिशाली है।

इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य व्रतामिनादङ्गिरोभिर्गृणानः।
पुरूणि चिन्नि ततान रजांसि दाधार यो धरुणं सत्यताता ॥४॥

भा०—(इन्द्रः अर्णवस्य व्रता अमिनात्) जिस प्रकार सूर्य जल वाले मेघ के जलों को आघात करता, उत्पन्न करता, और पृथिवी पर फेंकता है उसी प्रकार (इन्द्रः) इस महती प्रकृति को धारण करने वाला परमेश्वर (मह्ना) अपने महान् सामर्थ्य से (महतः अर्णवस्य) महाजलमय आकाश के बीच (व्रता अमिनात्) नाना कर्मों को, नाना सृष्टियों को रचता और चलाता है। वह (अंगिरोभिः गृणानः) विद्वानों से स्तुति किया जाता और (अंगिरोभिः) तेजोमय सूर्यों से बतलाया जाता है। वे ही उसकी सत्ता को प्रमाणित करते हैं। क्योंकि वही (पुरूणि रजांसि) अनेकों लोकों को (नि ततान) नित्य रचता है (यः) जो (सत्य-ताता) सत्य रूप वा सत्कारण से बनने वाले जगत् का विस्तार करने हारा होकर (धरुणं दाधार) सबके धारक महान् आकाश को भी धारण करता है।

इन्द्रो दिवः प्रतिमानं पृथिव्या विश्वा वेद सवना हन्ति शुष्णम्।
महीं चिद्द्यामातनोत्सूर्येण चास्कम्भ चित्स्कम्भनेन स्कभीयान्॥५॥१०

भा०—(इन्द्रः दिवः प्रति-मानम्) वह परमेश्वर इस महान् आकाश का भी मापने वाला और (पृथिव्याः प्रति-मानम्) पृथिवी का भी मापने वाला, तथा उन दोनों से महान् है। वह (विश्वा सवना वेद) समस्त लोकों को जानता है। वह (शुष्णम् हन्ति) समस्त दुःखों का नाश करता है। (सूर्येण द्यां महीम् आ तनोत्) वह सूर्य के द्वारा आकाश और पृथिवी को व्यापता है, उसे प्रकाशित करता तथा वृष्टि, अन्न आदि से

सम्पन्न करता है। वह (स्कम्भनेन) सबको थाम रखने वाले महान् सामर्थ्य से (चास्कम्भ) सब विश्व को थाम रहा है। क्योंकि वह (स्कभीयान्) सबसे अधिक थामने वाला है। अथर्ववेद में उसी को 'स्कम्भ', 'धरुण' आदि नामों से वर्णन किया है। इति दशमो वर्गः ॥

वज्रेण हि वृत्रहा वृत्रमस्तरदेवस्य शूशुवानस्य मायाः ।
वि धृष्णो अत्र धृषता जघन्थाथाभवो मघवन्बाह्वोजाः ॥ ६ ॥

भा०—(वृत्रम्) आवरण करने वाले मेघ को जिस प्रकार सूर्य (वृत्रेण) विद्युत् वा तीक्ष्ण प्रकाश से आघात करता है उसी प्रकार वह (वृत्र-हा) घेर लेने वाले अज्ञान को नाश करने वाला (वृत्रं) घेर लेने वाले अज्ञान को (वज्रेण) ज्ञान वज्र से (अस्तः) दूर हटा दे। हे (धृष्णो) शत्रु को पराजय करने हारे ! तू (शूशुवानस्य) बढ़ने वाले, फैलने वाले (अदेवस्य) प्रकाश से रहित अज्ञान की (मायाः) मायाओं, कुटिल गतियों को (धृषता) सर्वविजयी ज्ञान-प्रकाश से (वि अस्तः) विशेष रूप से दूर कर। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! आत्मन् ! प्रभो ! (अथ) और तू (बाहु-ओजाः अभवः) बाहुओं में बल पराक्रम वाले वीर के तुल्य हो। वह जैसे शत्रु पराजयकारी साधन शस्त्र अस्त्रादि से (अदेवस्य वृत्रस्य) बढ़ते हुए अराजक शत्रु की चालों का नाश करता है और उसकी सब कुटिलताओं का दमन करता है उसी प्रकार तू भी कर।

सचन्त यदुषसः सूर्येण चित्रामस्य केतवो रामविन्दन् ।
आ यन्नक्षत्रं ददृशे दिवो न पुनर्यतो नकिरद्धा नु वेद ॥ ७ ॥

भा०—(यत्) जब (उषसः सूर्येण सचन्त) उषाएं सूर्य के साथ संगत होती हैं तब (अस्य केतवः) इस सूर्य के ज्ञापक प्रकाश (चित्राम् राम्) अद्भुत आश्चर्यकारी रम्यशोभा को (अविन्दन्) प्राप्त कराते हैं। (पुनः) फिर भी (दिवः यत नक्षत्रम् न ददृशे) जो आकाश का नक्षत्र नहीं दिखाई देता (यतः) कारण कि (अद्धा) यह सत्य है कि (नकिः

नु वेद) इस को कोई नहीं जानता । इसी प्रकार सूर्य रूप आत्मा से जब कामनावान् इन्द्रियगण संयुक्त होते हैं तब इसके ज्ञान करने के सामर्थ्य (चित्राम् राम्) चेतना से युक्त रयि, अर्थात् देह को धारण करते हैं। (दिवः नक्षत्रम्) तब इस आत्मा को उस प्रकाशमय प्रभु का व्यापक रूप नहीं दिखाई देता । क्यों नहीं दिखाई देता, इसका यथार्थ तत्त्व कोई नहीं जानता, परन्तु है यह सत्य ।

दूरं किल प्रथमा जग्मुरासामिन्द्रस्य याः प्रसवे सस्रुरापः ।
क्व स्विदग्रं क्व बुध्न आसामापो मध्यं क्व वो नूनमन्तः ॥ ८ ॥

भा०—(यः) जो (आपः) सूक्ष्म जलों के समान व्यापने वाले, जगत् के आदिकारण रूप प्रकृति के परमाणु (इन्द्रस्य) उस ऐश्वर्यवान् प्रभु के (प्र-सवे) महान् सर्वोत्कृष्ट शासन में (सस्रुः) गति करते हैं (आसाम्) उनमें से (प्रथमाः) अनेक प्रारम्भ दशा में ही (दूरं किल जग्मुः) दूर तक पहले ही व्यापे हुए हैं। (आसाम् क्वस्वित् अग्रम्) इनका अग्र, प्रारम्भ कहां है ? (क्व बुध्नः) इनका आश्रय, मूल कहां हैं ? हे (आपः) समस्त प्राकृत लोको ! तुम ही कहो (वः मध्यम् क्व) तुम्हारा बीच कौनसा, और (नूनम् अन्तः क्व) निश्चय से तुम्हारा अन्त कहां है ? यह ईश्वर का ही महान् सामर्थ्य है, कि वह अनन्त आकाश में व्यापक जगत्, लोक-लोकान्तरों को व्यवस्थित रूप से चला रहा है । इसी प्रकार यह जीव भी अनन्त दूर २ तक विद्यमान हैं ।

सृजः सिन्धूँरहिना जग्रसानाँ आदिदेताः प्र विविज्रे जवेन ।
मुमुक्षमाणा उत या मुमुच्रेऽधेदेता न रमन्ते नितिक्ताः ॥ ९ ॥

भा०—जिस प्रकार (अहिना जग्रसानान्) मेघ से ग्रसी हुई जलधाराओं को विद्युत् वा सूर्य (सृजः) प्रकट करता है, (आत् इत् एताः जवेन प्रविविज्रे) और अनन्तर उनको बड़े वेग से बहाती निकालती है और (उत) और (याः मुमुक्षमाणाः) जो मुक्त हो रही हैं (उत

याः मुमुचूरे) और जो मुक्त हो जाती हैं (एताः) वे (नि-तिक्ताः) अति तीक्ष्ण वेग होकर (न रमन्ते) एक स्थान पर नहीं ठहरतीं, ठीक उसी प्रकार ये समस्त लोक और जीवगण वेग से गति करने से 'सिन्धु' हैं, अज्ञान-आवरण से ग्रस्त होते हैं। जब प्रभु उनको प्रेरित करता है तब वे उसकी प्रेरणा के वेग से आगे बढ़ते हैं, जो मुक्त हो रहे वा हो चुके से हैं वे सर्वथा निर्बन्ध होकर फिर इस जगत्-जाल में सुख नहीं पाते, वे इसमें नहीं रमते।

सध्रीचीः सिन्धुमुशतीरिवायन्त्सनाज्जार आरितः पूर्भिदासाम्।
अस्तमा ते पार्थिवा वसून्यस्मे जग्मुः सूनृता इन्द्र पूर्वीः॥१०॥११॥

भा०—(सध्रीचीः सिन्धून्) एक साथ मिल कर प्रवाहित होने वाली जलधाराएं जिस प्रकार समुद्र या महाप्रवाह को प्राप्त हो जाती हैं और जिस प्रकार (उशतीः इव) कामना वाली स्त्रियें (सिन्धुम्) प्रेम सम्बन्ध से, बांधने वाले को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार ये समस्त जीवगण एक साथ ही (सिन्धुम्) सबको प्रेम-भक्ति से बांधने वाले, समुद्रवत् परम आश्रय प्रभु को प्राप्त होती हैं, क्योंकि वही (पूर्भित्) इस देहपुरी के बंधन को भेदन करने वाला, (आसाम्) इनका (आरितः) प्राप्य स्वामी और (जारः) सत्योपदेष्टा, और बंधन शिथिल करने वाला प्रेमी है। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! प्रभो! इस प्रकार (ते) तेरे दिये (पार्थिवा वसूनि) पृथिवी या प्रकृति के बने नाना ऐश्वर्य (अस्मे) हमारे (अस्तं जग्मुः) अस्त हों, नष्ट हों और (ते) तेरी (पूर्वीः) अनादि काल से विद्यमान (सूनृताः) उत्तम ज्ञान, तेज, और परम सुखमय सत्य वाणियां तथा विभूतियां (अस्मे जग्मुः) हमें प्राप्त हों। एत्येकादशो वर्गः॥

[११२]

ऋषिर्नभः प्रभेदनो वैरूपः॥ इन्द्रो देवता॥ छन्दः—१, ३, ७, ८ विराट् त्रिष्टुप्। २, ४—६, ९, १० निचृत्त्रिष्टुप्॥ दशर्चं सूक्तम्॥

इन्द्र पिब प्रतिकामं सुतस्य प्रातः सावस्तव हि पूर्वपीतिः ।
हर्षस्व हन्तवे शूर शत्रूनुक्थेभिष्टे वीर्या३ प्र ब्रवाम ॥ १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! शत्रुनाशन ! हे तेजस्विन् ! प्रभो ! आत्मन् ! तू (सुतस्य) उत्पन्न हुए ऐश्वर्य रस को (प्रति-कामम्) अपनी अभिलाषानुसार (पिब) पान कर, उसका उपभोग कर (हि) क्योंकि (तव) तेरा (प्रातः सावः) प्रातःकाल सब से पूर्व सवन है। तेरा ही (पूर्वपीतिः) सबसे पूर्व पान करना उचित है। अथवा तू (सुतस्य प्रतिकामं पिब) प्राप्त जगत् वा राष्ट्र-जन को उत्पन्न यथेष्ट, वा कामना वा सत्संकल्प से पालन कर, तेरी ही सबसे पूर्व उपासना और तेरा ही सबसे पूर्व, मुख्य पालन है। हम (उक्थेभिः) उत्तम वेदवचनों से (ते वीर्या प्र ब्रवाम) तेरे वीर्यों का प्रवचन करते हैं, वा हम वेदमन्त्रों द्वारा तुझे (वीर्या) वीरोचित कर्मों का (प्र ब्रवाम) प्रवचन वा उपदेश करते हैं। हे (शूर) शूरवीर ! तू (शत्रून् हन्तवे) शत्रुओं के नाश करने के लिये (हर्षस्व) हर्षित हो, पुलकित और उत्साहित हो। प्रातः काल मन्त्रों का उत्तम रीति से पाठ वा उच्चारण करने से आत्मा उत्साहित होकर मानसिक दुर्भाव रूप शत्रुओं का नाश करता है।

यस्ते रथो मनसो जवीयानेन्द्र तेन सोमपेयाय याहि ।
तूयमा ते हरयः प्र द्रवन्तु येभिर्यासि वृषभिर्मन्दमानः॥२॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! आत्मन् ! राजन् ! प्रभो ! (यः) जो (ते) तेरा (रथः) रमण करने योग्य, रथ वा रम्य रूप मन से भी अधिक वेगवान् मन की गति से भी परे है (तेन) उससे तू (तूयम्) शीघ्र ही, (सोम-पेयाय) 'सोम' अर्थात् उत्पन्न होने वाले इस जीव-जगत् की पालना करने और अपने में लेलेने के लिये (आ याहि) प्राप्त कर। (ते) तेरे (हरयः) ये समस्त मनुष्य, राजा के आज्ञाकारी अश्वों के तुल्य (आ प्र द्रवन्तु) आगे वेग से बढ़ें। (येभिः) जिन (वृषभिः)

बलवान्, सुखप्रद जनों से (मन्दमानः) अति प्रसन्न वा स्तुतियुक्त होता हुआ (प्र यासि) उत्तम रीति से प्राप्त होता है। विद्वानों से प्रस्तुत प्रभु सबको प्राप्त होता है। (२) आत्मपक्ष में—आत्मा का रथ, देह मन के बल से वेगवान् है। वह उस रथ से, सोमपान, कर्मफल वा अन्न-पान करता है, उसके हरि, इन्द्रियां स्वस्थ रह कर प्रवृत्त हों, उन बलवानों से सुप्रसन्न होकर जीवन-यात्रा करे।

हरित्वता वर्चसा सूर्यस्य श्रेष्ठै रूपैस्तन्वं स्पर्शयस्व।
अस्माभिरिन्द्र सखिभिर्हुवानः सध्रीचीनो मादयस्वा निषद्य ॥ ३ ॥

भा०—(सूर्यस्य) सूर्य (हरित्वता वर्चसा) समस्त दिशाओं में व्याप्त तेज से और (श्रेष्ठैः रूपैः) उत्तमोत्तम रूपों से (तन्वम् स्पर्शयस्व) देह को स्पर्श कर। (अस्माभिः सखिभिः) हम मित्रों से (हुवानः) बुलाया जाता हुआ, हे (इन्द्र) आत्मन्! प्रभो! (सध्रीचीनः) हमारे सदा साथ विद्यमान रह कर (नि सद्य) विराज कर हमारे हृदयों में आकर (मादयस्व) स्वयं भी प्रसन्न हो और हमें भी प्रसन्न कर। देह में आत्मा जगत् में सूर्यवत् तेज से व्याप्त होकर नाना उत्तम रूपों, रुचिकारक भोग्यों, वा साधनों से देह को ग्रहण करता है। (२) प्रभु भी हमें नाना रूपों से हमारे देह को सुखी करे या नाना उत्तम रूपों से हमें देह प्रदान करे।

यस्य त्यत्ते महिमानं मदेष्विमे मही रोदसी नाविविक्ताम्।
तदोक आ हरिभिरिन्द्र युक्तैः प्रियेभिर्याहि प्रियमन्नमच्छ ॥ ४ ॥

भा०—(यस्य) जिस (ते) तेरे (मदेषु) हर्षों में, आनन्द-रसों में मग्न, (मही रोदसी) ये बड़े आकाश और भूमि, दोनों वा प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों (त्यत् महिमानं न अविविक्ताम्) तेरे उस महान् सामर्थ्य को पृथक् २ विवेक नहीं कर सकते। हे (इन्द्र) आत्मन्! वह

तू परम आश्रय है। तू (प्रियेभिः) प्यारे (युक्तैः) युक्त, योगाभ्यासी (हरिभिः) साधक पुरुषों से (प्रियम्) प्रिय, प्रीतिकारक (अन्नम् अच्छ) भोग्य परम सुख रूप अन्न को (आ याहि) प्राप्त कर, करा।

यस्य शश्वत्पपिवाँ इन्द्र शत्रूननानुकृत्या रण्या चकर्थ।
स ते पुरंधिं तविषीमियर्ति स ते मदाय सुत इन्द्र सोमः॥५॥१२॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! हे तेजस्विन्! हे शत्रुहन्तः! अन्नादि के देने हारे, हे मेघादि के विदारण करने वाले सूर्य के तुल्य! (यस्य पपिवान्) जिसका पान व पालन करके, तू (अननुकृत्या) न अनुकरण करने योग्य (रण्या) रण-क्रिया वा युद्धोपयोगी साधनों से (शत्रून् चकर्थ) शत्रुओं का नाश करता, वा (शत्रून्) शत्रुओं को लक्ष्य करके (अननुकृत्या रण्या चकर्थ) दूसरों से अनुकरण न करने योग्य, दुष्कर नाना रणकर्म करता है, वा (अननुकृत्या रण्या चकर्थ) न नाश करने या हर्षध्वनि से प्रकट करने योग्य अनेक कार्यों को सम्पन्न करता है (सः सोमः) वह सोम, ऐश्वर्य, (ते मदाय सुतः) तेरे हर्ष के लिये उत्पन्न है, वह (ते) तेरी (पुरन्धिम् तविषीम्) महान् विश्व को पुर के समान धारण करने वाली बड़ी भारी शक्ति को (इयर्त्ति) बतलाता है। इस देह में सोम अन्न वा वीर्य जिस प्रकार आत्मा की देहधारिणी शक्ति को प्रकट करता है उसी प्रकार सोम जगत् की उत्पादक और प्रेरक शक्ति को बतलाता और संचालित करता है। इति द्वादशो वर्गः॥

इदं ते पात्रं सनवित्तमिन्द्र पिबा सोममेना शतक्रतो।
पूर्ण आहावो मदिरस्य मध्वो यं विश्व इदभिहर्यन्ति देवाः॥६॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! आत्मन्! हे (शत-क्रतो) अनेक, अपरमित ज्ञानों और सामर्थ्यों के स्वामिन्! (इदं सन-वित्तम् पात्रम्) यह तेरा अनादि काल से प्राप्त पात्र है, यह तेरा तप द्वारा उपार्जित

पालन सामर्थ्य है, यह तेरा अनादि ज्ञान वेद द्वारा, विज्ञात पालनीय तत्त्व वा रूप है। (एना) इससे (सोमम् पिब) सोम रूप आनन्द रस का पान कर। यह (मदिरस्य मध्वः) अति हर्षदायक मधुर अन्न वा जल के तुल्य सुखप्रद अमृत का (आहावः) भरा कटोरा है (यम्) जिसको (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् देवगण, सूर्यादि लोक और देह में इन्द्रियगण (इत्) भी (अभि हर्यन्ति) सदा चाहते हैं।

वि हि त्वामिन्द्र पुरुधा जनासो हितप्रयसो वृषभ ह्वयन्ते।
अस्माकं ते मधुमत्तमानीमा भुवन्त्सवना तेषु हर्य ॥ ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! तेजोमय! हे (वृषभ) आनन्द सुखों का मेघवत् वर्षण करने वाले! (हित-प्रयसः जनासः) जिस प्रकार क्षेत्र में अन्न डाल देने वाले कृषक लोग मेघ की आकांक्षा करते और उसी के लिये पुकारते हैं उसी प्रकार (हित-प्रयसः जनासः) यज्ञ में हविष् रखने वाले भक्त जन वा (हित-प्रयसः) तुझे प्रसन्न करने वाले वचनों का उच्चरण करने हारे (जनासः) भक्त जन (त्वाम् हि पुरुधा ह्वयन्ते) तेरी ही अनेक प्रकारों से स्तुति करते हैं, तुझे ही पुकारते हैं। (ते) तेरे लिये ही (अस्माकम्) हमारे (इमा) ये (मधुमत्-तमानि सवना) मधुर वचनों और अन्नों से युक्त यज्ञादि उपासनाएं हैं (तेषु हर्य) उनमें तू प्रसन्न हो, उनको चाह, स्वीकार कर।

प्र तं इन्द्र पूर्व्याणि प्र नूनं वीर्या वोचं प्रथमा कृतानि।
सतीनमन्युरश्रथायो अद्रिं सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम् ॥ ८ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! हे वाणी, ऐश्वर्य, जल, अन्न आदि के गुरु, स्वामी, मेघ, भूमि, सूर्य आदि के तुल्य देने हारे प्रभो! स्वामिन्! आत्मन्! (ते) तेरे (पूर्व्याणि) पूर्व विद्वानों से उपदिष्ट, दृष्ट वा सर्वश्रेष्ठ, पूर्ण शक्ति से युक्त, सबको पालन पूरण करने वाले (वीर्याणि)

अनेक वीर्यों, बलों तथा विशेष रूप से प्रवचन योग्य, ज्ञानोपदेशों को और (प्रथमा कृतानि) सबसे पूर्व, सर्वोत्तम रूप से किये कर्मों को (तूयम्) अवश्य ही मैं (प्र वोचम्) अच्छी प्रकार कहूं, अन्यों को उनका उपदेश करूं। (सतीन-मन्युः) जल प्रदान करने की शक्ति से युक्त वा जल को रश्मियों में थाम लेने वाला सूर्य जिस प्रकार (अद्रिम्) मेघ को (अश्रथयः) खण्डित, छिन्न भिन्न करता है, और वह (गाम् ब्रह्मणे सुवेदनाम् अकृणोत्) भूमि को अन्न को उत्तम रीति से प्राप्त करने वाली बनाता है उसी प्रकार हे प्रभो ! तू (सतीन-मन्युः) जलवत् स्वच्छ शान्तिप्रद, तृप्तिदायक, ज्ञान से सम्पन्न होकर (अद्रिम्) अभेद्य अज्ञान को (अश्रथयः) ढीला कर। और (ब्रह्मणे) वेद की (सु-वेदनाम्) उत्तम ज्ञानप्रद वाणी का (अकृणोः) गुरुवत् उपदेश कर।

नि षु सींद गणपते गुणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत्क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥ ९ ॥

भा०—हे (गणपते) समस्त गणों, जनों, वर्गों के, इन्द्रियादिगणों के पालक स्वामिन् ! तू (गणेषु नि सु सीद) गणों के बीच में विराज। (त्वाम्) तुझको (कवीनां) क्रान्तदर्शी विद्वानों के बीच (विप्र-तमं आहुः) सर्वश्रेष्ठ विद्वान् कर्मकृत्, कुशल बतलाते हैं। (त्वाम् ऋते) तेरे बिना (आरे) क्या समीप क्या दूर (न किंचन क्रियते) कुछ भी नहीं किया जाता है। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! तू (महाम्) महान्, पूज्य (अर्कम्) अर्चना योग्य, स्तुत्य (चित्रम्) आश्चर्यजनक, ज्ञानप्रद वेदमय ज्ञान राशि को (अर्च) प्रदान कर।

अभिख्या नो मघवन्नाधमानान्त्सखे बोधि वसुपते सखीनाम्।
रणं कृधि रणकृत्सत्यशुष्माभक्ते चिदा भजा राये अस्मान् ॥
॥ १० ॥ १३ ॥ ९ ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! प्रभो ! हे (सखे) परम मित्र ! (नः नाधमानान्) हम याचना, पश्चात्ताप और ऐश्वर्य की कामना करने वालों को (अभि-ख्या) कृपा दृष्टि से देख, उत्तम उपदेश कर। हे (वसु-पते) ऐश्वर्यों और समस्त जीवों और लोकों के स्वामिन् ! तू हम (सखीनाम्) अपने मित्रों, स्नेही जनों को (बोधि) जान, और ज्ञानवान् कर। हे (सत्य-शुष्म) सत्य के बल वाले ! तू (रण-कृत्) रणकारी वीर के तुल्य उत्तम उपदेश करने हारा होकर (रणं कृधि) युद्धवत् ही उत्तम उपदेश भी कर। (अभक्ते चित्) असंविभक्त धन के रहते हुए भी (अस्मान्) हम को (राये) ऐश्वर्य प्रदान करने के लिये (आ भज) भागी कर। न्यायपूर्वक हमारा भाग हमें प्रदान कर। इति त्रयोदशो वर्गः ॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

[११३]

ऋषिः शतप्रभदनो वैरूपः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ५ जगती। २, ६, ६ विराड् जगती। ३ निचृज्जगती। ४ पादनिचृज्जगती। ७, ८ आर्चीस्वराड् जगती। १० पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ दशर्चं सूक्तम् ॥

तमस्य द्यावापृथिवी सचेतसा विश्वेभिर्देवैरनु शुष्ममावताम्।
यदैत्कृण्वानो महिमानमिन्द्रियं पीत्वी सोमस्य क्रतुमाँ अवर्धत १

भा०—(यत्) सूर्य जिस प्रकार (क्रतुमान्) कर्म सामर्थ्य से सम्पन्न होकर (सोमस्य पीत्वी) सोम का पान कर, (महिमानं इन्द्रियं कृण्वानः) बड़े भारी ऐश्वर्य को उत्पन्न करता हुआ, (ऐत्) प्राप्त होता है और (अस्य शुष्मम्) इसके सर्वशोषक तेज को (द्यावा पृथिवी अनु आवताम्) आकाश और भूमि दोनों प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार (क्रतुमान्) कर्म सामर्थ्यवान् पुरुष (सोमस्य पीत्वी) ऐश्वर्य वा प्रजागण का पालन करके, (महिमानं इन्द्रियं कृण्वानः) महान् इन्द्रोचित ऐश्वर्य

को प्रकट करता हुआ (यत् ऐत) जब प्राप्त होता है तब (स-चेतसा) समान चित्त वाले, (द्यावा पृथिवी) शास्य और शासक वर्ग (विश्वेभिः देवैः) समस्त विद्वानों सहित (अस्य शुष्मम् अनु) इसके बल के पीछे (अनु आवताम्) अनुगमन करते हैं।

तम॑स्य॒ विष्णु॑र्महि॒मान॒मोज॑सां॒शुं द॑ध॒न्वान्मधु॑नो॒ वि र॑प्शते ।
दे॒वेभि॒रिन्द्रो॑ म॒घवा॑ स॒याव॑भिर्वृ॒त्रं ज॑घ॒न्वाँ अ॑भव॒द्वरे॑ण्यः ॥ २ ॥

भा०—(अस्य ओज़सा) इसके ही प्रताप से (विष्णुः) व्यापक वायु (मधुनः अंशुं दधन्वान्) जल के अंश को धारण करता हुआ और इसी बल से (विष्णुः) पृथिवी (मधुनः अंशुं दधन्वान्) अन्न के व्यापक अंश को धारण करती हुई, (अस्य महिमानं विरप्शते) इस सूर्य की महिमा को बतलाती है, और (इन्द्रः) तेजस्वी (मघवा) ऐश्वर्य, समृद्धि का स्वामी सूर्य (स-यावभिः देवेभिः) एक साथ जाने वाले किरणों से (वृत्रं जघन्वान्) मेघ का नाश करता हुआ (वरेण्यः अभवत्) सबसे चाहने योग्य हो जाता है,। (२) इसी प्रकार (अस्य ओजसा) इस राजा के बल पराक्रम से (मधुनः अंशुं दधन्वान्) ज्ञान, बल, सामर्थ्य और अन्न का व्यापक सामर्थ्य धारण करता हुआ (विष्णुः) प्रजाजन (अस्य महिमानं विरप्शते) इसके महान् सामर्थ्य को बतलाता है। वह (इन्द्रः) शत्रुहन्ता (मघवा) ऐश्वर्यवान् राजा (स-यावभिः देवेभिः) एक साथ चलने वाले विजयाभिलाषी वीरों के सहित (वृत्रं जघन्वान्) बढ़ते शत्रु को नाश करता हुआ (वरेण्यः अभवत्) सर्वश्रेष्ठ होजाता है।

वृ॒त्रेण॒ यदहि॑ना॒ बिभ्र॒दायु॑धा स॒मस्थि॑था यु॒धये॒ शंस॑मा॒विदे॑ ।
विश्वे॑ ते॒ अत्र॑ म॒रुत॑: स॒ह त्मनाव॑र्धन्नुग्र महि॒मान॑मिन्द्रि॒यम् ॥३॥

भा०—(युधये) युद्ध के लिये (आयुधा) नाना युद्ध के साधनों, शस्त्रास्त्रा को (बिभ्रद्) धारण करता हुआ, हे ऐश्वर्यवन्! तू (यत्)

जब (अहिना वृत्रेण) सामने से आने वाले शत्रु के साथ (शंसम् आविदे) अपनी कीर्त्ति को प्राप्त करने के लिये वा अपनी आज्ञा को मनवाने के लिये (सम् अस्थिथाः) संग्राम करता है (अत्र) इस अवसर में (विश्वे मरुतः) समस्त बलवान् मनुष्य (सह) एक साथ (त्मना) आत्म सामर्थ्य से (ते) तेरे (उग्रं महिमानम्) उग्र, महान् सामर्थ्य को और (इन्द्रियं) इन्द्रोचित महान् ऐश्वर्य को (अवर्धन्) बढ़ाते हैं। (२) इसी प्रकार जब सूर्य मेघ को छिन्न-भिन्न करता है तब वायुगण उसके तेज की वृद्धि करते हैं।

जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद्वीरो अभि पौंस्यं रणम्।
अवृश्चदद्रिमव सस्यदः सृजदस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम् ॥४॥

भा०—(जज्ञानः एक-वीरः स्पृधः वि-अबाधत) प्रकट होता हुआ ही वीर्यवान् पुरुष अपने से स्पर्धा करने वालों को विविध प्रकार से पीड़ित करे। और वह (रणम् अभि) युद्ध को लक्ष्य करके अपने (पौंस्यं प्र अपश्यत्) पराक्रम-बल को अच्छी प्रकार देखे। (अद्रिम् अवृश्चत्) जिस प्रकार सूर्य मेघ को छिन्न-भिन्न करता है और (स-स्यदः अव सृजत्) एक साथ बहने वाली जल-धाराओं को नीचे बहा देता है उसी प्रकार वीर पुरुष (अद्रिम्) पर्वत के समान दृढ़ शत्रु को भी (अवृश्चत्) काट गिरावे और (सस्यदः) एक साथ रथों, अश्वों सहित प्रयाण करने वाली प्रजाओं सेनाओं को (अव-सृजत्) अपने अधीन कर ले। और (सु-अपस्या) उत्तम कर्म कौशल से (पृथुम्) विस्तृत (नाकम्) सुखमय राज्य को (अस्त-भ्नात्) अपने वश करे।

आदिन्द्रः सत्रा तविषीरपत्यत वरीयो द्यावापृथिवी अबाधत।
अवाभरद्धृषितो वज्रमायसं शेवं मित्राय वरुणाय दाशुषे ॥५।१४॥

भा०—(आत्) और अनन्तर (इन्द्रः) तेजस्वी, शत्रुहन्ता,

अधीनों को अन्नदाता राजा (सत्रा) एक साथ (तविषीः अपत्यत) अनेक सेनाओं को प्राप्त करे। और (वरीयः) अपने महान् सामर्थ्य से (द्यावापृथिवी अबाधत) आकाश पृथिवी के तुल्य राजसभा और प्रजा वर्ग इन दोनों को अपने वश करे। वह (धृषितः) शत्रुओं को धर्षण करने हारा (आयसम् वज्रम्) लोहे के बने तलवार आदि, शस्त्र-बल को वा (आ-यसम्) सब ओर विजयकारी बल को (अव अभरत्) धारण करे और (दाशुषे) कर आदि देने वाले (मित्राय वरुणाय) स्नेही मित्रवर्ग और श्रेष्ठ जनों को भी (शेवम् अव अभरत्) सुख प्रदान करे। इति चतुर्दशो वर्गः ॥

इन्द्रस्यात्र तविषीभ्यो विरप्शिन ऋघायतो अरंहयन्त मन्यवे।
वृत्रं यदुग्रो व्यवृश्चदोजसापो बिभ्रतं तमसा परीवृतम् ॥ ६ ॥

भा०—(यत्) जब वह (उग्रः) बलवान्, शस्त्रादि को उठाने वाला, भयंकर होकर (अपः बिभ्रतम्) जलों को धारण करने वाले मेघवत् आप्त प्रजाओं के धारण करने वाले और (तमसा परिवृतम्) अन्धकार से घिरे (वृत्रम्) विघ्नकारी शत्रु को (वि अवृश्चत्) विशेष रूप से काट गिराता है (अत्र) इस अवसर में (तविषीभ्यः) शक्तियों के (इन्द्रस्य) स्वामी, (विरप्शिनः) महान् (ऋघायतः) शत्रुनाशक राजा के कारण प्रतिपक्षी जन (अरंहयन्त) वेग से भाग जाते हैं।

या वीर्याणि प्रथमानि कर्त्वा महित्वेभिर्यतमानौ समीयतुः।
ध्वान्तं तमोऽव दध्वसे हत इन्द्रो मह्ना पूर्वहूतावपत्यत ॥ ७ ॥

भा०—(महित्वेभिः) अपने बड़े २ बलों से (यतमानौ) यत्न करते हुए युद्धार्थी दोनों पक्ष (सम् ईयतुः) परस्पर एक साथ आते हैं और (या) जिन (कर्त्वा) करने योग्य (प्रथमानि वीर्याणि) श्रेष्ठ २ बल कार्यों को करते हैं तब (हते) बाधक शत्रु के नाश होजाने

पर (ध्वान्तं तमः) अति घोर अन्धकार (अव दध्वसे) नष्ट हो जाता है और (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, तेजस्वी, शत्रुहन्ता-वीर-विजयी (पूर्व-हूतौ) सबसे पूर्व, सर्वश्रेष्ठ आहुति या प्रजा के आह्वान पुकार या आदर-वचन पर ही अपने (मह्ना अपत्यत्) महान् सामर्थ्य से सबका स्वामी हो जाता है।

विश्वे॑ दे॒वासो॑ अध॒ वृष्ण्या॑नि॒ तेऽव॑र्धय॒न्त्सोम॑वत्या वच॒स्यया॑।
र॒द्धं वृ॒त्रम॒हि॒मिन्द्र॑स्य॒ हन्म॑ना॒ग्निर्न जम्भै॑स्तृ॒ष्वन्न॑मावयत् ॥ ८ ॥

भा०—(अध) और (विश्वेदेवासः) समस्त विजयोद्योगी जन (सोम-वत्या) ऐश्वर्य, और शासन अधिकार से युक्त (वचस्यया) वाणी द्वारा (ते वृष्ण्यानि) तेरे बलों को (अवर्धयन्) बढ़ाते हैं। (इन्द्रस्य) शत्रुहन्ता के (हन्मना) हनन साधन से (रद्धम्) ताड़ित (अहिम् वृत्रम्) मेघवत् आवरक शत्रु को (तृषु) शीघ्र ही, ऐसे ही (आ वयत्) खाजाता वा नष्ट कर देता है जिस प्रकार (अग्निः न जम्भैः अन्नम्) अग्नि अपने ज्वालाओं से अन्न को भस्म कर देता है, वा जठराग्नि दांतों से खाये अन्न को शीघ्र पचा लेता है।

भूरि॒ दक्षे॑भिर्वच॒नेभि॒र्ऋक्व॑भिः स॒ख्येभिः॑ स॒ख्यानि॒ प्र वो॑चत।
इन्द्रो॒ धुनिं॑ च॒ चुमु॑रिं च द॒म्भय॑ञ्छ्र॒द्धाम॑न॒स्या शृ॑णुते द॒भीत॑ये॥ ९॥

भा०—हे विद्वान् मनुष्यो ! आप लोग (दक्षेभिः) बल और उत्साह के जनक, (ऋक्वभिः) ऋचाओं सहित, वा अर्चनायुक्त, (सख्येभिः) मित्र के प्रति प्रेम से कहने योग्य (वचनेभिः) वचनों से (भूरि) बहुत (सख्यानि) मित्रता के भावों को (प्र वोचत) वाणी द्वारा प्रकट करो। (इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान्, तेजोमय प्रभु (धुनिम्) कंपाने वाले, त्रासकारी, और (चुमुरिम्) खाजाने वाले, नाशकारी, भीतरी और बाहरी शत्रुओं को भी (दभीतये) विनष्ट कर देने के लिये (श्रद्धा मनस्या) सत्य धारण से युक्त चित्त से (शृणुते) उत्तम मन्त्रमय वचनों को श्रवण करता है।

त्वं पुरूण्या भरा स्वश्व्या येभिर्मंसै निवचनानि शंसन् ।
सुगेभिर्विश्वा दुरिता तरेम विदो षु णं उर्विया गाधमद्य॥१०॥१५॥

भा०—हे प्रभो ! आत्मन् ! तू (पुरूणि) बहुतों से इन्द्रिय रूप (सु अश्व्यानि) उत्तम अश्वों के तुल्य नाना बलों को (आ भर) प्राप्त करा। (येभिः) जिनसे, मैं (नि-वचनानि शंसन्) नित्य वचनों का उच्चारण करता हुआ (मंसै) ज्ञान प्राप्त करूं। और (येभिः) जिन (सुगेभिः) सुखप्रद उपायों से हम (विश्वा दुरिता) समस्त पापों और कष्टों को (तरेम) पार करें। हे प्रभो ! (नः) हमें (उर्विया गाधम्) बड़ा प्रतिष्ठित पद (अद्य सु विदः) आज प्राप्त कराओ। इति पञ्चदशो वर्गः ॥

[११४]

ऋषिः साध्रिवैरूपो घर्मो वा तापसः ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः—१, ५, ७ त्रिष्टुप् । २, ३, ६ भुरिक् त्रिष्टुप् । ८, ९ निचृत् त्रिष्टुप् । १० पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ४ जगती ॥ दशर्चं सूक्तम् ॥

घर्मा समन्ता त्रिवृतं व्यापतुस्तयोर्जुष्टिं मातरिश्वा जगाम ।
दिवस्पयो दिधिषाणा अवेषन्विदुर्देवाः सहसामानमर्कम् ॥ १ ॥

भा०—(घर्मा) परस्पर स्नेह से युक्त और स्वतः प्रकाश, (समन्ता) परस्पर सुसंगत, संमिलित, होकर अग्नि और सूर्यवत् जीव और प्रभु, प्रजा और राजा, स्त्री और पुरुष, शिष्य और गुरु दोनों (त्रि-वृतं) त्रिगुण, प्रकृति तत्त्व वा तीन प्रकार से वर्त्तमान वेद को (वि आ पतुः) विशेष रूप से प्राप्त करें। (मातरिश्वा) वायु के तुल्य ज्ञानवान् गुरु के अधीन प्राप्त होने वाला शिष्यवत् बालक (तयोः) उन दोनों के (जुष्टिं) परस्पर स्नेह को (जगाम) प्राप्त करे। जिस प्रकार (देवाः) प्रकाशयुक्त किरणें (दिवः) आकाश वा भूमि के (पयः) जल को

(दिधिषाणाः) धारण करते हुए (अवेषन्) व्यापते हैं और वे (सह-सामानम्) एक साथ, सर्वत्र, एक समान भाव से उत्पन्न होने वाले (अर्कम्) अन्न को (विदुः) प्राप्त कराते हैं उसी प्रकार (देवाः) विद्वान् वा विद्या के इच्छुक शिष्य (दिवः) तेजस्वी, ज्ञानी गुरु के (पयः) ज्ञान को (दिधिषाणाः) धारण करते हुए (अवेषन्) प्राप्त होते हैं और (सह-सामानम्) सामवेद सहित (अर्कम्) ऋग्वेद के ज्ञान को (विदुः) जान लेवें ।

तिस्रो देष्ट्राय निर्ऋतीरुपासते दीर्घश्रुतो वि हि जानन्ति वह्नयः ।
तासां नि चिक्युः कवयो निदानं परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥ २ ॥

भा०—(दीर्घ-श्रुतः) दीर्घ काल तक वेदों के ज्ञान का श्रवण करने वाले और (वह्नयः) ज्ञान के धारक विद्वान् जन (देष्ट्राय) सर्वसामान्य जनों को उपदेश करने के लिये ही (तिस्रः) तीनों (निः-ऋतीः) निःशेष सत्य ज्ञान से पूर्ण वेदों को (उप आसते) गुरु या प्रभु के समीप रह कर उपासना, द्वारा प्राप्त कर अभ्यास करते हैं। और वे (कवयः) क्रान्तदर्शी जन (तासां) उन वेदवाणियों के (वि जानन्ति हि) विशेष विज्ञान-रहस्य को जान लेते हैं और (याः) जो (परेषु) सर्वोत्कृष्ट (गुह्येषु व्रतेषु) बुद्धि में स्थित ज्ञानमय कर्त्तव्यों का (निदानम्) स्थिर सम्बन्ध है उसको भी (नि चिक्युः) निश्चयपूर्वक जान लेते हैं।

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते ।
तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम् ॥ ३ ॥

भा०—(चतुः-कपर्दा) चार शिखाओं वाली, (युवतिः) तरुण स्त्री के तुल्य सदा शब्दार्थों को मिलाने वाली (सु-पेशाः) उत्तम वर्ण रूप वाली, (घृत-प्रतीका) ज्ञान-ज्योति से चमकते मुख वाली, वाणी वा प्रकृति (वयुनानि) नाना ज्ञानों और कर्मों को (वस्ते) आच्छादित करती

है, (तस्याम्) उसमें (वृषणा) सुखों का वर्षक और बलयुक्त साधक आत्मा दोनों (सु-पर्णा) उत्तम ज्ञानवान् जीव और परमात्मा दोनों (नि-सेदतुः) विराजते हैं। (यत्र) जिस द्वारा, या जिस के आश्रय में रह कर (देवाः) देवगण, जीवगण अपने २ (भाग-धेयम् नि दधिरे) सेव्य अंश को धारण करते हैं। वाणी की ४ शिखा, नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात हैं, प्रकृति के ४ कपर्द या सुखप्रद रूप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। (२) यज्ञ की वेदी भी चौकोन होने से 'चतुष्कपर्दा' है और वह सबको धारती है, उसमें यजमान, यजमानपत्नी, सुपर्णवत् विराजते हैं। देव ऋत्विज् वे इन्द्रिय आदि अपना २ भाग दक्षिणा वा हव्य प्राप्त करते हैं।

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेळिह स उ रेळिह मातरम् ॥ ४ ॥

भा०—(एकः सु-पर्णः) सुख से समस्त जगत् को पूर्ण और पालन करने वाला एक, अद्वितीय है, (सः) वह (समुद्रम्) महान् आकाश को (आ विवेश) प्रवेश किये, हुए है, (सः इदम् विश्वं भुवनम्) वह ही इस समस्त जगत् को (वि-चष्टे) विशेष रूप से देखता वा प्रकाशित करता है। (तं) उसको मैं विद्वान् (पाकेन मनसा) पवित्र, उत्तम चित्त वा ज्ञान से (अन्तितः) समीप से (अपश्यम्) देखूं। (तम्) उसको (माता) ज्ञानवान् पुरुष ही (रेढि) प्राप्त करता, उसका आस्वादन करता है और (सः) वह प्रभु (मातरम्) उस ज्ञानी पुरुष को (उ) भी (रेढि) अपने भीतर ले लेता है।

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश ॥५॥१६॥

भा०—(कवयः) क्रान्तदर्शी, बुद्धिमान् (विप्राः) विद्वान् लोग,

(एकं) एक अद्वितीय, (सुपर्णं) उत्तम पालन-पूरण करने वाले प्रभु को ही (बहुधा) बहुत से प्रकारों से (कल्पयन्ति) वर्णन करते हैं। (अध्वरेषु) यज्ञों में (छन्दांसि च दधतः) गायत्री आदि नाना छन्दों को, वा नाना अभिलाषाओं को, वा अथर्ववेद को धारण करते हुए (सोमस्य) सर्वजगत् के प्रेरक प्रभु के ही (द्वादश ग्रहान्) १२ (बारह) स्वरूपों को (मिमते) बना लेते हैं। तत्प्रतिनिधि रूप से सोम के १२ पात्रों की कल्पना करते हैं। इति षोडशो वर्गः॥

षट्त्रिंशांश्च चतुरः कल्पयन्तश्छन्दांसि च दधत आद्वादशम्।
यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्तयन्ति ॥६॥

भा०—पहले (षट् त्रिंशान्) ३६ [छत्तीस] और (चतुरः) चार, कुल चालिस (ग्रहान्) रूपों की (कल्पयन्तः) कल्पना करते हुए, और (आद्वादशं छन्दांसि च दधतः) १२ संख्या तक छन्दों को धारण करते हुए, (कवयः) क्रान्तदर्शी, बुद्धिमान् जन (मनीषा) बुद्धि से (ऋक्-सामाभ्याम्) ऋग्वेद और सामवेद से (यज्ञम् वि-माय) यज्ञ का विशेष ज्ञानपूर्वक निर्माण करके (रथम्) रमणीय, सर्वप्रिय यज्ञ को (प्र वर्त्तयन्ति) करते हैं।

उपांशुयाम २, ऐन्द्रवायव आदि दो २ के तीन, शुक्रामन्थी २, आग्रायण १, उक्थ १, ध्रुव १, ऋतुग्रह, १२ ऐन्द्राग्न १, वैश्वदेव १, मरुत्वतीय ३, माहेन्द्र १ आदित्य १, सावित्र १, वैश्वदेव १, पात्नीवत १, हारियोजन १, योग ३६ ग्रह। और अत्यग्निष्टोम में उक्त ३६ और अंशु, अदाभ्य, दधिग्रह और षोडशी ये चार ग्रह मिलाकर ४० ग्रह हो जाते हैं। ये सब यज्ञ में प्रजापति के ही नाना सामर्थ्यों को दर्शाने वाले रूप हैं।

चतुर्दशान्ये महिमानो अस्य तं धीरा वाचा प्रणयन्ति सप्त।
आप्नानं तीर्थं क इह प्र वोचद्येन पथा प्रपिबन्ते सुतस्य ॥ ७॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर के (अन्ये) और भी (चतुर्दश) चौदह (महिमानः) महान् कर्म-सामर्थ्य हैं । (तं) उस यज्ञ को (सप्त) सात (धीराः) बुद्धिमान् पुरुष (वाचा) वाणी द्वारा (प्र नयन्ति) सम्पादन करते हैं । उस (आप्तानं तीर्थं) व्यापक, तारने वाले मोक्ष मार्ग का (इह) इस लोक में (कः प्रवोचत्) कौन उपदेश कर सकता है ? (येन) जिस (पथा) गन्तव्य मार्ग से विद्वान् जन (सुतस्य) निष्पादित आनन्द रस का पान करते हैं । (२) सोमयाग में चात्वाल और उत्कर के बीच के मार्ग को 'तीर्थ' कहते हैं उस मार्ग से जाकर यज्ञ में सोमरस का पान करते हैं ।

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥८॥

भा०—(उक्था) उक्थ, नाना प्रवचन योग्य प्रजापति के रूप (सहस्र-धा) सहस्रों में (पञ्च-दश) पन्द्रह प्रकार के हैं । (यावत् द्यावा पृथिवी) आकाश और पृथिवी जितने हैं (तावत् इत् तत्) उतना ही उसे समझो । क्योंकि उसकी (महिमानः) महिमाएं, महान् सामर्थ्य (सहस्र-धा) हज़ारों प्रकार के हैं (यावद् ब्रह्म वि-स्थितम्) ब्रह्म जितना विविध रूप से विद्यमान है (तावती वाक्) वाणी भी वर्णन करने वाली उतनी ही प्रकार की हो जाती है ।

कश्छन्दसां योगमा वेद धीरः को धिष्ण्यां प्रति वाचं पपाद ।
कमृत्विजामष्टमं शूरमाहुर्हरी इन्द्रस्य नि चिकाय कः स्वित् ॥९॥

भा०—(कः धीरः) कौन बुद्धिमान् है जो (छन्दसां योगम् वेद-मन्त्रों के योग, योजनाओं को (आ वेद) सब प्रकार से ठीक २ प्रकार से जानता है ? और (कः) कौन विद्वान् (धिष्ण्याम्) धारण करने योग्य अंगों के अनुरूप (वाचं) वाणी को (प्रति पपाद) वर्णन कर सकता है (ऋत्विजाम्) ऋत्विजों के बीच (अष्टमम्)

आठवें (कम्) किस (शूरम्) बलवान् को (आहुः) बतलाते हैं ? और (कः स्वित्) कौन विद्वान् है जो (इन्द्रस्य हरी नि चिकाय) इन्द्र के दो अश्वों के तुल्य बड़े बलों को नियत रूप से जानता है । वह सब परमात्मा ही है । जो वेद मन्त्रों का ठीक २ योग जानता, अंग-प्रत्यंग विषयक वाणी का प्रतिपादन करता, सर्वैश्वर्यवान् प्रभु के दो रूपों को जानता, और सातों पर आठवां व्यापक बलशाली है । अध्यात्म में—सात प्राणों में व्यापक आत्मा है। यज्ञ में सात होता आदि के स्थान 'धिष्ण्य' हैं । देह में सात प्राण, विश्व में सात विकृतियें, उनमें व्यापक प्रभु आठवां है । सूर्य के ताप और प्रकाशवत् दो अश्वों के तुल्य प्रभु के सर्गकारक और संहारक अथवा ज्ञान और क्रियाशक्ति ये दो बल हैं ।

भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः ।
श्रमस्य दायं वि भजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः १०।१७

भा०—(यदा) जब (यमः) नियन्ता वा बलप्रद आत्मा राजा के तुल्य (हर्म्ये) गृहवत् देह में (स्थितः) विद्यमान, स्थिर होता है तब (एके) एक. कुछ प्राणगण (रथस्य धुर्षु युक्तासः) रथ के धुरों में जुते हुए अश्वों के तुल्य ही, (भूम्याः) भूमि अर्थात् देह के (अन्तं परि) भोग्य अंशों का भोग करते, देह के नाना स्थानों में (चरन्ति) विचरते हैं । (एभ्यः) इनको ही (श्रमस्य) श्रम करने वाले मुख्य आत्मा के ज्ञानादि के (दायम्) धन के तुल्य उसके बल, सामर्थ्य का विभाग करते हैं । अर्थात् चक्षु आदि समस्त इन्द्रियगण उसी आत्मा के दर्शन आदि सामर्थ्यों को प्राप्त करते हैं । इति सप्तदशो वर्गः ॥

[११५]

ऋषिरुपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः ॥ अग्निर्देवता ॥ छन्दः—१, २, ४, ७ विराड् जगती । ३ जगती । ५ आर्चीभुरिग् जगती । ६ निचृज्जगती । ८ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ९ पादनिचृच्छक्करी ॥ नवर्चं सूक्तम् ॥

चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो मातरावप्येति धातवे ।
अनूधा यदि जीजनदधा च नु ववक्ष सद्यो महि दूत्यं चरन् ॥१॥

भा०—(शिशोः) सर्वशासक, सर्वव्यापक (तरुणस्य) शक्तिमान्, सर्वदुःखों के तारक उस प्रभु का (वक्षणः) जगत् को धारण करने का सामर्थ्य (चित्रः इत्) अद्भुत, आश्चर्यकारक है (यः) जो (मातरौ) जगत् सर्ग को उत्पन्न करने वाले आकाश और भूमि दोनों का (धातवे) रस पान करने के लिये (न अप्येति) नहीं आता । और (यदि) जो (अनूधाः) स्वयं स्तनादि से रहित पुरुषवत् होकर भी (मातरौ जीजनत्) आकाश और भूमि दोनों को उत्पन्न करता है (अध च नु ववक्ष) वही दोनों को धारण करता है, (सद्यः महि दूत्यं चरन्) सदा बड़ा भारी ज्ञान, अन्न, धन, जीवन आदि प्रदान करता रहता है ।

अग्निर्ह नाम धायि दन्नपस्तमः सं यो वना युवते भस्मना दता ।
अभिप्रमुरा जुह्वा स्वध्वर इनो न प्रोथमानो यवसे वृषा ॥ २ ॥

भा०—वह (दन्) दानशील, (अपः-स्तमः) सर्वश्रेष्ठ कर्म करने वाला, (अग्निः ह नाम धायि) अग्नि, ज्ञानवान्, स्वप्रकाश रूप से धारण किया जाता है । (यः) जो (भस्मना दता) प्रकाशमय दन्त वा ज्वाला से (वना) काष्ठों को अग्नि के तुल्य ही (वना) नाना तेजों और ऐश्वर्यों को, और जलों को सूर्यवत् (सं युवते) अच्छी प्रकार से ग्रहण करता है। और (अभि-प्र-मुरा जुह्वा) सबसे उन्नत ग्रहणकारिणी शक्ति से वह (सु-अध्वरः) उत्तम अहिंसक, वा अविनाशी (इनः न) स्वामी के समान सर्वोपरि प्रभु (प्रोथमानः) सर्वत्र व्यापक होता हुआ (यवसे वृषा) अन्न देने के लिये मेघवत् सर्वत्र वर्षा करने हारा है ।

तं वो विं न द्रुषदं देवमन्धस इन्दुं प्रोथन्तं प्रवपन्तमर्णवम् ।
आसा वह्निं न शोचिषा विरप्शिनं महिव्रतं न सरजन्तमध्वनः ॥३॥

भा०—हे विद्वान् जनो ! (वः) आप लोग (द्रु-सदं विं न) वृक्ष पर विराजते पक्षी के तुल्य, 'द्रु-सद्' द्रुतगति से जाने वाले सूर्य आदि समस्त जगत् के अधिष्ठाता, (विं) व्यापक, (अन्धसः) जीवनप्रद कर्मफल के (देवम्) दाता, (इन्दुम्) सर्वप्रकाशक, सर्वैश्वर्यवान्, (प्रोथन्तम्) सर्वत्र व्यापक, (प्र-वपन्तम्) सब लोकों में अन्न, जीवादि का बीज वपन करने वाले, (अर्णवम्) समुद्र के समान (आसा) सर्वजगत् को प्रेरणा करने वाले महान् सामर्थ्य से (वह्निम्) जगत् को उठाने हारे (वि-रप्शिनम्) महान्, (महिव्रतम्) बड़े २ कर्म करने वाले और (शोचिषा) तेज से (अध्वनः सरजन्तम्) अनेकों मार्गों को रंजित या प्रकाशित करते हुए प्रभु की स्तुति करो।

वि यस्य॑ ते ज्रयसा॒नस्या॑जर॒ धक्षो॒र्न वाता॒ः परि॒ सन्त्यच्यु॑ताः ।
आ र॒ण्वासो॒ युयु॑धयो॒ न स॑त्व॒नं त्रि॒तं न॑शन्त॒ प्र शि॒षन्त॑ इ॒ष्टये॑ ४

भा०—हे (अजर) अविनाशिन् ! (ज्रयसानस्य) व्यापक (यस्य) जिस (ते) तेरे (धक्षोः) भस्म करने वाले अग्नि के तुल्य सर्व-पाप-नाशक (वाताः न) वायुओं के समान समस्त बलशाली (अच्युताः) अविनाशी पदार्थ (परि सन्ति) चारों ओर तुझ पर आश्रित हैं, (युयुधयः न सत्वनम्)। योद्धा लोग जिस प्रकार बलवान् नायक को (इष्टये) संगति प्राप्त कराने के लिये (नशन्त) प्राप्त होते हैं उसी प्रकार (रण्वासः) स्तुतिशील भक्त जन (युयुधयः) बाधक कारणों से युद्ध करते हुए (सत्वनम्) अति बलशाली सत् जगत् के स्वामी (त्रितम्) तीनों लोकों में व्यापक तुझको (इष्टये) उपासना, प्राप्ति, संगति के लिये (शिषन्तः) स्तुति, प्रार्थना करते हुए, तुझे चाहते हुए (आ नशन्त) सब प्रकार से प्राप्त होते और (प्र नशन्त) अच्छी प्रकार से तुझे प्राप्त करते हैं।

स इद॒ग्निः कण्व॑तमः॒ कण्व॑सखा॒र्यः प॒रस्या॒न्त॑रस्य॒ तरु॑षः ।
अ॒ग्निः पा॑तु गृ॒ण॒तो अ॒ग्निः सू॒रीन॒ग्निर्द॑दातु॒ तेषा॒मवो॑ नः ॥५॥१८॥

भा०—(सः इत्) वह ही (अग्निः) ज्ञान-प्रकाशक, स्वप्रकाश प्रभु (कण्वतमः) सबसे अधिक बुद्धिमान्, (कण्व-सखा) विद्वान् स्तुतिकर्त्ता जनों का परम मित्र, (परस्य अन्तरस्य तरुषः) दूर और समीप सबका तारने वाला है । वही (अग्निः) ज्ञानी (गृणतः) स्तुति करने वालों की (पातु) रक्षा करे । (अग्निः सूरीन् पातु) वही सर्वनेता, विद्वानों की रक्षा करे, और वही (अग्निः) ज्ञानवान् प्रभु ही (तेषाम् अवः नः ददातु) उन हमको ज्ञान, रक्षा आदि प्रदान करे ।

वाजिन्तमाय सह्यसे सुपित्र्य तृषु च्यवानो अनु जातवेदसे ।
अनुद्रे चिद्यो धृषता वरं सते महिन्तमाय धन्वनेदविष्यते ॥६॥

भा०—हे (सुपित्र्य) उत्तम पिता के पुत्रवत् जीव ! (यः) जो (अनुद्रे चित्) जल से रहित मरुस्थल में भी (धृषता) अपने बड़े अप्रतिम बल से मेघ के समान (वरं) जल के तुल्य श्रेष्ठ सुख प्रदान करता है, उस (वाजिन्-तमाय) सबसे अधिक बलैश्वर्यवान् (सह्यसे) सर्वसहन करने वाले, सर्वोपरि बलशाली, (जातवेदसे) सब उत्पन्न पदार्थों के ज्ञाता, (महिन्तमाय) सबसे महान् (सते) सत्स्वरूप (धन्वना धृषता) शत्रु-पराजयकारी धनुष से (अविष्यता) रक्षा करने वाले राजा के तुल्य (धन्वना) मेघवत् जल से वा अन्तः प्रेरणा से सबको (अविष्यते) रक्षा करने वा प्रेम करने वाले उसको तू (तृषु) शीघ्र ही, (अनु च्यवानः) प्राप्त करता हुआ, सुखी हो ।

एवाग्निर्मर्तैः सह सूरिभिर्वसुः ष्टवे सहसः सूनरो नृभिः । मित्रासो न ये सुधिता ऋतायवो द्यावो न द्युम्नैरभि सन्ति मानुषान् ॥७॥

भा०—(मित्रासः न) मित्रों के समान (ये) जो (सुधिताः) उत्तम रीति से धारित, वा उत्तम पदों पर स्थित, वा उत्तम पदों पर बद्ध, नियत होकर (ऋतयवः) सत्य धर्म का पालन करने वाले, (द्यावः न)

सूर्य की किरणों या प्रकाशों के समान सत्य का प्रकाश करने वाले होकर (द्युम्नैः) धनों और तेजों से (मनुषान् अभि सन्ति) सब मनुष्यों को प्राप्त होते हैं, उन (सूरिभिः मर्त्तैः) विद्वान् मनुष्यों और (नृभिः सह) उत्तम नेताओं द्वारा एक साथ (वसुः) वह सर्वत्र बसने वाला, (अग्निः) प्रकाश स्वरूप, तेजस्वी (स्तवे) स्तुति प्रार्थना किया जाता है। वही (सहसः) बल, सैन्य को (सूनरः) उत्तम नायक के तुल्य सन्मार्ग पर ले जाने हारा है।

ऊर्जो नपात्सहसावन्निति त्वोपस्तुतस्य वन्दते वृषा वाक्।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥ ८ ॥

भा०—हे (ऊर्जः नपात्) अन्न रस के तुल्य बल द्वारा प्रकट होने वाले ! हे (सहसावन्) बलशालिन् ! (उप-स्तुतस्य) स्तुति करने वाले उपासक की (वृषा वाक्) सुखप्रद वाणी (त्वा) तुझे (इति) इसी प्रकार (वन्दते) स्तुति करती है। हम (त्वां स्तोषाम) तेरी स्तुति करते हैं। हम (त्वया) तेरे बल से ही (सु-वीराः) उत्तम वीर्यवान् होकर, (द्राघीयः प्रतरं आयुः दधानाः) अति दीर्घ, उत्तम आयु को धारण करते हुए रहें।

इति त्वाग्ने वृष्टिहव्यस्य पुत्रा उपस्तुतास ऋषयोऽवोचन्।
तांश्च पाहि गृणतश्च सूरीन् वषड्वषळित्यूर्ध्वासो अनक्षन्
नमो नम इत्यूर्ध्वासो अनक्षन् ॥ ९ ॥ १९ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानप्रकाशक प्रभो ! (इति) इस प्रकार से (उप-स्तुतासः) स्तुति करने वाले उपासक जन (वृष्टि-हव्यस्य) अन्न आदि ग्राह्य पदार्थों की वृष्टि करने वाले तुझ प्रभु के (पुत्राः) पुत्र होकर (त्वा इति वोचन्) तेरी इस प्रकार स्तुति करते हैं। वह तू (तान् गृणतः च सूरीन् च पाहि) उन स्तुति करने वाले और विद्वानों का पालन

कर । वे (ऊर्ध्वासः) ऊपर मुख, हाथ उठाये उत्तम पति को प्राप्त होकर (वषट् वषट् इति) यज्ञ कर २ के (त्वाम् अनक्षन्) तुझे प्राप्त होते हैं और वे (ऊर्ध्वासः) उर्ध्व गति से जाने वाले जन (नमः नमः इति त्वा अनक्षन्) नमस्कार करते २ तुझे प्राप्त होते हैं । इत्येकोनविंशो वर्गः ॥

[११६]

ऋषिरग्नियुतः स्थौरोऽग्नियूपो वा स्थौरः ॥ इन्द्रो देवता । छन्दः—१, ८, ६ त्रिष्टुप् । २ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । ३, ४ निचृत् त्रिष्टुप् । ५, ७ विराट् त्रिष्टुप् । ६ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । नवर्चं सूक्तम्

पिबा सोम महत इन्द्रियाय पिबा वृत्राय हन्तवे शविष्ठ ।
पिब राये शवसे हूयमानः पिब मध्वस्तृपदिन्द्रा वृषस्व ॥ १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! तू (महते इन्द्रियाय) बड़े भारी ऐश्वर्य के सम्पादन के लिये (सोमं पिब) ऐश्वर्य से युक्त प्रजा-जन को पुत्र के समान पालन कर । हे (शविष्ठ) बलशालिन् ! तू (वृत्राय हन्तवे) मेघ को छिन्न भिन्न करने, या मेघ के लिये सूर्य के समान (वृत्राय हन्तवे) बढ़ते शत्रु का नाश करने के लिये भी (पिब) प्रजा का पालन कर । तू (हूयमानः) प्रजा द्वारा प्रार्थित होकर (शवसे राये) बल और ऐश्वर्य के सम्पादन के लिये, (पिब) प्रजा का पालन कर । तृप्त होकर (मध्वः पिब) मधुर जल और अन्न का भोग कर और (तृपत्) तृप्त, क्षुधा से रहित हो । (आ वृषस्व) सब ओर मेघ के समान सुखों की वर्षा कर । जिस प्रकार जलों का पान कर सूर्य तृप्त होकर फिर समस्त जगत् को जल बरसा कर जल और अन्न से तृप्त करता है वैसे ही राजा भी स्वयं ऐश्वर्य-पूर्ण होकर अन्यों को अन्न, जल, धन से तृप्त करे ।

अस्य पिब क्षुमतः प्रस्थितस्येन्द्र सोमस्य वरमा सुतस्य।
स्वस्तिदा मनसा मादयस्वार्वाचीनो रेवते सौभगाय ॥ २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् शत्रु के विनाशक! अन्न जलादि के दाता! तू (अस्य) इस (क्षुमतः) स्तुति वचन से युक्त वा तेरी आज्ञा पालन करने वाले वा अन्न-सम्पदा से सम्पन्न, (प्रस्थितस्य) उत्तम रीति से स्थित (आ-सुतस्य) और आदरपूर्वक अभिषेक द्वारा प्राप्त (सोमस्य) प्रजाजन के (वरम्) श्रेष्ठ अंश की अवश्य (पिब) रक्षा कर। इसी प्रकार प्राप्त हुए समक्ष स्थित ऐश्वर्य के उत्तम अंश का तू भोग कर। तू (स्वस्ति-दा) सुख देने वाला होकर (मनसा) मन से (रेवते सौभगाय) धनैश्वर्य से युक्त सुख सौभाग्य के लिये (अर्वाचीना) अपने पास आये जनों को (मादयस्व) सुखी वा हर्षित कर।

ममत्तु त्वा दिव्यः सोम इन्द्र ममत्तु यः सूयते पार्थिवेषु।
ममत्तु येन वरिवश्चकर्थ ममत्तु येन निरिणासि शत्रून् ॥ ३ ॥

भा०—(दिव्यः सोमः) दिव्य सोम (त्वा ममत्तु) तुझे प्रसन्न करे। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (ममत्तु) तुझे वह सोम प्रसन्न करे (यः) जो (पार्थिवेषु) पृथिवी पर के क्षेत्रों में (सूयते) उत्पन्न होता है। और (येन वरिवः चकर्थ) जिससे तू उत्तम धन उत्पन्न करे वह भी (त्वा ममत्तु) तुझे प्रसन्न करे। और (येन शत्रून् निरिणासि) जिससे तू शत्रुओं को नष्ट करता है वह सभी ऐश्वर्य धन, बल आदि तुझको (ममत्तु) प्रसन्न करे। इस प्रकार दिव्य सोम सूर्य का तेज है। पार्थिव सोम अन्न, धनप्रद सोम पण्य पदार्थ, और शत्रुनाशक सोम सैन्य-बल है। अध्यात्म में—दिव्य सोम ज्ञान, पार्थिव 'सोम' शरीरगत वीर्य, ज्ञान का दाता सोम गुरु, आभ्यन्तर शत्रु का नाशक सोम आत्म-ज्ञान-साधना।

आ द्विबर्हा अमिनो यात्विन्द्रो वृषा हरिभ्यां परिषिक्तमन्धः ।
गव्या सुतस्य प्रभृतस्य मध्वः सत्रा खेदामरुशहा वृषस्व ॥ ४ ॥

भा०—(वृषा) बलवान् (इन्द्रः) शत्रुहन्ता राजा (द्वि-बर्हाः) सैन्य और सामान्य प्रजा दोनों का स्वामी, दोनों से बढ़ने वाला, (अमिनः) बलवानों के प्रति (आ यातु) प्राप्त हो, वा (अमिनः आयातु) गृह वाले जनों को प्राप्त हो । (गवि) भूमि पर (अन्धः) उत्तम अन्न (परि सिक्तम्) सींचा जावे । (सुतस्य) उत्पन्न हुए (प्र-भृतस्य) अच्छी प्रकार पुष्ट हुए (मध्वः) अन्न, जल की मेघवत् वा सूर्यवत् (अरुश-हा) दुःखों और पीड़ाओं का नाशक स्वामी (सत्रा) सदा, (खेदाम्) दुःखी जनों के निमित्त (आ वृषस्व) वर्षा करे । उन्हें खूब प्रदान करे । (२) सूर्य वा मेघ दोनों लोकों के स्वामी से, वा दोनों लोकों के बढ़ने से 'द्वि-बर्हाः' है । वह ताप, प्रकाश, या जल, वायु सहित आवे, अन्न सींचे, भूख से खिन्न प्राणियों को अन्न दे ।

नि तिग्मानि भ्राशयन्भ्राश्यान्यव स्थिरा तनुहि यातुजूनाम् ।
उग्राय ते सहो बलं ददामि प्रतीत्या शत्रून्विगदेषु वृश्च ॥ ५ ॥ २० ॥

भा०—हे राजन् ! स्वामिन् ! तू सूर्य के समान (तिग्मानि) तीक्ष्ण (भ्राश्यानि) दीप्तियों के तुल्य चमकने वाले शस्त्रों को (नि भ्राशयन्) खूब चमकाता हुआ, (यातू-जूनां) पीड़ा देने वाले शत्रुओं के (स्थिरा) दृढ़ दुर्गों, धनों, बलों को (अव तनुहि) नीचे गिरा । (ते उग्राय) शत्रुओं के लिये उग्र रूप तुझ को मैं (सहः बलम्) पराजयकारी, सर्वविजयी बल (ददामि) प्रदान करता हूं । तू (वि-गदेषु) संग्रामों में (शत्रून् प्रति-इत्य) शत्रुओं पर आक्रमण करके उनको (वृश्च) काट डाल । इति विंशो वर्गः ॥

व्य१र्य इन्द्र तनुहि श्रवांस्योजः स्थिरेव धन्वनोऽभिमातीः ।
अस्मद्र्यग्वावृधानः सहोभिरनिभृष्टस्तन्वं वावृधस्व ॥ ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (अर्यः) स्वामी होकर वा (अर्यः) शत्रु के (श्रवांसि) धनों, और अन्नों को (वि तनुहि) नष्ट कर। और हमें (स्थिराणि) स्थिर बल प्रदान कर। अपने (धन्वनः ओजः) धनुष के पराक्रम को (स्थिरा इव वि तनुहि) स्थिर रूप से विशेष रूप से विस्तृत कर। और (अस्मद्र्यक्) हमें प्राप्त होकर (ववृधानः) बढ़ता हुआ (अनि-भृष्टः) शत्रुओं से पराजित न होकर (सहोभिः) अपने बलों से (अभि-मातीः) अभिमानी शत्रुओं को (ववृधस्व) नित्य काट और (तन्वं) अपनी विस्तृत शक्ति को (ववृधस्व) बराबर बढ़ा।

इदं हविर्मघवन्तुभ्यं रातं प्रति सम्राळहृणानो गृभाय।
तुभ्यं सुतो मघवन्तुभ्यं पक्वो३ऽद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य ॥ ७ ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (तुभ्यम्) तेरे हितार्थ (इदम्-हविः) यह उत्तम अन्नवत् पुष्टिकारक साधन (रातम्) प्रदान किया जाय। तू (सम्राट्) तेजस्वी होकर (अहृणानः) विना संकोच वा क्रोध के (प्रति गृभाय) ग्रहण कर, वा हे (मघवन्)ऐश्वर्यवन् ! (तुभ्यम्) तेरे ही लिये उत्पन्न अन्नवत् समस्त पदार्थ (पक्वः) परिपक्व है। तू (प्रस्थितस्य) आदर से आगे रक्खे अन्न को (अद्धि प्र पिब च) खा और पान कर। उसका उपभोग कर।

अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व पचतोत सोमम्।
प्रयस्वन्तः प्रति हर्यामसि त्वा सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः॥८

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (प्रस्थिता) आदरपूर्वक आगे रक्खे (इमा हवींषि) इन उत्तम २ अन्नों को (अद्धि इत्) अवश्य खा। (चनः) अन्न को (उत पचता उत सोमम्) और परिपक्व पदार्थों वा जल को भी (दधिष्व) तू धारण, स्वीकार कर। हम (प्र-यस्वन्तः)

उत्तम अन्न को लिये हुए (त्वा प्रति हर्यामसि) तेरे प्रति सत्कामना करते हैं। (यजमानस्य कामाः सत्याः सन्तु) अन्न देने वाले, यज्ञशील जन की सब अभिलाषाएं सत्य, सफल हों। विद्वान्, गुरु, आचार्य, अतिथि तथा प्रिय, पति आदि का भी सत्कार इसी प्रकार करना चाहिये।

प्रेन्द्राग्निभ्यां सुवचस्यामियर्मि सिन्धाविव प्रेरयं नावमर्कैः।
अया इव परि चरन्ति देवा ये अस्मभ्यं धनदा उद्भिदश्च ॥९॥२१॥

भा०—(सिन्धौ इव नावम्) समुद्र में नाव के तुल्य मैं (अर्कैः) अर्चना करने वाले वेद मन्त्रों से (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्र और अग्निवत् अन्न और प्रकाश देने वालों के प्रति (सुवचस्याम्) सुखजनक वचनों वाली (नावम्) स्तुति को (प्र इयर्मि) उत्तम रीति से कहता हूं और (देवाः) विद्वान् गण (अयाः इव) आने जाने वाले भृत्यों वा अश्वादि के तुल्य (परिचरन्ति) सेवा करते हैं (ये) जो (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (धन दाः) धन देने वाले और (उद्-भिदश्च) उत्तम २ अन्नादि फलों, सुखननक पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। इत्यकोनविंशो वर्गः॥

[११७]

ऋषिर्भिक्षुः ॥ इन्द्रो देवता—धनान्नदानप्रशंसा ॥ छन्दः—१ निचृज्जगती—२ पादनिचृज्जगती। ३, ७, ९ निचृत् त्रिष्टुप्। ४, ६ त्रिष्टुप्। ५ विराट् त्रिष्टुप्। ८ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥ नवर्चं सूक्तम् ॥

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन्मर्डितारं न विन्दते ॥१॥

भा०—(देवाः) विद्वान् लोग (क्षुधम् न ददुः) भूख का दण्ड नहीं देवें, प्रत्युत (वधं ददुः) पीड़ादायक दण्ड ही देवें। अथवा ते (क्षुधम् इत् वधं न ददुः) भूख के कारण दूसरे को नाश करने का दण्ड न देवें। (उत) क्योंकि (आशितम्) खानेवाले को भी (मृत्यवः) मरणकारी अवसर

(उप गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं। (उतो) और (पृणतः रयिः) अन्यों को पालने वाले का धन (न उप दस्यति) कभी नाश को प्राप्त नहीं होता। (उत) और (अपृणन्) दूसरों को न पालने वाला (मर्डितारं न विन्दते) अपने प्रति सुख देने और दया करने वाले को नहीं पाता।

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे ।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते ॥२॥

भा०—(यः) जो (आध्राय) भरण पोषण करने योग्य निर्बल को और (पित्वः चकमानाय) अन्नों को चाहने वाले बुभुक्षित याचक को और (रफिताय) पीड़ित दुःखी को और (उप-जग्मुषे) समीप प्राप्त अतिथि को देखकर (अन्नवान् सन्) स्वयं अन्न वाला होकर भी अपना (मनः स्थिरं कृणुते) मन स्थिर कर लेता है, और (पुरा सेवते) उसको देने के पहले स्वयं खा लेता है (उतो न चित्) वह भी (मर्डितारं न विन्दते) अपने पर दया करने वाले को नहीं पाता।

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥ ३ ॥

भा०—(यः गृहवे ददाति) जो ग्रहण करने वाले उत्तम पात्र को अन्न आदि देता है और (यः) जो (अन्न-कामाय चरते ददाति) अन्न की अभिलाषा से भिक्षा आचरण करने वाले को अन्नदान करता है और जो (कृशाय) कृश, भूखे, निर्बल को अन्न देता है, (अस्मै यामहूतौ) उसको यज्ञ के निमित्त (अरं भवति) बहुत अधिक प्राप्त होता है, (सः इत् भोजः) वही सच्चा रक्षक है (उत) और वह (अपरीषु सखायं कृणुते) परायों में वा शत्रु आदि की प्रजाओं में भी अपना सहायक प्राप्त कर लेता है।

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥४॥

भा०—(सः न सखा) वह सखा, प्रेमी मित्र नहीं (यः) जो (सचा-भुवे) साथ रहने वाले को, और (सचमानाय) सेवा करने वाले (सख्ये) मित्र को (पित्वः न ददाति) अन्न नहीं देता । क्योंकि (तत् ओकः न अस्ति) वह रहने योग्य घर के समान नहीं होता (अस्मात् अप) मनुष्य उससे दूर ही से हटते हैं । (अन्यम् पृणन्तम्) शत्रु भी यदि पालन करता है, अन्न से तृप्त करता है तो लोग उसको भी (अरणं चित् इच्छेत्) उत्तम स्वामी के तुल्य चाहने लगते हैं ।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥५॥२२॥

भा०—(तव्यान्) शक्तिशाली पुरुष को चाहिये कि वह (नाधमानाय) याचना करने वाले को (पृणीयात् इत्) अवश्य पालन करे, उसे अन्नादि से तृप्त, सन्तुष्ट करे । वह (द्राघीयांसम् पन्थाम् अनु पश्येत) बहुत दूर तक के मार्ग को देखे । (ओ हि रथ्या चक्रा इव वर्त्तन्ते) ये धन निश्चय से रथ के चक्रों के समान चला करते हैं । ये (रायः) समस्त ऐश्वर्य (अन्यम् अन्यम् उप तिष्ठन्ते) एक से दूसरे के पास जाया आया करते हैं । इति द्वाविंशो वर्गः ॥

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ ६ ॥

भा०—वह (अप्र-चेताः) उत्तम उदार चित्त एवं दूर तक के ज्ञान से रहित, अनुदार क्षुद्रज्ञानी पुरुष (मोघम् अन्नं विन्दते) व्यर्थ ही धन-अन्न आदि प्राप्त करता है । (सत्यं ब्रवीमि) मैं सत्य कहता हूं कि (सः तस्य वधः इत्) वह उसका मरण ही है क्योंकि वह (न अर्यमणं पुष्यति) न तो अपने शत्रुओं को वश करने वाले, स्वामी राजा को ही पुष्ट करता है और (नो सखायं) न वह अपने समान-ख्याति वाले मित्र को

पुष्ट करता है, (केवलादी) केवल स्वयं खाने या भोगने वाला पुरुष (केवल-अघः भवति) केवल पाप ही अर्जन करता है ।

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः ।
वदन्ब्रह्मावदतो वनीयान्पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ॥ ७ ॥

भा०—(कृषन् फालः इत् आशितं कृणोति) जो फाली भूमि में गहरा खनती है वही खाने योग्य अन्न उत्पन्न करती है, और (अध्वानं यन्) जो मार्ग पर गमन करता है वह (चरित्रैः) अपने पैरों से ही (अप वृङ्क्ते) बहुत दूर तक चला जाता है, वह संकट से छूट जाता या लक्ष्य तक पहुंचता है। (वदन्) उपदेश देता हुआ ही (ब्रह्मा) वेदज्ञ ब्राह्मण (अवदतः) न उपदेश करने वाले से (वनीयान्) अधिक सेवा करने योग्य है। (पृणन् आपिः) इच्छा पूर्ति करने वाला बन्धु, दाता पुरुष ही, (अपृणन्तम्) न देने वाले से (अभि स्यात्) कहीं बढ़ कर होजाता है।

एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे सम्पश्यन्पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः ॥८॥

भा०—(एक-पात् भूयः) एक आश्रय वाला भी (द्वि-पदः) दो पैर वाले अनेक मनुष्यों से (भूयः वि चक्रमे) बहुत अधिक विक्रमशील होता है। और (द्वि-पात्) दो चरण वाला मनुष्य भी (त्रि-पादम्) तीन चरण वाले, ज्ञानी पुरुष के (पश्चात् अभि एति) पीछे २ आता है। और (पंक्तीः) पद पंक्तियों को (सम्पश्यन्) देखता हुआ (उप-तिष्ठ-मानः) उपस्थित होकर (चतुष्पात्) चार पैर वाला पशु भी (द्विपदाम् अभिस्वरे) दो पाये मनुष्यों के स्थान में (एति) प्राप्त हो जाता है। इसलिये न्यूनाधिक पदों या, साधनों या आश्रयों के ऊपर समृद्धि नहीं, प्रत्युत सामर्थ्य और दानशीलता पर ही उत्तमता निर्भर है।

स॒मौ चि॒द्धस्तौ॒ न स॒मं वि॑विष्टः सम्मा॒तरा॑ चि॒न्न स॒मं दु॑हाते ।
य॒मयो॑श्चि॒न्न स॒मा वी॒र्या॑णि ज्ञा॒ती चि॒त्सन्तौ॒ न स॒मं पृ॑णीतः ९।२३

भा०—(समौ चित् हस्तौ) दोनों हाथ एक समान होकर भी (समं न विविष्टः) एक समान व्यापार नहीं करते। (सम् मातरा चित्) एक समान दो माताएं भी (न समं दुहाते) एक समान दूध नहीं देतीं। (यमयोः चित् वीर्याणि न समा) एक साथ उत्पन्न जोड़े पुत्रों के भी एक समान बल-सामर्थ्य नहीं होते। (ज्ञाती चित् सन्तौ) दोनों समान सम्बन्धी होकर भी (समं न पृणीतः) एक समान दान देने में समर्थ नहीं होते इति त्रयोविंशो वर्गः ॥

[११८]

ऋषिरुरुक्षय आमहीयवः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—१ पिपीलिकामध्या गायत्री । २, ५ निचृद्गायत्री । ३, ८ विराड् गायत्री । ६, ७ पादनिचृद्गायत्री । ४, ९ गायत्री ॥ नवर्चं सूक्तम् ॥

अग्ने॒ हंसि॒ न्य१॒॑त्रिणं॒ दीद्य॒न्मर्त्ये॒ष्वा ।
स्वे क्षये॑ शुचिव्रत ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! हे स्वप्रकाश ! विद्वन् ! हे (शुचि-व्रत) शुद्ध कर्म करने हारे ! तू (स्वे क्षये) अपने गृह में, वा ऐश्वर्य में (दीद्यन्) प्रकाशित होता हुआ, (मर्त्येषु) मनुष्यों में विद्यमान (अत्रिणम्) भोक्ता मन, वा इन्द्रियगण वा देह को नाशकारी दुष्ट के तुल्य (नि हंसि) अपने वश कर।

उत्ति॑ष्ठसि॒ स्वा॑हुतो घृ॒तानि॒ प्रति॑ मोदसे ।
यत्त्वा॒ स्रुचः॑ स॒मस्थि॑रन् ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्ने) स्वप्रकाश ! उत्तम नायक ! आत्मन् ! (आहुतः

उत् तिष्ठसि) जिस प्रकार अग्नि चरु, घृत आदि की आहुति पाकर ऊपर उठता है उसी प्रकार तू भी (सु-आहुतः) उत्तम रीति से आदर सत्कार पाकर उदय को प्राप्त होता है। (घृतानि प्रति मोदसे) घृतों को प्राप्त होकर जैसे अग्नि प्रसन्न होता, अधिक उज्ज्वल होकर चमकता है उसी प्रकार हे विद्वन् ! तू (घृतानि) आदरार्थ जलों वा स्निग्ध वचनों को पाकर (प्रति मोदसे) सत्कार करने वाले के प्रति हर्ष प्रकट कर। (स्रुचः सम् अस्थिरन्) जिस प्रकार स्रुवे अग्नि को स्थिर भाव से रखते हैं उसी प्रकार हे विद्वन् ! (त्वा) तुझको (स्रुचः) प्राणगण (सम् अस्थिरन्) अच्छी प्रकार स्थिर करें।

स आहु॑तो॒ वि रो॑चते॒ऽग्निरी॒ळेन्यो॑ गि॒रा ।
स्रु॒चा प्रती॑कमज्यते ॥ ३ ॥

भा०—(सः अग्निः) वह अग्निवत् देदीप्यमान, (ईडेन्यः) स्तुति करने योग्य पुरुष (आहुतः) आहुति प्राप्त अग्नि के तुल्य आदर प्राप्त करके (वि रोचते) विशेष दीप्ति से प्रकाशित होता है, और (स्रुचा गिरा प्रतीकम् अज्यते) स्रुचा से जिस प्रकार अग्नि प्रकाशित हो उसी प्रकार वह ज्ञान-प्रकाशमय पुरुष भी वाणी द्वारा प्रत्येक आत्म रूप से अन्तःकरण में प्रकट होता है।

घृ॒तेना॒ग्निः सम॑ज्यते॒ मधु॑प्रतीक॒ आहु॑तः ।
रोच॑मानो वि॒भाव॑सुः ॥ ४ ॥

भा०—(घृतेन अग्निः समज्यते) जैसे घी से अग्नि अच्छी प्रकार प्रकाशित होता है उसी प्रकार (अग्निः) तेजस्वी प्रकाशवान् पुरुष भी अपने विशेष प्रकाश से (सम् अज्यते) भली प्रकार प्रकाशित होता है। (मधु-प्रतीकः) अग्नि जिस प्रकार ज्वाला रूप अवयवों में मधु अर्थात् तेज वा ताप से युक्त होता है उसी प्रकार विद्वान् भी (मधु-प्रतीकः) मधुर

वचनों को मुख में धारण करने वाला हो। वह (आ-हुतः) आहुति प्राप्त अग्नि के तुल्य गुरु द्वारा उपदेश प्राप्त कर (रोचमानः) प्रकाशित एवं सब को प्रिय लगता हुआ, (विभा-वसुः) दीप्ति के धनी अग्नि के तुल्य (वि-भाव-सुः) विशेष सामर्थ्य को प्रकट करने वाला हो।

जरमाणः समिध्यसे देवेभ्यो हव्यवाहन।
तं त्वा हवन्त मर्त्याः ॥ ५ ॥ २४ ॥

भा०—हे (हव्य-वाहन) हव्य, चरु, घृत आदि आहुति देने योग्य पदार्थों को दूर २ तक लेजाने वाले अग्नि के तुल्य ग्राह्य, धनों, दातव्य ज्ञानों को स्वयं ग्रहण करने और अन्यों को प्रदान करने वाले ! तू (देवेभ्यः) कामनावान् मनुष्यों के हितार्थ (जरमाणः) उपदेश करता हुआ (समिध्यसे) अधिक प्रकाशित हो। (तं त्वा) उस तुझको (मर्त्याः) मनुष्य (हवन्त) प्रार्थना करते हैं। इति चतुर्विंशो वर्गः ॥

तं मर्ता अमर्त्यं घृतेनाग्निं सपर्यत।
अदाभ्यं गृहपतिम् ॥ ६ ॥

भा०—हे (मर्ताः) साधारण कोटि के मनुष्यो ! आप लोग (घृतेन अग्निम्) घी से अग्नि के तुल्य स्नेह से उस (अमर्त्यं) अविनाशी पुरुष की, (अदाभ्यं गृहपतिं) उस अहिंसनीय, गृहों के स्वामीवत् अवलम्ब ग्रहण करने वालों के पालक पुरुष की (सपर्यत) सेवा, परिचर्या और उपासना करो।

अदाभ्येन शोचिषाग्ने रक्षस्त्वं दह।
गोपा ऋतस्य दीदिहि ॥ ७ ॥

भा०—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप, ज्ञान के प्रकाशक, तेजस्विन् ! (अदाभ्येन शोचिषा) अविनाशी तेज से (त्वं रक्षः दह) तू दुष्टों को दग्ध कर। तू (ऋतस्य गोपाः) सत्य ज्ञान, न्याय और धर्मतत्त्व का रक्षक होकर (दीदिहि) प्रकाशित हो।

स त्वमग्ने प्रतीकेन प्रत्योष यातुधान्यः।
उरुक्षयेषु दीद्यत् ॥ ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन् ! (सः त्वम्) वह तू (प्रतीकेन) प्रतिकार करने, वा उपाय से (यातु-धान्यः) पीड़ा देने वाली दुष्ट शक्तियों, स्त्रियों वा विपत्तियों को (प्रति ओष) नष्ट कर। और तू (उरु-क्षयेषु दीद्यत्) बड़े २ गृहों वा ऐश्वर्यों में चमकता रहे।

तं त्वा गीर्भिरुरुक्षया हव्यवाहं समीधिरे।
यजिष्ठं मानुषे जने ॥ ९ ॥ २५ ॥

भा०—(उरु-क्षयाः) बड़े २ गृहों वाले उपासक (मानुषे जने) मननशील जनों में (यजिष्ठं) सर्वोपरि दानी, पूज्य, (हव्यवाहं) हव्य को अग्निवत्, स्तुत्य वचन को धारण करने वाले (तं त्वा) उस तुझको, (गीर्भिः) स्तुतियों से (सम् ईधिरे) दीप्त करते हैं। इति पञ्चविंशो वर्गः ॥

[११९]

ऋषिर्लव ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—१—५, ७—१० गायत्री। ६, १२, १३ निचृद्गायत्री ॥ ११ विराड् गायत्री।

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥ १ ॥

भा०—(सोमस्य कु-वित्) सोम, ऐश्वर्य, वीर्य, धनादि को बहुत बहुत, (अपाम्) मैंने सुरक्षित किया, उसका बहुत २ उपयोग किया। यज्ञ में अनेक बार सोम ओषधिरस का पान किया, योगादि द्वारा अध्यात्म में—अनेक बार मैंने अपने आत्मा का आनन्द-स्वरूप प्राप्त किया (इति वा इति) यह इस २ प्रकार से (मे मनः) मेरा चित्त होता है कि (गाम् अश्वं सनुयाम्) मैं अर्थियों को गौ और अश्व दूं। मैं

उस प्रभु को लक्ष्य कर वाणी और अपने भोक्ता आत्मा तक को उसके अर्पण कर दूं।

प्र वाता इव दोधत उन्मा पीता अयंसत।
कुवित्सोमस्यापामिति॥ २॥

भा०—(कुवित् सोमस्य अपाम्) मैंने सोम रस, ऐश्वर्य, ज्ञान, आत्मानन्द का ख़ूब २ पान किया। (इति) इसी कारण वे (पीताः) पान किये गये रस (वाताः इव) प्रबल वायुओं के झकोरों के समान (दोधतः) कंपाते हुए (मा उत् अयंसत) मुझ को उद्यमशील करते हैं।

उन्मा पीता अयंसत रथमश्वा इवाशवः।
कुवित्सोमस्यापामिति॥ ३॥

भा०—(आशवः अश्वाः इव) शीघ्रगामी घोड़े जिस प्रकार (रथम् उत् अयंसत) रथ को श्रमपूर्वक उठा कर लेजाते हैं उसी प्रकार (पीताः) सुरक्षित, परिपालित वीर्य, बलप्रद रस (मा उत् अयंसत्) मुझको ऊंचे उन्नत मार्ग की ओर ले जाते हैं। (इति) इसलिये (कुवित् सोमस्य अपाम्) मैं खूब अधिक वीर्य-बल का पालन करता हूं।

उप मा मतिरस्थित वाश्रा पुत्रमिव प्रियम्।
कुवित्सोमस्यापामिति॥ ४॥

भा०—(वाश्रा) कामनायुक्त माता जिस प्रकार (प्रियम् पुत्रम् इव) प्यारे पुत्र को प्राप्त होती है उसी प्रकार (मतिः) उत्तम बुद्धि, ज्ञान (मा उप अस्थित) मुझे भी प्राप्त होता है। (इति) इस हेतु (कुवित् सोमस्य अपाम्) मैंने अपने आत्मा के स्वरूप का खूब २ पान अर्थात् मनन, ज्ञान और दर्शन किया है।

अहं तष्टेव वन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम्।
कुवित्सोमस्यापामिति॥ ५॥

भा०—(तष्टा इव बंधुरम्) शिल्पी जिस प्रकार उत्तम रथ को बनाता है उसी प्रकार मैं भी (हृदा) हृदय से श्रद्धापूर्वक (मतिम् परि अचामि) मनन योग्य ज्ञान स्वरूप को प्राप्त करता हूं। (इति) अतः (कुवित् सोमस्य अपाम्) उस सर्वप्रेरक प्रभु के परमानन्द को खूब २ पान करूं।

नहि मे अक्षिपच्चनाच्छान्त्सुः पञ्च कृष्टयः।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ६ ॥ २६ ॥

भा०—(पञ्च कृष्टयः) पांच मार्गों से खेंचने वाले पांचों इन्द्रिय रस भी (मे) मुझे (अक्षि-पत् चन) चक्षु के पतन या पलक भर भी (नहि अच्छान्त्सुः) नहीं लुभा सके। (इति) क्योंकि मैंने (कुवित्) खूब २ (सोमस्य) उस प्रभु, सर्वोत्पादक, सर्वसञ्चालक ईश्वर का (अपाम्) ज्ञानानन्द रस-पान किया, उसका व्रत पालन किया है। इति षड्विंशो वर्गः ॥

नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ७ ॥

भा०—(उभे रोदसी) सूर्य और भूमि दोनों मिलकर भी (मे) मेरे (अन्यं पक्षं चन प्रति) एक पक्ष अर्थात् बाजू के बराबर भी नहीं हैं। (इति) कारण कि मैं (कुवित् सोमस्य अपाम्) बहुत अधिक वीर्य का रक्षण कर चुका हूं।

अभि द्यां महिना भुवमभी३मां पृथिवीं महीम्।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ८ ॥

भा०—मैं (महिना) अपने महान् सामर्थ्य से, (द्याम् अभि) आकाश वा सूर्य की ओर (इमां पृथिवीम् अभि भुवम्) इस पृथिवी को भी व्याप कर अपने वश कर रहा हूं। (इति) कारण कि (कुवित्०) पूर्ववत्।

हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा ।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ९ ॥

भा०—(अहं) मैं (इमां पृथिवीं) इस पृथिवी को (इह वा इह वा नि दधानि) यहां स्थापित करूं या यहां, वा जहां जहां चाहूं रखदूं । अथवा मैंने पृथिवी को सर्वत्र ब्रह्माण्ड में यत्र-तत्र रक्खा है वा प्रकृति को सर्वत्र गर्भित किया है क्योंकि (कुवित्०) मैं परमेश्वर 'सोम' अर्थात् सर्वजगत् उत्पादक और प्रेरक बल का बहुत भारी रखवाला हूं ।

ओषमित्पृथिवीमहं जङ्घनानीह वेह वा ।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥ १० ॥

भा०—(पृथिवीम्) पृथिवी को तपाने वाले सूर्य के समान ही (अहम्) मैं (इह वा इह वा) यहां या वहां, जहां चाहूं, अथवा सर्वत्र (ओषं जंघनानि) ताप से आहत करूं । वहां तक सूर्य के समान ताप प्रकाश वा तेज पहुंचाता हूं । क्योंकि (कुवित्०) मैं ईश्वर, जगत् उत्पादक बल को बहुत २ धारण किये हूं ।

दिवि मे अन्यः पक्षो३ऽधो अन्यमचीकृषम् ।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ११ ॥

भा०—(मे) मेरा (दिवि अन्यः पक्षः) सूर्य या आकाश में एक पक्ष है । और (अन्यम्) दूसरा पक्ष (अधः अचीकृषम्) नीचे भूलोक को बनाता हूँ । जिस प्रकार स्त्री पुरुष दायें बायें के तुल्य हैं । उसी प्रकार विराट् प्रजापति के द्यौ और आकाश दो अंश हैं । (कुवित्० पूर्ववत्) । पृथिवी पर सूर्य या आकाश के वर्षण आदि से स्त्री से सन्तानादिवत् ही अनेक प्रजाएं उत्पन्न होती हैं ।

अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः ।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥ १२ ॥

भा०—(अहम्) मैं (अभि नभ्यम्) समस्त अन्तरिक्ष में (उत् ईषतः) उदय होने वाले सूर्य के तुल्य (महामहः) महान् (अस्मि) हूँ। (कुवित्० इत्यादि पूर्ववत्)।

गृहो याम्यरंकृतो देवेभ्यो हव्यवाहनः।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥ १३ ॥ २७ ॥ ६ ॥

भा०—(देवेभ्यः हव्य-वाहनः) पृथिव्यादि समस्त लोकों के लिये 'हव्य' ग्राह्य तेज, जल, अन्न प्राप्त कराने वाला और (अरं-कृतः) सुभूषित होकर गृहपति के तुल्य (गृहे यामि) जगत् रूप गृह में प्रवेश करता हूँ। (कुवित्० इत्यादि) पूर्ववत्। इति सप्तविंशो वर्गः ॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

सप्तमोऽध्यायः

[१२०]

ऋषिर्बृहद्दिव आथर्वणः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप्। २, ३, ६ पादनिचृत् त्रिष्टुप्। ४, ५, ९ निचृत्त्रिष्टुप्। ७, ८ विराट् त्रिष्टुप् ॥ नवर्चं सूक्तम् ॥

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥ १ ॥

भा०—(भुवनेषु) विद्यमान समस्त लोकों में (तद् इत्) वह परब्रह्म ही (ज्येष्ठम् आस) सबसे ज्येष्ठ, सबसे मुख्य, प्रशस्त और सर्वादिमय है। (यतः) जिससे (उग्रः) प्रचण्ड, (त्वेष-नृम्णः) दीप्ति का धनी सूर्य (जज्ञे) उत्पन्न हुआ। वह सूर्य (जज्ञानः) प्रकट होते

ही (सद्यः) अति शीघ्र (शत्रून् नि-रिणाति) उपासकों के भीतरी शत्रु-आलस्य, काम, क्रोधादि को वश करता है। (यम् अनु) जिसको देख कर (विश्वे ऊमाः) सब प्राणी (मदन्ति) प्रसन्न होते, जिसके बल पर समस्त जन अन्न, जलादि से तृप्त होते, जिसकी सब स्तुति करते हैं। (२) इसी प्रकार ज्येष्ठ ब्रह्म, ब्राह्मण से क्षात्र वर्ग उत्पन्न हुए वह सब शत्रुओं का नाश करता है, और उसको देखकर सब (ऊमाः) प्रजा-रक्षक वा प्रजाजन, स्नेही, पुरुष प्रसन्न होते हैं।

वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥ २ ॥

भा०—वह (भूरि-ओजाः) बहुत से बल पराक्रम वाला, (शवसा) बल से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ, (शत्रुः) सब दुष्टों का नाश करने हारा होकर (दासाय) नाश करने वाले को (भियसा दधाति) भय प्रदान करता है, और (अव्यनत् व्यनत् च सस्नि) अप्राणि और प्राणि वर्ग दोनों जिससे सदा शुद्ध निर्दोष हैं। हे प्रभो ! (ते मदेषु) तेरे हर्षों में (प्रभृता) परिपालित-पोषित प्राणीगण सं नवन्त) एकत्र होते, तेरी शरण आते हैं।

त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति विश्वे द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ३

भा०—(विश्वे) सब (त्वे) तुझ में ही, तेरे ही निमित्त (क्रतुम् अपि वृञ्जन्ति) यज्ञ समाप्त करते हैं। (यत्) और तेरे ही आश्रय पर (ऊमाः) परस्पर स्नेही प्राणी (द्विः भवन्ति) दो दो होते हैं और प्रजा द्वारा (त्रिः भवन्ति) तीन २ हो जाते हैं। (स्वादोः) उत्तम खाद्य अन्न से भी (स्वादीयः) अति अधिक सुखप्रद अपत्य आदि को (स्वादुना) सुखप्रद माता-पिता से (सृज) उत्पन्न कर। (मधुना

मधु) मधुर से मधुर को (सु अभि योधीः) सुखपूर्वक परस्पर संगत कर ।

इति चिद्धि त्वा धना जयन्तं मदेमदे अनुमदन्ति विप्राः ।
ओजीयो धृष्णो स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन्यातुधाना दुरेवाः ४

भा०—(इति चित् हि त्वा) इसी प्रकार हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् प्रजापालक ! (धना जयन्तं त्वा) नाना ऐश्वर्यों को विजय करते हुए तुझको देख कर वा प्राप्त करके (विप्राः मदेमदे अनु मदन्ति) विद्वान् पुरुष प्रत्येक हर्ष के अवसर पर तेरी ही स्तुति किया करते हैं । हे (धृष्णो) शत्रु को पराजय करने हारे ! तू (ओजयः) सबसे अधिक पराक्रम वाला है, तू (स्थिरम्) स्थिर राज्य का (आ नुष्व) विस्तार कर । (दुरेवाः) बुरी चालों वाले (यातु-धानाः) पीड़ादायक दुष्ट लोग (त्वा मा दभन्) तेरा नाश न कर सकें ।

त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि ।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि ।५।१

भा०—(त्वया) तुझ से ही बलशाली होकर (वयम्) हम लोग (रणेषु) संग्रामों में (शाशद्महे) शत्रुओं का नाश करते हैं । और (त्वया प्र-पश्यन्तः) तेरे द्वारा भली प्रकार सन्मार्ग देखते हुए (भूरि युधेन्यानि) अनेक युद्ध करने योग्य साधनों को हम जानें । (ते वचोभिः) तेरे वचनों से प्रेरित होकर मैं (आयुधा) शस्त्रों को भी (चोदयामि) चलाऊं । (ते ब्रह्मणा) तेरे धन, ज्ञान और महान् बल से मैं (वयांसि) नाना बलों को (सं शिशामि) खूब तीक्ष्ण करूं । उनको अधिक बलशाली करूं । इति प्रथमो वर्गः ॥

स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम् ।
आ दर्षते शवसा सप्त दानून्प्र साक्षते प्रतिमानानि भूरि ॥ ६ ॥

भा०—(स्तुषेय्यं) स्तुति करने योग्य (पुरु-वर्पसम्) नाना रूप वाले, नाना गुण वाले, (ऋभ्वं) खूब प्रकाशमान , (इन-तमम्)सबसे श्रेष्ठ स्वामी और (आप्त्यानाम् आप्त्यम्) आप्त पुरुषों में से सबसे श्रेष्ठ आप्त को मैं प्राप्त होऊं। वह (शवसा) अपने बल और ज्ञान से (सप्त दानून्) सातों ज्ञानदाता, सुखप्रद इन्द्रिय रूप देवों को उनके छिद्रों को (दर्षते) विदारण करता, शरीर में उनके छिद्रों को रचता है (भूरि प्रति-मानानि) जिन से बहुत से ज्ञानों को (प्र साक्षते) प्राप्त करते हैं। साक्षतिराप्नोतिकर्मेति यास्कः।

नि तद्दधिषेऽवरं परं च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे।
आ मातरा स्थापयसे जिगत्नू अत इनोषि कर्वरा पुरूणि ॥ ७ ॥

भा०—(यस्मिन् दुरोणे) जिस गृह में तू (जिगत्नू मातरा) एक दूसरे को प्राप्त होने वाले, माता पिता के तुल्य जगत् के निर्माता सूर्य और भूमि दोनों को (अवसा आविथ) अपने अन्न, तेज, बल से रक्षा करता और (स्थापयसे) स्थापित करता है उससे ही तू (अवरं परं च) इस और उस, पास और दूर के जगत् को सभी ऐश्वर्य वा लोक परलोक को भी (नि दधिषे) स्थापित करता है। (अतः) इसी से तू (पुरूणि कर्वरा इनोषि) नाना कर्मों को भी करता, वा अनेक फलों को भी देता है। कर्वरा इति कर्मनाम। नि०।

इमा ब्रह्म बृहद्दिवो विवक्तीन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजो दुरश्च विश्वा अवृणोदप स्वाः ॥ ८ ॥

भा०—(बृहद्-दिवः) सूर्य और आकाश के समान महान्, तेजस्वी, ज्ञानी, प्रभु या विद्वान् (इमा ब्रह्म) इन वेद-वचनों का (विवक्ति) विविध प्रकार से उपदेश करता है। (इन्द्राय शूषम्) परमैश्वर्यवान्, प्रभु का बल वा सुख का सूर्य के तुल्य ही, वर्णन करता है।

वह (अग्रियः) सबसे प्रथम, (स्वर्षाः) समस्त तेजों और सुखों का प्रदान करने वाला है। वह (स्व-राजः) स्वयं चमकने वाले (महः गोत्रस्य) बड़े भारी, वाणियों के पालक वेद-ज्ञान का (क्षयति) स्वामी है। वह ही (विश्वाः) समस्त (स्वः दुरः) अपने अनेको द्वारों को (आवृणोत्) खोलता है। वही अपने समस्त रहस्यों को प्रकट करता है।

एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वावोचत्स्वां तन्व१मिन्द्रमेव ।
स्वसारो मातरिभ्वरीररिप्रा हिन्वन्ति च शवसा वर्धयन्ति च ।६।२॥

भा०—(एवा) इस प्रकार (महान्) सबसे बड़ा (अथर्वा) सबका पालन करने वाला, प्रजापति (बृहद् दिवः) बड़े भारी जगत् को प्रकाशित करने वाला परमेश्वर (इन्द्रम् एव) परमैश्वर्यमय विराट् रूप को (स्वां तन्वम् एव) अपने देह के समान ही (अवोचत्) बतला रहा है। (स्वसारः) उसके अपने आत्म-सामर्थ्य से चलने वाली जगत् की महान् शक्तियां (मातरिभ्वरीः) अपने निर्माता प्रभु के आश्रय से रह कर अपने को प्रकट करती हुईं (अरि-प्राः) अपने स्वामी के अङ्गों की तरह उसको पूर्ण करती हुईं वा (अरिप्राः) सर्वथा निर्दोष होकर (शवसा) बड़े भारी बल से (हिन्वन्ति) जगत् को सञ्चालित करतीं और (वर्धयन्ति) जगत् की वृद्धि वा संहार करती हैं वा उसी प्रभु की महिमा को बढ़ाती हैं। इति द्वितीयो वर्गः ॥

[१२१]

ऋषिः हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ॥ को देवता ॥ छन्दः—१, ३, ६, ८, ९ त्रिष्टुप् २, ५ निचृत् त्रिष्टुप् ४, १० विराट् त्रिष्टुप्। ७ स्वराट् त्रिष्टुप् ॥ दशर्चं सूक्तम् ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

भा०—(अग्रे) इस जगत्-प्रपञ्च के उत्पन्न होने के पहले (हिरण्य-गर्भः) सूवर्ण आदि तैजस पदार्थों को भी अपने गर्भ में रखने वाला (सम् अवर्त्तत) विद्यमान रहा। वही (भूतस्य) उत्पन्न जगत् को (पतिः जातः) पालक रूप से प्रसिद्ध है। वह (एकः आसीत्) एक अद्वितीय ही है। अर्थात् जगत् को धारण, उत्पादन, पालन में वह दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं करता। (सः पृथिवीम् दाधार) वह पृथिवी, तद्वत् सर्वाश्रय, विस्तृत प्रकृति या प्रधान तत्त्व को भी धारण करता, (उत इमां द्याम् दाधार) और इस सूर्यवत् तेजोमय लोक समूह को भी धारण करता है। (कस्मै) उस अविज्ञात स्वरूप वाले, किसी सुखमय (देवाय) सर्वशक्तिप्रद प्रभु की वा 'क' अर्थात् जगत् के एक-मात्र कर्त्ता प्रभु की हम (हविषा विधेम) भक्ति विशेष से सेवा करें। 'कः'—करोति इति कः। कं इति सुख नाम, यदेव कं तदेव खम्। (उप०) एक इत्यस्यादिवर्णलोपाद् 'कः'। एको ऽद्वितीय इत्यर्थः॥

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः।
यस्य॑च्छा॒याऽमृतं॒ यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥ २॥

भा०—(यः आत्म-दा) जो समस्त जीवों को अपने स्ववत् देहों का देने वाला, और सबको (बल-दा) बल देने वाला है, (यस्य विश्वे उपासते) जिसकी सब उपासना करते हैं और (यस्य प्रशिषं) जिसके उत्कृष्ट शासन को (विश्वे देवा उपासते) सब देव, सूर्य आदि लोक भी मानते हैं, और (यस्य छाया अमृतं) जिसकी शरणवत् छाया, अमृत अर्थात् मोक्ष दिलाने वाली है और (यस्य मृत्युः) जिसकी शरण न लेना मरण के समान है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस सुखस्वरूप, जगत् के कर्त्ता, अद्वितीय परमेश्वर की हम विशेष भक्ति से उपासना करें।

यः प्रा॑ण॒तो नि॑मिष॒तो म॑हि॒त्वैक॒ इद्राजा॒ जग॑तो ब॒भूव॑।
ईश॑ अ॒स्य द्वि॒पद॒श्चतु॑ष्पदः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥३॥

भा०—(यः) जो (प्राणतः निमिषतः) प्राण लेने वाले और आंख झपकने वाले, श्वासजीवी और नेत्रवन् वा (निमिषतः) निमेष अर्थात् जीवन त्याग करने वाले, जीवित, अजीवित, (जगतः) समस्त जंगम व चर संसार का (महित्वा) अपने महान् सामर्थ्य से (एकः इन् राजा बभूव) एकमात्र अद्वितीय राजा है। और (यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे) इस दोपाये और चौपाये प्राणिवर्ग का भी स्वामी है। (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस एक, अद्वितीय, जगद्-विधाता की हम सब प्रकार के साधनों से भक्ति करें।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

भा०—(इमे हिमवन्तः) ये हिम वाले, ऊंचे २ पर्वत (यस्य महित्वा आहुः) जिसके महान् सामर्थ्यों को बतलाते हैं और (यस्य महित्वा रसया सह समुद्रम् आह) जिसके महान् सामर्थ्यों को 'रसा' जलयुक्त नदी वा गतिशील पृथिवी सहित यह समुद्र या महान् आकाश बतला रहाहै और (यस्य इमाः प्रदिशः) जिसके महान् सामर्थ्य को ये मुख्य दिशाएं (यस्य बाहूः) जिसके बाहुवत् होकर महान् सामर्थ्य को बतला रही हैं (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस एक, अद्वितीय जगत्-कर्त्ता की हम विशेष भक्ति से उपासना करें।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळहा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।५।३॥

भा०—(येन) जिससे (उग्रा द्यौः) यह महान् आकाश तारक-मण्डलों सहित और (पृथिवी च) यह पृथिवी (दृढा) स्थिर हैं, जिसने इनको स्थिर, अविनश्वर, चिरस्थायी बनाया है, (येनः स्वः स्तभितम्) जिसने इस महान् सूर्य को स्थिर किया है, (येन नाकः) जिसने महान्

आकाश बनाया (यः अन्तरिक्षे) जो इस अन्तरिक्ष में (रजसः) धूलिकणों के तुल्य अनन्त, असंख्य लोकों को बनाने वाला है, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस एक जगद्-विधाता देव की हम विशेष रूप से उपासना करें । इति तृतीयो वर्गः ॥

यङ्क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६॥

भा०—(यं) जिसको (अवसा तस्तभाने) बलपूर्वक दृढ़ता से थमी हुई ये दोनों (क्रन्दसी) आकाश और पृथिवी, (रेजमाने) खूब सूर्य, तारादि से प्रकाशमान होकर मानो (मनसा) मन से (अभि ऐक्षेताम्) साक्षात् देखती हैं । अथवा—(यम् मनसा रेजमाने) जिसके ज्ञानमय तेजः-सामर्थ्य से देदीप्यमान ये दोनों लोक (अभि ऐक्षेताम्) एक दूसरे को देखते वा सबको दिखाई देते हैं । (यत्र) जिसके आश्रय पर (सूरः उदितः विभाति) सूर्य उदय होकर या उर्ध्व आकाश में आकर चमकता है, (कस्मै देवाय) उस अप्रतर्क्य, अविज्ञेय, अवाङ्-मनस-गोचर, सर्वप्रकाशक प्रभु की हम (हविषा विधेम) सब साधनों से उपासना करें ।

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७॥

भा०—(यत्) जिस (विश्वम्) व्यापक प्रभु को (ह) सृष्टि की उत्पत्ति के भी पूर्व (बृहतीः आपः) बड़ी आपः अर्थात् प्रकृति की महत् आदि विकृतियें (आयन्) प्राप्त होती हैं और (गर्भं दधानाः) गर्भ, हिरण्यमय महान् अण्ड को धारण करती हुईं (अग्निम् जनयन्ति) सर्वप्रकाशक और सर्वदाहक अग्नितत्त्व को प्रकट करती हैं । (ततः) तब ही, वह (एकः) एक अद्वितीय प्रभु (देवानां) समस्त देवों, सूर्यादि

लोकों का एकमात्र (असुः) प्राण, उनका सञ्चालक और जीवन-दाता, इन्द्रियगण में प्राणवत् (सम् अवर्त्तत) विद्यमान था। (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस सुखस्वरूप, जगद्-विधाता प्रभु की हम सर्वोपायों से सेवा भक्ति करें।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८॥

भा०—(यः चित्) और जो (महिना) अपने महान् सामर्थ्य से (दक्षम् दधानाः) बल, कर्म और प्रज्ञानयुक्त जगत् सर्ग को धारण करती हुई और (यज्ञं जनयन्तीः) संसार रूप महान् यज्ञ को उत्पन्न करती हुई (आपः) प्रकृति तत्त्व को (परि अपश्यत्) देखता है, इस पर अध्यक्षवत् साक्षी है। (यः देवेषु अधि) जो समस्त दीप्तिमान् लोकों में (एकः) एक, अद्वितीय, सर्वोपरि (देवः) सबका प्रकाशक है। (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस सर्वकारण, परम सुखमय देव की हम भक्ति-ज्ञानपूर्वक उपासना करें।

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ९ ॥

भा०—(यः पृथिव्याः जनिता) जो भूमि का उत्पादक एवं जो मूल प्रकृति से सृष्टि को रचने वाला है, वह प्रभु (नः मा हिंसीत्) हमें पीड़ित न करे। (यः च) और जो (सत्य-धर्मा) सत्य ज्ञान और प्रकट जगत् को धारण करने वाला है जो (दिवं जजान) आकाश और सूर्य आदि समस्त लोकों को उत्पन्न करता है। (यः च) और जो (चन्द्राः) सर्वाह्लादकारक (बृहतीः आपः) महान् २ व्यापक नाना तत्त्वों वा प्रकृति के परमाणुओं को भी (जजान) उत्पन्न करता है। (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस सुख-स्वरूप, सर्वकर्त्ता, अद्वितीय देव की हम ज्ञानपूर्वक उपासना करें।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥१०॥४

भा०—हे (प्रजापते) समस्त प्रजाओं के पालक ! (त्वत् अन्यः) तुझ से दूसरा कोई (एतानि ता) इन उन पास और दूर के वर्तमान, अतीत और भविष्य के (विश्वा जातानि) समस्त उत्पन्न पदार्थों को (न परि बभूव) नहीं व्याप रहा, उन पर दूसरा कोई अध्यक्ष नहीं है। हे भगवन् ! (यत्-कामाः ते जुहुमः) जिस २ पदार्थ की अभिलाषा वाले होकर हम तेरी उपासना करें (तत् नः अस्तु) हमारी वह अभिलाषा पूर्ण हो, और (वयं) हम (रयीणां) समस्त मूर्त्त पदार्थों, शरीरों और ऐश्वर्यों के (पतयः) पालक और स्वामी (स्याम) हों। आपः—आप्नोतेः आदिमत्त्वाद्वा। इति चतुर्थो वर्गः ॥

[१२२]

ऋषिश्चित्रमहा वासिष्ठः ॥ अग्निर्देवता ॥ छन्दः—१ त्रिष्टुप्। ५ निचृत् त्रिष्टुप्। २ जगती। ३, ८ पादनिचृज्जगती। ४, ६ निचृज्जगती। ७ आर्ची स्वराड् जगती ॥

वसुं न चित्रमहसं गृणीषे वामं शेवमतिथिमद्विषेण्यम्।
स रासते शुरुधो विश्वधायसोऽग्निर्होता गृहपतिः सुवीर्यम् ॥१॥

भा०—मैं (वसुं न) सबको बसाने वाले गुरु वा पिता के समान (चित्र-महसम्) अद्भुत तेज वाले, (वामम्) सेवा करने योग्य (शेवम्) सुख-शान्तिदायक, (अतिथिम्) सबको अतिक्रमण कर विराजने वाले, वा सर्वव्यापक, अतिथिवत् पूज्य, (अद्विषेण्यम्) किसी से द्वेष न करने वाले, प्रभु वा विद्वान् पुरुष की (गृणीषे) स्तुति करता हूं। (सः) वह (शुरुधः) शोक, दुखों को रोकने वाली, (विश्व-

धायसः) सबको आनन्द रस पान कराने वाली वाणियों का (रासते) प्रदान करता, उपदेश करता है। वह (अग्निः) तेजस्वी, सर्वाग्रणी, सन्मार्ग पर लेजाने वाला, ज्ञान का प्रकाशक, (होता) सब सुखों का दाता, विद्वानों वा जीवों को अपने पास शरण में बुलाने वाला, (गृह-पतिः) विश्व का गृहवत् पालक, हमें (सुवीर्यम् रासते) उत्तम बल, वीर्य, ज्ञान प्रदान करे।

जुषाणो अ॑ग्ने प्रति॑ हर्य मे॒ वचो॒ विश्वा॑नि वि॒द्वान्व॒युना॑नि सुक्रतो।
घृत॑निर्णि॒ग्ब्रह्म॑णे गा॒तुमेर॑य॒ तव॑ दे॒वा अ॑जनय॒न्ननु॑ व्र॒तम् ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञान के प्रकाशक! सर्वाग्रणी, सबको सन्मार्ग में लेजाने हारे प्रभो! विद्वन्! तू (जुषाणः) सबको प्रेम करता हुआ (मे वचः प्रति हर्य) मेरे वचन को भी प्रेम से स्वीकार कर। हे (सु-क्रतो) उत्तम कर्म करने हारे! उत्तम ज्ञान के दाता! तू (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) समस्त ज्ञानों वा समस्त लोकों का जानने वाला है। हे (घृत-निर्निक्) जल और तेज से समस्त जगत् को मेघवत् पोषण और सूर्यवत् पवित्र करने वाले! तू (ब्रह्मणे) ब्रह्म, वेद के (गातुम्) ज्ञान-मार्ग का (आ ईरय) उपदेश कर। (तव अनु) तेरा अनुकरण करके (देवाः व्रतम् अजनयन्) समस्त मनुष्य कर्म करें। समस्त विद्वान् गण तेरे को लक्ष्य कर समस्त व्रत दीक्षा आदि प्रकट करें।

स॒प्त धामा॑नि परि॒यन्नम॑र्त्यो॒ दाश॒द्दाशु॑षे सु॒कृते॑ मामहस्व।
सु॒वीरे॑ण र॒यिणा॑ग्ने स्वा॒भुवा॒ यस्त॒ आन॑ट् स॒मिधा॒ तं जु॑षस्व ॥३॥

भा०—जो (अमर्त्यः) अमर आत्मा (सप्त धामानि) सूर्यवत् सातों लोकों को (परि यन्) व्यापता है और (दाशुषे) दानशील यज्ञकर्त्ता, आत्मसमर्पक, (सु-कृते) उत्तम काम करने वाले को (दाशत्) सब ऐश्वर्य प्रदान करता है, तू उसकी (महस्व) पूजा कर,

उसकी उपासना कर। हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! (यः) जो (ते) तेरी (समिधा) गुणों का प्रकाश करने वाली वाणी से (आनट्) तेरी शरण आता है, (तं) उसको (सु-वीरेण) उत्तम वीर, पुत्र, प्राण आदि से युक्त (रयिणा) देह, ऐश्वर्य आदि सहित (जुषस्व) प्रेम कर, उस पर अनुग्रह कर।

यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितं हविष्मन्त ईळते सप्त वाजिनम्।
शृण्वन्तमग्निं घृतपृष्ठमुक्षणं पृणन्तं देवं पृणते सुवीर्यम् ॥ ४ ॥

भा०—(हविष्मन्तः) हवि, चरु आदि नाना साधनों वाले यज्ञ कर्त्ता, और प्रभु को पुकारने योग्य उक्त वचनों वाले भक्त जन, (यज्ञस्य केतुम्) यज्ञ को बतलाने वाले, विश्व या जीवन रूप यज्ञ के प्रकाशक, (प्रथमं पुरोहितम्) सर्वश्रेष्ठ, समक्ष स्थापित, साक्षिवत् विद्यमान, सर्वपूज्य, (सप्त-वाजिनम्) सातों प्रकार के बलों, अन्नों, प्राणों और ऐश्वर्यों से सम्पन्न, (अग्निम्) ज्ञान के प्रकाशक परमेश्वर की (ईडते) उपासना और स्तुति करते हैं। वे (शृण्वन्तं) सुनने वाले, सब की प्रार्थना के ओर ध्यान देने वाले, (घृतपृष्ठम्) प्रकाशस्वरूप, तेजोमय, (उक्षणम्) जगत् को अपनी शक्ति से धारण करने वाले और सब पर आनन्द सुखों की सूर्य वा मेघवत् वर्षा करने वाले (सु-वीर्यम्) उत्तम बलशाली, शुभ मार्ग में सबको ज्ञानवाणी से प्रेरित करने वाले, ज्ञान से सम्पन्न (पृणन्तं) सबको अन्नादि से तृप्त, पालन पोषण करते हुए (देवं) सर्वदाता, सर्वोपरि विद्यमान, सर्वप्रकाशक प्रभु को (पृणते) प्रसन्न करते हैं।

त्वं दूतः प्रथमो वरेण्यः स हूयमानो अमृताय मत्स्व।
त्वां मर्जयन्मरुतो दाशुषो गृहे त्वां स्तोमेभिर्भृगवो वि रुरुचुः ५।५

भा०—(त्वं) तू (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ, (वरेण्यः) सब से वरण करने योग्य है। (सः) वह तू (अमृताय) अमृत, मोक्ष प्राप्ति के लिये

(हूयमानः) प्रार्थना किया जाता हुआ (मत्स्व) प्रसन्न हो। (त्वाम्) तुझको (मरुतः) विद्वान् जन (दाशुषः गृहे) यजमान के घर में (स्तोमेभिः) मन्त्र-समूहों से (मर्जयन्) परिशोभित करते हैं और (भृगवः) तपस्वी जन भी (त्वां वि रुरुचुः) तुझे विविध प्रकार से चाहते हैं। अध्यात्म में—(२) 'दाश्वान्' यह आत्मा है। उसके देह रूप गृहों में प्राण उसको अलंकृत करते हैं। इति पञ्चमो वर्गः ॥

इषं दुहन्त्सुदुघां विश्वधायसं यज्ञप्रिये यजमानाय सुक्रतो।
अग्ने घृतस्नुस्त्रिर्ऋतानि दीद्यद्वर्तिर्यज्ञं परियन्त्सुक्रतूयसे ॥ ६ ॥

भा०—हे (सु-क्रतो) उत्तम कर्म करने वाले आत्मन्, उत्तम रीति से जगत् के निर्माण, रक्षण आदि करने हारे विधातः ! प्रभो ! तू (यज्ञप्रिये यजमानाय) यज्ञ दान से समस्त देवों वायु जल आदि पदार्थों और विद्वानों को प्रसन्न-तृप्त करने वाले दानशील पुरुष के लिये (सु-दुघाम्) उत्तम कर्मफल वा ज्ञान को देने वाली, (विश्व-धायसम्) समस्त जगत् के धारण पालन करने वाली गौवत् प्रभु शक्ति वा वाणी से (इषं दुहन्) इष्ट-कामना को प्राप्त करता हुआ, हे अग्ने ! तू (घृत-स्नूः) जलवत् द्रवित, दयार्द्र शान्तिप्रद होकर, वा (घृत-स्नूः) अति प्रकाशमय शिरोभाव वाला, उज्ज्वल मुख, उज्ज्वल रूप, (त्रिः ऋतानि दीद्यत्) तीनों लोकों वा तीनों सत्य ज्ञानों को प्रकाशित करता हुआ, (यज्ञं वर्त्तिः परि यन्) यज्ञ के स्वरूप को धारण करता हुआ वा यज्ञ-गृह में स्थापित अग्निवत् (सुक्रतूयसे) स्वयं उत्तम यज्ञ वा सत्कर्म कर रहा है।

त्वामिदस्या उषसो व्युष्टिषु दूतं कृण्वाना अयजन्त मानुषाः।
त्वां देवा महयाय्याय वावृधुराज्यमग्ने निमृजन्तो अध्वरे ॥ ७ ॥

भा०—(उषसः वि-उष्टिषु) उषा के प्रकट होने के कालों में

(मनुषाः) मननशील मनुष्य (त्वाम् इत् दूतं कृण्वानाः) तुझको ही अपना दूत अर्थात् उत्तम भावों का निदर्शक करते हुए अथवा—(दूतं कृण्वानाः) संतापक अग्नि को ही उत्पन्न करते या स्थापित करते हुए, (त्वाम् इत् अयजन्त) तेरी ही उपासना करते हैं। (त्वाम्) तुझको ही (देवाः) विद्वान् जन (महयाय्याय) महान् जान कर (वावृधुः) उपासना करते हैं और हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! वे (अध्वरे) यज्ञ में (आज्यम् नि-मृजन्तः) घृत का परिशोधन करते हुए भी (त्वा वावृधुः) तुझे ही बढ़ाते हैं, तेरी ही स्तुति करते हैं। यज्ञ में आज्य परिशोधन का अभिप्राय भी एक प्रकार से प्रभु को अपने हृदय में उसके व्यंजक गुणों द्वारा प्रकाशित करना ही है। अजस्य स्वरूपम् आज्यम्। अजन्मा, सर्वप्रेरक प्रभु का स्वरूप आज्य है उसकी साधना, 'आज्य-मार्जन' है।

नि त्वा वसिष्ठा अह्वन्त वाजिनं गृणन्तो अग्ने विदथेषु वेधसः।
रायस्पोषं यजमानेषु धारय यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥८॥६॥

भा०—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप प्रभो ! (वसिष्ठाः) तेरे लिये व्रत, दीक्षादि में उपवसन करने या निष्ठ होकर रहने वाले, विद्वान् जन (विदथेषु) ज्ञान के अवसरों और यज्ञों में (गृणन्तः) स्तुति करते हुए (त्वा वाजिनं अह्वन्त) तुझ ऐश्वर्यों ज्ञान वाणी के स्वामी को ही बुलाते वा स्मरण करते हैं। वह तू (रायः पोषं) धन-समृद्धि को (यजमानेषु) दानशील, परमेश्वर के उपासकों में (धारय) प्रदान कर, उनको धारण करा और हे विद्वान् जनो ! (यूयं स्वस्तिभिः) आप लोग शान्तिकारक साधनों से (नः सदा पात) हमारी सदा रक्षा करो। इति षष्ठो वर्गः॥

[१२३]

ऋषिर्वेनः॥ वेनो देवता॥ छन्दः—१, ५, ७ निचृत् त्रिष्टुप्। २—४, ६, ८ त्रिष्टुप्॥ अष्टर्चं सूक्तम्॥

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने ।
इममपां संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति ॥ १ ॥

भा०—(अयं वेनः) यह ज्ञानवान्, अर्चनीय, तेजोमय, प्रकाशवान्, (ज्योतिः जरायुः) सूर्यादि ज्योतियों के गर्भ को लपेटने वाली झिल्ली [जेर] के समान अपने भीतर रखने वाला है। वह (पृश्नि-गर्भाः) नाना सूर्यों को अपने गर्भों में लेने वाली जगद्व्यापक 'आपः' को (चोदयत्) प्रेरित करता है। और (रजसः) इन समस्त लोकों के (विमाने) निर्माण करने और (अपां सूर्यस्य) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं, तथा (सूर्यस्य) उनके प्रेरक सूर्य के (सं-गमे) अच्छी प्रकार चलाने के निमित्त ही (इमम्) इसको (विप्राः) विद्वान् जन (मतिभिः) अपनी ज्ञान-विवेकशाली मतियों और स्तुतियों से, (शिशुम् न) बच्चे को गौ के तुल्य, (रिहन्ति) आस्वाद लेते हैं, उसी तक पहुंचते, उसी का वर्णन कर प्रसन्न होते हैं।

वेन इति मेधावि नाम, यज्ञनाम, पदनामच । बेनतिः कान्तिकर्मा गतिकर्मा, अर्चतिकर्मा च । वेणृ गति-ज्ञान-चिन्ता-निशामनवादित्रग्रहणेषु । वेनृ इत्येके । भ्वादिः ।

समुद्रादूर्मिमुदियर्ति वेनो नभोजाः पृष्ठं हर्यतस्य दर्शि ।
ऋतस्य सानावधि विष्टपि भ्राट् समानं योनिमभ्यनूषत व्राः ॥२॥

भा०—(वेनः समुद्रात् ऊर्मिम् उत् इयर्त्ति) सूर्य जिस प्रकार जल को समुद्र से ऊपर उठाता है, वा सूर्य जिस प्रकार (समुद्रात्) आकाश से उषा को ऊपर उठाता है। उसी प्रकार ज्ञानी, विचारवान् पुरुष (समुद्रात्) समुद्र के समान अपार ज्ञान-भण्डार प्रभु से (उर्मिम्) उत्तम ज्ञान को प्राप्त करता है, (नभोः-जाः हर्यतस्य पृष्ठम् दर्शि) और जिस प्रकार आकाश में उत्पन्न मेघ उस कान्तिमान् सूर्य के बल

को प्राप्त कर दिखाई देता है उसी प्रकार (नभोः-जाः) आकाशवत् महान् उस प्रभु के बीच में उत्पन्न ब्रह्मज्ञ पुरुष उस (हर्यतस्य) कान्तिमान् सुन्दर, शिव प्रभु के (पृष्ठम्) स्वरूप को (दर्शि) साक्षात् करता है। वह (ऋतस्य सानौ) ज्ञान के देने वाले (विष्टपि अधि) संताप-रहित सुखमय लोक में (भ्राट्) सूर्यवत् देदीप्यमान है। (समानं योनिम् अनु) एक समान आश्रययोग्य गृहवत् शरणप्रद उस प्रभु को लक्ष्य करके (व्राः अभि अनूषत) वरण करने वाले भक्त जन और वर्णन करने वाली वेद-वाणियां उसकी साक्षात् स्तुति करती हैं।

समानं पूर्वीरभि वावशानास्तिष्ठन्वत्सस्य मातरः सनीळाः।
ऋतस्य सानावधि चक्रमाणा रिहन्ति मध्वो अमृतस्य वाणीः॥३॥

भा०—(पूर्वीः) पूर्व विद्यमान, ज्ञान में पूर्ण, एवं अनादि (वाणीः) वाणियां (समानम्) अनुरूप गुणशाली का (अभि वावशानाः) वर्णन करती हुई, (वत्सस्य) स्तुत्य, वन्दनीय प्रभु की (मातरः) ज्ञान कराने वाली, (ऋतस्य सानौ) ऋत, अव्यक्त जगत् कर्मफल एवं परम प्राप्य ज्ञान, बल, यज्ञ, तेज के सर्वोन्नत पद में (चक्रमाणाः) गति करती हुई (वाणीः) वाणियां, वा सेवन करने वाली, प्रजाएं उसी (अमृतस्य मध्वः) अमृतस्वरूप, मधुर, आनन्द प्रभु का (रिहन्ति) स्पर्श करती हैं, उसी तक पपहुंचती हैं, उसी का वर्णन करती हैं।

जानन्तो रूपमकृपन्त विप्रा मृगस्य घोषं महिषस्य हि ग्मन्।
ऋतेन यन्तो अधि सिन्धुमस्थुर्विदद्गन्धर्वो अमृतानि नाम॥४॥

भा०—(विप्राः) विद्वान्, ज्ञानी पुरुष, (मृगस्य) उस परम शुद्ध प्रभु के (रूपम्) अति उज्ज्वल रूप, तेज को (जानन्तः) जानते हुए (अकृपन्त) उसी महान् पुरुष की स्तुति करते हैं। और वे (महिषस्य)

उसी महान् प्रभु के (घोषं) नाद को, मेघ-ध्वनि को चातकों के तुल्य (ग्मन्) जानते, श्रवण करते हैं। (ऋतेन यन्तः सिन्धुम् अधि) जिस प्रकार जलमार्ग से जाते हुए नाविक समुद्र को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार (ऋतेन) यज्ञ, प्रकाश, वा सत्य ज्ञानमय वेद से उसी की ओर जाते हुए (सिन्धुम् अधि अस्थुः) सब प्रकार से स्नेह से बांधने वाले उस प्रभु में ही विराजते हैं। और वह प्रभु (गन्धर्वः) जलद मेघ के समान, सूर्यादि लोकों का धारण करने वाला (अमृतानि नाम) अमृत रूप, जलों सुखों वा रूपों को (विदत्) प्राप्त कराता है।

अप्सरा जारमुपसिष्मियाणा योषा बिभर्ति परमे व्योमन्।
चरत्प्रियस्य योनिषु प्रियः सन्त्सीदत्पक्षे हिरण्यये स वेनः ॥५।७॥

भा०—जिस प्रकार (अप्सराः योषा) रूपवती स्त्री, (उप-सिष्मियाणा) ईषत् स्मित करती हुई, अति प्रसन्न होकर, (जारम् परमे वि-ओमन् बिभर्त्ति) अपने जीव को जरावस्था तक जीर्ण कर देने वाले पति पुरुष को ही परम प्रेम योग्य पद पर धारण करती है। और (प्रियस्य योनिषु) अपने प्यारे पति के गृहों में विचरती है और वह (प्रियः सन् वेनः) पत्नी को चाहने वाला पुरुष भी उसका प्रिय होकर (हिरण्यये पक्षे) हित, रमणीय ग्रहण करने योग्य कलत्र रूप गृह में (सीदत्) विराजता है। इसी प्रकार (सः वेनः) वह उपासक, देव-पूजक भक्त, (जारम्) सब कष्टों को दूर करने वाले प्रभु को (परमे वि-ओमन्) परम रक्षा पद पर (बिभर्त्ति) धारण करता है, उस (प्रियस्य योनिषु) प्यारे के दिये लोकों में (चरत्) विचरता, नाना कर्मफल भोगता है। (प्रियः सन्) उसका प्यारा होकर (हिरण्यये पक्षे) तेजोमय, सब प्रकार से स्वीकारने योग्य, प्रभु के आश्रय में (सीदत्) विराजता है। इति सप्तमो वर्गः ॥

नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥ ६ ॥

भा०—हे प्रभो! (वेनन्तः) तुझे चाहने वाले, तेरी अर्चना करने वाले ज्ञानी जन (यत्) जब (त्वा) तुझे (नाके) परम सुखमय मोक्ष में (सुपर्णम् पतन्तम्) आकाश में उड़ते पक्षी के तुल्य (पतन्तम्) सूर्य के तुल्य व्यापते (सुपर्ण) उत्तम रश्मियों वाले (त्वा) तुझको (हृदा) हृदय-चक्षु से (अभि अचक्षत) साक्षात् करते हैं तब वे तुझे (हिरण्य-पक्षम्) तेजोरूप से ग्रहण करने योग्य, (वरुणस्य दूतम्) रात्रि के नाशक सूर्यवत् अन्तःकरण के आवरक अज्ञान का नाशक और (यमस्य योनौ) सर्वनियन्ता के पद पर विराजमान (शकुनम्) शक्तिशाली, सबको ऊपर उठाने वाले, (भुरण्युम्) सबके पालक पोषक रूप से ही (अभि अचक्षत) तुझे देखते और ऐसा ही तेरा वर्णन करते हैं।

ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थात्प्रत्यङ्चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि।
वसानो अत्कं सुरभिं दृशे कं स्व१र्ण नाम जनत प्रियाणि ॥७॥

भा०—(ऊर्ध्वः) सर्वोपरि विराजमान, (गन्धर्वः) सूर्य और भूमि आदि लोकों का धारण करने वाला, (नाके अधि) परम सुखमय लोक, मोक्ष से (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष, सर्वव्यापक होकर (अधि अस्थात्) सर्वोपरि विराजता है। वह (अस्य) इस जगत् के (चित्रा) अद्भुत २, नाना (आयुधानि) सञ्चालन करने के नाना साधनों को–हथियारों को वीर के तुल्य (बिभ्रत्) धारण करता हुआ और (अत्कं वसानः) कवचवत् इस (सुरभिः) उत्तम रीति से ग्रहण करने योग्य, दृढ़ सुनिर्मित्त जगत् को धारत हुआ, इसमें व्यापता हुआ, (दृशे) दीखता है। वह (स्वः न) जलों को सूर्यवत् (प्रियाणि नाम) प्रिय रूपों वा पदार्थों को (जनत्) उत्पन्न करता है।

द्रप्सः समुद्रमभि यज्जिगाति पश्यन्गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन्।
भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानस्तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥८॥

भा०—(द्रप्सः) द्रुत गति से जाने वाला, सूर्यवत् कान्तिमान् आत्मा, (यत्) जो (समुद्रम् अभि) समुद्रवत् रसों के सागर प्रभु को लक्ष्य कर (गृध्रस्य) रसों के आकांक्षी सूर्य के (चक्षसा) तेज से (पश्यन्) देखता हुआ उसी को (जिगाति) प्राप्त हो जाता है। और (वि धर्मणि) विविध लोकों को धारण करने वाले (रजसि) तेजोमय उस प्रभु में (शुक्रेण शोचिषा चकानः) अति शुद्ध कान्ति से चमकता हुआ, (तृतीये रजसि) सर्वश्रेष्ठ लोक में (प्रियाणि चक्रे) प्रिय सुखों को प्राप्त करता है। इत्यष्टमो वर्गः ॥

[१२४]

ऋषिः—१, ५—६ अग्निवरुणसोमानां निहवः । २—४ अग्निः ॥ देवता—१–४ अग्निः । ५–८ यथानिपातम् । ९ इन्द्रः ॥ छन्दः—१, ३, ८ त्रिष्टुप् । २, ४, ९ निचृत्त्रिष्टुप् । ५ विराट् त्रिष्टुप् । ६ पादनिचृत्त्रिष्टुप् । ७ जगती । नवर्चं सूक्तम् ॥

इ॒मं नो॑ अग्न॒ उप॑ य॒ज्ञमेहि॒ पञ्च॑यामं त्रि॒वृतं॑ स॒प्ततं॑न्तुम् ।
असो॑ हव्य॒वाळु॒त नः॑ पु॒रोगा ज्योगे॒व दी॒र्घं तम॒ आश॑यिष्ठाः ॥१॥

भा०—(अग्ने) ज्ञानवन् ! तेजस्विन् ! सर्वप्रकाशक आत्मन् ! (नः इमं यज्ञम् उप एहि) तू हमारे इस यज्ञ, उपासना, वा आत्मा को प्राप्त हो। वह (पञ्च-यामं) पांच यमों वाला, नियामक ऋत्विजों के तुल्य देह को नियम में रखने वाले प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इनसे युक्त और (त्रि-वृतं) तीन दशाओं-जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में रहने वाला, और (सप्त-तन्तुम्) सात शीर्षण्य प्राणों वा देह धारक सात धातुओं में विस्तृत होने वाला है। तू (हव्यवाट् असः) यज्ञ में अग्नि के समान भोक्ता, अन्न को धारण करने वाला हो। (उत नः पुरः-गाः) और हमारा अग्रगामी नायक के समान हो। तू (ज्योक् एव) दीर्घ काल तक विद्यमान

(दीर्घं तमः) इस महान् दुःखदायी अज्ञान वा ज्ञान रहित, अन्धेरी गुफ़ावत् इस देह को (आ अशयिष्ठाः) व्याप, इसे प्रकाशित कर, इसमें नाना कर्मफल का भोग कर।

अदे॑वाद्दे॒वः प्र॒चता॒ गुहा॒ यन्प्र॒पश्य॑मानो अमृत॒त्वमे॑मि ।
शि॒वं यत्सन्त॒मशि॑वो जहा॑मि॒ स्वात्स॒ख्यादर॑णीं॒ नाभि॑मेमि ॥ २ ॥

भा०—मैं आत्मा (देवः) स्वयं ज्योतिःस्वरूप होकर (अदेवात् प्रचता) अदेव अर्थात् प्रकाश वा ज्ञान से रहित इस देह से पृथक् अपने को जान कर (गुहा यन्) गुहा, बुद्धि या अन्तर्हृदय गुफ़ा में दहराकाश में प्रवेश करता हुआ (प्र-पश्यमानः) उत्तम रीति से तत्त्व का साक्षात् करता हुआ (अमृतत्वम् एमि) अमृत रूप को प्राप्त हो जाता हूं। (यत्) जब मैं (अशिवः) अकल्याणकारी, दुःखद, अशुद्ध इस देह-बन्धन को (जहामि) त्यागता हूं, तब (स्वात् सख्यात्) अपने सहज मित्र-भाव से मैं (सन्तम्) सत्-स्वरूप (अरणीम्) अग्नि-उत्पादक अरणि के तुल्य मूलकारण रूप (शिवं) अतिकल्याणमय, सुखप्रद (नाभिम्) प्रेम से बांधने वाले प्रभु को ही (एमि) प्राप्त हो जाता हूं।

प॒श्यन्न॒न्यस्या॒ अति॑थिं व॒याया॑ ऋ॒तस्य॒ धाम॒ वि मि॑मे पु॒रूणि॑ ।
शंसा॑मि पि॒त्रे असु॑राय॒ शेव॑मयज्ञि॒याद्य॒ज्ञियं॑ भा॒गमे॑मि ॥ ३ ॥

भा०—(अन्यस्याः) अपने से भिन्न (वयायाः) व्यापक, शाखा के तुल्य आश्रय करने योग्य प्रकृति का अपने को (अतिथिम् पश्यन्) अतिथि के तुल्य, अधिक गुणवान् देखता हुआ मैं आत्मा (ऋतस्य) प्राप्य नाना कर्मफल के (पुरूणि) अनेक (धाम) स्थानों को (वि विमे) विविध प्रकार से स्वयं बना लेता हूँ। और (पित्रे) सर्वपालक (असुराय) प्राणों के दाता प्रभु परमेश्वर से (शंसानि) सदा याचना करता हूं कि मैं (अयज्ञियात्) उपास्य प्रभु से रहित इस देहबन्धन से पृथक् होकर

(यज्ञियम्) उस उपास्य प्रभु के (भागम्) सेवनीय अंश या ऐश्वर्य को (एमि) प्राप्त होऊं।

बह्वीः समा अकरमन्तरस्मिन्निन्द्रं वृणानः पितरं जहामि।
अग्निः सोमो वरुणस्ते च्यवन्ते पर्यावर्द्राष्ट्रं तदवाम्यायन् ॥४॥

भा०—मैं (अस्मिन् अन्तः) इस देह के भीतर (इन्द्रम्) उस ऐश्वर्यवान् प्रभु को वरण करता हुआ, उसका भजन-सेवन करता हुआ (बह्वीः समाः अकरम्) बहुत से वर्ष व्यतीत कर देता हूं। तदनन्तर मैं (पितरम्) अपने पालक इस देह को (जहामि) छोड़ देता हूं। अथवा-(इन्द्रं पितरम् वृणानः) ऐश्वर्य वाले इन्द्र, प्रभु को वरण करता हुआ इस बन्धन को छोड़ देता हूं और उस समय (अग्निः) यह अग्नि, जाठर, और (सोमः) वीर्य, वा अन्नादि पदार्थ, तथा (वरुणः) जलमय रक्त विकार, नाड़ियां आदि (ते) वे सब मुझ से (च्यवन्ते) छूट जाते हैं। तब (राष्ट्रं) राजमान, देदीप्यमान, स्वाराज्य-प्रकाश मुझे (परि आवत्) पुनः प्राप्त होता है, तब मैं (आयन्) आगे बढ़ता हुआ (तत् अवामि) उस परम ब्रह्म को प्राप्त होता हूं।

निर्माया उ त्ये असुरा अभूवन्त्वं च मा वरुण कामयासे।
ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन्मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि ॥ ५ ॥ ९ ॥

भा०—उस ज्ञान-दशा में (त्ये असुराः) वे नाना प्राण के बल पर रमण करने वाले आंख, नाक, कान आदि प्राणगण (निर्मायाः अभूवन्) माया, अर्थात् चेतना आदि से रहित, बुद्धिहीन हो जाते हैं। और हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ, प्रभो! (त्वं च मा कामयासे) उस समय तू मुझे चाहा करता है। तब तू हे (राजन्) प्रकाशस्वरूप प्रभो! स्वामिन्! (ऋतेन) सत्य ज्ञान से (अनृतं विविञ्चन्) असत्य का विवेक करता हुआ (मम राष्ट्रस्य) मेरे प्रकाशयुक्त अन्तःकरण-स्वाराज्य के (आधिपत्यम् एहि) पूर्ण स्वामित्व को प्राप्त करता है। इति नवमो वर्गः ॥

इदं स्वरिदमिदास वाममयं प्रकाश उर्व१न्तरिक्षम्।
हनाव वृत्रं निरेहि सोम हविष्ट्वा सन्तं हविषा यजाम ॥ ६ ॥

भा०—(इदं स्वः) यह साक्षात् सुखस्वरूप है, (इदम् इत् वामम् आस) यह सबसे उत्तम सेवन करने योग्य है। (अयम् प्रकाशः) यह उत्तम प्रकाशस्वरूप है। यह (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल भीतरी निवास करने वाले आकाशवत् अनन्त तत्त्व है। हे (सोम) मेरे अपने आत्मन् ! (निः एहि) निकल, आ प्रकट हो, हम दोनों (वृत्रं हनाव) उस घेर लेने वाले अन्धकार को नाश करें। (हविः सन्तं) परम प्राप्य साधन रूप सत् स्वरूप तुझको ही हम (हविषा) इस आत्म हवि से (यजाम) उपासना करते हैं।

'सोम.'—स्वा वै मे आत्मा इति सोमः। शत० ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ गीता ॥

कविः कवित्वा दिवि रूपमासजदप्रभूती वरुणो निरपः सृजत्।
क्षेमं कृण्वाना जनयो न सिन्धवस्ता अस्य वर्णं शुचयो भरिभ्रति ७

भा०—(कविः) वह परम बुद्धिमान्, क्रान्तदर्शी, जगत् का स्रष्टा परमेश्वर (कवित्वा) अपने दूरदर्शी सामर्थ्य और सृष्टि रचना के कौशल से (दिवि) सूर्य में (रूपम्) कान्तियुक्त प्रकाश को (आ असजत्) प्रदान करता है। और वही (दिवि) तेज में (रूपं) रूप गुण को स्थापित करता है। और (वरुणः) वह सर्वश्रेष्ठ प्रभु (अप्र-भूती) स्वल्प प्रयत्न से ही (अपः निः असृजत्) जलों को, मेघवत् रचता है। (जनयः न) जिस प्रकार स्त्रियें (शुचयः) रज से शुद्ध होकर (वर्णम् भरिभ्रति) उत्तम वीर्य को धारण करती हैं और सन्तान उत्पन्न करती हैं उसी प्रकार (ताः जनयः) वे 'आपः' समस्त प्राणियों को

उत्पन्न करने वाली व्यापक, (सिन्धवः) वेग से बहने वाले द्रव रूप होकर (क्षेमम् कृण्वानाः) जगत् की रक्षा करती हुई वा जीवों के निवास या देह वा लोक को रचती हुई (शुचयः) शुद्ध, स्वच्छ, कान्तिमान् हो कर (अस्य) इस परमेश्वर के (वर्णम्) तेज को (भरिभ्रति) धारण करती हैं।

अप एव ससर्जादौ तासु बीज-मवासृजत् ॥ मनुः ॥

ता अस्य ज्येष्ठमिन्द्रियं सचन्ते ता ईमा क्षेति स्वधया मदन्तीः।
ता ईं विशो न राजानं वृणाना बीभत्सुवो अप वृत्रादतिष्ठन् ॥८॥

भा०—(ताः) वे 'आपः' रूप प्रकृति (अस्य) इस प्रभु के (ज्येष्ठम्) सबसे उत्तम (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य को (सचन्ते) प्राप्त करती हैं। वह (स्वधया मदन्तीः) अन्न से समस्त प्राणियों को तृप्त करती हुई भूमि के तुल्य (स्वधया) अपनी धारक शक्ति रूप प्रभु की शक्ति से पूर्ण तृप्त होती हुई (ईम् आक्षेति) उसी प्रभु को आश्रय करती हैं। (विशः न राजानं) राजा को प्रजाओं के समान (ताः ई वृणानाः) वह प्रकृति उसको ही वरण करती हुई (वृत्रात् बीभत्सवः) आवरण करने वाले अन्धकार से भयभीत वा ग्लानियुक्त होकर (अप अतिष्ठन्) उससे दूर रहती हैं।

बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्रं नि चिक्युः कवयो मनीषा॥९।१०॥

भा०—(बीभत्सूनाम्) अज्ञान-अन्धकार के देह के बंधन के साधन भोग विलासादि में ग्लानि करने वाले साधकों तथा आत्मा को बांधने वाले प्राणों के (स-युजम्) साथ योग देने वाले सहायक एवं परम मित्रवत् उसी को (हंसम् आहुः) सर्वशत्रु-नाशक, विघ्ननाशक परम शुद्ध आत्मा, हंस ही (आहुः) बतलाते हैं। और उस आत्मा को ही

(दिव्यानां अपां सख्ये) तेज, ज्ञान, आदि में उत्पन्न, दिव्य आप्त जनों के मैत्रीभाव में (चरन्तन्) विचरते हुए (अनु-स्तुभम्) सबके द्वारा प्रतिदिन स्तुति करने योग्य (चर्चूर्यमानम्) सदा विचरणशील, देह में जाते और निरन्तर सुख-दुःखादि कर्म भोग का ही भोग करने वाले (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् आत्मा को ही (कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वान् जन (मनीषा) अपनी मननशील बुद्धि द्वारा (नि चिक्युः) निश्चयपूर्वक स्थिर करते, उसी का ज्ञान सम्पादन करते हैं । इति दशमो वर्गः ॥

[१२५]

ऋषिर्वाग् आम्भृणी ॥ देवता—वाग् आम्भृणी ॥ छन्दः—१, ३, ७, ८ विराट् त्रिष्टुप् । ४, ५ त्रिष्टुप् । ६ निचृत् त्रिष्टुप् । २ पादनिचृज्जगती ॥ अष्टर्चं सूक्तम् ॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

भा०—(अहं) मैं परमात्मा (रुद्रेभिः वसुभिः) दुष्टों को रुलाने वाले प्राणों और पृथिवी आदि समस्त लोकों के साथ (चरामि) व्यापता हूं । (अहम् आदित्यैः उत विश्वदेवैः) मैं १२ मासों, और समस्त तेजोमय पदार्थों के साथ व्यापता हूँ, उनके भीतर मेरी ही शक्ति है । (मित्रा वरुणौ) मित्र, दिन और वरुण रात्रि एवं ब्राह्मण और क्षत्रिय इनको सूर्य और राजावत् (उभा) दोनों को (अहम् बिभर्मि) मैं ही धारण करता, पालता, पोषता हूँ । (इन्द्राग्नी) सूर्य और अग्नि, और (अश्विना) स्त्री और पुरुष प्राण और उदान और सूर्य पृथिवी (उभा) दोनों को भी (अहम्) मैं ही धारण करता हूँ ।

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये३ यजमानाय सुन्वते ॥२॥

भा०—(अहम्) मैं (आहनसं सोमम्) सब दुष्टों को नाश करने वाले शासक को (बिभर्भि) धारण करता हूं। (अहं त्वष्टारम्) मैं कान्तिमान् सूर्य को (उत पूषण भगम्) सर्वपोषक भूमि को और समस्त ऐश्वर्य को ही धारण करता हूँ। (अहम् हविष्मते) मैं अनेक साधनों अन्नादि हविष्य पदार्थों वाले (यजमाना) दानशील यज्ञकर्त्ता और (सु-प्राव्ये) सुख पूर्वक उत्तम रीति से सबकी रक्षा करने वाले (सुन्वते) उपासनाशील, ऐश्वर्ययुक्त शासक को (द्रविणं दधामि) धन प्रदान करता हूँ।

अहं राष्ट्रीं सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥ ३ ॥

भा०—(अहं राष्ट्री) मैं सर्वत्र तेज से चमकने वाली, सबको चमकाने वाली, वा राष्ट्र की स्वामिनी के तुल्य, सर्वप्रभु ईश्वरी शक्ति हूँ। मैं (वसूनां संगमनी) नाना ऐश्वर्यों को प्राप्त कराने वाली, समस्त लोकों को प्राप्त कराने वाली, (यज्ञियानां) यज्ञों द्वारा उपास्य (प्रथमा) सबसे श्रेष्ठ, (चिकितुषी) ज्ञानवती हूँ। (ताम्) उस मुझको ही (भूरि-स्थात्राम्) बहुत प्रकारों से विद्यमान और (भूरि आवेशयन्तीम्) बहुत से तत्वों वा शक्ति का प्रदान करने वाली मुझको ही (देवाः वि अदधुः) विद्वान् जन विविध प्रकार से प्रतिपादन करते हैं।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥४॥

भा०—(यः विपश्यति) जो विविध प्रकार के तत्व ज्ञानों का दर्शन करता है, (यः प्राणिति) जो प्राण लेता है, (यः ईम् उक्तम् शृणोति) जो इस उपदिष्ट ज्ञान वेद का श्रवण करता है, (सः मया) वह मेरे दिये (अन्नं) अक्षय कर्मफल का ही भोग करता है। और

जो (माम् अमन्तवः) मुझे स्वीकार नहीं करते (ते उप क्षियन्ति) वे नष्ट हो जाते हैं। अथवा-(अमन्तवः) जो अज्ञानी हैं (ते) वे भी (माम् उप क्षियन्ति) गुरु के समीप शिष्यवत् मेरे पास रहते और ज्ञानार्जन का यत्न करते, मेरी उपासना करते हैं। हे (श्रुत) श्रवण करने में समर्थ पुरुष! तू (श्रुधि) श्रवण कर। (ते) तुझे मैं (श्रद्धिवं) श्रद्धा से धारण करने योग्य सत्य-ज्ञान का (वदामि) उपदेश करती हूं।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ५॥११

भा०—(अहम् एव) मैं ही परमेश्वर (इदं स्वयं वदामि) यह स्वयं उपदेश करता हूँ जिसको (देवेभिः उत मानुषेभिः) विद्वान् और मननशील जन (जुष्टम्) प्रेमपूर्वक श्रवण एवं मनन करते हैं। मैं (यं कामये) जिस २ को चाहता हूँ (तं तं) उस उसको (उग्रम्) बलवान्, शत्रु-प्रकम्पक (कृणोमि) करता हूँ। और जिसको चाहता हूँ (तं ब्रह्माणं कृणोमि) उसको ब्रह्मा, चतुर्वेदवित् बनाता हूं और (तम् ऋषिं) जिस को चाहता हूं उसको ऋषि और (तं सु-मेधाम्) जिसको चाहता हूँ उसको उत्तम बुद्धि, वाणी और शक्ति से युक्त करता हूँ। इत्येकादशो वर्गः॥

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उं।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ६ ॥

भा०—(अहं) मैं (ब्रह्मद्विषे शरवे) ब्राह्मणों, वेद, और प्रभु को प्रेम न करने वाले हिंसक शत्रुवर्ग को (हन्तवे) नाश करने के लिये (रुद्राय धनुः) दुष्टों को रुलाने वाले क्षात्र वर्ग के धनुष को (आ तनोमि) सर्वत्र तानता हूं, (अहं) मैं (जनाय) मनुष्यों के उपकार

के लिये (स-मदं कृणोमि) हर्ष प्राप्त करने के अवसर वा संग्राम को करता हूँ, (अहम्) मैं (द्यावा पृथिवी आ विवेश) आकाश और भूमि दोनों को व्यापता हूँ।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥७॥

भा०—(अहम्) मैं (अस्य) इस संसार के (मूर्धनि) शिर पर, सबके ऊपर (अस्य पितरम्) इस जगत् के पालक सूर्य को (सुवे) उत्पन्न करता और चलाता हूं। (अप्सु) इस अन्तरिक्ष और (समुद्रे) महान् आकाश में (मम योनिः) मेरा निवास है। (ततः) मैं व्याप्त होकर ही (विश्वा भुवना वि तिष्ठे) समस्त लोकों को विशेष रूप से व्यापता हूँ। और (वर्ष्मणा) मैं कारणस्वरूप, सर्वसुखप्रद रूप से (द्याम् उप स्पृशामि) इस महान् आकाश वा सूर्य को प्राप्त हूँ, उसके समान हूँ। सूर्य जिस प्रकार वर्षण-कर्म से सब जगत् को पालता और सुखी करता है उसी प्रकार मैं भी सबको पालता, अन्न देता और सुखी करता हूँ।

अहमेव वातं इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सम्बभूव ॥८॥ १२ ॥

भा०—(अहम् वातः इव प्रवामि) मैं वायु के समान सर्वत्र व्यापता हूँ। मैं (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवनों को (आरभमाणा) निर्माण करता हुआ, (दिवा परः) इस आकाश से भी बहुत दूर तक, (एना पृथिव्या परः) इस पृथिवी से भी कहीं दूर तक (एतावती सं बभूव) इस महान् जगत् रूप में (महिना) अपने महान् सामर्थ्य से प्रकट होता हूँ। इस सब में व्यापक होकर सबको चला रहा हूँ। इति द्वादशो वर्गः ॥

[१२६]

ऋषिः कुल्मलबर्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्यः ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः—१, ५, ६ निचृद् बृहती । २—४ विराड् बृहती । ७ बृहती । ८ आर्चीस्वराट् त्रिष्टुप् । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम् ।
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयन्ति वरुणो अति द्विषः ॥ १ ॥

भा०—हे (देवासः) मनुष्यो ! (अर्यमा) भीतरी शत्रुओं काम, क्रोध आदि पर वश रखने वाला, (मित्रः) स्नेहवान्, मृत्यु से बचाने वाला, और (वरुणः) कष्टों, संकटों का वारण करने वाला, श्रेष्ठ पुरुष (स-जोषसः) प्रीतियुक्त होकर (यम्) जिस मनुष्य को (द्विषः) भीतरी वा बाह्य शत्रुओं से (अति नयन्ति) पार कर देते हैं (तं मर्त्यम्) उस मनुष्य को (दुः-इतम् अंहः) दुराचार वा पाप (न अष्ट) नहीं प्राप्त होता ।

तद्धि वयं वृणीमहे वरुण मित्रार्यमन् ।
येना निरंहसो यूयं पाथ नेथा च मर्त्यमति द्विषः ॥ २ ॥

भा०—हे (वरुण मित्र अर्यमन्) वरुण ! हे मित्र ! हे अर्यमन् ! (येन) जिस उपाय से आप लोग (द्विषः अंहसः) पाप रूप शत्रु से (मर्त्यं) मनुष्य की (अति निः पाथ) पार करके रक्षा करते हो और (नेथ) सन्मार्ग में लेजाते हो, (वयं तत् हि वृणीमहे) हम तो आप से उसी उपाय, या बल की याचना करते हैं ।

ते नूनं नोऽयमूतये वरुणो मित्रो अर्यमा ।
नयिष्ठा उ नो नेषणि पर्षिष्ठा उ नः पर्षण्यति द्विषः ॥ ३ ॥

भा०—(अयम् वरुणः अयम् मित्रः अयम् अर्यमा) यह वरुण,

यह मित्र, यह अर्यमा, (ते) वे सब (नूनम्) अवश्य (नः ऊतये) हमारी रक्षा, ज्ञान-वृद्धि और स्नेह के लिये हैं। (नेषणि) सन्मार्ग में (नः उ नयिष्ठाः) वे ही सबसे उत्तम लेजाने वाले नेता हैं और (पर्षणि) पालन, और संकट से पार करने के अवसर में (नः उ पर्षिष्ठाः) वे ही हमारे सबसे उत्तम पालक, पूरक और पार पहुंचाने वाले हैं।

यूयं विश्वं परि पाथ वरुणो मित्रो अर्यमा ।
युष्माकं शर्मणि प्रिये स्याम सुप्रणीतयोऽति द्विषः ॥ ४ ॥

भा०—(वरुणः मित्रः अर्यमा) श्रेष्ठ राजा, स्नेही ब्राह्मण वर्ग, और अर्यमा न्यायाधीश जन जल, वायु और सूर्यवत् ये (यूयं विश्वं परि पाथ) आप सब लोग समस्त जगत् की परि पाथ सब प्रकार से रक्षा करते हो। (युष्माकं प्रिये शर्मणि) आप लोगों के सर्वप्रिय शरणीय सुख में हम (सु-प्रणीतयः) उत्तम नीति, व्यावहार वाले होकर (द्विषः अति स्याम) भीतरी और बाह्य शत्रुओं के पार हों।

आदित्यासो अति स्रिधो वरुणो मित्रो अर्यमा ।
उग्रं मरुद्भी रुद्रं हुवेमेन्द्रमग्निं स्वस्तयेऽति द्विषः ॥ ५ ॥

भा०—(आदित्यासः) सूर्य की किरणों के समान वा ऋतुओं के समान जगत् को सुख देने वाले जन और (वरुणः मित्रः अर्यमा) श्रेष्ठ, सर्वस्नेही और न्यायकारी जन ये हमें (स्रिधः अति) हिंसकों, शत्रुओं वा दुःखदायी पापों से पार करें। हम (उग्रम्) दुष्टों के भयदाता (रुद्रम्) दुष्टों को रुलाने वाले, (रुद्रम्) शत्रुओं के नाशक, तेजस्वी, सबको जल अन्नादि के दाता, और (अग्निम्) स्वयंप्रकाश, अग्रणी, तेजस्वी स्वामी को हम (मरुद्भिः) प्राणोंवत् सुखप्रद विद्वान् मनुष्यों सहित (हुवेम) बुलाते हैं। वे हमें (द्विषः अति) शत्रुओं के पार करें।

नेतार ऊ षु णस्तिरो वरुणो मित्रो अर्यमा ।
अति विश्वानि दुरिता राजानश्चर्षणीनामति द्विषः ॥ ६ ॥

भा०—(चर्षणीनां राजानः) मनुष्यों के बीच राजाओं के तुल्य तेजस्वी, (वरुणः मित्रः अर्यमा) वरण करने योग्य, सर्वस्नेहवान्, न्यायकारी जन, (नः) हमारी (विश्वानि दुरिता) समस्त बुराइयों को (तिरः नेतारः) दूर करने वाले और हमें (द्विषः अति नेतारः) शत्रुओं, और द्वेष करने वाले अप्रिय जनों से पार पहुंचाने वाले, हमें उनसे अधिक शक्तिशाली बनाने वाले हैं।

शुनमस्मभ्यमूतये वरुणो मित्रो अर्यमा ।
शर्म यच्छन्तु सप्रथ आदित्यासो यदीमहे अति द्विषः ॥ ७ ॥

भा०—(आदित्यासः वरुणः मित्रः अर्यमा) आदित्यगण, वरुण, मित्र, अर्यमा ये सब हम (उतये) अपने सुख प्राप्ति और रक्षा के लिये (यत् ईमहे) जिस सुख की याचना करें उस (शुनं) सुख को और (सप्रथः) विस्तृत विभूति सहित, (शर्म) शरण, शत्रु-नाशक, बल का (यच्छन्तु) प्रदान करें, जिस से हम (द्विषः अति) शत्रुओं से अधिक बलवान् हों।

यथा ह त्यद्वसवो गौर्यं चित्पदि षितामममुञ्चता यजत्राः ।
एवो ष्व१स्मन्मुञ्चता व्यंहः प्रतार्यग्ने प्रतरं न आयुः ॥ ८ ॥ १३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (यत् वसवः) गुरु के अधीन वास करने वाले वे ब्रह्मचारिगण, (पदि सिताम्) पदों में बद्ध (गौर्यं चित्) पूज्य वेदवाणी को (अमुञ्चत) मुक्त करते हैं, (एव) अथवा (वसवः) वसु, प्रजाजन जिस प्रकार पैरों से बंधी गौ को मुक्त करते हैं (एव) उसी प्रकार हे (यजत्राः) ज्ञान प्रदान करने वाले विद्वान् जनो ! आप लोग (अस्मत्) हम से (अंहः) पाप को (मुञ्चत)

छुड़ाओ। हे (अग्ने) ज्ञानवान् प्रभो (नः आयु) हमारे आयुः को (प्रतरं प्रतारि) खूब २ बढ़ाओ। इति त्रयोदशो वर्गः॥

[१२७]

ऋषिः कुशिकः सौभरोः रात्रिर्वा भारद्वाजी॥ देवता—रात्रिस्तवः॥ छन्दः—१, ३, ६ विराड् गायत्री। पादनिचृद् गायत्री। ४, ५, ८ गायत्री। ७ निचृद् गायत्री॥ अष्टर्चं सूक्तम्॥

रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्य१क्षभिः।
विश्वा अधि श्रियोऽधित॥ १॥

भा०—(रात्री देवी) रात्री के तुल्य अनेक सुखों को देने वाली, शुभ गुणों का प्रकाश करने वाली देवी, (आयती) आती हुई प्राप्त होती हुई, (पुरु-त्रा) अनेकों का पालन करने वाली, (वि अख्यत्) विविध प्रकार से संसार को देखती या प्रकाशित करती है। वह (अक्षभिः) अध्यक्षों द्वारा, व्यापक शक्तियों या तेजों से (विश्वाः श्रियः अधित) समस्त शोभाओं और सम्पदाओं को धारण करती है। वह प्रभु-शक्ति गृहपत्नी के तुल्य, संसार का शासन करती है। रात्रि पक्ष में—रात्रि समस्त नक्षत्रादि को धारण करती है और नक्षत्र रूप अनेक आंखों से मानो देख रही है।

ओर्वप्रा अमर्त्या निवतो देव्यु१द्वतः।
ज्योतिषा बाधते तमः॥ २॥

भा०—वह (अमर्त्या) मरणधर्मा जीवों में असाधारण, कभी नाश न होने वाली (देवी) सब सुखों के देने वाली, स्वप्रकाशरूप ज्ञानों का प्रकाश करने वाली, (निवतः उद्वतः) नीचे और ऊंचे समस्त प्रदेशों वा भूमियों को (उरु आ अप्राः) खूब प्रकाश से पूर्ण

करती है और (ज्योतिषा) तेज से (तमः बाधते) अन्धकार को नाश करती है ।

निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती ।
अपेदु हासते तमः ॥ ३ ॥

भा०—वह (आयती देवी) चारों ओर यत्न करने वाली, सर्वसञ्चालक सर्वप्रकाशक प्रभु शक्ति, (उषसम्) उषा के तुल्य, कान्ति वा कामना से युक्त जीव-शक्ति को (स्व-सारम् अकृत) स्वयं अपने बल से संसार मार्ग पर चलने में समर्थ बनाती है। और (तमः इत् उ अप हासते) अन्धकार को दूर करती है । जिस प्रकार गुजरती हुई रात उषा को अपनी बहिन के समान बना कर अन्धकार को दूर करती है उसी प्रकार प्रभु की शक्ति ज्ञानमयी देवी, इस कामनामयी, फलाकांक्षिणी जीव रूप चिन्मयी शक्ति को कर्म करने में स्वतन्त्र करती और वेद ज्ञान द्वारा उसका अज्ञान नाश करती है। तेज से उसके लिये जगत् को प्रकाशित करती है ।

सा नो अद्य यस्या वयं नि ते यामन्नविक्ष्महि ।
वृक्षे न वसतिं वयः ॥ ४ ॥

भा०—(यस्याः ते) जिस तेरे (यामन्) सर्वनियामक शासन या प्रबन्ध वा स्नेह-बन्धन में (नि विक्ष्महि) हम आश्रय किये हुए हैं और जिसपर (वृक्षे वयः वसतिं न) वृक्ष पर पक्षियों के तुल्य, निवास करते हैं (सा) वह तू (नः) हमें (अद्य) आज (सुतरा भव) सुख से संकट से पार उतारने वाली हो। 'सुतरा भव' इति पदद्वयं उत्तरात् षष्ठान्मन्त्रा दुत्कृष्यते ।

नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः ।
नि श्येनासश्चिदर्थिनः ॥ ५ ॥

भा०—हे प्रभुशक्ते! (ते यामन्) तेरे शासन में (ग्रामासः नि अविक्षत) अनेक जन-समूह डेरा डाले हैं, विश्राम पाते हैं। तेरे शासन में (पद्वन्तः निः पक्षिणः) चरणों वाले मनुष्य और पशु, और पक्षीगण और (श्येनासः) उत्तम आचरणवान् जन और (अर्थिनः चित्) बड़े धनशाली जन भी (नि) आश्रय लेते हैं।

यावया वृक्यं१ वृकं यवय स्तेनमूर्म्ये।
अथा नः सुतरा भव॥ ६॥

भा०—हे (ऊर्म्ये) रात्रिवत् उत्तम मान, शासन से युक्त! प्रभु शक्ते! (वृक्यं यवय) चोर स्वभाव की स्त्री को वा विविध प्रकार से काटने वाली सेना को और (स्तेनं वृकं) चोर स्वभाव के हिंसक शत्रु को (यवय यवय) तू सदा दूर कर। (अथ नः सुतरा भव) और हमें सुख से तार देने वाली, उद्देश्य तक पहुंचा देने वाली हो।

उप मा पेपिशत्तमः कृष्णं व्यक्तमस्थित।
उष ऋणेव यातय॥ ७॥

भा०—हे (उषः) प्रभात वेला के तुल्य कान्तियुक्त एवं पर-पक्ष को संतापित करने वाली! सब प्रजाओं को चाहने वाली! (पेपिशत्) मूर्त्त, होता हुआ, गाढ (कृष्णम्) काला, कष्टदायी, (वि अक्तम्) कान्ति तेज से रहित, (तमः) अन्धकारवत् खेद वा अज्ञान (आ उप अस्थित) मुझे प्राप्त हुआ है। उसे तू (ऋणा इव यातय) ऋणों के समान नष्ट कर।

उप ते गा इवाकरं वृणीष्व दुहितर्दिवः।
रात्रि स्तोमं न जिग्युषे॥ ८॥ १४॥

भा०—हे (दिवः दुहितः) सूर्य की पुत्री उषा के समान तेज ज्ञान को देने वाली! (ते) तेरी (गाः इव) रश्मियों के तुल्य नाना वाणियों

को मैं (आ अकरम्) प्राप्त करूं। हे (रात्रि) सुख और ज्ञान देने वाली! रात्रिवत् सुखप्रद! मैं (जिग्युषे सोमं न) विजयशील के स्तुति वचन के समान (ते स्तोमं आ अकरम्) तेरी स्तुति करूं। इति चतुर्दशो वर्गः॥

[१२८]

ऋषिर्विहव्यः॥ विश्वेदेवा देवताः॥ छन्दः—१, ३ विराट् त्रिष्टुप्। २, ५, ८ त्रिष्टुप्। ३, ६ निचृत् त्रिष्टुप्। ७ भुरिक् त्रिष्टुप्। ९ पादनिचृज्जगती॥ नवर्चं सूक्तम्॥

ममा॑ग्ने॒ वर्चो॑ विह॒वेष्व॑स्तु व॒यं त्वेन्धा॑नास्त॒न्वं॑ पुषेम।
मह्यं॑ नमन्तां प्र॒दिश॒श्चत॑स्र॒स्त्वया॒ध्य॑क्षेण॒ पृत॑ना जयेम॥ १॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन्! स्वयंप्रकाश! अग्रणी! सेनापते! राजन्! प्रभो! (वि-हवेषु) संग्रामों और यज्ञों में (मम वर्चः अस्तु) मेरा तेज हो, (त्वा इन्धानाः) तुझे प्रदीप्त करते हुए, तुझे प्रकाशित करते हुए हम (तन्वं) अपने शरीर और विस्तृत राष्ट्र को (पुषेम) पुष्ट करें (मह्यं) मेरे लिये (चतस्रः प्रदिशः नमन्ताम्) चारों दिशाएं झुकें। (त्वया) तुझ (अध्यक्षेण) अध्यक्ष से हम (पृतनाः जयेम) समस्त सेनाओं का विजय करें वा तुझ सेनापति द्वारा हम समस्त सेनाएं वा शत्रुओं का विजय करें।

मम॑ दे॒वा वि॑ह॒वे स॑न्तु॒ सर्व॒ इन्द्र॑वन्तो म॒रुतो॒ विष्णु॑र॒ग्निः।
ममा॒न्तरि॑क्षमु॒रुलो॑कमस्तु॒ मह्यं॒ वातः॑ पवतां॒ कामे॑ अ॒स्मिन्॥२॥

भा०—(मम वि-हवे) मेरे संग्राम और यज्ञ में (सर्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् विजयाभिलाषी जन (मरुतः) वायुओं के तुल्य वेग वाले, वा शत्रुओं को मारने वाले तथा (इन्द्र-वन्तः) इन्द्र सेनापति को प्रमुख मानने वाले (सन्तु) हों। और वह (अग्निः विष्णुः) तेजस्वी

व्यापक पुरुष सामर्थ्यवान् हो। (मम अन्तरिक्षम्) मेरा अन्तरिक्ष के समान (ऊरु लोकम् अस्तु) विशाल लोक हो। अथवा मेरा अन्तरिक्ष, अन्तःकरण अधिक प्रकाशवान् हो। (मह्यं) मेरे (अस्मिन् कामे) इस कामना योग्य कार्य में (वातः पवताम्) वायुवत् प्रबल वीर आगे बढ़े और कण्टक शोधन करे।

मयि॑ दे॒वा द्रवि॑ण॒मा य॑जन्तां॒ मय्या॒शीर॑स्तु॒ मयि॑ दे॒वहू॑तिः।
दैव्या॒ होता॑रो वनुषन्त॒ पूर्वेऽरि॑ष्टाः स्याम त॒न्वा॑ सु॒वीराः॑ ॥ ३ ॥

भा०—(मयि देवाः) मुझ में समस्त देवगण, विद्वान् और दानशील प्रजा जन (द्रविणम् आ यजन्ताम्) ऐश्वर्य प्रदान करें। (मयि आशीः अस्तु) मेरे में आशानुरूप फल की प्राप्ति हो। (देव-हूतिः मयि) विद्वानों का सत्योपदेश दान, एवं यज्ञ मेरे में स्थिर हों। (पूर्वे) पूर्व के वृद्ध और (दैव्याः होतारः) देव प्रभु सम्बन्धी तथा मनुष्यों के हितकारी, (होतारः) ज्ञान देने वाले जन (वनुषन्तः) ज्ञान प्रदान करें और हम (सु-वीराः) उत्तम वीर होकर (तन्वा अरिष्टाः स्याम) शरीर से सुखी, अहिंसित, अपीड़ित होवें।

मह्यं॑ यजन्तु॒ मम॒ यानि॑ ह॒व्याकू॑तिः स॒त्या मन॑सो मे अस्तु।
एनो॒ मा नि गां॑ कत॒मच्च॒नाहं विश्वे॑ देवासो॒ अधि॑ वोचता नः ॥४॥

भा०—(मह्यम् यजन्तु लोग मेरे लिये यज्ञ करें। मेरी शुभ कामना से प्रभु की प्रार्थना करें, वे मुझे उत्तम ऐश्वर्य, ज्ञान और यश, बल प्रदान करें। (यानि हव्या) जितने ग्रहण करने योग्य, उत्तम अन्न, ज्ञान आदि पदार्थ हैं वे मुझे प्राप्त हों। (मे मनसः आकूतिः सत्या अस्तु) मेरे मन की संकल्प शक्ति सत्य हो। (अहम्) मैं (कतमत् चन एनः मा निगाम्) किसी भी पाप की ओर न जाऊं। (विश्वे देवासः) समस्त ज्ञानी पुरुष (नः अधि वोचत) हमें उपदेश करें।

देवीः षळुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह वीरयध्वम् ।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन्
॥ ५ ॥ १५ ॥

भा०—हे (षट् उर्वीः देवीः) छः विशालशक्ति वाली देवियो, आकाश, पृथिवी, दिन, रात्रि आपः और और ओषधियां इनके सदृश, पिता, माता, भाई भगिनी, आप्त पुरुष, और गृह देवियो ! (अध्यात्म में शिर, पैर, दोनों बाहु, देह में रक्त, और लोम आदि, (नः उरु कृणोत) हमारे धन, बल, सामर्थ्य को बहुत अधिक करें । (विश्वे देवासः) समस्त देव विद्वान्, पुरुष, (इह) इस देश में (वीरयध्वम्) वीर और उपदेष्टा विद्वान् के तुल्य पराक्रम और ज्ञानोपदेश करें । हम (प्रजया मा हास्महि) प्रजा से रहित न हों । (मा तनूभिः) हम देहों से वा पुत्र-पौत्रादि से रहित न हों । हे (सोम राजन्) सर्वोपरि शासक ! हे विराजमान तेजस्विन् ! प्रभो ! हम (द्विषते) प्रीति न करने वाले, शत्रु के (मा रधाम) कभी वश न हों । इति पञ्चदशो वर्गः ॥

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन्परेषामदब्धो गोपाः परि पाहि नस्त्वम् ।
प्रत्यञ्चो यन्तु निगुतः पुनस्ते३ मैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत् ॥६॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ! नायक ! हे तेजस्विन् ! शत्रुओं को भस्म करने हारे ! तू (परेषाम् मन्युम् प्रति नुदन्) दूसरे शत्रुओं के क्रोध और अभिमान को दूर करता हुआ, (अदब्धः गोपाः) स्वयं अहिंसित रक्षक होकर (त्वं नः परि पाहि) तू हमारी रक्षा किया कर । (ते पुनः निगुतः) वे फिर नित्य, अव्यक्त, अप्रकट बातें करने वाले, उपजापक लोग (प्रत्यञ्चः यन्तु) पराङ्-मुख होकर जावें । वा वे गिड़गिड़ाते हुए हमारे प्रत्यक्ष हों । (एषां प्रबुधां चितम्) इन शत्रुओं, वा उत्तम ज्ञान वालों का चित (अमा वि नेशत्) एक साथ नष्ट हो जावे ।

धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिर्देवं त्रातारमभिमातिषाहम् ।
इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु यजमानं न्यर्थात् ॥ ७॥

भा०—(यः भुवनस्य पतिः) जो इस महान् विश्व का पालक, स्वामी है, और जो (धातृणां धाता) सब पालकों का, और जगत्-स्रष्टाओं का स्रष्टा है, उस (देवं) सर्वप्रकाशक, सर्वसुखदाता, (त्रातारं) सर्वपालक, (अभि-माति-साहं) सब अभिमानों वाले शत्रुओं वा अभिमान आदि के नाशक प्रभु की मैं स्तुति करता हूँ, उससे प्रार्थना करता हूँ। (उभा अश्विना) दोनों सूर्य चन्द्र, दिन रात, और (बृहस्पतिः) बड़े लोकों का स्वामी, (इमं यज्ञं) इस यज्ञ को और (इमं यजमानम्) इस यजमान को (नि-अर्थात्) निकृष्ट पदार्थ पाप आदि अन ँ से (पान्तु) बचावे ।

उरुव्यचा नो महिषः शर्म यंसदस्मिन्हवे पुरुहूतः पुरुक्षुः ।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृळयेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः ॥ ८॥

भा०—(उरु-व्यचाः) महान् व्यापक (महिषः) बड़ा दानी, वा बड़ा पूजनीय, (पुरु-हूतः) बहुतों से पुकारने योग्य, सर्वस्तुत्य, (पुरु-क्षुः) बहुतों को निवासार्थ अपने आश्रय देने वाला (अस्मिन् हवे) इस महायज्ञ वा संग्राम में (शर्म यंसत्) सुख प्रदान करे। हे (हर्यश्व) मनुष्यों को अश्ववत् सञ्चालन करने हारे ! (सः) वह तू (नः प्रजायै मृडय) हमारी प्रजाओं को सुखी कर, उन पर कृपालु हो। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तेजस्विन् ! (नः मा रीरिषः) हमें पीड़ित मत कर। (नः मा परा दाः) हमें त्याग मत।

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान् ।
वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन्
॥ ९॥ १६॥ १०॥

भा०—(ये नः सपत्नाः) जो हमारे शत्रु हैं (ते अप भवन्तु) वे

दूर हों । हम (इन्द्राग्निभ्याम् तान् अव बाधामहे) इन्द्र और अग्नि, ऐश्वर्यवान् और तेजस्वी नायकों, सभा सेनादि के अध्यक्षों द्वारा उनको पीड़ित करें। (वसवः) वसुजन, (रुद्राः) दुष्टों को रुलाने वाले (आदित्याः) आदित्यवत् तेजस्वी, पिता, मातामह प्रपितामह के तुल्य, एवं गृहस्थ, वनस्थ, संन्यस्त जन सब मिलकर (मा) मुझे (उपरि-स्पृशं) सर्वोपरि पद तक पहुंचाता हुआ और (अधि धराजम्) राजाओं के भी ऊपर महाराज एवं (चेत्तारम् अक्रन्) सब को सन्मार्ग में चेताने वाला बनावें। इति षोडशो वर्गः ॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

[१२६]

ऋषिः प्रजापतिः परमेष्ठी ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—१—३ निचृत् त्रिष्टुप् । ४—६ त्रिष्टुप् । ७ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ॥ सप्तर्चं सूक्तम् ॥

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥१॥

भा०—(तदानीम्) इस जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व (न असत् आसीत्) न असत् था। (नो सत् आसीत्) और न सत् था। (न रजः आसीत्) उस समय रजस् अर्थात् नाना लोक भी न थे। (नो व्योम) न यहां परम आकाश था। (यत् परः) जो उससे भी परे है वह भी न था। उस समय (किम् आ अवरीवः) क्या पदार्थ सबको चारों ओर से घेर सकता था? कुछ नहीं। (कुह) यह सब फिर कहां था और (कस्य शर्मन्) किस के आश्रय में था। तो फिर (किम्) क्या (गहनं गभीरं अम्भः आसीत्) गहन, अर्थात् जिस में किसी पदार्थ का प्रवेश न होसके, ऐसा गंभीर जिसका वार पार का पता न लगे, ऐसा 'अम्भस्' (अप्-भस्) कोई व्यापक भासमान 'आपः' तत्व विद्यमान था।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥

भा०—(मृत्युः न आसीत्) उस समय मृत्यु न था, (तर्हि न अमृतम्) और उस समय न अमृत था। अर्थात् जीवन की सत्ता, जीवन का लोप दोनों नहीं थे। (नः राज्याः प्रकेतः आसीत्) न रात्रि का ज्ञान था और (न अह्नः प्रकेतः आसीत्) न दिन का ज्ञान था। उस तत्व का स्वरूप (आनीत्) प्राण शक्ति रूप था, परन्तु (अवातम्) वह स्थूल वायु न था। (तत् एकम्) वह एक (स्वधया) अपने ही बल से समस्त जगत् को धारण करने वाला शक्ति से युक्त था। (तस्मात् अन्यत्) उससे दूसरा पदार्थ (किंचन) कुछ भी (परः न आस) उस से अधिक सूक्ष्म न था।

तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑ऽप्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम्।
तु॒च्छ्येना॒भ्वपि॑हितं॒ यदासी॒त्तप॑स॒स्तन्म॑हि॒ना जा॑यतै॒क॑म् ॥ ३ ॥

भा०—(अग्रे) सृष्टि होने के पूर्व, (तमः आसीत्) 'तमस्' था। वह सब (तमसा गूढम्) तमस् से व्याप्त था। वह (अप्र-केतम्) ऐसा था कि उसका कुछ भी विशेष ज्ञान योग्य न था। वह (सलिलम्) सलिल, एक व्यापक गतिमत् तत्त्व था, जो (सर्वम् इदम् आ) इस समस्त को व्यापे था। उस समय (यत्) जो था भी वह (तुच्छ्येन) तुच्छ सूक्ष्म रूप से (आभू-अपिहितम्) चारों ओर का सब विद्यमान पदार्थ ढका था। (तत्) वह (तपसः महिना) तपस् के महान् सामर्थ्य से (एकम्) एक (अजायत) प्रकट हुआ।

काम॒स्तदग्रे॒ सम॑वर्त॒ताधि॒ मन॑सो॒ रेतः॑ प्रथ॒मं यदासी॑त्।
स॒तो बन्धु॒मस॑ति॒ निर॑विन्दन्हृ॒दि प्र॒तीष्या॑ क॒वयो॑ मनी॒षा ॥४॥

भा०—(अग्रे) सृष्टि के पूर्व में (तत्) वह (मनसः अधि) मन से उत्पन्न होने वाली (कामः) इच्छा के समान एक कामना ही, (सम् अवर्तत) सर्वत्र विद्यमान थी, (यत् प्रथमम् रेतः आसीत्) जो

सबसे प्रथम इस जगत् का प्रारम्भिक बीजवत् था। (कवयः) क्रान्तदर्शी तत्वज्ञानी पुरुष (हृदि प्रति इष्य) हृदय में पुनः २ विचार कर (असति) अप्रकट तत्त्व में ही (सतः बन्धुम्) सत् रूप प्रकट तत्त्व को बांधने वाला बल (निर् अविन्दन्) प्राप्त करते हैं।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥५॥

भा०—(एषाम्) इन पूर्वोक्त असत्, अम्भस्, सलिल अर्थात् तपस् और काम, रेतस अर्थात् रजस और सत् इन तीनों का (रश्मिः) सूर्यरश्मि के समान रश्मि (तिरः चित् विततः) बहुत दूर २ तक व्याप्त हुआ। (अधः स्वित् आसीत्) नीचे भी रहा और (उपरिस्वित् आसीत्) ऊपर भी था। (रेतः-धाः आसन्) उक्त 'रेतस' को धारण करने वाले तत्त्व भी थे। (महिमानः आसन्) वे महान् सामर्थ्य वाले थे। (अवस्तात् स्वधा) नीचे 'स्वधा' और (परस्तात् प्रयतिः) उससे परे वह उत्कृष्ट यत्न आश्रय रूप था।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥ ६॥

भा०—(अद्धा कः वेद) सत्य २, ठीक ठीक कौन जान सकता है? (इह कः प्रवोचत्) यहां या इस विषय में कौन उत्तम रीति से प्रवचन या उपदेश कर सकता है? (कुतः आ जाता) यह सृष्टि कहां से प्रकट हुई? (इयं विसृष्टिः) यह विविध प्रकार का सर्ग (कुतः) किस मूल कारण से और क्यों हुआ? (देवः) यह तेज से चलने वाले सूर्य चन्द्र आदि लोक भी (अस्य वि-सर्जनेन) इस जगत् को विविध प्रकार से रचने वाले मूलकारण से (अर्वाक्) पश्चात् ही हैं। (अथ कः वेद) तो फिर कौन उस तत्त्व को जानता है? (यतः) जिससे यह जगत् (आ बभूव) चारों ओर प्रकट हुआ।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥१७॥

भा०—(इयं विसृष्टिः) यह विविध प्रकार की सृष्टि (यतः आ बभूव) जिस मूल तत्त्व से प्रकट हुई है (यदि वा दधे) और जो वह इस जगत् को धारण कर रहा है (यदि वा न) और जो नहीं धारण करता (यः अस्य अध्यक्षः) जो इसका अध्यक्ष वह प्रभु (परमे व्योमन्) परम पद में विद्यमान है । (सः अङ्ग वेद) हे विद्वन् ! वह सब तत्त्व जानता है (यदि वा न वेद) चाहे और कोई भले ही न जाने। इति सप्तदशो वर्गः ॥

[१३०]

ऋषिर्यज्ञः प्राजापत्यः ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—१ विराड् जगती ॥ २ भुरिक् त्रिष्टुप् । ३, ६, ७ त्रिष्टुप् । ४ विराट् त्रिष्टुप् । ५ निचृत् त्रिष्टुप् ॥ सप्तर्चं सूक्तम् ॥

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः ।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ॥१॥

भा०—(यः) जो (यज्ञः) यज्ञ (विश्वतः) सब ओर, सब प्रकार से (तन्तुभिः ततः) तन्तुओं अर्थात् उपयज्ञों से व्याप्त होकर (देव-कर्मेभिः) देवों को लक्ष्य कर किये नाना इष्टि कर्मों से (एक-शतं आयतः) सौ या १०१ वर्षों तक दीर्घ हो जाता है उसको (ये पितरः आययुः) जो पालक जन आते हैं (इमे वयन्ति) वे तन्तुओं से पट के समान यज्ञमय पट को पूर्ण आयु भर तनते या बनाते हैं और (तते) उस विस्तृत यज्ञमय पट, के निमित्त (प्र-वय अप-वय इति आसते) ऊपर से बुनो नीचे से बुनो इस प्रकार आदेश करते रहते हैं। इसी प्रकार प्रजापति का जगत्मय महान् यज्ञ है जो (विश्वतः तन्तुभिः) सब ओर प्रकृति के बने नाना तन्तु या विस्तृत तत्त्वों से बना है । वह (देव

कर्मभिः) दिव्य जल, भूमि, तेज, आकाश, वायु इन पञ्चभूतों के कर्मों से ही (एक-शतम् आ-यतः) ब्राह्म १०१ वर्षों प्रमाण तक विस्तृत रहता है। (पितरः) पिताओं के तुल्य विश्व के स्रष्टा नाना प्रजापति जन उसको जो एक के बाद एक मनु के समान वर्ष, ऋतु आदि रूप में आते हैं वे इस जगत् सर्ग को (वयन्ति) बिनते हैं। वे (तत्) इस विस्तृत जगत्-सर्ग रूप पट में (प्र-वय अप-वय) ऊपर को बुनों, नीचे को बुनों इस प्रकार प्रेरित करते हैं, कुछ कालों में भविष्यत् का प्रस्तुत सर्ग होता और कुछ वर्त्तमान का अवयन अर्थात् भूत काल में विलीन होता है। इस प्रकार वे वत्सर, ऋतु आदि उस (तते) विस्तृत काल-पट में विराजते हैं।

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तत्ने अधि नाके अस्मिन् ।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ॥२॥

भा०—(पुमान् एनं तनुते) वह पुरुष ही गृहपति के तुल्य उस यज्ञ का विस्तार करता है, और (पुमान् उत् कृणत्ति) वह पुरुष ही उस यज्ञ को समाप्त करता है। वह (नाके अधि वितते) परम सुखमय लोक या महान् आकाश में जगत्-सर्ग रूप यज्ञ को करता है। और (इमे) ये (मयूखाः उ) मयूख, सूर्यकिरण, ही (सदः) यज्ञ भवन में ऋत्विजों के समान (सदः) आश्रयभूत आकाश में नाना लोकों के रूप में (उप सेदुः) उपस्थित होते हैं। और (ओतवे) बुनने के लिये (तसराणि) तिरछे तन्तुओं के समान ही यज्ञ में (सामानि) सामगण का विस्तार करते हैं। वे दिव्य शक्तियां (ओतवे) जगत् सर्ग को रचने के लिये (सामानि) समस्त जीवों और लोकों के परस्पर एक समान वर्त्तन, व्यवहारों को पट के तिरछे तन्तुवत् कल्पना करते हैं।

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत् ।
छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुकथं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥३॥

भा०—(यत्) जब (विश्वे देवाः) समस्त देवगण (देवम् अयजन्त) देव, परमेश्वर की पूजा करते हैं, उसका यज्ञ करते हैं तब (का प्रमा आसीत्) 'प्रमा' अर्थात् 'परिमाण' क्या रहा, और (प्रतिमा का आसीत्) मापने का साधन क्या था ? (किं निदानम्) इष्ट ध्येय फल क्या था ? (आज्यम् किम् आसीत्) यज्ञ में घृत के सदृश उस परम फल तक पहुंचने का साधन क्या था ? (परिधिः कः आसीत्) यज्ञ में परिधि रूप तीन समिधाएं रक्खी जाती हैं उस प्रकार उस देव भाग में क्या परिधि थी और (छन्दः किम्) गायत्री आदि छन्दवत् कौनसा छन्द था ? (प्रउगम् उक्थम्) यज्ञ में प्रउग आदि शस्त्र अर्थशंसनी ऋचाओं के स्थान पर देवयाग में क्या पदार्थ था ?

अ॒ग्नेर्गा॑य॒त्र्य॑भवत् स॒युग्वो॒ष्णिह॑या सवि॒ता सम्ब॑भूव ।
अ॒नु॒ष्टु॑भा॒ सोम॑ उ॒क्थैर्मह॑स्वा॒न्बृह॒स्पते॑र्बृह॒ती वाच॑मावत् ॥ ४ ॥

भा०—(अग्नेः सयुग्वा) अग्नि की सहयोगिनी (गायत्री अभवत्) गायत्री हुई । (उष्णिहया सविता सं बभूव) सविता उष्णिहा से युक्त हुआ । (अनुष्टुभा) अनुष्टुभ् से और (उक्थैः) स्तुति मन्त्रों से (सोमः महस्वान्) सोम महान् गुण वाला हुआ । (बृहस्पतेः वाचम्) बृहस्पति की वाणी को (बृहती) बृहती (आवत्) प्राप्त हुई ।

वि॒राण्मि॒त्रावरु॑णयोरभि॒श्रीरिन्द्र॑स्य त्रि॒ष्टुबि॒ह भा॒गो अह्नः॑ ।
विश्वा॑न्दे॒वाञ्जग॒त्या वि॑वेश॒ तेन॑ चाकॢप्र॒ ऋष॑यो मनु॒ष्याः॑ ॥५॥

भा०—(मित्रावरुणयोः विराट् अभि-श्रीः) मित्र और वरुण इन दोनों को विराट् आश्रित हुई, (इन्द्रस्य त्रिष्टुप्) इन्द्र की त्रिष्टुप् और (इह अह्नः भागः) यह दिन का अंश और (विश्वान् देवान्) विश्व के सब देवों को (जगती आविवेश) जगती प्राप्त हुई (तेन) उनसे

(ऋषयः) तत्वदर्शी ज्ञानी पुरुष और (मनुष्याः) मननशील जन (चाक्लृपे) सामर्थ्यवान् हुए।

चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे।
पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे ॥ ६ ॥

भा०—उस (पुराणे) अति प्राचीन काल से होने वाले (यज्ञे जाते) यज्ञ के होने पर (तेन) उससे ही (ऋषयः मनुष्याः) मन्त्रद्रष्टा, तत्त्वज्ञानी ऋषि जन और मननशील मनुष्य और (नः पितरः) हमारे पालक माता पिता (चाक्लृप्रे) समर्थ हुए। (पूर्वे) पूर्व के (ये इमं यज्ञम्) जो इस यज्ञ को (अयजन्त) करते थे (तान्) उनको मैं (मनसा) मन रूप (चक्षसा) चक्षु से (पश्यन्) देखता हुआ (मन्ये) जानता हूं। मानो उनको साक्षात् करता हूं।

सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो३न रश्मीन् ७॥१८

भा०—(सह-स्तोमाः) स्तोमों, ऋचा-समूहों और (सह-छन्दसः) छन्दों सहित, (सह प्रमाः) प्रमा, परिमाणों से हित (आवृतः) विद्यमान (सप्त दैव्याः ऋषयः) सात देवों, विद्वानों के योग्य (ऋषयः) ज्ञान द्रष्टा, (धीराः) बुद्धिमान् ऋषिगण (पूर्वेषां पन्थाम् अनुदृश्य) पूर्व विद्यमानों के मार्ग को देख कर (रथ्यः रश्मीन् न) अश्व की बागों के समान (अनु आलेभिरे) बराबर वे प्रतिदिन, निरन्तर यज्ञ करते हैं।

सात दैव्य ऋषि अध्यात्म में सात शीर्षण्य प्राण हैं। आत्मा प्रजापति है। वह १०० वर्षों तक यज्ञ करता है। इत्यष्टादशो वर्गः ॥

[१३१]

ऋषिः सुकीर्तिः काक्षीवतः ॥ देवता—१—३, ६, ७ इन्द्रः। ४, ५ अश्विनौ

छन्दः—१ त्रिष्टुप् । २ निचृत् त्रिष्टुप् । ३ विराट् त्रिष्टुप् । ५, ६, ७ पाद-
निचृत् त्रिष्टुप् । ४ निचृदनुष्टुप् ॥ सप्तर्चं सूक्तम् ॥

अप प्राच इन्द्र विश्वाँ अमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व ।
अपोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्मन्मदेम ॥ १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) शत्रुहन्तः ! हे ऐश्वर्यवन् ! प्रभो ! (विश्वान् प्राचः शत्रून्) समस्त, अभिमुख आये प्रजा-नाशकारी शत्रुओं को (अप नुदस्व) दूर कर । हे (अभि-भूते) शत्रुओं को पराजित करने वाले ! तू (अपाचः शत्रून् अप नुदस्व) पीछे से आने वाले शत्रुओं को दूर कर । (उदीचः अप) ऊपर से जाने वालों को दूर हटा । हे (शूर) शूरवीर (अधराचः अप) नीचे से आने वालों को दूर कर । (यथा) जिससे (तव उरौ शर्मन् मदेन) तेरी बड़े भारी सुखप्रद शरण में हम सुखी हों, हर्ष लाभ करें ।

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय ।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमोवृक्तिं न जग्मुः ॥ २ ॥

भा०—(अंग) हे जल, अन्न देने वाले मेघ वा सूर्य के समान राजन् ! प्रभो ! (यव-मन्तः) जौ आदि खेतियों के स्वामी कृषक लोग जिस प्रकार (अनु-पूर्वम्) क्रमानुसार एक के बाद एक (यवं चिद् यथा दान्ति) उत्तम पके जौ आदि को काटते हैं उसी प्रकार (ये) जो (बर्हिषः) महान् यज्ञ वा प्रभु के निमित्त (नमः-वृक्तिम्) नमस्कार वा हवि आदि के वर्जन को (न जग्मुः) नहीं जाते अर्थात् नित्य प्रभु की उपासना करते और नित्य यज्ञ-दान करते हैं (एषां) उन उनको (इह इह) इस इस राष्ट्र के नाना स्थानों को भी (भोजनानि) भोग

योग्य नाना अन्नादि रक्षा के साधन (कृणुहि) कर। अर्थात् किसानों उपासकों, यज्ञकर्त्ताओं को रक्षादि से बचा।

नहि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे सङ्गमेषु।
गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः ॥३॥

भा०—(स्थूरि) एक बैलवाली, या स्थिर बैल रहित गाड़ी (ऋतु-था) ठीक २ समय पर मार्गों में या चक्रों पर भी जिस प्रकार (यातम् न अस्ति) जाने योग्य नहीं होती उसी प्रकार ऋतु-कालों में भी (स्थूरि) एक व्यक्ति से ही गृहस्थ की गाड़ी नहीं चलती। अर्थात् गाड़ी के लिये दो बैलों के समान गृहस्थ रथ के लिये भी दो उत्तम स्त्री, पुरुष, और राज्य के लिये दो, राजा और सचिव चाहियें। (उत) और (संगमेषु) संग्रामों वा मिलापों में भी (श्रवः न विविदे) अन्न, यश, कीर्त्ति, ज्ञान का लाभ नहीं होता जब तक इन्द्र अर्थात् मेघ, सूर्य, उत्तम ज्ञानवान् वीर्यवान् पुरुष प्रयोक्ता नहीं। इसलिये (विप्राः) विद्वान् लोग (गव्यन्तः) गौ, बैल, भूमि और ज्ञान-वाणी की कामना करते हुए और (अश्वयन्तः) संग्रामार्थ अश्व और अश्ववत् कार्यवाहक समर्थ पुरुष की इच्छा करते हुए और (वाजयन्तः) बल, ऐश्वर्य, ज्ञान और वेग की कामना करते हुए, (वृषणम् इन्द्रम्) बलवान्, विद्युत्वत् जलवर्षी मेघवत् और वीर्य से पुरुषवत् सुखों की वर्षा करने वाले स्वामीवत् प्रभु को (सख्याय) मित्रभाव के लिये चाहते हैं। उसकी शरण में आते हैं।

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (अश्विना) अश्ववत् उत्तम साधनों वाले, जितेन्द्रिय, स्त्री पुरुषो ! वा शास्य-शासक वर्गो ! आप दोनों (शुभः पती) शोभा-

जनक अलंकारों वा गुणों के पालन करने वाले और (सचा) एक साथ परस्पर संगत होकर (नमुचौ आसुरे) न त्यागने योग्य, अवश्य धारणीय प्राणों के द्वारा प्राप्त जीवन के निमित्त (सुरामं विपिपाना) सुखपूर्वक आनन्द प्रमोद देने वाले अन्न जल वीर्य बल आदि का विविध प्रकार से पान और पालन करते हुए, आप दोनों (कर्मसु) अपने समस्त कर्मों में (इन्द्रम् आवतम्) उस महान् ऐश्वर्य के देने वाले स्वामी प्रभु को सदा प्रेम करो। शास्य और शासक वर्ग दोनों राजा की रक्षा करें।

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः ।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥५॥

भा०—(पुत्रम् इव पितरा) पुत्र को जिस प्रकार माता और पिता दोनों पालन, रक्षा और स्नेह करते हैं उसी प्रकार (अश्विना) उत्तम अश्वों से युक्त सेना, और उत्तम अश्ववत् नायकों से युक्त प्रजागण दोनों (काव्यैः) विद्वानों से प्रदर्शित, (दंसनाभिः) नाना कर्मों से हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन् ! (त्वाम् आवथुः) तुझे प्राप्त हों, तेरी रक्षा करें, तुझे स्नेह करें। (यत्) जो तू (शचीभिः) अपनी शक्तियों से (सुरामं वि अपिबः) उत्तम रमण करने योग्य राज्यैश्वर्य को विविध प्रकारों से पालन और उपभोग करता है उस (त्वाम्) तुझको हे (मघवन्) ऐश्वर्यशालिन् ! (सरस्वती अभिष्णक्) स्त्रीवत् प्रजाजन भी सेवा करे।

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृळीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ ६ ॥
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम । स
सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु॥७।१६॥

भा०—व्याख्या देखो। (अष्ट० ४ । अ० ७ । वर्ग ३५ तदनुसार मण्डल ६ सू० ४७ । मं० १२, १३) इत्येकोनविंशो वर्गः ॥

[१३२]

ऋषिः शकपूतो नार्मेधः ॥ देवता—१ लिङ्गोक्ताः । २—७ मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—१ बृहती । २, ४ पादनिचृत् पंक्तिः । ३ पांक्तिः । ५, ६ विराट् पांक्तिः ७ महासतो बृहती ॥ सप्तर्चं सूक्तम् ॥

ई॒जा॒नमिद्द्यौर्गू॒र्तावसुरीजा॒नं भूमि॑र॒भि प्र॑भूष॒णि ।
ई॒जा॒नं दे॒वाव॒श्विना॑व॒भि सु॒म्नैर॑वर्धताम् ॥ १ ॥

भा०—(ईजानम्) यज्ञ करने वाले मनुष्य को (द्यौः) आकाश वा सूर्यवत् ज्ञानीगण, (गूर्त्त-वसुः) अपने ऐश्वर्य को हाथ में लिये (सुम्नैः) नाना सुखों से बढ़ाता है । इसी प्रकार (ईजानम्) यज्ञ करने वाले को (भूमिः) पृथिवी, तद्वासी प्रजा भी (प्र-भूषणि) प्रचुर सत्ता प्राप्त करने के निमित्त (अभि) खूब बढ़ाती हैं । (ईजानं) यज्ञशील, ईश्वरोपासक जन को (अश्विनौ देवौ) दिन रात्रिवत्, स्त्री पुरुष वर्ग भी (सुम्नैः अभि वर्धताम्) नाना सुखप्रद साधनों, पदार्थों से बढ़ावें ।

ता वां॑ मित्रावरुणा धार॒यत्क्षि॑ती सुषु॒म्नेषि॑त॒त्वता॑ यजामसि ।
यु॒वोः क्रा॒णाय॑ स॒ख्यैर॒भि ष्या॑म र॒क्षसः॑ ॥ २ ॥

भा०—हे (मित्रा वरुणा) परस्पर स्नेही एवं वरण करने वाले दो श्रेष्ठ जनो ! आप दोनों (धारयत्-क्षिती) भूमि वा भूमिवासिनी प्रजाओं को धारण करने वाले (सु-सुम्ना) उत्तम सुखदायक, उत्तम धन के स्वामी हो । (ता वाम्) उन आप दोनों को हम (इषित्वता) चाहने

योग्य वा प्राप्त होने योग्य गुण के कारण (यजामसि) पूजा वा सत्संग करते हैं। (क्राणाय) कर्म करने वाले के हितार्थ हम (युवोः सख्यैः) आप दोनों के मित्र भावों से (रक्षसः) दुष्ट पुरुषों को (अभि स्याम) पराजित करें।

अधा चिन्नु यद्दिधिषामहे वामभि प्रियं रेक्णः पत्यमानाः।
दद्वाँ वा यत्पुष्यति रेक्णः सम्वारन्नकिरस्य मघानि ॥ ३ ॥

भा०—हम (पत्यमानाः) ऐश्वर्यवान् होते हुए (वाम्) आप दोनों के (यत् प्रियम्) जिस प्रिय, प्रीतिकारक (रेक्णः) धन को (अभि दिधिषामहे) धारण करते हैं (यत् वा रेक्णः) और जिस धन को (दद्वान्) दानशील पुरुष (पुष्यति) बढाता है (अस्य) इसके (मघानि) नाना उत्तम धनों को (नकिः सम् उ आरन्) कोई भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

असावन्यो असुर सूयत द्यौस्त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा।
मूर्धा रथस्य चाकन्नैतावतैनसान्तकध्रुक् ॥ ४ ॥

भा०—हे (असुर) प्राणों को देने वाले! हे बलवन्! (असौ द्यौः अन्यः सूयत) यह सूर्यवत् तेजस्विनी, आकाशवत् व्यापक राजसभा अन्य अर्थात् एक को ही उत्पन्न करती है। हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ! तू (विश्वेषाम् राजा असि) सबों का राजा है। तू (रथस्य मूर्धा) रथ सैन्य के शिरोदेशस्थ नायकवत् महारथी है। (अन्तक-ध्रुक्) तू प्रजा के नाशक पुरुष का द्वेषी है। तू (एतावता एनसा न चाकन्) इतने थोड़े से भी पाप के साथ प्रेम नहीं करता।

अस्मिन्त्स्वे३तच्छकपूत एनो हिते मित्रे निगतान्हन्ति वीरान्।
अवोर्वा यद्धात्तनूष्ववः प्रियासु यज्ञियास्वर्वा ॥ ५ ॥

भा०—(अस्मिन् शक्र-पूते) इस शक्ति, सामर्थ्य से अभिषिक्त पुरुष में और (हिते मित्रे) हितकारक मित्र में वा सर्वप्रिय स्थापित राजा में (एतत् एनः) यह छोटासा पाप भी (निगतान् वीरान् सु हन्ति) नीचे विद्यमान वीरों को प्राप्त होता और उनका नाश करता है। इसी प्रकार (अवोः वा यत् अवः) रक्षा करने वाले का जो रक्षण बल, प्रेम, ज्ञान आदि (धात्) स्थापित होता है, वही (यज्ञियासु प्रियासु तनूषु) यज्ञ, सत्संग योग्य, प्रिय देहोंवत् प्रजाओं में भी (अर्वा) चला जाता है शासक के पाप, गुण दोष आदि शासकों और प्रजाओं में आते हैं।

युवोर्हि मातादितिर्विचेतसा द्यौर्न भूमिः पयसा पुपूतनि।
अव प्रिया दिदिष्टन सूरो निनिक्त रश्मिभिः ॥ ६ ॥

भा०—हे (वि-चेतसा) विशेष ज्ञान वाले स्त्री पुरुषो ! (युवोः हि माता) क्योंकि तुम दोनों की माता, जननी के तुल्य, तुम दोनों को बनाने वाला ज्ञानवान् पुरुष (अदितिः) अखण्ड व्रत का पालक, एवं भूमि है। (द्यौः न भूमिः) आकाश के समान यह भूमि भी (पयसा) जलवत् पुष्टिकारक अन्न से (पुपूतनि) पवित्र एवं पुष्टि करने वाली है। आप लोग (प्रिया) नाना प्रीति एवं तृप्तिकारक पदार्थ (अव दिदिष्टन) प्रदान करो और (सूरः) सूर्य अपनी (रश्मिभिः) किरणों से जैसे तेजस्वी पुरुष अपने तेजस्वी सहायकों से (निनिक्त) प्रजागण को शुद्ध करे।

युवं ह्यप्नराजावसीदतं तिष्ठद्रथं न धूर्षदं वनर्षदम्।
ता नः कणूकयन्तीर्नृमेधस्तत्रे अंहसः सुमेधस्तत्रे अंहसः॥७॥२०

भा०—हे आप दोनों (अप्नराजौ) उत्तम रूप और कर्म से

प्रकाशित होने वाले आप दोनों (रथन् आसीदतम्) रथ पर विराजो। क्योंकि जो भी (धूःसदम्) राष्ट्र भार को वहन करने वाली मुख्य धुरा पर आश्रित वा शत्रु को कंपाने और राष्ट्र को धारण करने वाली शक्ति को चलाने वाले तथा (वनःसदम्) ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले परम (रथम्) रमणीय रथवत् राज्यपद पर महारथवत् सेनापति के तुल्य विराजता है वह (नृमेधः) अनेक मनुष्यों को संगत सुगठित करने वाला होकर (नः कणूक्यन्तीः ताः) हम रोती, बिलबिलाती दुःखित प्रजाओं को (अंहसः स्तत्रे) पाप से नष्ट होने से बचालेता है। वही (सुमेधः) उत्तम बुद्धि से युक्त पुरुष, (अंहसः तत्रे) पाप से प्रजाजन को नाश होने से बचा सकता है। इति विंशो वर्गः ॥

[१३३]

ऋषिः सुदाः पैजवनः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१—३ शक्वरी । ४—६ महापंक्तिः । ७ विराट् त्रिष्टुप् ॥ सप्तर्चं सूक्तम् ॥

प्रोषु॒स्मै पु॑रोर॒थमिन्द्रा॑य शू॒षम॑र्चत ।
अ॒भीके॑ चिदु लोक॒कृत्स॒ङ्गे स॒मत्सु॑ वृत्र॒हास्माकं॑ बोधि
चोदि॒ता नभ॑न्तामन्य॒केषां॑ ज्या॒का अधि॒ धन्व॑सु ॥ १ ॥

भा०—(अस्मै इन्द्राय) शत्रुओं के नाश करने वाले, तेजस्वी इस पुरुष के (पुरः रथम् शूषम्) रथ के आगे २ विद्यमान बल की (अर्चत) स्तुति करो। वह (अभीके संगे) भय रहित परस्पर मिलाप में (लोक-कृत्) समस्त लोकों का उपकार करता है, और (समत्सु वृत्रहा) संग्रामों में शत्रुओं का नाश करने हारा है। वह (अस्माकं चोदिता) हमें सन्मार्ग में प्रेरित करने वाला (बोधि) हमारा हित जाने। (अन्य-केषां धन्वसु) दूसरे शत्रुओं के धनुषों पर (अधि) (ज्याकाः) डोरियां (नभन्ताम्) नष्ट हों वा धनुषों पर को डोरियों को चढ़ाये हुए शत्रु नष्ट हों।

त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम् ।
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं । तं त्वा परि ष्वजामहे नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ २ ॥

भा०—हे स्वामिन् ! (त्वं) तू (सिन्धून्) बहने वाले नद और नदियों के समान वेग से जाने वाले सैन्य वा शत्रुओं को (अधराचः अव असृजः) नीचे करता है। (अहिम् अहन्) मेघ को सूर्यवत् और सर्पवत् कुटिल स्वभाव के पुरुष को नाश करता है। तू (अशत्रुः जज्ञिषे) शत्रु रहित हो जाता है। (विश्वं वार्यं पुष्यसि) समस्त उत्तम वरण करने योग्य धन को पुष्ट करता है। (तं त्वा परि ष्वजामहे) उस तुझ को हम सब प्रकार से अपनाते हैं। (नभन्ताम्० इत्यादि) पूर्ववत्।

वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः ।
अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति । या ते रातिर्ददिर्वसु नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ३ ॥

भा०—(विश्वाः अर्यः अरातयः) समस्त शत्रु जो कर नहीं देते (वि सु नशन्त) वे विविध प्रकार से सुखपूर्वक नष्ट हों। और (नः धियः त्वा नशन्त) हमारी स्तुतियां और बुद्धियां तुझे प्राप्त हों वा हमारे कर्म भली प्रकार चलें, (इन्द्र) हे राजन् ! (यः नः जिघांसति) जो हमें मारना चाहता है उस (शत्रवे) शत्रु के नाश करने के लिये उस पर (वधं अस्ता असि) तू वध-दण्ड देने वाला हो। (ते रातिः वसु ददिः) तेरा दान, वा दानशील हाथ हमें धन प्रदान करे। (नभन्ताम्०) इत्यादि पूर्ववत्।

यो न इन्द्राभितो जनो वृकायुरादिदेशति ।
अधस्पदं तमीं कृधि विबाधो असि सासहिर्नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तेजस्विन् ! (यः) जो (वृकायुः जनः) भेड़िये वा चोर के समान हमारे पास आने वाला, वा चोर-स्वभाव का मनुष्य (नः अभितः) हमारे सब ओर (आदिदेशति) हम पर हिंसा का प्रयोग करता, शस्त्रादि फेंकता है, (तम् ईं अधः पदं कृधि) उसको हमारे पैर के नीचे, पदाधिकार के नीचे कर । तू (विबाधः असि) शत्रुओं को विशेष रूप से पीड़ित करने वाला है । तू (सासहिः असि) शत्रुओं को पराजित करनेवाला है । (नभन्ताम्०) इत्यादि पूर्ववत् ।

यो न इन्द्राभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः ।
अव तस्य बलं तिर महीव द्यौरध त्मना
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (यः नः अभि दासति) जो हमारा नाश करता है और (यः) जो (सनाभिः) हमारा सगोत्र होकर भी (निष्ट्यः) नीच स्वभाव का है तू (तस्य बलं अव तिर) उसके बल का नाश कर । तू (त्मना) अपने सामर्थ्य से स्वयं (मही व द्यौः) भूमि और सूर्य के तुल्य महान् और तेजस्वी हो । (नभन्ताम्०) इत्यादि पूर्ववत् ॥

वयमिन्द्र त्वायवः सखित्वमारभामहे ।
ऋतस्य नः पथा नयाति विश्वानि दुरिता
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (वयम्) हम लोग (त्वायवः) तेरी कामना करते हुए, तुझे प्राप्त होते हुए (सखित्वम् आरभामहे) तेरे मित्र भाव को प्राप्त करें । तू (नः) हमें (ऋतस्य पथा नय) सत्य के मार्ग से ले चल । और हमें (विश्वानि दुरिता अति) सब

बुरे पापों वा पाप के दुःखदायी फलों से भी पार कर। (नभन्ताम्०) इत्यादि पूर्ववत्।

अस्मभ्यं सु त्वमिन्द्र तां शिक्ष या दोहते प्रति वरं जरित्रे।
अच्छिद्रोध्नी पीपयद्यथा नः सहस्रधारा पयसा मही गौः॥७।२१॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! हे वाणी, वेदवाणी वा शासनाज्ञा को देने वाले! तत्वदर्शिन्! (त्वं) तू (अस्मभ्यम्) हमें (तां शिक्ष) यह वाणी प्रदान कर। (या) जो (अच्छिद्र-ऊध्नी) त्रुटि दोषादि से रहित स्तनों वाली गौ के तुल्य होकर (जरित्रे) स्तुतिकर्त्ता विद्वान् को (प्रति) प्रत्यक्ष या प्रतिसमय, (दोहते) रस प्रदान करे। (यथा) जो (सहस्र-धारा) हज़ारों धारा वाली, हज़ारों वाणी वाली, (गौः मही) भूमिवत् पृथिवी और पृथिवीवत् गौ, और पूज्य वाणी, (नः पीपयत्) हमें पुष्ट करे। इत्येकविंशो वर्गः॥

[१३४]

ऋषिः मान्धाता यौवनाश्वः। ६, ७ गोधा॥ इन्द्रो देवता॥ छन्दः—१--६ महापंक्तिः। ७ पंक्तिः॥ सप्तर्चं सूक्तम्॥

उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव। महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनां देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥१॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (यत्) जो या जब तू (उषाः इव) प्रभात के समान (रोदसी आपप्राथ) द्यौ और पृथिवी, प्रकाशमान और अप्रकाशमान, बीजवप्ता और बीजग्रहीता, माता पिता आदि को रचता है, तब (महीनां चर्षणीनाम्) पूज्य, बड़े लोकों और बड़ी २ शक्तियों के बीच (महान्तं सम्राजं) महान् प्रकाशक को प्राप्त होकर (जनित्री देवी) संसार भर को उत्पन्न करने वाली, सुखदात्री प्रकृति

(अजीजनत्) संसार को उत्पन्न करती है। (भद्रा) समस्त ऐश्वर्यों की स्वामिनी, कल्याणकारिणी प्रकृति (जनित्री) जगत् को माता पिता के तुल्य उत्पन्न करने वाली जगत् को (अजीजनत्) उत्पन्न करती है। जैसे ईश्वर और प्रकृति के जोड़े से जगत् उत्पन्न होता है उसी प्रकार सूर्य और पृथिवी के जोड़े से अन्न मेघादि और अनेक जीव तथा जीवों में पुरुष-स्त्री के भोग से पुत्र-सर्ग उत्पन्न होता है।

अव॑ स्म दु॒र्हणा॒यतो॒ मर्त॑स्य तनु॒हि स्थि॒रम् ।
अ॒ध॒स्प॒दं तमीँ॑ कृधि॒ यो अ॒स्माँ आ॒दिदे॑शति
दे॒वी जनि॑त्र्यजीजनद्भ॒द्रा जनि॑त्र्यजीजनत् ॥ २ ॥

भा०—(दुः-हनायतः मर्त्तस्य) दुःखदायी रूप से हिंसा करने वाले दुष्ट पुरुष के (स्थिरम्) दृढ़ बल को (अव तनुहि) नीचे गिरा। और (यः अस्मान् आदिदेशति) जो हम पर हुक्म चलाता हो, (तम् ईम्) उस दुष्ट पुरुष को भी (अधः पदम् कृधि) हमारे चरणों के नीचे कर। (देवी जनित्री० इत्यादि) पूर्ववत्।

अव॒ त्या बृ॑ह॒तीरिषो॑ वि॒श्वश्च॑न्द्रा अमित्रहन् ।
शची॑भिः शक्र धूनु॒हीन्द्र॒ विश्वा॑भिरू॒तिभि॑-
र्दे॒वी जनि॑त्र्यजीजनद् भ॒द्रा जनि॑त्र्यजीजनत् ॥ ३ ॥

भा०—हे (शक्र) शक्तिशालिन्! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! हे (अमित्र-हन्) शत्रुओं को दण्डित करने हारे! तू (त्याः) उन (बृहतीः इषः) बड़ी २ अन्न सम्पदाओं और (विश्व-चन्द्राः) सबको आह्लाद करने वाली सम्पत्तियों और प्रजाओं को अपनी (शचीभिः) शक्तियों, और वाणियों से और (विश्वाभिः ऊतिभिः) समस्त रक्षा करने वाली शक्तियों से, (अव धूनुहि) कम्पित कर, सञ्चालित कर, वश कर। (देवी जनित्री० इत्यादि) पूर्ववत्।

अव यत्त्वं शतक्रतविन्द्र विश्वानि धूनुषे। रयिं न सुन्वते सचा सहस्त्रिणीभिरूतिभिर्देवी जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत् ४

भा०—हे (शत-क्रतो) सैकड़ों कर्म बल, ज्ञान सामर्थ्यों वाले ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (विश्वानि) सब तत्त्वों को (अव धूनुषे) सञ्चालित करता है, और (सहस्र-णीभिः ऊतिभिः) सहस्रों सुखों को प्राप्त कराने वाली रक्षाओं से (सुन्वते) अपने उपासक को (रयिं न अव सुन्वते) ऐश्वर्य भी प्रदान करता है। (देवी जनित्री०) इत्यादि पूर्ववत् ॥

अव स्वेदा इवाभितो विष्वक्पतन्तु दिद्यवः। दूर्वाया इव तन्तवो व्य१स्मदेतु दुर्मतिर्देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥५॥

भा०—हे प्रभो ! (दिद्यवः) हमारे चमचमाते शस्त्र वा ज्ञान-प्रकाश, (स्वेदाः इव) पसीने के बिन्दुओं या स्नेहों के तुल्य (विष्वक् अव पतन्तु) सब ओर जावें (दूर्वायाः इव तन्तवः) घास के तिनकों के समान (दुर्मतिः अस्मत् वि एतु) दुष्ट बुद्धि वा दुःखदायी शत्रु हम से दूर हो। (देवी जनित्री०) पूर्ववत् ॥

दीर्घं ह्यङ्कुशं यथा शक्तिं बिभर्षि मन्तुमः। पूर्वेण मघवन्पदाजो वयां यथा यमो देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥ ६ ॥

भा० —हे (मन्तुमः) ज्ञानवन् ! हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! तू (शक्तिं) शक्ति को (दीर्घं हि अंकुशं यथा) दीर्घ अंकुश के समान ही (बिभर्षि) धारण करता है। तू (यमः) सर्वनियन्ता होकर (अजः यथा) जिस प्रकार बकरा (पूर्वेण पदा वयाम्) अपने अगले पैर से शाखा को पकड़ उसके पत्ते खाजाता है उसी प्रकार तू (अजः) अजन्मा, जगत् का चालक (पूर्वेण पदा) अपने सर्वोत्कृष्ट ज्ञान सामर्थ्य से (वयां) व्यापक प्रकृति को (बिभर्षि) धारण करता और व्यापता है।

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि संरभामहे ॥ ७ ॥ २२ ॥

भा०—गोधानाम्नी ब्रह्मवादिनी, ऋषिः। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (नकिः मिनीमसि) हम किसी की हिंसा न करें। (नकिः आयोपयामसि) हम किसी बात की गड़बड़ न करें। (पक्षेभिः अपिकक्षेभिः) पक्षों, ग्रहण करने योग्य अपनों, वा स्ववेद शाखा-प्रशाखाध्यायियों और कक्षों, सहयोगियों सहित (अत्र अभि संरभामहे) इस लोक में प्रेम से समस्त कार्य करें और उत्तम फल प्राप्त करें। इति द्वाविंशो वर्गः ॥

[१३५]

ऋषिः कुमारो यामायनः ॥ देवता—यमः ॥ छन्दः—१—३ ५, ६ अनुष्टुप्। ४ विराडनुष्टुप्। ७ भुरिगनुष्टुप् ॥ सप्तर्चं सूक्तम् ॥

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥ १ ॥

भा०—(यस्मिन्) जिस (सु-पलाशे) उत्तम पत्रों से युक्त (वृक्षे) आश्रय वृक्ष के तले वा उस पर, (यमः) नियन्ता, आत्मा वा यतात्मा साधक, (देवैः) सुखप्रद और ज्ञानप्रद इन्द्रियों से ही (पुराणान् संपिबते) पूर्व के किये कर्मफलों का भोग करता है, (अत्र) उसी वृक्ष पर (नः) हमारा (विश्पतिः) प्रजापति, आत्मा इन्द्रियादि का अधिष्ठाता, (पुराणान् अनु वेनति) पूर्व भुक्त भोगों को पुनः भी चाहता है। वह 'वृक्ष' यह देह या संसार है।

पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः ॥ २ ॥

भा०—(पुराणान्) पूर्व भुक्त भोगों को (अनु वेनन्तं) पुनः

कामना करते हुए और (अमुया पापया चरन्तं) अमुक २, नाना पापों, कष्टों, भोगों को भोगते हुए पुरुष को (असूयन्) निन्दा या दोष दृष्टि से (अभि अचाकशम्) देखूं, परन्तु फिर भी मैं (तस्मै) उस पर (अस्पृहयम्) प्रेम करूं, पापी को पाप के कारण बुरा भी कहूँ, तो भी उससे स्नेह करूं। अथवा मैं पापकारी को दुःख भोगता देख कर उसे बुरा कहता हुआ भी (तस्मै अस्पृहयम्) उस पाप कर्म के लिये मैं स्वयं चाहने लगता हूँ। कैसा पतनशील हूं।

यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसाकृणोः।
एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधि तिष्ठसि ॥ ३

भा०—हे (कुमार) अनुभवी बालक ! अल्पज्ञ जीव ! (यं नवं) जिस नये (अचक्रम्) बिना चक्र अर्थात् स्वयं गतिशीलता से रहित रथ रूप रमणकारी, सुखदायक, प्रिय देह को (मनसा) अपने मन रूप सारथि द्वारा (अकृणोः) चलाता है, उस (एक-इषम् एक-ईषम्) एक अन्न मात्र या इच्छा रूप 'ईषा' अर्थात् अग्रदण्ड वाले और (विश्वतः प्राञ्चम्) सब ओर से आगे बढ़ने वाले देह रूप रथ पर (अपश्यन्) उसको बिना देखे ही, उसके रचना तत्त्व, यन्त्र-संस्थान के देखे बिना ही (अधि तिष्ठसि) उस पर सवार हो जाता है।

यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि।
तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (कुमार) अनभिज्ञ बालकवत् अल्पज्ञ अबोध जीव ! (यं रथं) जिस रथरूप देह को तू (विप्रेभ्यः परि) ज्ञानवान् पुरुषों से रहित होकर (प्र अवर्त्तयः) चला रहा है (तं) उसको (नावि आहितम्) नाव से बंधे रथ के तुल्य, (नावि आहितं) वाणी में स्थिर (साम) विशेषज्ञान बल (अनु प्र अवर्तत) दिनों दिन अच्छी

प्रकार प्राप्त होता जाता है। वह अनुभव से ज्ञानवाणी के द्वारा अधिक ज्ञानवान् हो जाता है।

कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत्।
कः स्वित्तदद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथा भवत् ॥ ५ ॥

भा०—(कुमारं कः अजनयत्) इस अबोध बालकवत् जीव को कौन पैदा करता है ? (कः रथं निर् अवर्त्तयत्) रथ रूप इस देह को निरन्तर कौन चलाता है ? इसका कौन तो कर्त्ता और कौन संचालक है, (तत्) उस परम रहस्य को (कः स्वित् नः) कौन हमें (अद्य) आज (अवदत्) बतलावे (यथा) जिस प्रकार से (अनुदेयी अभवत्) निरन्तर रक्षाकारिणी या ज्ञान-बलदात्री शक्ति वा इन्द्रियशक्ति उत्पन्न हो।

यथाभवदनुदेयी ततो अग्रमजायत।
पुरस्ताद् बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम् ॥ ६ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार से या जिस कारण से (अनुदेयी अभवत्) प्रति दिन की रक्षा वा अनुक्षण देने, वा त्यागने योग्य, प्राण क्रिया या भोजन देने योग्य आत्मातिरिक्त देहादि की क्रिया होती है। (ततः) उसी से वह (अग्रम्) सबसे मुख्य तत्त्व मन भी (अजायत) उत्पन्न होता है। (पुरस्ताद्) उसके आगे (बुध्नः आततः) मूल प्रकृति या मूल आश्रय रूप सत् कारण ही फैला होता है अर्थात् पूर्व और पश्चात् (निर्-अयनं कृतम्) उसमें से यह जगत् निकल कर व्यक्त रूप से बनाया है।

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥ ७ ॥ २३ ॥

भा०—(यत् देवमानं उच्यते) जो देवों, इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान वा पांचों भौतिक पदार्थों की मात्राओं से बना कहा जाता है (इदं) यह (यमस्य सादनं) नियन्ता शासक बल राजा का मुख्य आसन (भवन) है। (इयम्) यह उसकी (नाडी) बाद्य भेरी आदि के तुल्य ही आत्मा की नाड़ी वा वाणी (धम्यते) गति या शब्द करती है। और (अयम्) यह (गीर्भिः) नाना वाणियों से (परिष्कृतः) सुशोभित होता है। इति त्रयोविंशो वर्गः॥

[१३६]

ऋषिः मुनयो वातरशनाः। देवता—१ जूतिः। २ वातजूतिः। ३ विप्रजूतिः। ४ वृषाणकः। ५ करिक्रतः। ६ एतशः। ७ ऋष्यशृगः॥ केशिनः॥ छन्दः—१ विराडनुष्टुप्। २—४,७ अनुष्टुप्। ५,६ निचृदनुष्टुप्। सप्तर्चं सूक्तम्॥

केश्य१ग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ १॥

भा०—(केशी) बालों के तुल्य नाना रश्मियों को धारण करने वाला सूर्य (अग्निं बिभर्त्ति) अग्नि को धारण करता है, वही (केशी) तेजों रश्मियों से युक्त सूर्य (विषं बिभर्त्ति) जल को धारण करता है। (केशी रोदसी बिभर्त्ति) वही रश्मियों वाला भूमि और आकाश दोनों लोकों को धारण करता है। (केशी) वह रश्मियों वाला ही (दृशे) दर्शन करने के लिये आखों के हितार्थ, सब प्रकार का प्रकाश धारण करता है, (इदं ज्योतिः केशी उच्यते) यह प्रत्यक्ष ज्योति केशी कहाता है। इसी प्रकार अग्नि, [ताप] जल, आकाश, भूमि और प्रकाश [आकाश] को धारण करने वाला प्रभु 'केशी' है। वह ज्योतिर्मय है।

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥ २॥

भा०—(यत्) जब (देवासः) नाना इन्द्रियगण (वातस्य अनु ध्राजिं यन्ति) प्रबल प्राण के वेग के साथ २ अनुकूल होकर गति करते हैं तब (वात-रशनाः) वायु या प्राणमात्र का भोजन करने वाले, प्राणाभ्यासी, (मुनयः) मननशील, (पिशंगा) अति उज्ज्वल पीत वर्णों को धारण करते हैं और (यत्) जब (देवासः) वे इन्द्रियगण (अविक्षत) भीतर प्रवेश करते हैं तब वे (वातरशनाः) वायु याण के भोक्ता, उपजीवी नाना प्राण (मला वसते) मानो तन्द्रा, आलस्य रूप मलिन तामस रूपों को धारण करते हैं। जाग्रत् काल में वे चेतन चमकते दीपकों के तुल्य होते हैं और सोते समय वे अन्धकारमय होते हैं।

उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ ॥ ३ ॥

भा०—प्राणगण कहते हैं—(वयम्) हम (मौनेयेन) मननशील अन्तःकरण के भी स्वामी आत्मा द्वारा (उन्मदिताः) उत्तम हर्षयुक्त होकर (वातान् आतस्थिम) केवल प्राणों, वायुओं के आश्रय पर विराजते हैं। हे (मर्त्तासः) मनुष्यो! (यूयं मर्त्तासः) आप मरणधर्मा लोग (शरीरा इत् अस्माकं अभि पश्यथ) हमारे शरीरमात्र, अर्थात् बाह्य आकृति मात्र ही को देख सकते हो। भीतरी रूप को नहीं।

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत्।
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः ॥ ४ ॥

भा०—(मुनिः) मननशील, विज्ञानमय आत्मा वा मनः सत्व, (अन्तरिक्षेण) भीतरी व्यास साधन या बल से (पतति) गति करता है और (विश्वा रूपा अव चाकशत्) समस्त रूपों वा रुचिकर पदार्थों को देखता है। वह (देवस्य-देवस्य) प्रत्येक इन्द्रिय के (सौकृत्याय)

उत्तम रूप से कार्य करने के लिये उसके (सखा) समान नाम रूप वाला मित्रवत् होकर (हितः) उसमें विराजता है ।

यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः । अथ यो वेद इदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम् । अथ यो वेद इदमभिव्याहराणि इति स आत्मा अभिव्याहाराय वाग् । अथ यो वेदेदं श्रृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् । अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्मद्दैवं चक्षुः । स वा एता एतेन दैवेन चक्षुषा मनसा एतान् कामान् पश्यन् [रमते] छान्दोग्य उप० अ० ८ ख० १३ ॥

यदेतम् हृदयं मनश्चेतत् । संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टि-र्धृतिर्मनीषा, जूति स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति । छा० एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः ॥ प्रश्न० प्र० ४ । ९ ॥

वातस्याश्वो वायोः सखाथ देवेषितो मुनिः ।
उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः ॥ ५ ॥

भा०—यह (मुनिः) मननशील आत्मा वा मन (वातस्य अश्वः) वायु अर्थात् प्राण का भोक्ता, और (वायोः सखा) वायु का मित्र के तुल्य समान नाम वा स्थान वाला, प्राण आदि शब्द से कहने योग्य अथ (देव-इषितः) देवों विद्वानों और इन्द्रियों द्वारा भी चाहने योग्य, वा देव तेज, बल के देने वाले प्रभु या आत्मा से 'इषित' प्रेरित होकर (यः च पूर्वः उत अपरः) जो पूर्व या जो अपर हैं (उभौ समुद्रौ) दोनों समुद्रों, हर्षदायक स्थानों को (आ क्षेति) प्राप्त होता है । अथवा जो आत्मा स्वयं (पूर्वः उत च अपरः) स्वयं ही पूर्व और स्वयं ही अपर अर्थात् पश्चात् भी रहने वाला है । दो समुद्र कौन से हैं ? मन के पक्ष में स्वप्न और जाग्रत् । भीतर और बाहर, बाहर का पूर्व और भीतर का अपर [न-परः अपरः] स्वप्न अर्थात्

जो अपने से भिन्न नहीं। अथवा वह आत्मा स्वयं ही पूर्व अर्थात् इस शरीर धारण से पूर्व विद्यमान होता है और स्वयं ही अपर अर्थात् शरीर धारण के बाद भी रहेगा।

अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन्।
केशी केतस्य विद्वान्त्सखा स्वादुर्मदिन्तमः॥ ६॥

भा०—(अप्सरसां) स्त्रियों और (गन्धर्वाणां) मनुष्यों और (मृगाणां) पशुओं का (सखा) मित्र होकर (केशी विद्वान्) तेजस्वी विद्यावान् पुरुष (केतस्य) ज्ञान के (चरणे चरन्) मार्ग में विचरता हुआ (सु-आदुः) उत्तम सुख का भोक्ता और (मदिन्तमः) सबसे अधिक सुप्रसन्न और अन्यों को प्रसन्न और आनन्दित करने हारा होता है। अध्यात्म में—आत्मा (अप्सरसां) 'अप्स' अर्थात् रूपों में विचरण करने वाली, और (गन्धर्वाणां) गन्ध में विचरने वाली चक्षु, नासिकादि और (मृगाणां) नाना विषयों को खोजने वाली इन्द्रियों के (चरणे) संचरण-व्यापार में (चरन्) अपने कर्मफल का भोग करता हुआ (केतस्य विद्वान्) ज्ञान का ज्ञाता आत्मा (सखा) उनके ही समान चक्षु आदि नाम का धारक होकर (स्वादुः) सुख का भोक्ता और (मदिन्तमः) सबसे अधिक आनन्दयुक्त होता है। वही आत्मा (केशी) तेजोमय है।

वायुरस्मा उपामन्थत्पिनष्टि स्मा कुनन्नमा।
केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणापिबत्सह॥ ७॥ २४॥

भा०—जिस प्रकार (केशी) सूर्य (रुद्रेण सह) वायु या गर्जनयुक्त मेघ या विद्युत् के साथ (पात्रेण) पान साधन रश्मिजाल से (विषस्य अपिबत्) जल का पान करता है, और (वायुः अस्मै उप अमन्थत्) वायु इसको आलोडित करता है और (कुनन्नमा) पृथिवी की

और वेग से जाने वाली विद्युत् (पिनष्टि) जलराशि को पीस २ कर मानों बिन्दु २ करती है। उसी प्रकार (केशी) ज्योतिर्मय आत्मा (रुद्रेण सह) प्राण के साथ (पात्रेण) पान या पालन करने के आधार घटवत् इस देह से ही (विषस्य = वि-सस्य) विविध प्रकार से भोगने योग्य कर्मफलों का (अपिबत्) उपभोग करता है। (वायुः अस्मै उप अमन्थीत्) प्राण वायु मानो उसके लिये रस का निचोड़न करता है। और (कुनंनमा) ध्वनि २ पर झुकने वाली जिह्वा अर्थात् मुख उसके लिये ही (पिनष्टि) अन्न पीसता है। खाता है।

(कुनन्नमा) कुनं, क्वणं ध्वनिं कर्तुं नमति प्रह्वीभवति या साजिह्वा। सुखोपलक्षणमेतत्।

वायु उसके लिये श्वास-प्रश्वास द्वारा मानो रक्तांश को पुनः २ बिलोता है। इति चतुर्विंशो वर्गः॥

[१३७]

ऋषिः सप्त ऋषय एकर्चाः॥ विश्वेदेवा देवताः॥ छन्दः—१, ४, ६ अनुष्टुप्। २, ३, ५, ७ निचृदनुष्टुप्॥ सप्तर्चं सूक्तम्॥

उत दे॑वा॒ अव॑हितं॒ देवा॒ उन्न॑यथा॒ पुन॑ः।
उ॒ताग॑श्च॒क्रुषं॑ दे॒वा दे॑वा जी॒वय॑था॒ पुन॑ः॥ १॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् तेजस्वी पुरुषो! आप लोग (अव-हितम्) नीचे गिरे पड़े को (उत् नयथ) ऊपर उठाओ। कैसे? जैसे रश्मिगण नीचे स्थित जल को उठा लेते हैं। हे (देवाः) उत्तम गुणवान् विद्वानो! (पुनः उत् नयथ) बार २ उठाओ। (उत) और हे (देवाः) विद्वान् लोगो! (आगः चक्रुषं) अपराध और पाप करने वाले को भी (उत् नयथ) ऊपर उठाओ! हे (देवाः) दानशील, उदार पुरुषो! बख़शने वाले (पुनः जीवयथ) मेघों के समान बार २ जीवन प्रदान करो।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः ॥ २ ॥

भा०—(इमौ) ये (द्वौ) दो (वातौ) प्रबल वायु (वातः) वेग से बहते हैं, एक तो (आ सिन्धोः) समुद्र से और दूसरा (आ परावतः) दूर के स्थल भाग से। उन दोनों में से (अन्यः) एक तो (दक्षम् आ वातु) जल, अन्न, बल, जीवन, उत्साह प्राप्त कराता है और (अन्यः) दूसरा (यत् रपः) जो देह या देश में मल, पाप है उसको (परा वातु) दूर उड़ा लेजाता है अर्थात् समुद्र से आने वाला मानसून जल-अन्न प्राप्त कराता है। स्थल से आने वाली आंधी प्रचण्ड वात रोगों को हरती है। (२) इसी प्रकार देह में आकाश से आने वाला, भीतर को जाने वाला श्वास देह में बल जीवन देता है और बाहर छोड़ा हुआ निःश्वास हमारे शरीर के रोगकारी अंश को दूर करता है।

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः ।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥

भा०—हे (वात) वायो ! तू (भेषजं आ वाहि) व्याधि शान्त करने वाला बल प्रदान कर, (यत् रपः) जो रोगकारी मल हो उसको (वि वाहि) विविध प्रकार से निकाल। (त्वं) तू (विश्व-भेषजः) समस्त रोगों को दूर करने वाला, (देवानां दूतः) सब उत्तम तेजों या गुणों, सुखों को प्राप्त कराने वाला है।

आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः ।
दक्षं ते भद्रमाभार्षं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ४ ॥

भा०—मैं (त्वा) तुझे (शं-तातिभिः) शान्ति सुख देने वाले और (अरिष्ट-तातिभिः) अहिंसाकारी, मृत्यु-नाशक उपायों सहित (आ

अगमम्) प्राप्त होता हूं। हे रोगी ! हे मनुष्य, मैं (ते भद्रं दक्षम्) तेरे लिये कल्याणकारी सुखजनक बल और अन्नादि (आभार्षम्) प्राप्त करता हूं। और (ते यक्ष्मम्) तेरे रोग को (परा सुवामि) दूर करता हूं।

त्रायन्तामिह देवास्त्रायतां मरुतां गणः।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ५ ॥

भा०—(इह) इस लोक में (देवाः) ज्ञानशक्ति, देने वाले, विद्वान् धनवान् और तेजस्वी पुरुष और रश्मियें, (त्रायन्ताम्) हमारी रक्षा करें। और (मरुतां गणः त्रायताम्) वायुओं और विद्वान्, बलवान् मनुष्यों का समूह हमारी रक्षा करे। और (विश्वा भूतानि) समस्त पांचों भूत भी (त्रायन्ताम्) उसकी रक्षा करें। (यथा) जिससे (अयम्) यह (अरपाः असत्) रोग और पाप से रहित हो।

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ६ ॥

भा०—(आपः इत् वा उ) जल ही (भेषजीः) समस्त रोगों को दूर करने वाले और (अमीव-चातनीः) रोग-कारणों को नाश करने वाले हैं। (आपः सर्वस्य भेषजीः) जल सब रोगों के औषध हैं (ताः ते भेषजं कृण्वन्तु) वे तेरे लिये रोग नाशक हों।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां त्वा ताभ्यां त्वोप स्पृशामसि ॥ ७ ॥ २५ ॥

भा०—(दश-शाखाभ्यां हस्ताभ्याम्) दस शाखाओं वाले दोनों हाथों के साथ (वाचः पुरोगवी) वाणी को आगे फेंकने वाली (जिह्वा) जीभ है। (ताभ्यां अनामयित्नुभ्याम्) उन रोगहारी दोनों हाथों से (त्वा उप स्पृशामसि) हम तुझे स्पर्श करते हैं। इति पञ्चत्रिंशो वर्गः ॥

[१३८]

ऋषिरंग औरवः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ४, ६ पादनिचृज्जगती । २ निचृज्जगती । ३, ५ विराड् जगती ॥ षड्च सूक्तम् ॥

तव त्य इन्द्र सख्येषु वह्नय ऋतं मन्वाना व्यदर्दिरुर्वलम् । यत्रा दशस्यन्नुषसो रिणन्नपः कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः ॥ १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) विद्युत् के समान तीक्ष्ण कान्ति वाले स्वामिन् ! (त्ये) वे (वह्नयः) ज़िम्मेवारी और कर्त्तव्य को अपने ऊपर लेने वाले जन (तव सख्येषु) तेरे मित्रभावों में (ऋतम् मन्वानाः) सत्य ज्ञान का मनन करते हुए, (बलम्) घेर लेने वाले अज्ञानान्धकार के मोह को (वि अर्दर्दिरुः) विविध उपायों से छिन्न भिन्न कर देते हैं । (यत्र) जिस स्थिति में तू भी प्रभो ! (उषसः) कार्यों को दग्ध करने वाली शक्तियों को वा कान्तियुक्त विशोका, ऋतंभरा प्रज्ञाओं को (दशस्यन्) प्रदान करता हुआ और (अपः रिणन्) कर्म बन्धनों को दूर करता हुआ, सत्कर्म करता हुआ, (कुत्साय) स्तुति करने वाले भक्तजन के (मन्मन्) मननशील अन्तःकरण में विद्यमान (अह्यः) मेघ के तुल्य आवरण को सूर्य के समान ही (दंसयः) नष्ट करता है । (२) भौतिक संसार में (ऋतं मन्वानाः) जल का स्तम्भन करने वाले, जल ढोने वाले वायुगण 'वह्नि' हैं । वे विद्युतें या सूर्य के सम्पर्क में आकर मेघ को छिन्न भिन्न करते हैं । वही इन्द्र, विद्युत् दीप्तियां करता, जल को नीचे गिराता और मेघ का नाश करता है ।

अवासृजः प्रस्वः श्वञ्चयो गिरीनुदाज उस्रा अपिबो मधु प्रियम् । अवर्धयो वनिनो अस्य दंससा शुशोच सूर्य ऋतजातया गिरा ॥ २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (प्र-स्वः) खूब अन्नादि उत्पन्न

करने वाली शक्तियों को मेघ से जल धाराओं के तुल्य ही (अव असृजः) प्रेरित करता है। (गिरीन् अज्रयः) मेघ को तू ही प्रेरिता है, (उस्राः उत् आजः) किरणों को तू ही फेंकता है और (प्रियम् मधु अपिबः) सबको तृप्त करने वाले जल को तू ही पान कर लेता है। (अस्य वनिनः) इस जल और तेज से युक्त मेघ वा विद्युत् के (दंससा) कर्म से (अवर्धयः) प्रजा अन्नादि की वृद्धि करता है, और (ऋत-जातया गिरा) जल को जन्म देने वाली, जल को वर्षण करने वाली माध्यमिका वाग् विद्युत् की कान्ति से (सूर्यः शुशोच) सूर्य ही अति उज्ज्वल रूप में चमकता है। इसी प्रकार वह प्रभु उत्पादक शक्तियों को प्रेरित करता, मेघों को प्रेरित करता, सूर्यादि को चलाता, मधुर अन्न जल का पान कराता, और (वनिनः) भक्तों को बढ़ाता है। (अस्य दंससा) इस प्रभु के ही दर्शनीय कर्म से (सूर्यः शुशोच) सूर्य चमकता है, और इसी की (ऋत-जातया गिरा) सत्य ज्ञान के देने वाली वेदवाणी से (सूर्यः) तेजस्वी विद्वान् सूर्य के तुल्य चमकता है।

वि सूर्यो मध्ये अमुचद्रथं दिवो विदद्दासाय प्रतिमानमार्यः।
दृळ्हानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्वना॥३॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य (दिवः मध्ये) आकाश के मध्य में (रथम् वि अमुचत्) अपने रमणीय तेज को विविध प्रकार से छोड़ता है। वह (आर्यः) श्रेष्ठ, तेजस्वी वा सञ्चालक वायु (दासाय) सेवकवत् जलदाता मेघ को (प्रति-मानं विदत्) अपना बल प्राप्त कराता है। और (इन्द्रः) मेघ के जल को छिन्न भिन्न करने वाली विद्युत् (ऋजि-श्वना) सरल मार्ग में जाने वाले वायु सहित (चकृवान्) कार्य करता हुआ, (पिप्रोः) जल से भरे (मायिनः) कुहरे की सीमा वाले (असुरस्य) प्रकाश से रहित वा प्राणिमात्र को प्राण देने वाले मेघ के (दृढ़ानि) दृढ़, कठिन हुए जलांशों को (वि आस्यत्) विविध प्रकार

से भूमि पर फेंकता है। इसी प्रकार, (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष, (दिवः मध्ये रथं अमुचत्) पृथिवी के बीच अपना रथ, या वेगवान् अश्व छोड़े और (दासाय प्रतिमानम् अविदत्) नाशकारी दुष्ट शत्रु के लिये पूरा प्रतिकार, प्रतिद्वन्द्वी बल का प्रयोग करे, (ऋजिश्वना चक्रवान्) ऋजु, उत्तम रीति से सधे अश्वों वाले सैन्य से विजय करता हुआ (मायिनः पिप्रोः असुरस्य) मायावी, बली शत्रु के (दृढानि वि आस्यन्) दृढ़ दुर्गों को भी तोड़े वा (ऋजिश्वना पिप्रोः दृढ़ानि चक्रवान्) सधे सैन्य से शत्रु के दृढ़ स्थानों को नाश करता हुआ उसको विविध प्रकार से नाश करे।

अनाधृष्टानि धृषितो व्यास्यन्निधीरदेवाँ अमृणदयास्यः।
मासेव सूर्यो वसु पुर्यमा ददे गृणानः शत्रूँरशृणाद्विरुक्मता ॥ ४ ॥

भा०—वह राजा (धृषितः) शत्रु को पराजित करने वाला (अनाधृष्टानि) अपीड़ित, अपराजित शत्रु-बलों को (वि आस्यत्) विशेष रूप से पीड़ित करे। (अदेवान्) कर न देने वाले (निधीन्) बल, धन के स्वामियों को (अयास्यः) स्वयं अनथक परिश्रमी होकर (अमृणत्) नाश करे। (मासा इव सूर्यः) अपने तेज से सूर्य जिस प्रकार जल को ले लेता है उसी प्रकार वह (पुर्यम्) शत्रु के पुर, नगर दुर्गादि का समस्त धन प्राप्त करे, (गृणानः) स्तुति किया जाता हुआ, (विरुक्मता) विशेष दीप्तियुक्त शस्त्रादि से (शत्रून् अशृणात्) शत्रुओं को नाश करे।

अयुद्धसेनो विभ्वा विभिन्दता दाशद्वृत्रहा तुज्यानि तेजते।
इन्द्रस्य वज्रादबिभेदभिश्नथः प्राक्रामच्छुन्ध्यूरजहादुषा अनः॥५॥

भा०—वह (विभ्वा) विविध प्रकार से उत्पन्न होने वाले (विभिन्दता)

शत्रु पक्ष को भेदन करने वाले भेद उपाय से (अयुद्ध-सेनः) बिना सेना लड़ाये ही (वृत्र-हा) शत्रु का नाश करके (तुज्यानि तेजते) अपने मारने योग्य शत्रुओं को कम करे। और (इन्द्रस्य वज्रात्) शत्रुहन्ता ऐश्वर्यवान् पुरुष के (अभि श्नथः) सब ओर मार करने वाले 'वज्र', शत्रुवर्जक बल, सैन्य, शस्त्र और पराक्रम से (अबिभेद्) सब कोई भय खावें, और (शुन्ध्यू वयः) शत्रु रूप कण्टकों को साफ करने वाली सेना (प्र अक्रामत्) आगे बढ़े। और (उषाः अनः प्र अजहात्) शत्रु संतापक सैन्य अपना रथ आगे बढ़ावे।

एता त्या ते श्रुत्यानि केवला यदेक एकमकृणोरयज्ञम्।
मासां विधानमदधा अधि द्यवि त्वया विभिन्नं भरति प्रधिं पिता ॥ ९ ॥ २९ ॥

भा०—हे सेनापते! स्वामिन्! (एता) ये (त्या) नाना (केवला) केवल, विशुद्ध (ते) तेरे (श्रुत्या) श्रवण करने योग्य क हैं (यत्) कि तू (एकः) एक अकेला अद्वितीय होकर भी (एकम् अयज्ञम्) दान, सत्संगादि से रहित, न कर देने, न सन्धि करने वाले एक २ शत्रु को (अकृणोः) विनाश कर। (अधि द्यवि) पृथिवी पर (मासाम् विधानम्) मासों का विधान (अदधाः) कर, वर्ष के समस्त मासों की नियत व्यवस्था कर। और (विभिन्नं प्रधिम्) विच्छिन्न या टूटे हुए चक्र को भी (पिता) प्रजा का पालक जन (त्वया भरति) तेरे बल से धारण करता और चलाता है। (२) इसी प्रकार परमेश्वर के ये महान् कार्य श्रुति, वेद द्वारा विहित हैं कि वह (एकः) एक अद्वितीय होकर भी (अयज्ञम्) असम्बद्ध जगत् को (एकम् अकृणोः) एक, सुसम्बद्ध करता है। वह (द्यवि) आकाश में (मासां विधानम् अदधाः) मासों के कर्त्ता सूर्य और चन्द्र को बनाता है, धारण करता है, उसके बल से ही सूर्य (भिन्नं)

भिन्न २ (प्रधिम्) क्रान्तिवृत्त पर (वि भरति = विहरति) विचरता है । इसी से अयन, ऋतु आदि करता है । इति षड्विंशो वर्गः ॥

[१३६]

ऋषिः विश्वावसुर्देवगन्धर्वः ॥ देवता—१—३ सविता । ४—६ विश्वावसुः ॥ छन्दः—१, २, ४—६ त्रिष्टुप् । ३ विराट् त्रिष्टुप् ॥ षड्र्चं सूक्तम् ॥

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम् ।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः॥१॥

भा०—(सूर्य-रश्मिः) सूर्य की किरणों वाला, (हरि-केशः) हरित या पीत वर्ण की रश्मियों को केशों के तुल्य धारण करने वाला प्रभात (सविता) सबको जगाने वाला, सबको प्रेरित करने वाला, (अजस्रं ज्योतिः उत् अयान्) नाश से रहित तेज को ऊपर उठाता है । सूर्य का वह प्रभातिक प्रकाश जीवन देने वाला है । उसी प्रकार परमेश्वर जिसके सूर्यादि रश्मिवत् हैं और वायु आदि केश तुल्य है वह सर्वोत्पादक प्रभु अविनाशी, सूर्यादि जीवनप्रद ज्योतियों को उगाता है, (तस्य प्रसवे) उसके उत्तम शासन में (विद्वान् पूषा) ज्ञानवान्, सर्वपोषक (विश्वा भुवनानि गोपाः) समस्त भुवनों, लोकों और प्राणियों की रक्षा करने वाला विद्वान् भी सूर्य के समान (संपश्यन्) सम्यक् रीति से ज्ञान दर्शन करता कराता हुआ (याति) प्रयाण करता है ।

नृचक्षा एष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान्रोदसी अन्तरिक्षम् ।
स विश्वाचीरभि चष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम् ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य (दिवः मध्ये आस्ते) मध्यान्ह काल में आकाश के बीच विराजता है, (रोदसी अन्तरिक्षम् आपप्रिवान्) आकाश, पृथिवी और अन्तरिक्ष को पूर्ण करता है, (सः विश्वाचीः घृता

चीः अभिचष्टे) वह तेजोमय समस्त दिशाओं या उषाओं को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार (नृ-चक्षाः) सब मनुष्यों को देखने वाला, सर्वद्रष्टा, सब मनुष्यों को सत्योपदेश करने वाला विद्वान् जन (एषः) वह (दिवः मदध्ये) ज्ञानमय क्षेत्र के बीच (आस्ते) विराजता है। और (रोदसी) स्त्री पुरुषों को (अन्तरिक्षम्) भीतरी अन्तःकरण को (आपप्रिवान्) सब प्रकार से ज्ञान से पूर्ण करता है। (सः) वह (विश्वाचीः) सर्वत्र व्यापक (घृताचीः) तेज स्नेह से युक्त, ज्ञानमयी शक्तियों, और ज्ञान-वाणियों का दर्शन और उपदेश करता है। (अन्तरा पूर्वम् अपरं च) पूर्व से पश्चिम तक (केतुम्) ज्ञान का प्रसार करता है।

रायो बुध्नः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाभि चष्टे शचीभिः।
देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम् ॥ ३ ॥

भा०—(रायः बुध्नः) ऐश्वर्य का आश्रय, (वसूनां संगमनः) बसी प्रजाओं को एक स्थान पर मिलाने वाला, (शचीभिः) शक्तियुक्त, वाणियों से, किरणों से सूर्य के समान (विश्वा रूपा) समस्त प्रकार के रूपों, रुचिकर पदार्थों को (अभि चष्टे) प्रकाशित करता है। (देवः इव सविता) तेजस्वी सूर्य के समान सबको सन्मार्ग में प्रेरणा करने वाला, (सत्य-धर्मा) सत्य को धारण करने वाला, सत्यधर्मों, व्रतों और नियमों का पालन करने वाला, (इन्द्रः न) मेघों के विदारक विद्युत् या सूर्य के तुल्य हो, (धनानां समरे) ऐश्वर्यों को प्राप्त कराने के कार्य में (तस्थौ) स्थित होता है।

विश्वावसुं सोम गन्धर्वमापो ददृशुषीस्तदृतेना व्यायन्।
तदन्वैवदिन्द्रो रारहाण आसां परि सूर्यस्य परिधीरपश्यत् ॥४॥

भा०—हे (सोम) विद्वन्! (विश्वावसुम्) समस्त लोकों को बसाने वाले, सब में बसने वाले, (गन्धर्वम्) वाणी, ध्वनि, गर्जना को

वा पृथिवी को धारण करने वाले सूर्य की ओर जिस प्रकार (आपः ऋतेन वि आयन्) जल के परमाणु उसके तेज के बल से जाते हैं उसी प्रकार (तत्) उस परम प्रभु को (ददृशुषीः आपः) साक्षात् करने वाले आप्त जन (ऋतेन) सत्य ज्ञान के बल से उसे ही (वि आयन्) विविध उपायों से प्राप्त होते हैं। और जिस प्रकार (ररहाणः इन्द्रः तत् अनु अवैत्) वेग से गति करने वाला वायु उस सूर्य के ही अनुकूल चलता है और (सूर्यस्य परि आसाम् परिधीन् अपश्यत्) सूर्य के चारों ओर इन जलों के परिधियों, परिमण्डलों को दिखाता है उसी प्रकार (ररहाणः इन्द्रः) समस्त भोग विलासादि को त्यागने वाला आत्मा, सर्वस्व त्यागी होकर (तत् अनु अवैत्) उसी का अनुसरण करता, उसी का ज्ञान करता है और (आसाम् परि) इन समस्त प्रजाओं के भी ऊपर (सूर्यस्य परिधीन्) तू उस सूर्य, सर्वसञ्चालक प्रभु के धारक बलों का (अपश्यत्) दर्शन करता है।

विश्वावसुरभि तन्नो गृणातु दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमानः।
यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म धियो हिन्वानो धिय इन्नो अव्याः॥५॥

भा०—(दिव्यः गन्धर्वः) ज्ञानमय, समस्त ज्ञान-वाणियों को धारण करने वाला, प्रभु परमेश्वर (रजसः विमानः) समस्त लोकों को विशेष रूप से जानने और बनाने वाला है। वह (नः तत् गृणातु) हमें उस परम सत्य-ज्ञान का उपदेश करे (यत् वा सत्यम्) जो सत्य है और (यत् न विद्म) जिसको हम नहीं जानते। वही हमारी (धियः हिन्वानः) बुद्धियों को प्रेरित करता है। प्रभो! वह ही तू (नः धियः इत् अव्याः) हमारी बुद्धियों और सत्कर्मों की रक्षा कर।

सस्निमविन्दच्चरणे नदीनामपावृणोद्दुरो अश्मव्रजानाम्। प्रासां गन्धर्वो अमृतानि वोचदिन्द्रो दक्षं परि जानादहीनाम्॥६॥२७॥

भा०—(गन्धर्वः) वेदवाणी का धारण करने वाला विद्वान् (आसाम्) इन (नदीनाम्) ज्ञान का उपदेश करने वाली वाणियों के (चरणे) ऊहापोह, या विचार-विस्तार में ही (सस्निम्) उस शुद्ध प्रभु के रूप को (अविन्दत्) प्राप्त कर लेता है, और (अश्म-व्रजानां) व्यापक प्रभु को लक्ष्य करके जाने वाली (आसाम्) इन वाणियों के नाना (दुरः अप आवृणोत्) द्वारों को खोलता है। और वह इनके (अमृतानि) अमृत, अविनाशी नित्य ज्ञानों को (प्र अवोचत्) अच्छी प्रकार प्रवचन करता है। वह (इन्द्रः) सत्य ज्ञान का दर्शन करने वाला ही (अहीनाम्) संमुख आये तत्त्वों के (दक्षं) बल या स्वरूप को भलीभांति जान लेता है। मेघ सूर्यादि पक्ष में—सूर्य इन ध्वनि करती जल-धाराओं के चलाने में सबको स्नान कराने वाले मेघ को प्राप्त करता है, मेघ में प्राप्त जल के द्वार खोल देता है, जलों को नीचे बहा देता है। इन्द्रः बिजुली, मेघों के (दक्षं) जल को (परि जानात्) सब ओर उत्पन्न करता है।

[१४०]

ऋषिरग्निः पावकः ॥ अग्निर्देवता ॥ छन्दः—१, ३, ४ निचृत्पंक्तिः । २ भुरिक् पांक्तिः । ५ संस्तारपंक्तिः ॥ ६ विराट् त्रिष्टुप् ॥

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो ।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं१ दधासि दाशुषे कवे ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन्! ज्ञानवन्! प्रभो! (तव वयः) तेरा बल, और ज्ञान (श्रवः) श्रवण करने योग्य, और (महि) सर्वश्रेष्ठ है। हे (विभावसो) विशेष कान्ति रूप धन वाले! प्रकाशस्वरूप! (तव अर्चयः भ्राजन्ते) तेरी कान्तियें चमक रहीं हैं। हे (बृहद्-भानो) महान् तेज वाले! हे (कवे) क्रान्तदर्शिन् विद्वन्! तू (शवसा)

बल से युक्त (उक्थ्यम्) स्तुत्य (वाजम्) ज्ञान और ऐश्वर्य (दाशुषे दधासि) दानशील को प्रदान करता है ।

पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना ।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे ॥ २ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (पावक-वर्चाः) पवित्र करने वाले बल और तेज वाला, (शुक्र-वर्चाः) शुद्ध कान्तियुक्त तेज वाला होकर (भानुना) दीप्ति से (उत् इयर्षि) उत्तम पद को प्राप्त है । (पुत्रः मातरा विचरन् उप) पुत्र जिस प्रकार माता पिताओं की सेवा करता हुआ उनको स्नेह करता, उनको प्राप्त होता, उनकी रक्षा करता, उनको पालता है, उसी प्रकार तू भी (पुत्रः) बहुत से जीवों, लोकों, की रक्षा करने वाला होकर (उभे रोदसी) दोनों लोकों को (पृणक्षि) पालता और पूर्ण करता है ।

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः ।
त्वे इषः सन्दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः ॥ ३ ॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त उत्पन्न पदार्थों और लोकों को जानने हारे ! हे समस्त ज्ञानों और ऐश्वर्यों के स्वामिन् ! तू (ऊर्जः नपात्) बलों और अन्नों को कभी नष्ट नहीं होने देने वाला है । तू (सु-शस्तिभिः धीतिभिः) उत्तम शासनों और उत्तम कर्मों से (हितः) सर्वहितकारी, सर्वदाता होकर (मन्दस्व) स्वयं प्रसन्न तृप्त हो और को भी पूर्ण काम कर । (भूरि-वर्पसः) नाना रूपों वाले, और (चित्र-ऊतयः) अद्भुत २ शक्तियों, ज्ञानों रक्षादि वाले, (वाम-जाताः) उत्तम रूप से प्रसिद्ध, जन (त्वे इषः) तेरे में ही अपनी नाना इच्छाओं और कामनाओं को (संदधुः) स्थापित करते हैं । (१) अग्नि के पक्ष में—जन तुझ में ही

समस्त अन्नों की आहुति करते हैं। वे अन्न (भूरि-वर्पसः) नाना प्रकार के, (चित्र-ऊतयः) अद्भुत रूप से देह की रक्षा करने वाले और (वाम-जाताः) उत्तम २ गुणों से युक्त हैं।

इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य।
स दर्शतस्य वपुषो वि राजसि पृणक्षि सानसिं क्रतुम् ॥४॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन्! तू नाना (जन्तुभिः) उत्पन्न होने वाले लोकों और प्राणियों से (इरज्यन्) ऐश्वर्यवान् होता हुआ, हे (अमर्त्य) अविनाशी! तू (अस्मे रायः प्रथयस्व) हमारे लिये नाना ऐश्वर्य विस्तृत कर। (सः) वह तू (दर्शतस्य वपुषः विराजसि) दर्शनीय शरीर या उत्पादक सामर्थ्य से विशेष रूप से शोभा दे रहा है। और (सानसिं क्रतुम्) नाना सुख कर्म फलादि देने वाले यज्ञ-कर्म को (पृणक्षि) पालन और पूर्ण कर रहा है।

इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः।
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिम् ॥५॥

भा०—(अध्वरस्य इष्कर्त्तारम्) यज्ञ को अच्छी प्रकार करने वाले! (महः राधसः) बड़े भारी ऐश्वर्य के (क्षयन्तं) स्वामी (प्र-चेतसम्) बड़े ज्ञानी परम पुरुष की हम स्तुति करें। वह हमें (वामस्य) सेवन योग्य उत्तम धन के (सु-भगम्) सुख सौभाग्यसम्पन्न (रातिम्) दान और (महीम् इषम्) बड़ी भारी अन्नादि समृद्धि और (मानसिं रयिम्) सुख देने वाला, वा परस्पर बांट कर सेवने योग्य ऐश्वर्य (दधासि) देता है।

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः।
श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा ॥ ६ ॥ २८ ॥

भा०—(जनाः) मनुष्य (ऋतवानं) सत्य ज्ञान और सत्य व्यवहार वाले, तेजस्वी (महिषं) बहुत बड़े दानी, (विश्व-दर्शतम्) समस्त ज्ञानों को जानने वाले, सर्वानुभवी, सर्वज्ञ, (अग्निं) ज्ञानी तेजस्वी पुरुष को (सुम्नायः पुरः दधिरे) सुख और उत्तम ज्ञान के लिये अपने समक्ष स्थापित करते हैं। हे प्रभो ! विद्वन् ! (मानुषा युगा) मनुष्यों के नाना जोड़े, स्त्री पुरुष, (श्रुत् कर्णं) श्रवणशील कर्णों वाले, (सुप्रथस्तमं) अति विख्यात (त्वा) तुझको (दैव्यं) सब मनुष्यों का हितकारी जान कर (गिरा) वाणी से स्तुति करते हैं। इत्यष्टाविंशो वर्गः ॥

[१४१]

ऋषिस्त्रिस्तापसः ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः—१, २ निचृदनुष्टुप् । ३, ६ विराडनुष्टुप् । ४, ५ अनुष्टुप् ॥ षडृचं सूक्तम् ॥

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ्नः सुमना भव।
प्र नो यच्छ विशस्पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! तेजस्विन् ! तू (इह नः अच्छ वद) तू हमारे प्रति उपदेश कर। (नः प्रत्यङ्) हमारे प्रति प्राप्त होकर (सुमनाः भव) उत्तम चित्त वाला हो। अथवा तू (सुमनाः नः प्रत्यङ् भव) शुभ चित्त और ज्ञान वाला होकर हमारे प्रति आ। हे (विशः पते) प्रजा के पालक प्रभो ! (नः प्र यच्छ) तू हमें खूब दे। (त्वं नः धनदाः असि) तू हमें धन देने हारा है।

प्र नो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः।
प्र देवाः प्रोत सूनृता रायो देवी ददातु नः ॥ २ ॥

भा०—(अर्यमा नः प्र यच्छतु) न्यायकारी जन हमें सत्य न्याय प्रदान करे। (भगः) ऐश्वर्यवान् हमें (प्र) उत्तम ऐश्वर्य प्रदान करे।

(बृहस्पतिः) बड़े राज्य और ज्ञान का स्वामी हमें (प्र) राज्य और ज्ञान दे। (देवाः) तेजस्वी जन (उत) और (सूनृता देवी) उत्तम अन्न जल और सत्य वचन से युक्त दानशील विदुषी और भूमि हमें (रायः) देने योग्य, प्रकाश, ज्ञान, अन्न, जल, सत्य वचन (नः प्रददातु) हमें प्रदान करें।

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे।
आदित्यान्विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ३ ॥

भा०—हम (गीर्भिः) वाणियों द्वारा (अवसे) ज्ञान, वृद्धि, रक्षा, स्नेह, आत्मसुख के लिये, (सोमं राजानं) राजावत् सर्व जगत् के शासक परमेश्वर, (अग्निं) ज्ञान-प्रकाशक विद्वान् अग्रनेता को, (आदित्यान्) सूर्य की किरणोंवत् आदान प्रदान करने वाले तेजस्वी पुरुषों को, (विष्णुः) व्यापक प्रभु को (सूर्यं) सबको चलाने वाले, (ब्रह्माणं) वेदों के ज्ञाता को (बृहस्पतिम्) और बड़े धन, बल, ज्ञान के स्वामी इन २ को (हवामहे) हम प्रार्थना करते हैं।

इन्द्रवायू बृहस्पतिं सुहवेह हवामहे।
यथा नः सर्व इज्जनः सङ्गत्यां सुमना असत् ॥ ४ ॥

भा०—(सु-हवा) उत्तम नाम वाले (इन्द्र-वायू) सूर्य वायुवत् ऐश्वर्य और बल से सम्पन्न और (बृहस्पतिम्) बड़े राज्य के पालक जनों को (इह हवामहे) हम इस राष्ट्र में आदरपूर्वक बुलावें (यथा नः) जिससे हमारे (सर्वः इत् जनः) सभी जन (संगत्यां सुमनाः असत्) संगति में उत्तम चित्त वाले हों।

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ५ ॥

भा०—(अर्यमणं) न्यायकारी, शत्रुओं और प्रजाओं को नियन्त्रण करने वाले, (बृहस्पतिं) बड़े बल-पालक (इन्द्रं) शत्रुहन्ता तेजस्वी और (वातं) वायुवत् प्रबल वेगवान्, (विष्णुं) व्यापक सामर्थ्यवान्, (सरस्वतीं) उत्तम ज्ञान वाली विदुषी और (वाजिनं सवितारम्) ज्ञान, बलैश्वर्यवान्, सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक को तू (दानाय चोदय) उत्तम २ ऐश्वर्य प्रदान करने के लिये प्रेरित कर, उनकी स्तुति और प्रार्थना कर।

त्वं नो॑ अग्ने अ॒ग्निभि॒र्ब्रह्म॑ य॒ज्ञं च॑ वर्धय।
त्वं नो॑ दे॒वता॑तये रा॒यो दाना॑य चोदय ॥ ६ ॥ २९ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन्, अग्रणी पुरुष ! प्रभो ! तू (अग्निभिः) अग्नियों के समान ज्ञान प्रकाश के करने वाले विद्वानों से (नः ब्रह्मयज्ञं वर्धय) हमारे वेद ज्ञान और यज्ञ, परस्पर सत्संग, और दानशीलता का बढ़ा। (त्वं) तू (नः) हमें (देव-तातये) विद्वानों के हितार्थ (रायः दानाय) नाना धन देने के लिये (चोदय) प्रेरित किया कर। इत्येकोनत्रिंशो वर्गः ॥

[१४२]

ऋषिः शार्ङ्गाः। १, २ जरिता। ३, ४ द्रोणः। ५, ६ सारिसृक्वः। ७, ८ स्तम्बमित्रः अग्निर्देवता ॥ छन्दः—१, २ निचृज्जगती। ३, ४, ६ त्रिष्टुप्। ५ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप्। ७ निचृदनुष्टुप्। ८ अनुष्टुप् ॥ अष्टर्चं सूक्तम् ॥

अ॒यम॑ग्ने जरि॒ता त्वे अ॑भू॒दपि॒ सह॑सः सूनो॒ नह्य१॒॑न्यदस्त्याप्य॑म्।
भ॒द्रं हि शर्म॑ त्रि॒वरू॑थ॒मस्ति॑ त आ॒रे हिंसा॑ना॒मप॑ दि॒द्युमा कृ॑धि १

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! स्वप्रकाश ! प्रत्येक देह में व्यापक, अग्निस्वरूप प्रभो ! (अयम् जरिता) यह स्तुतिकर्त्ता, विद्वान् (त्वे अपि अभूत्) तेरे में ही 'अप्यय' अर्थात् मग्न होकर एकीभाव प्राप्त करे।

हे (सहसः सूनो) बल के उत्पादक! सर्वशक्तिमन्! (नहि अन्यत् आप्यम् अस्ति) और कुछ भी नहीं पाना है। या और इससे अधिक दूसरी बन्धुता नहीं है (ते) तेरा दिया (भद्रं शर्म) कल्याण का जनक-सुख ही (त्रि-वरूथं) तीनों दुःखों से बचाने वाला, तीनों तापों का वारक, तिमंज़िले मकान के समान (अस्ति) है। तू (हिंसानाम्) हिंसकों के (दिद्युम्) चमकते शस्त्र या क्रोध को (आरे अपाकृधि) हम से दूर कर अथवा (हिंसानाम्) मारे जाने वाले हम प्राणियों से अपने चमचमाते क्रोध को दूर कर।

प्रवत्ते अग्ने जनिमा पितूयतः साचीव विश्वा भुवना न्यृञ्जसे। प्र सप्तयः प्र सनिषन्त नो धियः पुरश्चरन्ति पशुपा इव त्मना ॥२॥

भा०—हे (अग्ने) स्वप्रकाश आत्मन्! (पितू-यतः) अन्न या समय के समान अंकुरित होने वाले (ते) तेरा (जनिमा) प्रादुर्भाव या जन्म (प्रवत्) उत्तम रीति से वा आगे की ओर बढ़ने वाला होता है। तू (साची इव) व्यापक, सहयोगी के समान ही (विश्वा भुवनानि) समस्त उन देहों वा प्राणों को (नि ऋञ्जसे) सर्वथा वश करता है। (सप्तयः) आगे २ बढ़ने वाले ये इन्द्रियगण, (नः) हमें (धिया) नाना प्रकार के ज्ञान (प्रप्र सनिषन्त) बराबर देते रहते हैं, और (त्मना) अपने आत्म-सामर्थ्य से ही (पशुपाः इव) पशु-पालक के समान (पुरः) आगे २ विचरते हैं। अथवा—(नः धियः सप्तयः) हमारी बुद्धियां या ज्ञानेन्द्रियां अश्वों के तुल्य पशुपालवत् आगे २ (चरन्ति) विषयों का भोग करती हैं।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
अत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ गीता॥

उत वा उ परि वृणक्षि बप्सद्बहोरग्न उलपस्य स्वधावः। उत खिल्या उर्वराणां भवन्ति मा ते हेतिं तविषीं चुक्रुधाम ॥ ३ ॥

भा०—जिस प्रकार (बहोः उलपस्य बप्सत्) अग्नि बहुत से तृणों को खाजाता है, उनको भस्म कर देता है उसी प्रकार हे (अग्ने) प्रकाश-स्वरूप ! हे ज्ञानवन् ! आत्मन् ! हे (स्वधावः) स्व, देह को धारण करने वाली शक्ति से युक्त ! तू (बहोः) बहुत से (उलपस्य) तृण-वनस्पति वा अन्नवत् कर्मफल को (बप्सत्) भोग करता हुआ (उ) भी (परि वृणक्षि) उसको शेष कर देता है, (उत) और (उर्वराणाम्) उर्वरा उपजाऊ भूमियों में से बहुतसी (खिल्याः भवन्ति) विहार योग्य था ऊसर हो जाती हैं, हम (ते तविषीं हेतिम्) तेरी बलवती शक्ति को (मा चुक्रुधाम) कोपित न करें ।

यदुद्वतो निवतो यासि बप्सत्पृथगेषि प्रगर्धिनीव सेना ।
यदा ते वातो अनुवाति शोचिर्वप्तेव श्मश्रु वपसि प्र भूम ॥ ४ ॥

भा०—(यत्) जब तू (उद्वतः निवतः) ऊंचे और नीचे प्रदेशों को (बप्सत्) चमकाता अग्नि की तरह से जलाता या खाता हुआ (यासि) जाता है तब तू (प्रगर्धिनी सेना इव पृथक् एषि) पृथक् २ दस्ता बना कर राष्ट्र विजय की लोलुप सेना के समान आता है, (यदा वातः ते शोचिः अनुवाति) जब तेरी ज्वाला के अनुकूल वायु बहता है, (वप्ता इव श्मश्रु भूम प्र वपसि) बालों को काटने वाले नाई के समान बहुतसा भूमि का भाग साफ़ कर देता है । इसी प्रकार अग्नि के तुल्य आत्मा, (२) जीव भी ऊंचे नीचे लोकों में बहुत सौभाग्य करता हुआ जाता है और लोलुप इन्द्रियों की टुकड़ी सेना लिये हुए इस लोक में आता है। जब उसकी जाठराग्नि वा तृष्णानुरूप प्राण चलते हैं (वप्ता इव) बीज वपन करने वाले कृषक के समान (श्मश्रुः) इस देह में आश्रित (भूम) कर्म भूमि में (प्र वपसि) बहुतसी वासनाओं को बोता है और (वप्ता इव) काटने वाले के तुल्य इस देह में (भूम प्र वपसि) बहुत २ बहुतसा कर्मफल रूप धान्य काट लेता है ।

प्रत्यस्य श्रेणयो ददृश्र एकं नियानं बहवो रथासः ।
बाहू यदग्ने अनुमर्मृजानो न्यङ्ङुत्तानामन्वेषि भूमिम् ॥ ५ ॥

भा०—(यत्) और जब हे (अग्ने) स्वप्रकाश आत्मन् ! तू (बाहु अनु मर्मृजानः) अपनी बाहुओं को बार २ स्पर्श करते हुए वीरों के तुल्य, अपनी शक्तियों को भी तीक्ष्ण करता हुआ (न्यङ्) नीचे आता हुआ (उत्तानाम् भूमिम् अनु एषि) उत्तान भूमि की ओर आता है । तब (अस्य श्रेणयः) इसकी अनेक सेना की पक्तियों के तुल्य पक्तियां (प्रति ददृश्रे) प्रत्येक शरीर में दीख रही हैं । (एकं नियानं बहवो रथासः) एक के जाते हुए जिस प्रकार पीछे बहुत से रथारोही जाते हैं उसी प्रकार एक आत्मा के विचरते बहुत से रमण साधन सूक्ष्म इन्द्रियांश उसके साथ जाते हैं । जीव की उत्पन्न होने की भूमि मातृगर्भ है ।

उत्ते शुष्मा जिहतामुत्ते अर्चिरुत्ते अग्ने शशमानस्य वाजाः ।
उच्छ्वञ्चस्व नि नम वर्धमान आ त्वाद्य विश्वे वसवः सदन्तु ॥६॥

भा०—हे (अग्ने) अग्निवत् तेजस्विन् ! विद्वन् ! (ते शुष्माः) तेरे बल, तेज अग्नि की ज्वालाओं के समान (उत् जिहताम्) ऊपर को उठें । (ते अर्चिः उत्) तेरी दीप्ति आदर और मान भी उन्नत हों । हे (अग्ने) तेजस्विन् ! (शशमानस्य ते) उत् क्रमण करते हुए, वा आदर और स्तुति को प्राप्त होते हुए तेरे (वाजाः उत्) बल, वेग, ज्ञान और ऐश्वर्य भी उन्नत हों । तू (वर्धमानः उत् श्वञ्चस्व) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ ऊपर को उठ, और (नि नम) खूब विनयशील होकर नीचे झुक (त्वा) तुझे (अद्य) आज (विश्वे वसवः) समस्त वसुगण, गुरु को शिष्य, गृहस्थ को अतिथि आदि और राजा को प्रजागण सूर्य या अग्नि को किरणों के तुल्य (आ सदन्तु) प्राप्त हों ।

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।
अन्यं कृणुष्वेतः पन्थां तेन याहि वशाँ अनु ॥ ७ ॥

भा०—(इदं अपां नि अयनम्) यह भूमि व देह, भव में और लोक में इन्द्रियों, आप्त जनों प्रजाओं का नित्य आने का स्थान हो, और यह (समुद्रस्य निवेशनम्) ऊपर समुद्र, या मेघ का स्थान बड़ा भारी आकाश है। हे तेजस्विन् ! अग्निवत् ! तू (इतः अन्यं पन्थाम् कृणुष्व) इससे दूसरा मार्ग भी बता (तेन वशान् अनु याहि) उस मार्ग से इच्छाओं के अनुसार गमन कर।

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः ।
ह्रदाश्च पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे ॥ ८ ॥ ३० ॥ ७ ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! (ते आ-अयने) आने और रहने के स्थानों में चारों ओर और (परा अयने) उस स्थान के दूर भी (दूर्वाः) उत्तम २ दूबें और (पुष्पिणीः) फूलवाली नाना लताएं तथा पौधे भी (रोहन्तु) उगे हों। और (ह्रदाः च) नाना जलाशय हों और उनमें (पुण्डरीकाणि) नाना कमल हों। (इमे) ये (गृहाः) गृह, एवं गृह के निवासी जन स्त्री पुत्रादि (समुद्रस्य) उमड़ते हर्ष और आनन्द एवं काम्य सुखों के स्थान हों। कामो हि समुद्रः। नहि कामस्यान्तोस्ति न समुद्रस्य। कौ०।
इति त्रिंशो वर्गः। इति सप्तमोऽध्यायः ॥

अष्टमोऽध्यायः

[१४३]

ऋषिः अत्रिः सांख्यः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः—१—५ अनुष्टुप् । ६ निचृदनुष्टुप् ॥ षड्‌ृचं सूक्तम् ॥

त्वं चिदत्रिमृतजुरमर्थमश्वं न यातवे ।
कक्षीवन्तं यदी पुनारथं न कृणुथो नवम् ॥ १ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) व्यापक गुण वाले प्रधान और परम पुरुष ! आप दोनों ! (त्यं चित् अत्रिम्) उस अत्रि अर्थात् नाना कर्मफलों के भोक्ता वा त्रिविध तापों से निवृत्त, (ऋत-जुरम्) सत्य ज्ञान को प्राप्त करने वाले जन को (अर्थं यातवे अश्वं न) प्राप्तव्य स्थान पर जाने के लिये अश्व के तुल्य, सुदृढ़, बलवान्, पुनः हरा-भरा (कृणुथः) करते हो। (यदि पुनः) और (कक्षीवन्तं) उत्तम दृष्टियों वाले और उत्तम ज्ञानवान् पुरुष को (रथं न) रथ के समान (नवं कृणुथः) नया बना देते हो।

अत्रिः—अत्रैव तृतीयम् ऋच्छतेत्युचुः। निरु० १। ३। ५॥ प्रधान-पुरुष इन दो से तीसरा कर्मफल भोक्ता 'अत्रि' है।

कक्षीवान्—कक्ष्यावान्। निरु० ६। ३। १॥ कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि।

त्यं चिदश्वं न वाजिनमरेणवो यमत्नत।
दृळ्हं ग्रन्थिं न वि ष्यतमत्रिं यविष्ठमा रजः॥ २॥

भा०—(यम्) जिस (वाजिनं) वेगवान्, (अत्रिम्) तीसरे वा कर्मफलों के भोक्ता जीव को (अश्वं न) अश्व के समान (अरेणवः) अहिंसनीय प्रबल प्राणों ने (अत्नत) बांधा है, उस (यविष्ठम्) बलशाली जीव को हे प्रकृति और पुरुष आप दोनों (आरजः) इस लोक के निमित्त (ग्रन्थिं न) गांठ के समान (वि स्यतम्) विशेष रूप से खोल दो। उसे मुक्ति प्रदान करो।

नरा दंसिष्ठावत्रये शुभ्रा सिषासतं धियः।
अथा हि वां दिवो नरा पुनः स्तोमो न विशसे॥ ३॥

भा०—हे (नरा) उत्तम मार्ग से लेजाने वाले ! हे (दंसिष्ठौ) उत्तम कर्म करने हारो ! आप दोनों (अत्रये शुभ्राः धियः सिसासतम्)

तीनों दुःखों से रहित के लिये उत्तम २ बुद्धियों और कर्मों का माता पितावत् ज्ञानोपदेश द्वारा प्रदान करो। (अथ हि) और (वाम्) आप दोनों के प्रति (पुनः) फिर भी (दिवः) ज्ञानप्रकाश के (वि-शस्रे) विशेष रूप से उपदेश करने के लिये मेरी (स्तोमः न) यह स्तुति या प्रार्थना है कि आप बार २ मुझे उपदेश देते रहा करें।

चिते तद्वां सुराधसा रातिः सुमतिरश्विना।
आ यन्नः सदने पृथौ समने पर्षथो नरा ॥ ४ ॥

भा०—हे (सु-राधसा अश्विना) उत्तम रीति से आराधना करने योग्य एवं उत्तम ऐश्वर्य के स्वामी, प्रधान और पुरुष (वाम्) आप दोनों का (चिते) चेतनावान् इस जीव के उपकार के लिये (तत् सु-मतिः रातिः) वह शुभ ज्ञानयुक्त दान है। (यत्) जिससे आप दोनों (नरा) विश्व के चालक होकर (पृथौ) बड़े भारी, (समने) ज्ञानयुक्त (सदने) देह वा लोक में (नः पर्षथः) हमें पालन वा पूर्ण करते हो, हमारी रक्षा करते हो।

युवं भुज्युं समुद्र आ रजसः पार ईङ्खितम्।
यातमच्छा पतत्रिभिर्नासत्या सातये कृतम् ॥ ५ ॥

भा०—हे (नासत्या) सदा सत्यशील ! (युवम्) आप दोनों (रजसः समुद्रे) रजोगुण के समुद्र में (ईंखितम्) डोलते हुए, इधर उधर गोते खाते हुए (भुज्युम्) भोक्ता इस जीव को (पतत्रिभिः) नाना गमन साधनों वा प्राणों, देहों से, (सातये) इष्ट लाभ के लिये (अच्छ पारे कृतम्) उत्तम रीति से पार करो।

आ वां सुम्नैः शंयू इव मंहिष्ठा विश्ववेदसा।
समस्मे भूषतं नरोत्सं न पिप्युषीरिषः ॥ ६ ॥ १ ॥

भा०—हे (विश्व-वेदसा) समस्त ज्ञानों और धनों के स्वामि जनो ! (वां) आप दोनों (सुम्नैः) नाना सुखों वा सुख से अभ्यास करने योग्य उपदेशों से (शं-यू इव) शान्तिदायक माता पिता के तुल्य (मंहिष्ठा) हमें ज्ञान शान्ति आदि देने वाले हो। हे (नरा) उत्तम २ पदार्थ प्राप्त करने वालो! आप दोनों (पिप्युषीः इषः उत्सं न) खूब बढ़ती जल वृष्टियां या जलधाराएं जैसे कूप वा झरने को प्राप्त होती हैं वा उत्तम दुग्ध जैसे स्तनों को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार (अस्मे) हमारे लिये (पिप्युषीः इषः संभूषतम्) वृद्धिदायक अन्न, जल और नाना कामनाएं प्राप्त कराओ। इति प्रथमो वर्गः ॥

[१४४]

ऋषिः सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्र ऊर्ध्वकृशनो वा यामायनः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ३ निचृद्गायत्री । ४ भुरिग्गायत्री । २ आर्ची स्वराड् बृहती । ५ सतो-बृहती । ६ निचृत् पंक्तिः ॥ षड्चं सूक्तम् ॥

अयं हि ते अमर्त्य इन्दुरत्यो न पत्यते ।
दक्षो विश्वायुर्वेधसे ॥ १ ॥

भा०—हे विद्वन् वा प्रभो! (अयं हि अमर्त्यः) यह न मरने वाला, अजर, अमर (इन्दुः) तेजःस्वरूप, (दक्षः) बल और ज्ञान से सम्पन्न, समस्त पापों को अग्नि के तुल्य भस्म करने वाला, (विश्व-आयुः) सब में प्राप्त, एवं सबको जीवन देने वाला (अत्यः न पत्यते) अश्व के तुल्य सबको पार करके ऐश्वर्य से (ते वेधसे) तुझ कर्म करने वाले के लिये (पत्यते) विराजता है।

अयमस्मासु काव्य ऋभुर्वज्रो दास्वते ।
अयं बिभर्त्यूर्ध्वकृशनं मदमृभुर्न कृत्व्यं मदम् ॥ २ ॥

भा०—(अयम्) यह (अस्मासु) हम में (काव्यः) कवियों, क्रान्तदर्शी विद्वानों द्वारा वर्णित, उपदिष्ट (ऋभुः) महान् सामर्थ्यवान्, बड़े तेज से चमकने वाला, सत्य के बल से दीप्तिमान्, (दास्वते वज्रः) अपने को समर्पित कर देने वाले जन के लिये वज्र के तुल्य उसके सब बाधक कारणों को दूर करने वाला है। (अयम्) यह (ऊर्ध्व-कृशनम्) उत्तम पद की ओर तीक्ष्णता से जाने वाले अग्नि के तुल्य तेजस्वी (मदम्) स्तुति कर्त्ता को (बिभर्त्ति) धारता और पालता है और वह (ऋभुः न) बड़े धनवान्, ज्ञानी वा तेजस्वी के समान (कृत्व्यं) कर्म करने वाले (मदम्) हर्षयुक्त जन के समान कर्मण्य पुरुष को हर्ष प्रदान करता है।

घृषुः श्येनाय कृत्वन आसु स्वासु वंसगः।
अवं दीधेदहीशुवः॥ ३॥

भा०—वह (श्येनाय) प्रशंसनीय आचार वाले (कृत्वने) कर्म करने वाले पुरुष के उपकार के लिये (घृषुः) अति दीप्तयुक्त होकर (आसु स्वासु) इन अपनी ही वा इन आनन्दप्रद नाड़ियों में, प्रजाओं में राजा के तुल्य (वंसगः) सेवनीय सुन्दर रीति से व्याप्त होकर (अहीशुवः) अति उत्तम व्यापक शक्तियों वा प्राणों को (अवदीधेत्) चमकाता है।

यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत्।
शतचक्रं यो३ऽह्यो वर्तनिः॥ ४॥

भा०—(श्येनस्य पुत्रः) उत्तम, प्रशंसनीय गति वाले गुरु का अपने इन्द्रिय-सामर्थ्यों की रक्षा करने वाला, जितेन्द्रिय शिष्य (शत-चक्रं) सौ वर्ष की आयु करने वाले वीर्य रूप (यं) जिस सोम को (आभरत्) धारण करता है और (यः) जो (अह्यः) कभी नाश न होने वाला, (वर्त्तनिः) मार्ग के तुल्य आचरणीय है।

यं ते॑ श्येनश्चारु॑मवृकं॑ पदाभ॑रदरुणं मानमन्ध॑सः ।
एना वयो॒ वि ता॒र्यायु॑र्जीवसे॑ एना जा॑गार ब॒न्धुता॑ ॥ ५ ॥

भा०—(श्येनः) ज्ञानी, सदाचारी, उत्तम गति से जाने वाला पुरुष (चारुम्) सुन्दर उत्तम आचरण करने योग्य, (अवृकम्) अदुःख दायी. सुखप्रद को (पदा) ज्ञानपूर्व आचरण द्वारा (अन्धसः) अन्न के (अरुणं मानम्) तेजोयुक्त देह के निर्माण करने वाले उत्पादक वीर्य रूप (यं) जिस अंश को (आ अभरत्) धारण करता है, (एना) इससे ही (जीवसे) दीर्घ जीवन के लिये (वयः) बल और (आयुः वि तारि) आयु प्राप्त होता है, और (एना) इस वीर्य द्वारा ही (बन्धुता जागार) बन्धुता, नाना सम्बन्धी जन जागृत होते हैं।

ए॒वा तदि॑न्द्र इन्दु॑ना दे॒वेषु॑ चिद्धारयाते॒ महि॒ त्यजः॑ ।
क्रत्वा॒ वयो॒ वि ता॒र्यायुः॑ सुक्रतो॒ क्रत्वा॒यम॒स्मदा॑सु॒तः ॥६।२॥

भा०—(इन्दुना) इस दीप्तियुक्त वीर्य के द्वारा ही (इन्द्रः) तेजस्वी पुरुष (तत् महि त्यजः चित्) उस बड़े भारी बल और धन पुत्र आदि को (धारयते) धारण करता है। हे (सु-क्रतो) शुभ कर्म करने हारे पुरुष ! (क्रत्वा) कर्म से ही (आयुः वयः वि तारि) आयु और बल बढ़ता है, और (क्रत्वा) यज्ञ कर्म से ही (अयम्) इसे (अस्मत् आसुतः) हम प्राप्त करते और आगे सन्तानादि में इसका उपयोग करते हैं। इति द्वितीयो वर्गः ॥

[१४५]

ऋषि इन्द्राणी ॥ देवता—उपनिषत्सपत्नी बाधनम् । छन्दः—१, ५ निचृदनुष्टुप् । २, ४ अनुष्टुप् । ३ आर्ची स्वराडनुष्टुप् । ६ निचृत् पंक्तिः ॥ षडृचं सूक्तम् ॥

इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥

भा०—मैं (इमां) इस (वीरुधं) विपरीत मार्ग में जाने से रोकने वाली (ओषधिम्) पाप-संकल्पों को दग्ध करने का सामर्थ्य धारण करने वाली, (बलवत्-तमाम्) अधिक बलवती, उपनिषत् ब्रह्म-विद्या को (खनामि) खोदता हूं । (यया) जिससे (सपत्नीं बाधते) विद्या की सौत के तुल्य अविद्या को नाश करता है और (यया) जिससे (पतिम्) उस पालक प्रभु को (संविंदते) सौभाग्यवती स्त्री के तुल्य उत्तम पालक पति को प्राप्त करता है । यहां 'उपनिषत्-सपत्नी' बाधन, देवता है ।

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे परा धम पतिं मे केवलं कुरु ॥ २ ॥

भा०—हे (उत्तान-पर्णे) ऊपर की ओर फैलने वाले ज्ञानमय पत्रों वाली ! हे (सु-भगे) उत्तम सुख सौभाग्य से युक्त ! हे (देव-जूते) विद्वानों द्वारा सेवित ! हे (सहस्वति) हे बलवति ! तू (मे) मेरी (सपत्नीम्) अविद्या रूप सौत को (परा धम) दूर कर । और (केवलम्) केवल आनन्दमय प्रभु को (मे) मेरा (पतिम् कृधि) पालक बना दे ।

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।
अथा सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ३ ॥

भा०—हे (उत्तरे) उत्तम लोक को लेजाने वाली कर्मविद्ये ! (अहम् उत्तरा) मैं तुझ से भी अधिक उत्कृष्ट लोक में पुरुष को पहुंचाती हूं । (उत्तराभ्यः इत् उत्तरा) उत्तम गति प्राप्त करने वाली सभी विद्याओं से मैं उत्तम हूं । (अथ) और (या) जो (मम सपत्नी)

मेरी सौत के तुल्य अविद्या है (सा अधराभ्यः अधरा) वह नीचे लेजाने वाली सब गतियों में से सबसे अधिक नीचे गिराने वाली है।

नह्यस्या नाम गृभ्णामि नो अस्मिन्रमते जने।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ४ ॥

भा०—मैं (अस्याः नाम न हि गृभ्णामि) इस अविद्या रूप सौत का नाम भी ग्रहण नहीं करती हूं। (अस्मिन् जने) इस पुरुष में वह अविद्या (नो रमते) कभी सुख प्रदान नहीं करती। हम (सपत्नीं) आत्मा पर अपना अधिकार करने वाली वा सदा नीचे गिराने वाली अविद्या को (पराम् एव परावतम्) दूर से दूर ही (गमयामसि) करें।

अहमस्मि सहमानाथ त्वमसि सासहिः।
उभे सहस्वती भूत्वी सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥

भा०—(अहमस्मि सहमाना) मैं सब कष्टों और विपरीत भावों को पराजित करने वाली हूं, (अथ) और (त्वम्) तू भी (सासहिः असि) पराजित करने वाला है। (उभे) हम दोनों (सहस्वती भूत्व) बलवान् होकर (मे सपत्नीं सहावहै) मेरी सौत के तुल्य आत्मा रूप पति को हरने वाली वा सपत्नी ज्ञान-नाशक अविद्या को (सहावहै) हम दोनों पराजित करें। इति तृतीयो वर्गः ॥

उप तेऽधां सहमानामभि त्वाधां सहीयसा।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ६॥३॥

भा०—हे पुरुष ! आत्मन् ! मैं ब्रह्मविद्या (ते) तेरे लिये (सहमानाम् उप अधाम्) अविद्या का नाश करने वाली शक्ति को धारण करती हूं। और (सहीयसा) बड़ी भारी शक्ति से (त्वा अभि अधाम्) तुझे धारण करती हूं, तुझे भी उपदेश करती हूं। (ते मनः) तेरा मन

(माम् अनु) मेरे अनुकूल हो और वह (वत्सं गौः इव) बछड़े के प्रति गाय के समान और (पथा वाः इव) निम्न मार्ग से जल के समान उत्सुक होकर वेग से (धावतु) दौड़ दौड़ कर आवे।

[१४६]

ऋषिर्देवमुनिरैरम्मदः ॥ देवता—अरण्यानी ॥ छन्दः—१ विराडनुष्टुप् । २ भुरिगनुष्टुप् । ३, ५ निचृदनुष्टुप् । ४, ६ अनुष्टुप् ॥ षड्टचं सूक्तम् ॥

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि ।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीँ३ ॥ १ ॥

भा०—हे (अरण्यानि) अरण्य अर्थात् ऋणों से मुक्त वानप्रस्थ की पत्नी, स्वयं भी वानप्रस्थ के व्रतों का पालन करने वाली विदुषि ! हे (अरण्यानि) रमण योग्य ग्राम, नगर आदि में सुख अनुभव न करने वाली विदुषि ! (या) जो तू (प्र इव नश्यसि) आगे ही आगे बढ़ी चली जाती है, तू (ग्रामं कथा न पृच्छसि) ग्राम अर्थात् नगर आदि में बसे अनेक सम्बन्धि जनों और अनेक स्त्री जनों को भी कुछ नहीं पूछती, उनके प्रति ममता नहीं दिखाती। (त्वा भीः इव न विन्दति) तुझे भय भी नहीं लगता प्रतीत होता।

वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः ।
आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ॥ २ ॥

भा०—(वदते वृष-रवाय) उपदेश देने वाले, मेघ के समान गर्जना वाले गुरु के समीप (चित्-चिकः) ज्ञान की कामना करने वाला पुरुष (उपावति) प्राप्त होता है। वह (अरण्यानिः) अरण्य अर्थात् अन्यों को विशेष रमण, सुखादि न देने वाले, ऋणादि से रहित आश्रम में जीवन व्यतीत करने वाला पुरुष भी (आघाटिभिः इव) बार २ पछाड़े हुए

वस्त्र के समान वा आघाटि अर्थात् वीणा के स्वरों के तुल्य अपने अन्तःकरण को (धावयन्) शुद्ध करता हुआ (महीयते) बड़ी प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है ।

उत गाव॑ इवाद॒न्त्यु॒त वेश्मे॑व दृश्यते ।
उ॒तो अ॑र॒ण्या॒निः सा॒यं श॑क॒टीरि॑व सर्जति ॥ ३ ॥

भा०—जिस प्रकार वन में (गावः अदन्ति) गौवें विचरती और चारा चरती हैं उसी प्रकार उस विद्वान् वानप्रस्थ के अधीन गौओं के तुल्य शिष्य जन ज्ञान को प्राप्त करता वा उसके भीतर नाना वाणियां विचरती हैं। और वह स्वयं (वेश्म इव दृश्यते) गृह के समान, शिष्यों का एकमात्र शरण दीखता है, (उतो) और (सायं शकटीः इव) सायंकाल जिस प्रकार वन से नाना गाड़ियें चारा, लकड़ी आदि लेकर निकलती हैं मानों जंगल उनको प्रसव करता है इसी प्रकार वह वानप्रस्थ पुरुष भी अनेक शक्तियों वा सेनाओं को वा शक्तिमान् व्यक्तियों या वाणियों को उत्पन्न करता है । वा मन्द चलने वाले मन्दमतियों को ज्ञान दे कर तीव्र करता है, शब्द सहित बाहर आने वाली वाणियों को प्रकट करता है । शकटः शकृद् इतं भवति, शनकैस्तकतीति वा, शकेन तकतीति वा, शकादिभ्यो-ऽटन् । (उणा०) शक्नोतीति शकटः । शकेन शक्ता वा अटतीति वा । शकेऋतिन् । उणा० । शक्नोतीति शकृत् ।

गाम॒ङ्गैष आ ह्व॑यति॒ दार्व॒ङ्गैषो अपा॑वधीत् ।
वस॑न्नरण्या॒न्यां सा॒यमक्रु॑क्ष॒दिति॑ मन्यते ॥ ४ ॥

भा०—(अङ्ग) हे विद्वन् ! (अरण्यान्याम्) ऋणों से मुक्त दशा में (वसन्) रहता हुआ (एषः) यह अमुक पुरुष (गाम् आह्वयति) वाणी का अभ्यास करता वा सूर्य को लक्ष्य कर प्रभु को पुकारता है, और (एषः) अमुक व्यक्ति (दारु अप अवधीत्) काष्ठ के समान ज्ञान

शस्त्र से अज्ञान को चीर कर नाश कर देता है। और वह अमुक व्यक्ति उस दशा में (अकुक्षत् इति मन्यते) मनुष्य प्रभु को ही पुकारा करे ऐसा अपना कर्त्तव्य मानता है। क्रुश आह्वाने, रोदने च भ्वा० ॥

न वा अ॒र॒ण्या॒निर्ह॑न्त्य॒न्यश्चेन्ना॒भिग॑च्छति ।
स्वा॒दोः फल॑स्य ज॒ग्ध्वाय॑ यथा॒का॒मं नि प॑द्यते ॥ ५ ॥

भा०—(अरण्यानिः) वानप्रस्थी, ऋणों से मुक्त दशा के व्रतों का पालक पुरुष (न वै हन्ति) किसी की हिंसा नहीं करता। और (अन्यः इत् च) दूसरा कोई भी शत्रु होकर (न अभि गच्छति) उस पर आक्रमण नहीं करता। वह (स्वादोः) सुख से आस्वादन करने योग्य, वा अपने ही आत्मा को प्राप्त होने वाले वृक्ष का (फलस्य) फल (जग्ध्वाय) उपभोग करके (यथा-कामम्) अपने उत्तम संकल्प के अनुसार (नि पद्यते) रहता वा लोकान्तर में जाता है।

आ॒ञ्जन॑गन्धिं सु॒र॒भिं ब॑ह्व॒न्नामकृ॑षीवलाम् ।
प्राहं मृ॒गाणां॑ मा॒तर॑मरण्या॒निम॑शंसिषम् ॥ ६ ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार बड़ा भारी वन (आंजन-गन्धिम्) अंजन का गन्ध वाला, (सु-रभिः) उत्तम गन्ध से पूर्ण (बहु-अन्नाम्) बहुत से नीवार, वन फल आदि भक्ष्य अन्नों वाला (अकृषीवलां) खेतिहरों से रहित, (मृगाणां मातरम्) मृगों की माता के तुल्य होता है उसी प्रकार मैं (आंजन-गन्धिम्) अंजन अर्थात् आत्मा पर आये हुए रजोविकार के लेप को नाश करने वाली, (सु-रभिम्) सुख प्राप्त कराने वाली, (बहु-अन्नाम्) बहुत से अन्नों के तुल्य सुखयुक्त फलों वाली, (अकृषि-वलाम्) कष्टों के आवरण से रहित, (मृगाणाम् मातरम्) आत्म-ज्ञान की खोज लगाने वालों के लिये

(मातरम्) माता के तुल्य प्रेम से युक्त (अरण्यानिम्) इस वनस्थ वृत्तिका वा वानस विद्वान् का (अहं) मैं (प्र-अशंसिषम्) उत्तम रीति से वर्णन करता हूं। इति चतुर्थो वर्गः ॥

[१४७]

ऋषिः सुवेदाः शैरीशिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१ विराट् जगती। २ आर्ची भुरिग् जगती। ३ जगती। ४ पादनिचृज्जगती। ५ विराट् त्रिष्टुप् ॥ पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

श्रत्ते॑ दधामि प्रथ॒माय॑ म॒न्यवेऽह॒न्यद्वृ॒त्रं नर्यं॑ वि॒वेर॒पः।
उ॒भे यत्त्वा॒ भव॑तो॒ रोद॑सी॒ अनु॒ रेज॑ते॒ शुष्मा॑त्पृथि॒वी चि॑दद्रिवः १

भा०—(यत्) जब तू (वृत्रम् अहन्) आकाश को आच्छादन करने वाले मेघ को ताड़ित करता है, (नर्यम् अपः विवेः) समस्त मनुष्यों, जीवों का हितकारक जल प्रदान करता है, उस (प्रथमाय) सर्वश्रेष्ठ (मन्यवे) मननशील, ज्ञानी, एवं दुष्टों पर क्रोधशील (ते) तेरे लिये (श्रत् दधामि) मैं सत्य विश्वास धारता हूं। हे (अद्रिवः) मेघों और बल वीर्य के स्वामिन् ! (उभे रोदसी) दोनों लोक सूर्य और पृथिवी (त्वा अनु भवतः) तेरे ही अधीन हैं। तेरे (शुष्मात्) बल से वा तेरे ही प्रताप से (पृथिवी चित् रेजते) यह पृथिवी, विशाल अन्तरिक्ष भी कांपता और गति करता है।

त्वं मा॒याभि॑रनवद्य मा॒यिनं॑ श्रवस्य॒ता मन॑सा वृ॒त्रम॑र्दयः।
त्वामिन्नरो॑ वृणते॒ गवि॑ष्टिषु॒ त्वां विश्वा॑सु ह॒व्या॒स्विष्टि॑षु ॥ २ ॥

भा०—हे प्रभो ! हे (अनवद्य) कभी निन्दा न करने योग्य, हे सर्वदा सर्वस्तुत्य ! (त्वं) तू (श्रवस्यता मनसा) अन्न को उत्पन्न करने की इच्छा वाले मन से, ज्ञान से वा बल से, (मायिनं वृत्रम्) गर्जना

करते हुए मेघ को (मायाभिः) गर्जना करने वाली नाना विद्युतों से (अर्दयः) ताड़ित करता है। (नरः) समस्त मनुष्य (गविष्टिषु) भूमियों और किरणों के प्राप्त करने के लिये (त्वाम् इत् वृणते) तुझ से ही याचना करते हैं। (हव्यासु विश्वासु इष्टिषु) समस्त आहुति देने योग्य यज्ञों में और अन्नोपयोगी या अन्नप्रद कामनाओं, विधि-विधानों, या कार्यों में भी (त्वां) मेघ सूर्यवत् तुझको (वृणते) वरण करते हैं।

ए॒षु चा॑कन्धि पुरुहूत सू॒रिषु॑ वृ॒धासो॒ ये म॑घवन्नान॒शुर्म॒घम्।
अर्च॑न्ति तो॒के तन॑ये॒ परि॑ष्टिषु मे॒धसा॑ता वा॒जिन॒मह्र॑ये॒ धने॑ ॥३॥

भा०—हे (पुरुहूत) बहुतसी प्रजाओं द्वारा बुलाये राजावत् प्रभो! (ये) जो (वृधासः) बढ़ने हारे विद्वान् जन (मघम् आनशुः) उत्तम दान योग्य धन सम्पदा को प्राप्त कर लेते हैं (एषु) उन (सूरिषु) विद्वान् तेजस्वी पुरुषों में तू (आ चाकन्धि) सर्वप्रकार से चमकता है, उनको तू नित्य चाहता है। हे (मघवन्) पूजित धनैश्वर्य के स्वामिन्! वे लोग (वाजिनम्) बल, ज्ञान, वेग तथा ऐश्वर्य के स्वामी तुझको ही, (तोके तनये) पुत्र, पौत्र तथा (परिष्टिषु) नाना अन्य वाञ्छनीय फलों को प्राप्त करने के लिये और (मेध-साता) अन्न के समान लाभ, कृषि आदि के लिये और (आ ह्रये धने) लज्जा को दूर करने वाले धन को प्राप्त करने के लिये (अर्चन्ति) तेरी स्तुति पूजा करते हैं।

स इन्नु रा॒यः सुभृ॑तस्य चाकन॒न्मदं॒ यो अ॑स्य॒ रंह्यं॒ चिके॑तति।
त्वावृ॑धो मघवन्दा॒श्व॑ध्वरो म॒क्षू स वाजं॑ भरते॒ धना॒ नृभिः॑ ॥४॥

भा०—(यः) जो विद्वान् पुरुष (अस्य) इस तेजस्वी इन्द्र, विद्युत् के (रह्यं मदं) वेग उत्पन्न करने वाले तृप्ति-योग, हर्ष, उल्लास, चमत्कार को (चिकेतति) जानता है, (सः इत् नु) वह ही (अस्य

सुभृतस्य रायः) इस उत्तम रीति से धारण करने योग्य ऐश्वर्य की (चाकनन्) कामना करता है। हे (मघवन्) पूजित ऐश्वर्य वाले ! (त्वा वृधः) तेरे बल से बढ़ने वाला, (दाशु-अध्वरः) दान रूप अखण्ड यज्ञ करने वाला, वा दान के बल से कभी नाश न होने वाला, (मक्षु) अति शीघ्र ही (नृभिः) उत्तम नायकों, वा दूर ले जाने वाले रथादि साधनों से (धना भरते) नाना धन प्राप्त करता है। अर्थात् वेग, गति, विद्युत् को जानने वाला विद्वान् इस इन्द्र के बल से नाना रथ आदि बना कर अनेक ऐश्वर्य कमा सकता है और वह सदा भृत्यों वा हिस्सेदारों को मुनाफ़ा बांटता रह सकता है।

त्वं शर्धाय महिना गृणान उरु कृधि मघवञ्छग्धि रायः।
त्वं नो मित्रो वरुणो न मायी पित्वो न दस्म दयसे विभक्ता॥५॥५॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (त्वं) तू (शर्धाय) बल के प्राप्त करने के लिये (महिना गृणानः) बड़े भारी ज्ञानवान् पुरुष से उपदेश या वर्णन किया जाकर (उरु कृधि) बहुत धन उत्पन्न कर और हमें (रायः शग्धि) अनेक धन देने में समर्थ हो। (त्वं नः मित्रः) तू हमारा मित्र, स्नेही, तू हमें मरण से बचाने वाला है, (वरुणः न मायी) तू ही सर्वश्रेष्ठ, ज्ञान और बुद्धि से युक्त होकर हे (दस्म) दुःखों संकटों के काटने हारे ! हे (दस्म) दर्शनीय ! हे कर्मशक्तियुक्त ! तू (नः पित्वः सं भक्ता) हमें अन्नों का देने वाला होकर (दयसे) हमारी रक्षा करता, हम पर कृपा करता है। इति पञ्चमो वर्गः॥

[१४८]

ऋषिः—१—५ पृथुर्वैन्यः॥ इन्द्रो देवता॥ छन्दः—१ विराट् त्रिष्टुप्। २ आर्ची भुरिक् त्रिष्टुप्। ३, ५ पादनिचृत् त्रिष्टुप्। आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप॥ पञ्चर्चं सूक्तम्॥

सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा सस॒वांसश्च तुविनृम्ण वाजम् ।
आ नो भर सुवितं यस्य चाकन्त्मना तना सनुयाम त्वोताः १

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! प्रभो ! हम (सु-स्वानासः) तेरी उपासना करने हारे (त्वा स्तुमसि) तेरी ही स्तुति करते हैं। हे (तुवि-नृम्ण) बहुत से धनों को प्राप्त करने हारे हम तेरी उपासना से ही (वाजं ससवांसः) ऐश्वर्य को प्राप्त हो जाते हैं । तू (यस्य चाकन्) जिस धन को चाहे (नः) हमें वही (सुवितम् आभर) सुखजनक एवं उत्तम रीति से प्राप्त करने योग्य धन प्राप्त करा । हम (त्वा-उताः) तेरे या प्रेम जन, तेरे से चिपटे, तेरे भक्त, तेरे द्वारा सुरक्षित, तेरी शरण होकर (त्मना) अपने सामर्थ्य से (तना सनुयाम) नाना धन प्राप्त करें और दान दें।

ऋष्वस्त्वमिन्द्र शूर जातो दासीर्विशः सूर्येण सह्याः ।
गुहा हितं गुह्यं गूळहमप्सु बिभृमसि प्रस्रवणे न सोमम् ॥२॥

भा०—हे (इन्द्र) दुष्टों के दण्ड देने वाले ! अन्नादि के पोषक ! हे (शूर) मेघवत् संकटों को छिन्न भिन्न करने वाले ! शत्रुहन्तः वीर ! प्रभो ! तू (ऋष्वः) महान् (जातः) प्रसिद्ध है । तू (सूर्येण) सूर्य के सदृश प्रखर तेजस्वी रूप से (दासीः विशः) शत्रुनाशकारिणी सेनाओं को और भृत्यवत् आज्ञाकारिणी, प्रजाओं को, (सह्याः) अपने वश करता है । (प्र-स्रवणे सोमं न) जल के बरसने वा नाली आदि द्वारा खेत में बह आने पर अन्न के तुल्य ही (गुहा हितम्) बुद्धि में स्थिर और (अप्सु गूढम्) प्राणी के भीतर गूढ रूप से विराजमान तुझे हम (बि भृमसि) धारण करते हैं।

अर्यो वा गिरो अभ्यर्च विद्वानृषीणां विप्रः सुमतिं चकानः ।
ते स्याम ये रणयन्त सोमैरेनोत तुभ्यं रथोळ्ह भक्षैः ॥ ३ ॥

भा०—तू (अर्यः) सबका स्वामी, (विद्वान्) ज्ञानवान् (विप्रः) मेधावी, (ऋषीणां सु-मतिं चकानः) मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की शुभ मति की कामना करता हुआ (गिरः अभि अर्च) वाणियों को स्वीकार कर। हे (रथ-ऊड) रथ द्वारा वहन करने योग्य रथीवत् आत्मन् ! (ये) जो तुझे (सोमैः) उत्तम २ ऐश्वर्यों, अन्नों से (रणयन्त) प्रसन्न करते हैं (ते) वे हम (स्याम) हों (उत) और (तुभ्यम्) तेरे लिये (एना) इन (भक्षैः) भजन-सेवन करने योग्य पदार्थों से हम तेरी परिचर्या करें। (२) अध्यात्म में—'अर्य' स्वामी आत्मा और 'ऋषि' इन्द्रियां। वह उनके उत्तम ज्ञानों की कामना करता और वाणी द्वारा बोलता है। वह देहवान् रथीवत् है, हम जीव उसे अन्न-ओषधियों से पुष्ट करते हैं।

इमा ब्रह्मेन्द्र तुभ्यं शंसि दा नृभ्यो नृणां शूर शवः।
तेभिर्भव सक्रतुर्येषु चाकन्नुत त्रायस्व गृणत उत स्तीन् ॥ ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (तुभ्यं) तेरी ही (इमा ब्रह्म शंसि) ये वेद-मन्त्र रूप स्तुतियां कही जाती हैं। हे (शूर) शूरवीर ! (नृणां नृभ्यः) मनुष्यों में श्रेष्ठ, सन्मार्ग पर ले चलने वाले पुरुषों को तू (शवः दाः) बल और ज्ञान प्रदान करता है। (एषु चाकन्) जिन में प्रेम वा स्नेह है (तेभिः) उनके साथ तू (सक्रतुः भव) समान ज्ञान और कर्मवान् हो, (उत) और तू (गृणतः) स्तुति करने वालों वा उपदेष्टाओं की (उत स्तीन्) और संघ या समवाय बना कर रहने वाले जनों को (त्रायस्व) रक्षा कर।

श्रुधी हवमिन्द्र शूर पृथ्या उत स्तवसे वेन्यस्यार्कैः।
आ यस्ते योनिं घृतवन्तमस्वारूर्मिर्न निम्नैर्द्रवयन्त वक्वाः ॥५॥६॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे दुष्टों को दण्ड देने हारे ! हे (शूर) शत्रुनाशन ! तू (पृथ्याः हवम् श्रुधि) विस्तृत प्रजा की

पुकार को सुन ! तू (वेन्यस्य अर्कैः स्तवसे) तेरी कामना करने वाले जन के वा श्रेष्ठ पुरुष के अर्चना योग्य वचनों, मन्त्रों से (स्तवसे) स्तुति किया जाता है। (यः) जो (ते) तेरे (घृतवन्तं) जलवत् शीतल एवं प्रकाशयुक्त तेजोमय (योनिम्) परम पद का (आ अस्वाः) सब ओर उपदेश करता, तेरी स्तुति करता वा अन्यों को उसका ज्ञान देता है, तू उसके भी वचनों को श्रवण कर (निम्नैः ऊर्मिः न) नीचे स्थलों से जलप्रवाह के समान (वक्राः) उत्तम २ वक्ता जन भी (निम्नैः) विनययुक्त वचनों और व्यवहारों से (द्रवयन्त) तेरी ही ओर आ बहते हैं, अति शीघ्र तेरी ही ओर आ जाते हैं। इति षष्ठो व र्गः ॥

[१४९]

ऋषिः अर्चन् हैरण्यस्तूपः ॥ सविता देवता ॥ छन्दः—१, ४ भुरिक् त्रिष्टुप् । २, ५ विराट् त्रिष्टुप् । ३ निचृत् त्रिष्टुप् । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत् ।
अश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम् ॥ १ ॥

भा०—(सविता) समस्त संसार को पैदा करने वाला परमेश्वर जगत् का प्रेरक, सूर्य के तुल्य (यन्त्रैः पृथिवीम्) अपने नियंत्रण करने वाले अनेक साधनों और बलों से पृथिवी वा प्रकृति को (अरम्णात्) सुख से स्थिर करता और इसको अति रमण योग्य करता, उसको सुन्दर रीति से स्त्री को पति के तुल्य ही हर्षित एवं सुखप्रद करता है। (सविता) समस्त संसार को उत्पन्न करने वाला प्रभु सञ्चालक ईश्वर ही (द्याम्) इस महान् सूर्य को (अस्कंभने) विना टेक के, निरबलम्ब महान् आकाश में (अदृंहत्) स्थापित करता है। और प्रभु (धुनिम्) सबको कंपाने और संञ्चालित करने वाले वायु को (अश्वम् इव अधुक्षत्)

वेगवान् अश्व के समान तीव्रता से चलाता, हांकता है और (अतूर्त्ते) अविनाशी, और अपार आकाश में (बद्धम्) बंधे (अन्तरिक्षम्) बीच से खोखले (समुद्रम्) नाना रसों को बहाने वाले मेघ को भी (अधुक्षत्) विद्युत् आदि से दीपित करता, कंपाता, और उत्पन्न करता और गौवत् जल अन्नादि उससे प्राप्त कराता और बरसाता है। 'अधुक्षत्'—धुक्ष धिक्ष संदीपन-क्लेशन-जीवनेषु।

यत्रा॑ समु॒द्रः स्क॑भि॒तो व्यौ॑न॒दपां॑ नपा॑त्सवि॒ता तस्य॑ वेद।
अतो॑ भूरत॑ आ उत्थि॑तं॒ रजो॒ऽतो॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॑प्रथेताम्॥ २॥

भा०—(यत्र) जिसके आश्रय (समुद्रः) जल बरसाने वाला आकाशस्थ समुद्र के तुल्य महान् मेघ (वि औनत्) भूमि को विशेष रूप से सेंचता है, (अपां नपात्) जलों, प्रकृति के परमाणुओं वा लोकों को थामने वाला (सविता) सूर्य वा प्रभु ही (तस्य वेद) उस महान् शक्ति को जानता, जनाता वा प्राप्त है। (अतः) इससे ही (भूः) यह पृथिवी वा प्रकृति उत्पन्न, व्यक्त होती है (अतः रजः आ उत्थितम्) उससे ही यह समस्त लोक-समूह सर्वत्र चारों ओर उठते हैं। और अतः उससे ही यह (द्यावा पृथिवी) सूर्य या आकाश और भूमि दोनों (अप्रथेताम्) विस्तार को पाते हैं।

प॒श्चेद॒मन्यद॑भव॒द्यज॑त्र॒मम॑र्त्यस्य॒ भुव॑नस्य भू॒ना।
सु॒प॒र्णो अ॒ङ्ग स॑वि॒तुर्ग॒रुत्मा॒न्पूर्वो॑ जा॒तः स उ॑ अ॒स्यानु॒ धर्म॑॥३॥

भा०—उस (अमर्त्यस्य) अविनाशी (भुवनस्य) महान् जगत् के उत्पादक प्रभु के ही (भूना) महान् सामर्थ्य से (पश्चात्) उसके पीछे (इदं अन्यत् यजत्रम् अभवत्) यह सब उससे भिन्न जड़ जगत् परस्पर संयोग से उत्पन्न हुआ है। (अङ्ग) हे विद्वन्! (सवितुः)

उस महान् जगत्-उत्पादक और जगत्-संञ्चालक प्रभु से ही (सु-पर्णः) उत्तम रश्मियों वाला (गरुत्मान्) महान् पिण्ड वाला, बड़ा बलशाली सूर्य (पूर्वः) सबसे पहले, सबसे अधिक पूर्ण (जातः) उत्पन्न हुआ और वह (अस्य धर्म अनु) उसके धर्म अर्थात् धारण सामर्थ्य के अनुरूप सामर्थ्यवान् ही होता है।

गावं इव ग्रामं यूयुधिरिवाश्वान्वाश्रेवं वत्सं सुमना दुहाना।
पतिरिव जायामभिनोन्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः ॥४॥

भा०—(गावः इव ग्रामम्) गौएं जिस प्रकार अपने समूह, भोजन या ग्राम को शीघ्र ही चली जाती हैं, और (युयुधिः इव अश्वान्) योद्धा जिस प्रकार अश्वों, या सवारों को प्राप्त करता है, और (वाश्राः इव वत्सम्) गौएं जिस प्रकार प्रेम से बछड़े के प्रति (दुहानाः) दूध स्रावित करती हुई हैं, (पतिः इव जायाम् अभि न) और पति जिस प्रकार अपनी पत्नी को प्राप्त करता है, (दिवः धर्त्ता) महान् आकाश का धारण करने वाला (सविता) जगत् का उत्पादक प्रभु (विश्व-वारः) सब से वरण करने योग्य, सर्वश्रेष्ठ ईश्वर (नः नि एतु) हमें उक्त सब प्रकारों से, सर्वथा प्राप्त हो।

ग्रामः—ग्रसन्ति अत्र इति ग्रामः इति नारायणः उणादिवृत्त्याम्।

हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम्॥५॥७॥

भा०—हे (सवितः) सूर्यवत् समस्त जगत् को संञ्चालित करने हारे! (आङ्गिरसः हिरण्यस्तूपः) अंग २ में रस वा बल पैदा करने वा उसके समान व्यापने वाला, हित और रमणयोग्य प्रभु की स्तुति करने वाला जन, (अस्मिन् वाजे) इस ऐश्वर्य के निमित्त (यथा त्वा जुह्वे) जिस

प्रकार तुझे पुकारता है, तेरी स्तुति करता है (एव त्वा) उसी प्रकार तेरी (अर्चन्) अर्चना करने वाला, भक्त भी (त्वा वन्दमानः) तेरी वन्दना, स्तुति करता हुआ (सोमस्य अंशुम् इव) सोम के अंशु को लक्ष्य कर जागने वाले के समान (अहम् प्रति जागर) मैं तेरे प्रति प्रतिदिन जागरण करूं। तेरे लिये सदा जागृत, सचेत रहूं।

आंगिरसः—अंगानि शरीरावयवाः। तद्वद् अङ्गि शरीरम्। तस्य स्थिति-हेतुम् अशितपीतरसं करोतीत्यर्थे अङ्गिरसयति। तत्करोति तदाचष्टे इति ण्यन्तात् क्विप्। जाठरो ह्यग्निरन्नं रसीकरोति। रसो लोहितमांसस्नावास्थि मज्जाशुक्रभावेन परिणममानः शरीरस्थितिहेतुर्भवति। इति स्कन्दभाष्ये ऋ० १। १। ६॥ इति सप्तमो वर्गः॥

[१५०]

ऋषिर्मृडीको वासिष्ठः॥ अग्निर्देवता॥ छन्दः—१, २ बृहती। ३ निचृद् बृहती। ४ उपरिष्टाज्ज्योतिर्नाम जगती वा। ५ उपरिष्टाज्ज्योतिः॥ पञ्चर्चं सूक्तम्॥

समिद्धश्चित्समिध्यसे देवेभ्यो हव्यवाहन।
आदित्यै रुद्रैर्वसुभिर्न आ गहि मृळीकाय न आ गहि॥१॥

भा०—हे (हव्य-वाहन) हव्य, खाने और देने योग्य पदार्थों को वहन, धारण करनेहारे, प्रभो! तू (देवेभ्यः सम् इद्धयसे) यज्ञाग्निवत् विद्वानों और शुभ गुणों वा समस्त सूर्य पृथिवी आदि लोकों के लिये (आदित्यैः रुद्रैः वसुभिः) प्रपितामहों, पितामहों और पिताओं से भी (समिद्धः चित्) आदर पूर्वक प्रज्वलित, उपासित है, तू सुख देने के लिये हमें प्राप्त हो।

इमं यज्ञमिदं वचो जुजुषाण उपागहि।
मर्तासस्त्वा समिधान हवामहे मृळीकाय हवामहे॥२॥

भा०—(इमं यज्ञं जुजुषाणः) इस यज्ञ उपासना को प्रेम से सेवन करता हुआ और (इदं वचः) इस वचन-स्तुति को स्वीकार करता हुआ (उप-आगहि) प्राप्त हो । हे (समिधान) तेज से चमकनेहारे, अन्यों से निरन्तर प्रज्वलित होने वाले ! (मर्त्तासः) हम मनुष्यगण (मृडीकाय त्वा हवामहे) सुख प्राप्ति के लिये तेरी उपासना करते हैं । हम तो (त्वा हवामहे) तेरी ही उपासना करते हैं ।

त्वामु जातवेदसं विश्ववारं गृणे धिया ।
अग्ने देवाँ आ वह नः प्रियव्रतान्मृळीकाय प्रियव्रतान् ॥३॥

भा०—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! (त्वाम् उ) तुझे ही मैं (विश्व-वारं जातवेदसं) सबसे वरण करने योग्य सब ज्ञानों का उत्पादक और सब उत्पन्न पदार्थों का जानने वाला, समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी जान कर (धिया गृणे) मन, वाणी और कर्म से तेरी उपासना करता हूं । तू (नः) हमें (प्रिय-व्रतान् देवान् आ वह) व्रतों, सत्कर्मों को प्रेम करने वाले विद्वान् जन प्राप्त करा और (मृडीकाय) हमारे सुख के लिये (प्रिय-व्रतान् आ वह) व्रतों, आचरणों के प्रेमी जनों को प्राप्त करा ।

अग्निर्देवो देवानामभवत्पुरोहितोऽग्निं मनुष्या३ ऋषयः समीधिरे ।
अग्निं महो धनसातावहं हुवे मृळीकं धनसातये ॥ ४ ॥

भा०—(अग्निः देवानाम् पुरोहितः अभवत्) स्वयं-प्रकाश तेजस्वी ज्ञानी प्रभु ही विद्वान् दानशील तेजस्वी पुरुषों के बीच में पुरोहित के तुल्य साक्षी, सर्वोपास्य हो । (मनुष्याः ऋषयः) मननशील मनुष्य और तत्वार्थदर्शी ऋषि जन (अग्निं समीधिरे) उस सर्वप्रकाशक को ही प्रज्वलित करते हैं । मैं (महः धनसातौ) बड़े भारी ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये (महः अग्निम्) उस महान् अग्नि को (हुवे) पुकारता हूँ और (मृडीकाय)

सुख प्राप्त करने के निमित्त (धन-सातौ) ऐश्वर्य लाभ के लिये उससे ही (हुवे) प्रार्थना करता हूं ।

अग्निरत्रिं भरद्वाजं गविष्ठिरं प्रावन्नः कण्वं त्रसदस्युमाहवे ।
अग्निं वसिष्ठो हवते पुरोहितो मृळीकाय पुरोहितः ॥ ५ ॥ ८ ॥

भा०—(अग्निः) ज्ञानवान्, प्रकाश स्वरूप प्रभु (आहवे) उपासना करने पर (अत्रिं) तीनों दुःखों से रहित, (भरद्-वाजं) ज्ञान बल, ऐश्वर्य को धारण करने वाले (गवि-स्थिरम्) वेदवाणी और इन्द्रियगण पर स्थिर, जितेन्द्रिय (कण्वं) विद्वान् सूक्ष्मदर्शी, आज्ञाननाशक, (त्रस-दस्युं) दुष्टों के भयभीत करने वाले पुरुषों की (प्र आवत्) अच्छी प्रकार रक्षा करता है । और (वसिष्ठः) सब बसने हारों में सबसे श्रेष्ठ (पुरः-हितः) सब के समक्ष देहों में आत्मा के तुल्य स्थापित पुरुष भी (अग्निं) उसी प्रकाशक प्रभु की (हवते) स्तुति, उपासना करता है, (पुरोहितः) स्वयं सबके अग्र पद पर स्थित पुरुष भी (मृडीकाय) सुखों को प्राप्त करने के लिये उस ज्ञानवान् प्रभु की उपासना करता है । इत्यष्टमो वर्गः ॥

[१५१]

ऋषिः श्रद्धा कामायनी ॥ देवता—श्रद्धा ॥ छन्दः—१, ४, ५ अनुष्टुप् । २ विराडनुष्टुप् । ३ निचृदनुष्टुप् ॥ पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ १ ॥

भा०—(श्रद्धया) श्रद्धा, सत्य धारणावती बुद्धि से ही (अग्निः समिद्धयते) अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है । सत्य धारणा और श्रद्धा पूर्वक ही ज्ञानवान् प्रभु और विद्वान् की उपासना की जाती है । और

(श्रद्धया हविः हूयते) श्रद्धा से हा अन्न दान दिया जाता, एवं यज्ञ में हविष्य की आहुति की जाती है। हम (मूर्धनि) अपने मस्तक में चित्त में या सर्वोपरि (भगस्य) सेवन करने योग्य, परम सेव्य एवं सुखदायी प्रभु के विषय में (वचसा) वेदवाणी द्वारा ही (श्रद्धां) अपनी सत्य धारणा को (आ वेदयामसि) आवेदन करें।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥ २ ॥

भा०—हे (श्रद्धे) सत्य धारणा से युक्त द्धे! तू (मे इदम् उदितम्) मेरे इस वचन या उत्थान को (ददतः प्रियं कृधिः) दान देते हुए को प्रिय कर। और (दिदासतः प्रियं कृधि) और दान देने की इच्छा वाले पुरुष को भी मेरा वचन या उत्थान प्रिय लगा। और मेरे कहे वचन को (भोजेषु) प्रजाओं के पालक एवं (यज्वसु) दानशील पुरुषों को भी (प्रियं कृधि) प्रिय लगने वाला बना।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (देवाः) धनादि और विजयादि के चाहने वाले जन (उग्रेषु) शत्रुओं को भयप्रद बलशाली (असुरेषु) प्राण, वृत्ति आदि देने वाले, एवं बलवान् पुरुषों पर (श्रद्धाम्) श्रद्धा को (चक्रिरे) कर लेते हैं उनको उनपर पूर्ण विश्वास होजाता है इसी प्रकार (भोजेषु यज्वसु) सर्वपालक और दानशील पुरुषों में (अस्माकम्) उदितं) हमारा वचन, वा उदय भी श्रद्धा योग्य, विश्वास्य, दृढ़ (कृधि) बना।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्य१याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥ ४ ॥

भा०—(देवाः) नाना कामनाओं को करने वाले तेजस्वी, विद्वान् जन (वायु-गोपाः) वायुवत् बलवान् पुरुष को अपना रक्षक मानने वाले, (यजमानाः) दानशील, यज्ञकर्त्ता जन (श्रद्धाम् उपासते) उसी सत्य धारणामयी देवता की उपासना करते हैं। और वे (हृदय्यया आकूत्या) हृदयगत मनोभाव से ही (श्रद्धां उपासते) श्रद्धा की उपासना करते हैं। (श्रद्धया वसु विन्दते) उस श्रद्धा, सत्य धारणा से ही परम ऐश्वर्य को भी प्राप्त करते हैं।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥ ५॥ ६॥ ११॥

भा०—हम (प्रातः श्रद्धां) प्रातःकाल में उस सत्य से जगत् को धारण करने वाले प्रभु शक्ति की (हवामहे) प्रार्थना करते हैं। (मध्यं-दिनं परि श्रद्धां हवामहे) दिन के मध्य काल में उस सत्य-धारक प्रभु को ध्यान करते हैं। (सूर्यस्य नि-म्रुचि) सूर्य के अस्तकाल में भी हम उसी श्रद्धामय प्रभु की उपासना करते हैं। हे (श्रद्धे) श्रद्धे सत्य धारणावति देवि ! तू (नः इह श्रद्धापय) हमें इस जगत् में सत्य ही को धारण करा। इति नवमो वर्गः॥ इत्येकादशोऽनुवाकः॥

[१५२]

ऋषिः शासो भारद्वाजः॥ इन्द्रो देवता॥ छन्दः—१, २, ४ निचृदनुष्टुप्। ३ अनुष्टुप्। ५ विराडनुष्टुप्॥ पञ्चर्चं सूक्तम्॥

शास इत्था महाँ अस्यमित्रखादो अद्भुतः।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन॥ १॥

भा०—हे प्रभो ! राजन् ! तू (इत्था) सत्य ही (महान् शासः असि) बड़ा भारी विश्व का शासक है। और तू (अद्भुतः) आश्चर्यकारी

(अमित्र-खादः) अमित्रों, शत्रुओं का नाश करने वाला है। (यस्य सखा न हन्यते) जिसका मित्र नहीं मारा जाता, न दण्डित होता और (न कदाचन जीयते) न कभी पराजित होता है, न कभी पछाड़ खाता है।

स्वस्तिदा विशस्पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः ॥ २ ॥

भा०—(स्वस्ति-दाः) कल्याण का देने वाला, (विशः पतिः) देह में प्रविष्ट जीवगण वा प्रजाओं का पालक, (वृत्र-हा) समस्त विघ्नों और आवरणकारी अज्ञानों का नाशक (वि-मृधः) संग्रामों का करने हारा, (वशी) सबको वश में रखने वाला, (वृषा) बलवान् (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (सोम-पाः) उत्पन्न जगत्, जीवगण ओषधि आदि का पालक (अभयं-करः) अभय करने वाला प्रभु (नः पुरः एतु) हमारे समक्ष साक्षात् हो।

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥

भा०—(रक्षः वि जहि) विघ्नकारी राक्षसों को विविध प्रकार से नाश कर। (मृधः वि जहि) हिंसक शत्रुओं और संग्राम करने वालों को भी विशेष रूप से ताड़ित कर। हे (वृत्र-हन्) शत्रु के नाशक ! तू (वृत्रस्य) बढ़ते लोभादि शत्रु के (हनू विरुज) आघातकारी साधनों वा खाने के दाढ़ों के तुल्य साधनों को विशेष रूप से तोड़ डाल। हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (अभि-दासतः) हम को सब प्रकार से नाश करने वाले (अमित्रस्य) शत्रु के (मन्युम् वि जहि) क्रोध का नाश कर।

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः ॥ ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) अभिमुख शत्रु पर वेग से आक्रमण करनेहारे ! तू (नः मृधः वि जहि) हमारे हिंसक शत्रुओं को विनाश कर । और (पृतन्यतः नीचा यच्छ) सेनाएं चाहने वालों को नीचे गिरा । (यः अस्मान् अभि दासति) जो हमें नाश करना चाहता है उसको (अधरं तमः गमय) नीचे के अन्धकार को प्राप्त करा ।

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् ।
वि मन्योः शर्म यच्छ वरीयो यवया वधम् ॥ ५ ॥ १० ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (द्विषतः मनः अप जहि) शत्रु के चित्त को दूर कर । और (जिज्यासतः वधम् अप जहि) हमें मारने की इच्छा करने वाले के हथियार को दूर कर । और (मन्योः) अभिमानी शत्रु से हमें बचा और (शर्म वि यच्छ) सुख शरण हमें विशेष रूप से दे । (वरीयः वधम्) बड़े से बड़े शत्रु-बल को (यवय) दूर कर । अथवा—(वरीयः शर्म वि यच्छ) बड़े से बड़ा शरण सुख प्रदान कर । इति दशमो वर्गः ॥

[१५३]

ऋषयः इन्द्रमातरो देवजामयः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, निचृद् गायत्री । २—५ विराड् गायत्री ॥ पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते ।
भेजानासः सुवीर्यम् ॥ १ ॥

भा०—(जातम्) उत्पन्न बालक को माताओं के तुल्य प्रेम पूर्वक (जातम् इन्द्रम्) प्रसिद्ध हुए ऐश्वर्यवान्, शत्रुहन्ता राजा को (ईङ्खयन्तीः) प्राप्त होती हुई, (अपस्युवः) नाना कर्म करने वाली प्रजाएं

(सु-वीर्यम् भेजानासः) उत्तम वीर्य, बल, शौर्य को सेवन करती हुई उसकी (उप आसते) देववत् उपासना करतीं, उसका आश्रय ग्रहण करती हैं।

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः।
त्वं वृषन्वृषेदसि ॥ २ ॥

भा०—इन्द्र अध्यक्ष की उत्पत्ति। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! शत्रु-नाशक! (त्वं) तू (बलात्) बल से, (सहसः) शत्रु-पराभवकारी सामर्थ्य से, और (ओजसः) पराक्रम से, (अधि जातः असि) सबका अध्यक्ष, सर्वोपरि शासक हो जाता है। हे (वृषन्) बलवन्! (त्वं) तू (वृषा इत् असि) सबसे बलवान्, सब सुखों का देने वाला, सर्व-प्रबन्धक है।

त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्य१न्तरिक्षमतिरः।
उद्द्यामस्तभ्ना ओजसा ॥ ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (त्वम् वृत्रहा असि) तू विघ्नकारी शत्रुओं का नाश करने वाला है। (अन्तरिक्षम् वि अतिरः) वायु जिस प्रकार मेघ को छिन्न भिन्न कर आकाश भाग को विस्तृत करता है उसी प्रकार तू भी (अन्तरिक्षम्) बीच के भूमि वाले को (वि अतिरः) शत्रु बल के छेदन-भेदन से बढ़ाता है। और (ओजसा) पराक्रम से (द्याम्) आकाश को सूर्यवत् पृथिवी वा तेजस्विनी सेना वा सभा को (उत् अस्तभ्नाः) थामता, वश करता है।

त्वमिन्द्र सजोषसमर्कं बिभर्षि बाह्वोः।
वज्रं शिशान ओजसा ॥ ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (त्वम्) तू (बाह्वोः) बाहुओं में (स-जोषसम्) प्रीतियुक्त (अर्कम्) अर्चनीय पूज्य बल को (बिभर्षि)

धारण करता है, और (ओजसा) पराक्रम से (वज्रम् शिशानः) बल-वीर्य युक्त शस्त्र सैन्य का तीक्ष्ण करता है।

त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा ।
स विश्वा भुव आभवः ॥ ५ ॥ ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् शत्रुहन् ! तू (ओजसा) पराक्रम से (विश्वा जातानि) समस्त पदार्थों को (अभि-भूः असि) अपने वश करता है, और (विश्वा-भुवः) समस्त भूमियों को, लोकों को (आ अभवः) अपने वश कर रहा है। इत्येकादशो वर्गः ॥

[१५४]

ऋषिर्यमी ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—१, ३, ४ अनुष्टुप् । २, ५ निचृदनुष्टुप् ॥ पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते ।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १ ॥

भा०—(एकेभ्यः) एक जनों के लिये या एक जनों से (सोमः पवते) सोम ओषधि वा साम-गान प्रवाहित होता है, (एके घृतम् उपासते) एक विद्वान् जन घृत, तेज अर्थात् यजुर्वेद की उपासना करते हैं और हे विद्वन् ! हे ज्ञानोपासक! आत्मन् तू (येभ्यः मधु) जिनसे वा जिनके लिये मधु अर्थात् ऋग्वेद की ऋचाएं वा ज्ञान (प्र धावति) वेग से प्राप्त होते हैं (तान् चित् एव) उनको भी तू (अपि गच्छतात्) प्राप्त हो।

यत् सामानि सोमासस्ताः । यद् यजूंषि घृतस्य कुल्याः । यदथर्वांगिरसो मधोः कुल्याः, इति । शत० ॥

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ २ ॥

भा०—(ये तपसः अनाधृष्याः) जो तप से परास्त नहीं होते, और (ये तपसा स्वः ययुः) जो तप से समस्त सुख वा मोक्षमय आनन्द को प्राप्त होते हैं (ये महः तपः चक्रिरे) जो बहुत बड़े २ भारी तप को करते हैं। (तान् चित् एव अपि गच्छतात्) हे जिज्ञासो ! वा जीवन मार्ग के यात्रिन् ! तू उनको भी प्राप्त हो ।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो (प्रधनेषु) बड़े २ युद्धों में (युद्धयन्ते) युद्ध करते हैं और जो (शूरासः) शूरवीर (तनू-त्यजः) देह छोड़ने हारे वीर हैं, (ये वा) और जो (सहस्र-दक्षिणाः) सहस्रों का दान देने वाले, ऐश्वर्यवान् हैं हे यात्रिन् ! जीव! (तान् चित् एव अपि गच्छतात्) तू उनको भी प्राप्त हो ।

ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः ।
पितॄन्तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ४ ॥

भा०—(ये चित् पूर्वे) जो पूर्व के, हम से पूर्व उत्पन्न, (ऋत-सापः) सत्य ज्ञान का सेवन करने वाले, (ऋतावानः) तेज वा यज्ञ के उपासक, (ऋत-वृधः) सत्य न्याय को बढ़ाने वा उसके बल से स्वयं बढ़ने वाले हैं (तान्) उन (तपस्वतः पितॄन्) तपोनिष्ठ पालक, गुरुजनों को (चित्) भी हे (यम) जितेन्द्रिय ! तू (अपि गच्छतात्) अवश्य प्राप्त हो ।

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ ५ ॥ १२ ॥

भा०—(ये) जो (सहस्र-नीथाः) सहस्रों वाणियों के ज्ञाता (कवयः) क्रान्तदर्शी, मेधावी विद्वान् (सूर्यम्) सूर्यवत् सर्वप्रेरक प्रभु की (गोपायन्ति) उपासना करते हैं (तान् तपस्वतः ऋषीन् तपोजान् अपि) उन तपस्वी, तप में प्रसिद्ध यथार्थ मन्त्रद्रष्टा जनों को भी (गच्छतात्) तू प्राप्त हो।

इस सूक्त को प्रेत के समीप जाकर पढ़ने का विधान है। परन्तु वस्तुतः इस सूक्त में प्रेत के लिये कोई बात नहीं है। अपने से दूर प्रवास में जाते इष्ट बन्धु के लिये वा आचार्यकुल से पृथक् होते हुए स्नातक के प्रति गुरुजनों वा आचार्याणी की जो भी सद्भावना होनी सम्भव है उनका ही इसमें निर्देश है। मृत्यु द्वारा वियुक्त पुरुष भी प्रवासी के तुल्य ही होने से इस सूक्त का वैसा विनियोग किया है। वस्तुतः, इसकी ऋषिका यमी है और देवता सोम या भाववृत्त है। अतः इसमें 'यम' अर्थात् यम नियम से जितेन्द्रिय होकर जो गुरु से वा बड़ों से ज्ञानादि उपार्जनार्थ बाहर जाने को हों उनके प्रति उनके माता-पिता, बन्धु ज्ञाति जन भी ये ही वाक्य कह सकते हैं। इति द्वादशो वर्गः ॥

[१५५]

ऋषिः शिरिम्बिठो भारद्वाजः ॥ देवता—१, ४ अलक्ष्मीघ्नम्। २, २ ब्रह्मणस्पतिः। ५ विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—१, २, ४ निचृदनुष्टुप्। ३ अनुष्टुप्। ५ विराडनुष्टुप् ॥ पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

अरा॑यि॒ काणे॒ विक॑टे गि॒रिं ग॑च्छ सदान्वे।
शि॒रिम्बि॑ठस्य॒ सत्व॑भि॒स्तेभि॑ष्ट्वा चातयामसि ॥ १ ॥

भा०—हे (अरायि) न देने वाली, आंखों से न दीखने वाली, सूक्ष्म, (विकटे) विविध आवरणों से ढकी, प्रबल, ऊपर २ से जाने वाली

हे (सदान्वे) सदा आक्रोश या गर्जना करने वाली, तू (गिरिं गच्छ) पर्वत को जा, उससे टकर, (शिरिम्बिठस्य) आकाश को भी भेदने वाले, पर्वत या आकाश में स्वयं छिन्न भिन्न होने वाले मेघ के (तेभिः) उन नाना (सत्वभिः) बलों से (त्वा चातयामसि) तुझे नष्ट करें ।

दुर्भिक्षादि काल में जल का जो सूक्ष्म अंश होकर वायु में विद्यमान हो वह समुद्र से उठकर मानसून आकाश में गति करे और जल न दे, उसको लक्ष्य कर कहा कि, वह किसी पर्वत की ओर जाकर टकरे, तब वह यह टकर कर बरस जाती है, ऐसी अवर्षा-रूप दुर्भिक्ष की स्थिति को हम मेघ के बलों से नाश करें ।

इसी प्रकार अपना अंश दूसरे को न देने वाली, (वि-कटा) विशेष रूप से कवचादि से सुरक्षित वा विक्रम करती हुई हिंसक, (सदान्वा) सदा गर्जती, वा कष्ट देने वाला सेना (गिरिं गच्छ) आज्ञाकारी पर्वतवत् अचल नायक को प्राप्त हो, ऐसी शत्रु-सेना को (शिरिम्बिठस्य) मनुष्यों के गणों को तितर-बितर कर देने वाले वीर सेनापति के नाना बलों से हम नाश करें ।

'काणे'—विक्रान्तदर्शन इत्यौपमन्यवः । कणतेर्वास्यादणूभावकर्मणः । कणतिः शब्दाणूभावे भाष्यतेऽनुकणतीति मात्राणूभावात् कणा, दर्शनाणूभावात् काणः । विकटो विक्रान्तगतिरित्यौपमन्यवः । कुटतेर्वास्याद् विपरीतस्य विकुटितो भवति शिरिम्बिठो मेघः, शीर्यते बिठे । बिठमन्तरिक्षम् । बिठं विरिटेन व्याख्यातम् । अथवा शिरिम्बिठो भारद्वाजः कालकर्णोपेतोऽलक्ष्मीर्निर्णाशयांचकार । निरु० ६ । ६ । २ ॥

'काणा' जिसकी दृष्टिशक्ति नष्ट हो गयी हो । सूक्ष्मभावार्थक कण धातु से भी 'काणा' बना है । इसी से 'कणा' बना है । कम दीखता है इसी से 'काण' कहाता है । 'विकटा'— गति रहित या विक्रमपूर्वक चाल चलने

वाली, वा कुट धातु से—हिंसा करने वाली, 'शिरिम्बिठ' जो बिठ अर्थात् अन्तरिक्ष में शीर्ण हो, छिन्न-भिन्न हो। बिठ का अर्थ 'वीरिट' के समान है। अर्थात् (पूर्वं वयतेरुत्तरमिरतेर्वयांसि इरन्ति अस्मिन् भांसि वा वीरिट मन्तरिक्षं भियो भासो वा ततिः निरु० ।) जिसमें पक्षी वा प्रकाश फैलें वह 'वीरिट' है, अथवा जिसमें दीप्ति और भय व्यापें।

इससे 'शिरम्बिठ' मेघ है। भययुक्त पर-सैन्य को छिन्न-भिन्न करने वाला वीर पुरुष और तेज फैलाने वाला सूर्य भी 'शिरिम्बिठ' हैं।

चत्तो इतश्चत्तामुतः सर्वा भ्रूणान्यारुषी ।
अराय्यं ब्रह्मणस्पते तीक्ष्णशृङ्गोदृषन्निहि ॥ २ ॥

भा०—(इतः चत्तो) इधर से नाश को प्राप्त वा ताड़ित हो, (अमुतः चत्ता) उधर से भी नाशित या ताड़ी जाय, वह (सर्वा भ्रूणानि) सब गर्भों को या अंकुरों या जीवों को (आरुषी) नाश करने वाली है, ऐसी (अराय्यम्) शत्रुसेना को हे (ब्रह्मणः पते) मन्त्रों के पालक वा हे महान् धर्म-बल के पालक स्वामिन् ! हे (तीक्ष्ण-शृंग) हिंसाकारी सैन्य, आयुध आदि को तीक्ष्ण करने वाले! तू (उद् ऋषन्) उत्तम गति से जाता हुआ (इहि) जा, उसका नाश कर।

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम् ।
तदा रभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम् ॥ ३ ॥

भा०—(अदः) वह दूर (यत्) जो (दारु) शत्रुबल को विदारण करने वाला वा काष्ठमय नौकादि (सिन्धोः पारे) नदी, समुद्रादि के तट पर, या उसको पार करने के निमित्त है जो (अपूरुषम्) पुरुष के वेग से न चलने वाला है (तत् आ रभस्व) उसको तू प्राप्त कर। हे (दुःहनो) दुःख से नाश करने योग्य। हे प्रबल ! तू (तेन) उससे (परः

तरम् गच्छ) परम तरण योग्य उत्तम पद, या दूर २ जलीय देशों को प्राप्त हो। सागर आदि पार करने के लिये वायु या अग्नि-यन्त्रादि के बल से चलने वाले नाव, जहाज़ का प्रयोग करे।

यद्ध प्राचीरजगन्तोरो मण्डूरधाणिकीः ।
हता इन्द्रस्य शत्रवः सर्वे बुद्बुदयाशवः ॥ ४ ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! (यत्) जब (प्राचीः) आगे बढ़ने वाली (उरो) बड़ी विशाल, एवं शत्रु हिंसक, (मण्डूर-धाणिकीः) लोह कणों को धारण करने वाली तोपें (अजगन्त) प्रयाण करती हैं, तब (इन्द्रस्य) इन्द्र, वीर राजा के (शत्रवः) शत्रु (सर्वे) समस्त (बुद्बुद-याशवः) बुलबुले के समान नष्ट होने वाले होकर (हताः) नष्ट हो जाते हैं।

परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत ।
देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति ॥ ५ ॥ १३ ॥

भा०—(इमे गाम् परि अनेषत) ये वीर जन भूमि के सर्वत्र स्थानों पर जावें। (अग्निम् परि अहृषत) अपने अग्रणी वा ज्ञानी नायक को प्राप्त कर खूब प्रसन्न हों, उसकी सेवा करें। (देवेषु श्रवः अकृत) विद्वानों, वीरों के अधीन रहकर ज्ञान और अन्न को उत्पन्न करें तब (कः इमान् आ दधर्षति) कौन इनको परास्त कर सकता है ? इति त्रयोदशो वर्गः ॥

[१५९]

ऋषिः केतुराग्नेयः ॥ अग्निर्देवता ॥ छन्दः—१, ३, ५ गायत्री । २, ४ निचृद् गायत्री ॥

अग्निं हिन्वन्तु नो धियः सप्तिमाशुमिवाजिषु ।
तेन जेष्म धनंधनम् ॥ १ ॥

भा०—(नः धियः) हमारे कर्म और हमारी बुद्धियां (वाजिषु आशुम् इव) ज्ञान, बल ऐश्वर्यादि से सम्पन्नों के बीच वेग, क्रिया-सामर्थ्य से सम्पन्न (सप्तिम् अग्निम्) सातों प्राणों के स्वामी, ज्ञानवान्, तेजस्वी पुरुष को (हिन्वन्तु) उद्योग से युक्त करें, उसको प्रेरित करें। (तेन) उससे (धनं-धनं जेष्म) प्रत्येक धन का विजय करें।

यया गा आकरामहे सेनयाग्ने तवोत्या।
तां नो हिन्व मघत्तये ॥ २ ॥

भा०—(यया सेनया) जिस सेना से और (यया तव ऊत्या) जिस तेरी रक्षण-शक्ति और ज्ञान-शक्ति से हम (गाः आकरामहे) भूमियों और वाणियों को प्राप्त करते हैं (तां) उसी सेना और ज्ञानमयी शक्ति को (नः मघत्तये हिन्व) हमें ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये प्रेरित कर, प्रदान कर।

आग्ने स्थूरं रयिं भर पृथुं गोमन्तमश्विनम्।
अङ्गिध खं वर्तया पणिम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी, हे ज्ञान के प्रकाशक ! आत्मन् ! तू (स्थूरम्) स्थूल, (पृथुम्) विस्तृत, (गोमन्तम्) इन्द्रियों से युक्त (रयिम् आ भर) मूर्त्तिमान् देह को सब प्रकार से ऐश्वर्य के तुल्य पुष्ट कर। (खं अङ्धि) इन्द्रियगण वा हृदयाकाश को प्रकाशित कर और (पणिम् वर्त्तय) समस्त व्यवहार को सञ्चालित कर। इसी प्रकार विद्वान् नेता पुरुष बहुत विपुल धन को प्राप्त करें, अन्तःकरण वा गृह को उज्ज्वल रखें और व्यवहार करें, वा बाधक कारण को दूर करे।

अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि।
दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः ॥ ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) प्रकाशक ! (दिवि) महान् आकाश में प्रकाश के निमित्त (अजरम्) जीर्ण होने वाले (नक्षत्रम् सूर्यम्) नक्षत्र के तुल्य अपने स्थान से च्युत न होने वाले सूर्य को (आरोहयः) स्थापित करता और चढ़ाता, उदित करता है, जो (जनेभ्यः ज्योतिः दधत्) मनुष्यों को निरन्तर प्रकाश देता है। (२) इसी प्रकार भूमि पर राजा भी उत्तम विद्वानों को स्थिर रूप से नियत करे कि लोगों को ज्ञान-प्रकाश मिले।

अग्ने केतुर्विशामसि प्रेष्ठः श्रेष्ठ उपस्थसत्।
बोधा स्तोत्रे वयो दधत् ॥ ५ ॥ १४ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानमय ! प्रकाशस्वरूप ! तू (उपस्थ-सत्) सदा समीप रहने वाला, (प्रेष्ठः) अति प्रिय, (श्रेष्ठः) सर्व श्रेष्ठ, प्रशंसनीय, (विशां केतुः असि) प्रजाओं को ज्ञान देने वाला, सर्वोच्च ध्वजा के तुल्य मान्य है। तू (स्तोत्रे बोध) स्तुतिकर्त्ता को ज्ञान प्रदान कर और (वयः दधत्) बल, आयु, ज्ञान, तेज प्रदान कर। इति चतुर्दशो वर्गः ॥

[१५७]

ऋषिर्भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः। विश्वेदेवा देवताः ॥ द्विपदा त्रिष्टुप्। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ॥ १ ॥

भा०—(इन्द्रः च) ऐश्वर्यवान् प्रभु, गुरु, विद्वान् और जीव और (विश्वे च देवाः) और समस्त जीव, शिष्य, मनुष्य और इन्द्रियगण, (इमा नु भुवना सीषधाम कं) उन समस्त उत्पन्न पदार्थों और लोकों को प्राप्त हों, वश करें।

यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥ २ ॥

भा०—(इन्द्रः) अन्न देने वाला, मेघ, सूर्य, वा प्रभु (नः यज्ञं च)

हमारे यज्ञ को, और (तन्वं च) देह को और (प्रजां च) प्रजा को (आदित्यैः सह) इस जल आदान करने वाले किरणों वा मासों सहित (चीक्लृपाति) समर्थ बलवान् करता है, हमें वृष्टि, अन्न जल देता और पालता है। राजा के उत्तम शासकगण आदित्य के तुल्य हैं।

आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम् ॥३॥

भा०—(आदित्यैः) अदिति, भूमि के हितकारक किरणों, तेजों से और (मरुद्भिः) वायुओं से सूर्य के तुल्य (इन्द्रः) शत्रुहन्ता और ऐश्वर्यवान्, अन्न जलादि का स्वामी राजा भी (स-गणः) अपने गण अर्थात् सैन्य दलों सहित, (आदित्यैः मरुद्भिः) तेजस्वी विद्वानों और बलवान् पुरुषों द्वारा (अस्माकं तनूनां अविता भूतु) हमारे शरीरों वा हमारे पुत्र प्रजादिकों का रक्षक हो।

हत्वाय देवा असुरान्यदायन्देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥ ४ ॥

भा०—(देवाः) विजिगीषु एवं विद्वान् जन (यत्) जब (असुरान् हत्वाय) अपने से प्रबल शत्रुओं का नाश करके (आयन्) आवें तो वे (देवत्वम् अभि रक्षमाणाः) अपने दानशील और तेजस्वीपन की रक्षा अवश्य करते रहें। नहीं तो वे पुनः आलसी हो जाने से पराजित हो जावेंगे।

प्रत्यञ्चमर्कमनयञ्छचीभिरादित्स्वधामिषिरां पर्यपश्यन् ॥५।१५॥

भा०—वे विद्वान् एवं विजयेच्छुक उत्तम जन, (अर्कम्) अर्चना करने योग्य पुरुष को (शचीभिः) शक्तियों और उत्तम कर्मों, अधिकारों और स्तुतियों द्वारा (प्रत्यञ्चम्) प्रतिपद पर पूजनीय रूप में आगे ही आगे (अनयन्) लिये जावें, तब (आत् इत्) अनन्तर ही वे (इषिरां स्वधाम् परि अपश्यन्) अन्न देने वाली अपनी देह-पोषक आजीविका को

प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार साधक लोग (प्रत्यञ्चम् अर्कम्) अपने प्रत्यक् आत्मा, उपास्य के प्रति (शचीभिः) साधना और वाणियों द्वारा प्राप्त करते हैं और अनन्तर (इषिरां स्वधाम् परि अपश्यन्) इच्छा शक्ति से युक्त अपने देह की धारणा शक्ति चित् का दर्शन करते हैं। इति पञ्चदशो वर्गः ॥

[१५८]

ऋषिश्चक्षुः सौर्यः ॥ सूर्यो देवता ॥ छन्दः—१ आर्ची स्वराड् गायत्री। २ स्वराड् गायत्री। ३ गायत्री। ४ निचृद् गायत्री। ५ विराड् गायत्री ॥

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्।
अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ॥ १ ॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य, सब का संचालक प्रभु (नः दिवः पातु) हमें आकाश से बचावे। (वातः) वायु (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष के उत्पातों से बचावे, (अग्निः नः पार्थिवेभ्यः) अग्नि हमें पृथिवी पर होने वाले उपद्रवों से बचावे। इस मन्त्र में सूर्य, वायु, और अग्नि ये तीनों शब्द उन २ पदार्थों की विद्याओं को जानने वालों के लिये उपलक्षण हैं। अथवा (२) सूर्य वायु अग्नि तीनों नामों से गुण भेद से परमेश्वर को ही संबोधन करके उससे ही रक्षा की प्रार्थना की है।

जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति।
पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः ॥ २ ॥

भा०—हे (सवितः) समस्त जगत् के उत्पादक! सूर्यवत् प्रकाशमान! (यस्य ते हरः शतं सवान् अर्हति) जिससे तेरा तेज सैकड़ों ऐश्वर्यों एवं स्तुतियों के योग्य है। वह तू (जोषा) प्रेम से हमारी प्रार्थना स्वीकार कर। और (नः) हमें (पतन्त्याः दिद्युतः पाहि) गिरती हुई विद्युत् से बचा।

चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः ।
चक्षुर्धाता दधातु नः ॥ ३ ॥

भा०—(सविता देवः) सूर्य सबका प्रेरक तेजोमय लोक वा प्रभु (नः चक्षुः दधातु) हमें चक्षु प्रदान करे। (उत पर्वतः नः चक्षुः दधातु) और मेघ हमें उत्तम चक्षु या उत्तम प्रकाश दे। (धाता) सब का पोषक पालक वा कर्त्ता वायु (नः चक्षुः दधातु) हमें सेवने योग्य नेत्र वा प्रकाश दे।

चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः ।
सं चेदं वि च पश्येम ॥ ४ ॥

भा०—हे प्रभो ! हे सूर्य ! (नः चक्षुषे चक्षुः धेहि) हमारे नेत्र के लिये प्रकाश दे। (नः तनूभ्यः विख्यै चक्षुः धेहि) तू हमारे शरीरों की विशेष कान्ति या दर्शन के लिये प्रकाश दे। जिससे (इदं) इस जगत् को हम (सं पश्येम च वि पश्येम च) अच्छी प्रकार देखें और विविध प्रकार से देखें।

सुसन्दृशं त्वा वयं प्रति पश्येम सूर्य ।
वि पश्येम नृचक्षसः ॥ ५ ॥ १६ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके संचालक, सर्वप्रकाशक प्रभो ! विद्वन् ! (सु-सं-दृशम् त्वा) उत्तम रीति से दर्शन करने वाले तुझे (वयम् प्रति पश्येम) हम प्रति दिन सदा देखें, तेरा साक्षात् करें और हम (नृ-चक्षसः) मनुष्यों के बीच द्रष्टा, और राजभक्त होकर (वि पश्येम) विशेष रूप से या विविध प्रकार से प्रत्येक वस्तु को देखा करें। इति षोडशो वर्गः ॥

[१५६]

ऋषिः शची पौलोमी ॥ देवता—शची पौलोमी ॥ छन्दः—१—३, ५ निचृदनुष्टुप् । ४ पादनिचृदनुष्टुप् । ६ अनुष्टुप् ॥ षड्ऋचं सूक्तम् ॥

उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भर्गः ।
अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः ॥ १ ॥

भा०—सेना और स्त्री का आत्म-वरण । (असौ) वह पूज्य (सूर्यः) सूर्य के समान कान्तिमान् तेजस्वी पुरुष (उत् अगात्) उत्तम पद को प्राप्त होता है । (अयं मामकः भगः उत्) यह मेरा ऐश्वर्य-सौभाग्य भी उदय को प्राप्त हो। (अहम् तत् पतिं विद्वला) मैं उसको अपना पालक पति प्राप्त करती हुई, (वि-ससहिः) विशेष रूप से विरोधी शत्रुओं का पराजय करने में समर्थ होकर (अभि असाक्षि) सन्मुख के शत्रुओं को पराजय करूं। इसी प्रकार स्त्री भी पति के उदय के साथ अपना सौभाग्य बढ़ता जाने, और वह खूब सहनशील, दुष्ट-दमन-कारिणी हो ।

अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी ।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत् ॥ २ ॥

भा०—(अहं केतुः) मैं ध्वजा के समान यश-वैभव को बतलाने वाली, एवं ज्ञानयुक्त और (अहं मूर्धा) मैं सिर के समान आदरणीय और मूल आश्रय को धारण करने वाली, (अहम्) मैं (उग्रा) बलवती, शत्रु को भय देने वाली (वि-वाचनी) विविध वचनों को बोलने और पालन करने वाली होऊं। (मम सेहानायाः) शत्रु का विजय करने वाली मेरे ही (क्रतुम् अनु) कर्म वा इच्छा, संकल्प के अनुकूल (पतिः उप आ चरेत्) मेरा पालक पति कार्य करे। इसी प्रकार स्त्री भी ज्ञान वाली, गृहस्थ में शिरोमणि, उत्तम वाणी युक्त, साक्षर, सहनशील हो, पति उसके मन के अनुकूल कर्म करे ।

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट् ।
उताहमस्मि सञ्जया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥ ३ ॥

भा०—(मम पुत्राः) मेरे बहुतों की रक्षा करने वाले पुत्र (शत्रु-हनः) शत्रुओं का नाश करने वाले हों। (अथो) और (मे दुहिता) मेरी कन्या दूर देश में विवाहित होकर (विराट्) विविध गुणों से चमकने वाली हो। (उत) और (अहम् सं-जया अस्मि) मैं मिलकर उत्तम जय प्राप्त करने वाली होऊं। (मे उत्तमः श्लोकः पत्यौ) मेरा उत्तम स्तुति योग्य वचन और यश पति के हृदय में या उसके सम्बन्ध में या उसके अधीन हो। अथवा (मे पत्यौ उत्तमः श्लोकः) मेरी उत्तम प्रसिद्धि पति के आश्रय ही हो।

येनेन्द्रो॑ ह॒विषा॑ कृ॒त्व्यभ॑वद्द्यु॒म्न्यु॑त्त॒मः।
इ॒दं तद॑क्रि देवा अस॒प॒त्ना किला॑ भुवम् ॥ ४ ॥

भा०—(येन) जिस (हविषा) अन्न आदि साधन सामग्री से, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् मेरा स्वामी, (कृत्वी द्युम्नी उत्तमः अभवत्) कर्म करने में समर्थ, यशस्वी, और उत्तम हो। हे (देवाः) विद्वान् जनो! (इदं तत् अक्रि) वही साधन क्रिया जाय। और मैं (असपत्ना किल अभुवम्) शत्रु वा सपत्नी से रहित होऊं।

अ॒स॒प॒त्ना स॑पत्न॒घ्नी जय॑न्त्यभि॒भूव॑री।
आवृ॑क्षम॒न्यासां॒ वर्चो॒ राधो॒ अस्थे॑यसामिव ॥ ५ ॥

भा०—मैं (असपत्ना) शत्रु से रहित, (सपत्न-घ्नी) शत्रुओं का नाश करने वाली, (जयन्ती) जय लाभ करती हुई, (अभि-भूवरी) सब को पराजित करती हुई, (अन्यासां) अन्य शत्रु जनों की (अस्थेयसाम् इव) अस्थिरसी सेनाओं के (वर्चः राधः) तेज और धन को (आ अवृक्षम्) सब ओर से काट गिराऊं।

सम॑जैषमि॒मा अ॒हं स॒पत्नी॑रभि॒भूव॑री।
यथा॒हम॒स्य वी॒रस्य॑ वि॒राजा॑नि॒ जन॑स्य च ॥ ६ ॥ १७ ॥

भा०—(अहं) मैं (इमाः सपत्नीः) इन शत्रु सेनाओं को (अभि-भूवरी) पराजित करने वाली होकर (सम् अजैषम्) अच्छी प्रकार विजय करूं। (यथा) जिससे (अहम्) मैं (अस्य वीरस्य जनस्य च) इस वीर और प्रजाजन के साथ (विराजानि) विशेष रूप से चमकूं, प्रतिष्ठा प्राप्त करूं।

इसी प्रकार स्त्री भी चाहे कि उसके पुत्र शत्रुहन्ता वीर और कन्याएं गुणवती हों। (३) वह पति के हृदय को जीतें, और उसके अधीन रहकर उत्तम कीर्त्ति प्राप्त करे। (४) वह ऐसा कार्य करे जिससे उसका पति समर्थ और धनी, यशस्वी हो, (५) ऐसा न हो कि कोई उसके घर में उसकी सौत आ जावे। (६) प्रत्युत वह ही उसके साथ सदा विराजे। इति सप्तदशो वर्गः ॥

[१६०]

ऋषिः पूरणो वैश्वामित्रः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ३ त्रिष्टुप्। २ पादनिचृत् त्रिष्टुप्। ४, ५ विराट् त्रिष्टुप् ॥ पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहि सर्वरथा वि हरी इह मुञ्च ।
इन्द्र मा त्वा यजमानासो अन्ये नि रीरमन्तुभ्यमिमे सुतासः ॥१॥

भा०—हे (इन्द्र) सेनापते ! हे शत्रुहन्तः ! ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! तू (अस्य) इस (तीव्रस्य) अति वेग से जाने वाले (अभि-वयसः) सर्वत्र बलयुक्त सैन्य और सर्व अन्न से सम्पन्न राष्ट्र का (पाहि) पालन कर। (इह) यहां (सर्वरथा हरी) वेग से जाने वाले रथ से संयुक्त, वा समस्त रथों में लगे अश्वों को (वि मुञ्च) खोल दे। (त्वा) तुझे (अन्ये यजमानासः) दूसरे शत्रु लोग नाना ऐश्वर्य देते हुए भी (मा नि रीरमन्) तुझे न लुभालें, (इमे सुतासः तुभ्यम्) ये समस्त उत्पन्न ऐश्वर्य और अधिकार वा अधिकारी जन एवं ऐश्वर्यवान् जन (तुभ्यम्) तेरी ही सेवा के लिये हैं।

तुभ्यं सुतास्तुभ्यमु सोत्वासस्त्वां गिरः श्वात्र्या आ ह्वयन्ति ।
इन्द्रेदमद्य सवनं जुषाणो विश्वस्य विद्वाँ इह पाहि सोमम् ॥२॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! शत्रुहन्तः ! (तुभ्यम् सुताः) ये समस्त ऐश्वर्य तेरे ही लिये हैं। (तुभ्यम् उ सोत्वासः) ये ऐश्वर्य उत्पन्न करने वाले भी तेरे ही लिये हैं। (त्वां) तुझको (श्वात्र्याः) सुखकारिणी, शुद्ध (गिरः) वाणियां (आह्वयन्ति) सब ओर से बुला रही हैं। (अद्य इदं सवनं जुषाणः) आज इस सवन, अभिषेक को प्रेम से स्वीकार करता हुआ (विश्वस्य विद्वान्) सबको जानता हुआ (सोमम् पाहि) इस ऐश्वर्य युक्त राष्ट्र को पालन कर।

य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति ।
न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्तमिच्चारुमस्मै कृणोति ॥३॥

भा०—(यः) जो (देव-कामः) दाता प्रभु की इच्छा करने वाला (उशता मनसा) कामनायुक्त चित्त से (सोमं सुनोति) ऐश्वर्य उत्पन्न करता है, (इन्द्रः (अस्मै) इसके लिये (सर्व-हृदा) पूर्ण हृदय से (उशता मनसा) तस्य गाः) वह ऐश्वर्यवान् उसके वाणियों वा भूमियों को (न परा ददाति) नहीं टालता, नहीं नष्ट करता, और (अस्यै प्रशस्तम् इत् चारु कृणोति) उस प्रजाजन के लिये प्रशंसनीय सुन्दर मार्ग, वा धन उत्पन्न करता है।

अनु स्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवान्न सुनोति सोमम् ।
निररत्नौ मघवा तं दधाति ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः ॥ ४ ॥

भा०—(यः) जो (रेवान् न) धनवान् के सदृश होकर (अस्मै) इस प्रभु के लिये ही (सोमं) अन्न, ऐश्वर्य, आदर-सत्कार पूजादि (सुनोति) प्रदान करता है, (एषः अस्य अनु स्पष्टः भवति) वह उसको

दिनों दिन दृष्टि गोचर होता जाता है, (मघवा) ऐश्वर्यवान् प्रभु (तम्) उसको (अरत्नौ निः दधाति) बाहु पकड़ कर कष्टों से निकाल लेता है, और (अनानुदिष्टः) विना प्रार्थना हो के (ब्रह्म द्विषः हन्ति) वे ब्रह्म, वेद, और विद्वानों के शत्रुओं को नाश करता है।

अश्वायन्तो गव्यन्तो वाजयन्तो हवामहे त्वोपगन्तवा उ।
आभूषन्तस्ते सुमतौ नवायां वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम ॥५।१८॥

भा०—(वयम्) हम लोग (अश्वायन्तः गव्यन्तः वाजयन्तः) अश्वों, गौओं, और देह में, कर्म और ज्ञानेन्द्रियों को चाहने वाले, और ऐश्वर्य चाहते हुए, (त्वा उपगन्तवै हवामहे) तुझे प्राप्त होने के लिये तुझे पुकारते हैं (ते नवायां सुमतौ) तेरी अति सुन्दर शुभ मति, ज्ञान में (आभूषन्तः) सब प्रकार से रहते हुए, हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् प्रभो ! (त्वा शुनं हुवेम) तुझ को सुखपूर्वक पुकारें। इत्यष्टादशो वर्गः ॥

[१६१]

ऋषिर्यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः॥ देवता—राजयक्ष्मघ्नम् ॥ छन्दः—१, ४ भुरिक् त्रिष्टुप्। २ त्रिष्टुप्। ३ निचृत् त्रिष्टुप। ५ निचृदनुष्टुप् ॥ पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥

भा०—हे रोगिन् ! (त्वा) तुझे, (अज्ञात-यक्ष्मात्) जो रोग पता नहीं चल रहा, (उत) और (राज-यक्ष्मात्) राज-रोग [तपेदिक्] से भी (कं जीवनाय) सुख पूर्वक जीने के लिये (मुञ्चामि) छुड़ाता हूं। (यदि ग्राहिः जग्राह) यदि ग्राही नाम का शरीर जकड़ देने वाला रोग (एनम्) इस तुझ रोगी को जकड़ लिया है, (तस्याः) उस रोग से भी

(एनं) इस रोगी को (इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तम्) इन्द्र और अग्नि, विद्युत् और अग्नि के गुण वाले ओषधियां अच्छी प्रकार छुड़ावें। वा देह में प्राण इन्द्र और जाठर अग्नि है, वे दोनों ठीक होकर रोगी को रोग से मुक्त करें।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥

भा०—(यदि क्षितायुः) यदि रोगी की जीवनशक्ति नष्ट ही हो गई हो, (यदि वा परा-इतः) यदि वह सीमा से भी परे चला गया है, (यदि मृत्योः अन्तिकं) यदि वह मौत अर्थात् देह त्याग के समीप (नीतः एव) ही पहुंच गया है, तो भी (तम्) उस रोगी को मैं (निर्ऋतेः उपस्थात् आ हरामि) अति कष्टप्रद रोग के पंजे से छुड़ा लाऊं। और (एनं) उस रोगी को (शत-शारदाय) सौ वर्ष के जीवन के लिये (अस्पार्षम्) बलयुक्त करूं।

सहस्राक्षेण शतशारदेन शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
शतं यथेमं शरदो नयातीन्द्रो विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥

भा०—मैं (एनं) इस रोगी को (सहस्राक्षेण) सहस्रगुणा, बलयुक्त व्यापक गुण वाले, और (शत-शारदेन) सौ वर्ष तक जीवन देने में समर्थ (शत-आयुषा) सौ वर्ष तक दीर्घ जीवन से युक्त, (हविषा) औषध आदि साधन से (अहार्षम्) रोग से मुक्त करूं। (यथा) जिससे (इन्द्रः) आत्मा प्राण वा परमात्मा (शरदः शतम्) सैकड़ों वर्ष (विश्वस्य दुरितस्य पारम्) समस्त दुःखों के पार (नयाति) पहुंचावे। इमं नयति पारम् इति इन्द्रः ॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।
शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ॥४॥

भा०—हे मनुष्य ! तू (वर्धमानः) बढ़ता हुआ (शतं शरदः जीव)

सौ व`र्ष` तक जीवन धारण कर। (शतं हेमन्तान्) सौ हेमन्त और (शतं वसन्तान् उ) सौ वसन्तों तक भी जी (इन्द्र-अग्नी) इन्द्र अग्नि, सूर्य और अग्नि, प्राण और जाठर (सविता बृहस्पतिः) सविता और बृहस्पति उत्पादक शक्ति वीर्य और इस देह का पालक रक्त या ओज धातु (शतायुषा हविषा) सौ वर्षों के जीवन के देने के साधन या बल से (एनं पुनः दुः) इसकी पुनः शक्ति पुनः प्रदान करें।

आहा॑र्षं॒ त्वावि॑दं॒ त्वा पुन॒रागा॑ः पुनर्नव।
सर्वा॑ङ्ग॒ सर्वं॑ ते॒ चक्षुः॒ सर्व॒मायु॑श्च ते॒ऽविदम्॥ ५॥ १९॥

भा०—हे रोगी ! (त्वा आहार्षम्) तुझे मैं रोग से दूर करूं। (त्वा अविदं) तुझे मैं प्राप्त करूं। (पुनः आगाः) तू पुनः आजा। हे (पुनः-नव) पुन नये जीवन को धारण करने वाले ! हे (सर्व-अंग) समस्त अंगों से युक्त ! (ते सर्वं चक्षुः) तेरे समस्त ज्ञान देखने वाली आंख आदि इन्द्रियें, और (सर्वं च आयुः) सम्पूर्ण आयु (ते अविदम्) तुझे प्राप्त कराऊं। इत्येकोनविंशो वर्गः॥

[१६२]

ऋषीरक्षोहा ब्राह्मः॥ देवता—गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम्॥ छन्दः—१, २, ४ निचृदनुष्टुप्। ३, ५, ६ अनुष्टुप्॥ षडृचं सूक्तम्॥

ब्रह्म॑णा॒ग्निः सं॑विदा॒नो र॑क्षो॒हा बा॑धतामि॒तः।
अमी॑वा॒ यस्ते॒ गर्भं॑ दु॒र्णामा॒ योनि॑मा॒शये॑॥ १॥

भा०—(ब्रह्मणा सं-विदानः) ब्रह्म अर्थात् अन्न के साथ मिलकर (रक्षोहा अग्निः) रोग कीटादि बाधक कारण को नाश करने वाला अग्नि नामक ओषधि, अथवा (ब्रह्मणा सह संविदानः अग्निः) वेद-ज्ञान के साथ

उत्तम ज्ञान लाभ करता हुआ रोगनाशक विद्वान् पुरुष (इतः) इस शरीर से (बाधताम्) उस रोग को दूर करे। (यः) जो (अमीवा) रोग (दुर्नाम) बुरे रूप वाला, (ते गर्भं योनिम् आशये) तेरे गर्भ वा यानि स्थान में गुप्त रूप से पहुंचा है।

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (दुर्नामा) बुरे रूप वाला (अमीवा) रोग (ते गर्भम् योनिम् आशये) तेरे गर्भ और योनि भाग में गुप्त रूप से है (अग्निः) ज्ञानी पुरुष वा अग्नि नाम ओषधि (तं क्रव्यादम्) उस मांस खाने वाले [पेराज़ाईट्] रोगकारक कीटाणु को (ब्रह्मणा सह) ज्ञान पूर्वक वा बल से (निः अनीनशत्) सर्वथा नष्ट करे।

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम्।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ ३ ॥

भा०—(यः) हे स्त्रि ! जो रोग (ते पतयन्तं) तेरे गर्भाशय में जाते हुए वीर्यांश को (हन्ति) नाश करता है, वा (नि-सत्स्नुं) गर्भाशय में स्थिर होते हुए गर्भ को (हन्ति) नाश करता है, (यः) जो (सरीसृपं) सरकते, हिलते डोलते गर्भ को नाश करता है, (यः ते जातं जिघांसति) जो रोग तेरे उत्पन्न हुए बालक को नाश करना चाहता है (तम्) उस रोग को हम (इतः) इस स्थान से (नाशयामसि) दूर करें।

यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शये।
योनिं यो अन्तरारेळिह तमितो नाशयामसि ॥ ४ ॥

भा०—हे स्त्री ! (यः) जो रोगकारी कारण (ते ऊरू विहरति) तेरे दोनों जांघों के बीच रहता है, और (दम्पती अन्तरा शये) स्त्री पुरुष

दोनों में से किसी के देह में भी गुप्त रूप से है और (यः) जो (योनिम् अन्तः आरेढि) योनि, गर्भाशय के बीच में प्रविष्ट होकर गर्भ को चाट जाता है, (तम् इतः नाशयामसि) उस रोग-कारण रूप कीटाणु आदि को हम यहां से दूर करें।

यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ ५ ॥

भा०—हे स्त्रि! (यः) जो (त्वा) तेरे पास (भ्राता) तेरे भाई रूप से वा (पतिः) पति रूप से वा (जारो भूत्वा) प्रेमी होकर (निपद्यते) प्राप्त होता है और (यः ते प्रजां जिघांसति) जो तेरी प्रजा को नष्ट करना चाहता है, (तम् इतः नाशयामसि) हम उसको यहां से दूर करें।

यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ ६ ॥ २० ॥

भा०—(यः) जो (त्वा) तुझे (स्वप्नेन) निद्रा से वा अन्धकार से, वा शोक से (मोहयित्वा) मोह कर (निपद्यते) तेरे पास आता है, (यः ते प्रजां जिघांसति) जो तेरी प्रजा को नष्ट करना चाहता है (तम् इतः नाशयामसि) उसको हम यहां से नष्ट करें। इति विंशो वर्गः ॥

[१६३]

ऋषिर्विवृहा काश्यपः ॥ देवता—यक्ष्मघ्नम् ॥ छन्दः—१, ६ अनुष्टुप्। २—५ निचृदनुष्टुप् ॥ षडृचं सूक्तम् ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥

भा०—मैं (ते अक्षीभ्यां यक्ष्मं अधि वि वृहामि) तेरी आंखों में से रोगकारक कारण को दूर करूं। (ते नासिकाभ्यां, ते कर्णाभ्याम्) तेरी नासिकाओं से और कानों से और (छुबुकाद् अधि) तेरी ठोड़ी से भी रोग को दूर करूं और (शीर्षण्यं यक्ष्मं) सिर में बैठे रोग को (मस्तिष्कात्) मस्तिष्क से और (जिह्वायाः) जीभ से भी दूर करूं।

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्य१मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥

भा०—हे रोगी! (ते दोषण्यं यक्ष्मं) तेरे बाहुओं में बैठे रोग को (ग्रीवाभ्यः) गर्दन की नाड़ियों से (उष्णिहाभ्यः) ऊपर की ओर जाने वाली, धमनियों से, (कीकसाभ्यः) हड्डियों से और (अनूक्यात्) संधि भाग से, (अंसाभ्यां बाहुभ्यां) कंधों और बाहुओं से (वि वृहामि) दूर करूं।

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोर्हृदयादधि।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो वि वृहामि ते ॥ ३ ॥

भा०—(ते आन्त्रेभ्यः) तेरा आंतों से, (गुदाभ्यः) गुदा की नाड़ियों से और (वनिष्ठोः) स्थूल आंत से, (हृदयात् अधि) हृदय से (ते मतस्नाभ्यां) तेरे दोनों गुर्दों में से, (यक्नः) यकृत् से, (प्लाशिभ्यः) पेट में स्थित अन्य भोजन-पाचक तिल्ली आदि यन्त्रों से (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को दूर करूं।

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद्भंससो वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

भा०—(ते ऊरुभ्यां) तेरी जंघाओं से, (अष्ठीवद्भ्याम्) विशेष अस्थि वाले गोड़ों से (पार्ष्णिभ्यां) एड़ियों से, और (प्र-पदाभ्यां)

पैरों के अग्रभाग, पंजों से, (श्रोणिभ्यां) नितम्ब भागों से और (भासदात् भंससः) कटि भाग में स्थित गुदा वा उपस्थ प्रदेश से, (यक्ष्म वि वृहामि) रोग को दूर करूं।

मेहनाद्वनंकरणाल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ॥ ५ ॥

भा०—हे रोगी! (वनं-करणात् मेहनात्) जल पैदा करने वाले मूत्रकारी और शुक्रसेचक मूल-इन्द्रिय से, (ते लोमभ्यः नखेभ्यः) तेरे लोमों और नखों से, और (सर्वस्मात् ते आत्मनः) तेरे समस्त देह से (ते तम् इदं वि वृहामि) तेरे इस प्रकार के उस समस्त रोग को दूर करूं।

अङ्गादङ्गाल्लोम्नोलोम्नो जातं पर्वणिपर्वणि।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ॥ ६ ॥ २१ ॥

भा०—(अंगात् अंगात्) अंग २ से, (लोम्नः लोम्नः) लोम लोम से, और (पर्वणि पर्वणि जातं) पोरू २ में पैदा हुए (तम् इदम्) उस इस (यक्ष्मं) रोगकारी कारण को (सर्वस्मात् आत्मनः) समस्त देह से (वि वृहामि) दूर करूं। इत्येकविंशो वर्गः ॥

[१६४]

ऋषिः प्रचेताः ॥ देवता—दुःस्वप्नघ्नम् ॥ छन्दः—१ निचृदनुष्टुप्। २ अनुष्टुप्। ४ विराडनुष्टुप्। ३ आर्ची भुरिक् त्रिष्टुप्। ५ पंक्तिः ॥ पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥ १ ॥

भा०—हे (मनसः पते) मन अर्थात् संकल्प विकल्प करने वाले अन्तः करण को गिराने वाले ! पाप-संकल्प ! तू (अप इहि) दूर हो, (अप क्राम) तू परे चला जा, (परः चर) परे भाग जा । तू (जीवतः मनः) प्राणी के चित्त को (बहुधा) प्रायः, बहुत प्रकार से, (निर्ऋत्यै) दुःखदायी पापप्रवृत्ति के लिये ही (आ चक्ष्व) बार २ कहा करता है । (परः) तू परे हो । (अथर्व० २० । ९६ । २४)

भ॒द्रं वै वरं॑ वृणते भ॒द्रं यु॑ञ्जन्ति॒ दक्षि॑णम् ।
भ॒द्रं वै॑वस्व॒ते चक्षु॑र्बहु॒त्रा जीव॑तो॒ मनः॑ ॥ २ ॥

भा०—मनुष्य प्रायः (भद्रं) कल्याणकारक (वरं) श्रेष्ठ पदार्थ की (वृणते) याचना करते हैं । वे (दक्षिणं) उत्साहवान् चित्त को भी (भद्रं युञ्जन्ति) कल्याण के लिये ही लगाते हैं । (जीवतः मनः बहुत्र) जीवित प्राणी का चित्त बहुत स्थानों पर जाता है वह (वैवस्वते) विविध प्राणियों के स्वामी प्रभु में ही (भद्रं चक्षुः) उत्तम कल्याण को ही देखने वाली आंख के तुल्य हो ।

यदा॒शसा॑ निः॒शसा॑भि॒शसो॑पारि॒म जाग्र॑तो॒ यत्स्व॒पन्तः॑ ।
अ॒ग्निर्विश्वा॒न्यप॑ दु॒ष्कृ॒तान्यजु॑ष्टा॒न्यारे अ॒स्मद्द॑धातु ॥ ३ ॥

भा०—(यत्) जिस बुराई को हम (आ-शसा) आशा से, इच्छा पूर्वक (निः-शसा) निराशा से, इच्छा के विपरीत, (अभि-शसा) या पुनः चाह कर (उपारिम) प्राप्त करें वा (यत्) जिस बुराई को हम (जाग्रतः) जागते हुए वा (स्वपन्तः) सोते हुए (उपारिम) प्राप्त हों, (अग्निः) ज्ञानवान्, तेजोमय प्रभु वा विद्वान्, उन (दुष्कृतानि) दुष्ट कर्मों और (अजुष्टानि) न सेवन करने योग्य पापों को (अस्मत् आरे) हम से दूर (अप दधातु) रखे ।

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि।
प्रचेता न आङ्गिरसो द्विषतां पात्वंहसः ॥ ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् प्रभो ! हे (ब्रह्मणः पते) महान् ज्ञान और ब्रह्माण्ड के पालक, स्वामिन् प्रभो ! (यत् अभिद्रोहं चरामसि) हम जो सब से द्रोह का आचरण करें तो (आंगिरसः) प्रत्येक अंग २ में विराजने वाला, वा ज्ञानी पुरुषों में श्रेष्ठ (प्र-चेताः) सबके चित्तों का स्वामी, सबसे उत्कृष्ट ज्ञान वाला, प्रभु वा विद्वान् पुरुष (द्विषतां अंहसः) अन्तः और बाह्य शत्रुओं के पाप से (नः पातु) हमें बचावे ।

अजैष्माद्यासनाम चाभूमानागसो वयम् । जाग्रत्स्वप्नः सङ्क-ल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु यो नो द्वेष्टि तमृच्छतु॥५॥२२॥

भा०—(अद्य अजैष्म) आज विजय कर लिया, (वयं अद्य असनाम) आज हमने प्राप्त करने योग्य पा लिया । (वयम् अनागसः अभूम) हम आज निष्पाप हो गये हैं । (जाग्रत्-स्वप्नः) जागते और सोते समय का (पापः संकल्पः) पाप रूप बुरा संकल्प (यम् द्विष्मः तं स ऋच्छतु) जिसको हम द्वेष करते हैं उसको वह प्राप्त हो । और (यः नः द्वेष्टि) जो हम से द्वेष करता है (तं स ऋच्छतु) उसको वह प्राप्त हो । इति द्वाविंशो वर्गः ॥

[१६५]

ऋषिः कपोतो नैर्ऋतः ॥ देवता—कपोतोपहतौ प्रायश्चित्तं वैश्वदेवम् ॥ छन्दः—१ स्वराट् त्रिष्टुप् । २, ३ निचृत् त्रिष्टुप् । ४ भुरिक् त्रिष्टुप् । ५ त्रिष्टुप् ॥ पंचर्चं सूक्तम् ॥

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम ।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे १

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (निर्ऋत्याः) कष्टदायी दुःख, विपत्ति या सेना वा भूमि, देशसम्बन्धी (दूतः) दूत, संदेशहर (कपोतः) ठीक २ अर्थ या तात्पर्य का दर्शाने वाला विद्वान् (इषितः) प्रेरित होकर (यत् इच्छन् इदम् आ जगाम) जो कुछ भी चाहता हुआ इस प्रकार आजावे तो भी हम (अस्मै अर्चाम) उसका आदर करें, उसका (निष्कृतिं कृणवाम) श्रम दूर करें (नः द्विपदे चतुष्पदे शम् शम् अस्तु) हमारे दोपायों और चौपायों के लिये भी शान्ति ही शान्ति हो ।

उपदेष्टा, राजदूतादि बन कर आये विद्वानों का हमें सदा आदर करना चाहिये ।

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहेषु ।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥ २ ॥

भा०—(इषितः कपोतः नः शिवः अस्तु) दूसरे से भेजा हुआ विद्वान् दूत हमारे लिये भी कल्याणकारी हो । हे (देवाः) विद्वान् जनो ! (नः गृहेषु) हमारे घरों में वह (अनागाः) पाप, अपराध से रहित हो, उस पर किसी प्रकार का अपमान वा आघात न हो । (अग्निः हि) वह अग्नि के तुल्य ही नियम से (नः हविः जुषताम्) हमारा उत्तम अन्न प्रेम से प्राप्त करे । (पक्षिणी हेतिः) पक्षों वाली, शस्त्र वाली सेना (नः परि वृणक्तु) हमें दूर से ही त्याग दे, हम पर आक्रमण न करे ।

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्र्यां पदं कृणुते अग्निधाने ।
शं नो गोभ्यश्च पुरुषेभ्यश्चास्तु मा नो हिंसीदिह देवाः कपोतः ॥ ३ ॥

भा०—(पक्षिणी हेतिः) दोनों पक्षों वाली सेना, (अस्मान् न दभाति) हमारा नाश न करे। (आष्ट्र्यां) व्यापक सेना में वह विद्वान् पुरुष (अग्नि-धाने) अग्निवत् तेजस्वी पद के योग्य स्थान पर (पदं कृणुते) मानपद प्राप्त करता है। हे (देवाः) विद्वान् जनो ! वह (कपोतः) अद्भुतवर्णवाला पुरुष (नः मा हिंसीत) हमें न मारे। (नः गोभ्यः शम्, पुरुषेभ्यः च शम् अस्तु) हमारी गौओं और पुरुषों के लिये भी वह शान्तिदायक हो।

यदुलूको वदति मोघमेतद्यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति।
यस्य दूतः प्रहित एष एतत्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ ४॥

भा०—(यत्) जो (उलूकः = उरुकः) बहुत बातें बनाता है (एतत् मोघम् वदति) वह सब व्यर्थ ही बोलता है और (यत्) जब (कपोतः) उत्तम विद्वान् (अग्नौ) स्वयं तेजस्वी राजा के समीप (पदं कृणोति) अपना पद प्राप्त करता है, तब (एषः) वह (यस्य) जिसका (प्रहितः दूतः) भेजा हुआ दूत आता है (तस्मै मृत्यवे) उस मृत्युतुल्य नरसंहारक वीर शत्रुयोद्धा (यमाय) सेना-नियन्ता के प्रतिषेध के लिये (नमः अस्तु) नमस्कार वा दण्ड का प्रयोग हो।

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयध्वम्।
संयोपयन्तो दुरितानि विश्वा हित्वा न ऊर्जं प्र पतात्पतिष्ठः॥
॥ ५॥ २३॥

भा०—(प्र-नोदम्) दूर करने योग्य, दूर भेजने योग्य (कपोतं) विद्वान् पुरुष को (ऋचा) उत्तम अर्चना-सत्कार सहित (नुदत) प्रेरित करो। (इषं मदन्तः) दूसरे की इच्छा को प्रसन्न रखते हुए (गाम् परि नयध्वम्) वाणी वा दुग्ध आदि पदार्थ प्रदान करो और हम (विश्वा दुरितानि

संयोपयन्तः) समस्त बुरे परिणामों को दूर करते हुए सदा सावधान रहें। (नः ऊर्जं हित्वा) हमें बल पराक्रम देता या बढ़ाता हुआ वह (पतिष्ठः) उत्तम पतनशील, दूरगामी होकर (प्र पतात्) अच्छी प्रकार जावे । इति त्रयोविंशो वर्गः ॥

[१६६]

ऋषिर्ऋषभो वैराजः शाक्वरो वा ॥ देवता—सपत्नघ्नम् ॥ छन्दः—१, २ अनुष्टुप् । ३, ४ निचृदनुष्टुप् । ५ महापङ्क्तिः पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

ऋषभं मां समानानां सपत्नानां विषासहिम् ।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम् ॥ १ ॥

भा०—हे प्रभो ! (मा) मुझको (समानानाम् ऋषभम्) एक समान मानपद वालों में सर्वश्रेष्ठ, और (सपत्नानां वि-ससहिम्) शत्रुओं को विशेष रूप से पराजित करने में समर्थ, (शत्रूणां हन्तारं) आघातकारी शत्रुओं का नाश करने वाले और (गवां गो-पतिम्) भूमियों के भूमिपति और (वि-राजं) विशेष कान्ति से चमकने वाला, विविध देशों का राजा (कृधि) बना ।

अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षतः ।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः ॥ २ ॥

भा०—(अहम्) मैं (इन्द्रः इव) ऐश्वर्यवान् शत्रुहन्ता सेनापति के तुल्य ही (अरिष्टः) स्वयं अपीड़ित और (अक्षतः) अविनष्ट होकर (सपत्नहा अस्मि) शत्रुओं का नाश करने वाला होऊं। (इमे सर्वे सपत्नाः) ये सब शत्रुगण जो मेरी भूमि के मेरे समान ही स्वामी होना चाहते हैं वा अधिकार करते हैं वे सब (अभि-स्थिताः) मेरे सन्मुख खड़े होकर भी (मे पदोः अधः) मेरे पैरों के नीचे हों ।

अत्रैव वोऽपि नह्याम्युभे आर्त्नी इव ज्यया ।
वाचस्पते नि षेधेमान्यथा मदधरं वदान् ॥ ३ ॥

भा०—(ज्यया उभे आर्त्नी इव) डोरी से जिस प्रकार दोनों धनुष को कोटियों को बांधा जाता है उसी प्रकार (ज्यया) नाश वा जयकारिणी शक्ति या वाणी से हे शत्रुओ ! (वः आर्त्नी अपि नह्यामि) आप लोगों की दोनों कोटियों को बांधता हूं । हे (वाचः पते) वाणी के पालक ! (इमान् नि सेध) इनको ऐसा रोक (यथा) जिससे ये सब (मत् अधरम् वदान्) मेरे से नीचे होकर बोलें, मेरे अधीन हों ।

अभिभूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना ।
आ वश्चित्तमा वो व्रतमा वोऽहं समितिं ददे ॥ ४ ॥

भा०—मैं (विश्वकर्मेण धाम्ना) समस्त शत्रुओं के वश करने वाले तेज से (अभि-भूः) सबका पराजय करने वाला होकर (आ अगमम्) प्राप्त होऊं । (अहं) मैं (वः व्रतम् वः समितिम्) आप लोगों के चित्त को, व्रतों, कर्मों और समिति, सभा आदि को (आ ददे) सब प्रकार से वश करूं ।

योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम् ।
अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव ५।२४

भा०—(अहम्) मैं (वः) आप लोगों के (योगक्षेमं आदाय) अप्राप्त धन की प्राप्ति और प्राप्त धन की रक्षा अर्थात् भविष्य की आय और सञ्चित धन को प्राप्त करके (उत्तमः भूयासम्) सबसे उत्तम हो जाऊं । मैं (वः) आप लोगों के (मूर्धानाम् अक्रमीम्) शिरो भाग को प्राप्त होऊं, आप के बीच शिरोमणि होऊं । आप लोग (मे पदात् अधः) मेरे पद से नीचे रह कर (उदकात् मंडूका इव) जल से मेंडकों के

समान (उत् वदत) ऊपर मुख करके बोलो, (उदकात् इव मण्डूका) और जल से निकल कर जल में रहने वाले वा निमग्न जन्तुओं के तुल्य ही जीवित रहो। इति चतुर्विंशो वर्गः ॥

[१६७]

ऋषिः विश्वामित्रजमदग्नी ॥ देवता—१, २, ४ इन्द्रः। ३ लिङ्गोक्ताः ॥ छन्दः—१ आर्चीस्वराड् जगती। २, ४ विराड् जगती। ३ जगती ॥ चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

तुभ्येदमिन्द्र परि षिच्यते मधु त्वं सुतस्य कलशस्य राजसि।
त्वं रयिं पुरुवीरामु नस्कृधि त्वं तपः परितप्याजयः स्वः ॥१॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (तुभ्य इदं मधु परि सिच्यते) जिस प्रकार राजा की समृद्धि के लिये ही राष्ट्र में सर्वत्र जल-सेचन, कृषि-सेचन, अन्न-सेचन वा मधुपर्कादि किया दिया जाता है, उसी प्रकार (तुभ्य इम्) तेरे लिये ही (इदम्) यह सब (मधु) मधुर नाना फल, अन्न, बीजादि समस्त सुख-सामग्री, तेज, वृष्टि, जल आदि (परि सिच्यते) सींचा जाता है, बरसता है, (त्वं) तू ही (सुतस्य) इस उत्पन्न (कलशस्य) घटवद् देह के बीच में (राजसि) प्रकाशित होता है। (त्वं) तू ही (नः) हमारे (रयिम्) देह को (पुरुवीराम् कृधि) इन्द्रियों रूप वीर अर्थात् ज्ञानग्राहक साधनों से युक्त करता है। (त्वं) तू ही (तपः परितप्य) तप करके (स्वः जयसि) समस्त सुखों को प्राप्त करता है। (२) राजा के पक्ष में मन्त्रार्थ स्पष्ट है।

स्वर्जितं महि मन्दानमन्धसो हवामहे परि शक्रं सुताँ उप।
इमं नो यज्ञमिह बोध्या गहि स्पृधो जयन्तं मघवानमीमहे ॥२॥

भा०—हम (स्वः-जितं) सुखों पर या सब पर विजय पाने वाले, (अन्धसः महि मन्दानम्) अन्न के द्वारा बहुत अधिक प्रसन्नता, हर्ष

करने वाले और (सुतान् उप) उत्पन्न हुए इन देहों को प्राप्त कर (शक्रम्) शक्तिशाली, उस आत्मा को (परि हवामहे) सर्वत्र ही वर्णन करते हैं। हे आत्मन् ! तू (नः इमं यज्ञम् इह बोधि) हमारे इस यज्ञ को यहां जान, (आगहि) तू हमें प्राप्त हो। (स्पृधः जयन्तम् मघवानम्) संग्रामकारिणी स्पर्धालु सेनाओं के तुल्य बाधक शक्तियों पर विजय पाते हुए उस ऐश्वर्यवान् आत्मा से हम समस्त अभिलाषाओं की याचना करते हैं।

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि ।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम् ॥३॥

भा०—हे (मघवन्) उत्तम ऐश्वर्य के स्वामिन् ! मैं (राज्ञः सोमस्य) दीप्तिमान् सर्वोत्पादक, सबके शासक, (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ, (बृहस्पतेः) महान् विश्व के पालक प्रभु के (धर्मणि) धारण, शासन और (अनु-मत्याः) सबको अनुमति देने वाली आज्ञापक शक्ति की (शर्मणि) शरण या वश में रहता हुआ और हे (धातः विधातः) समस्त जगत् के धारक, उत्पादक और संहारक प्रभो ! (तव उपस्तुतौ) तेरे उपदेश के अधीन रह कर ही मैं जीव (कलशान्) इन नाना देहों का (अभक्षयम्) सेवन या भोग करता हूं।

प्रसूतो भक्षमकरं चरावपि स्तोमं चेमं प्रथमः सूरिरुन्मृजे ।
सुते सातेन यद्यागमं वां प्रति विश्वामित्रजमदग्नी दमे ॥४॥२५॥

भा०—हे (विश्वामित्र-जमदग्नी) सबको स्नेह करने वाले ! हे प्रज्वलित अग्नि, अर्थात् ज्ञान से ज्वलित आत्मा वाले श्रेष्ठ जनो ! (यदि) जब भी मैं (बाद में) आपके गृह में, वा आपके दमन या शासन में (आगमम्) आऊं तो (सातेन) सेवनीय ज्ञान से (सुते)

स्नात, परिष्कृत आत्मा में मैं (प्रथमः सूरिः सन्) सबसे उत्तम विद्वान् होकर (इमं स्तोमं उत् मृजे) इस स्तुति-वचनयुक्त वेदज्ञान का वा स्तुत्य पद आत्मा का ही उन्मार्जन, परिशोधन कर उसका स्वच्छ रूप से दर्शन करूं। और (चरौ अपि) आचरणीय मार्ग और भोक्तव्य पदार्थ के रहते हुए भी (प्रसूतः) शुभ मार्ग में प्रेरित होकर ही (भक्षम् अकरम्) भजन, भोजन या सेवन करूं। सर्वथा आप दोनों के अधीन रहूं।

[१६८]

ऋषिरनिलो वातायनः ॥ वायुर्देवता ॥ छन्दः—१, ३ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ४ त्रिष्टुप् ॥

वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः ।
दिविस्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् ॥१॥

भा०—(वातस्य नु रथस्य) वायु और वेग से जाने वाले रथ के (महिमानम्) महान् सामर्थ्य को देखो, कि (अस्य) इस वायु और रथ का (घोषः) शब्द (रुजन्) नाना पदार्थों को तोड़ता फोड़ता, शत्रुओं को गिराता हुआ और (स्तनयन्) विशेष शब्द करता हुआ (ऐति) आता है। वह (दिवि-स्पृक्) आकाश वा भूमि को स्पर्श करता हुआ (अरुणानि कृण्वन् याति) लाल २ नाना वर्ण उत्पन्न करता हुआ जाता है और (पृथिव्याः रेणुम् आयन् याति) पृथिवी के धूलियों को इधर उधर बखेरता हुआ आता है। उसी प्रकार महारथी वा महारथ (रुजन्) शत्रुओं के गढ़ तोड़ता हुआ और (स्तनयन् मेघवत्) गर्जता हुआ (दिवि-स्पृक्) विजिगीषा में सब तक पहुंचाने वाला, (अरुणानि कृण्वन्) संग्राम स्थलों में सब लाल लाल ही करता हुआ

(पृथिव्याः) भूपृष्ठ से (रेणुम् अस्यन्) हिंसक शत्रु-दल को धूलिवत् उखाड़ता हुआ (याति एति) प्रयाण करता और दिग् विजय करके लौटता है। यह (रथस्य महिमानं) रथ की महिमा है इसको देखो। अध्यात्म में—(रथस्य वातस्य महिमानं पश्य) रमणयोग्य इस देह रूप रथ के वात अर्थात् प्राण की महिमा को देखो, वह रोगों को नाश करता हुआ, वाणी की ध्वनि करता है, इसका घोष आता है, वह देह में रुधिरों को रक्त वर्ण करता हुआ मस्तक तक जाता है, और (पृथिव्या रेणुम् अस्यन्) पृथिवी, अर्थात् पुच्छ भाग से मल को फेंकता है।

सम्प्रेरते अनु वातस्य विष्ठा ऐनं गच्छन्ति समनं न योषाः।
ताभिः सयुक्सरथं देव ईयतेऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा॥२॥

भा०—(वातस्य अनु विः-स्थाः सं प्र ईरते) जैसेवायु के वेग से ही विशेष रूप से स्थित वृक्षगण भी एक साथ कांपते हैं उसी प्रकार वायु के समान बलशाली के अनुकूल होकर (विः-स्थाः) विशेष स्थिति वाले अन्य राजगण वा अन्य विशेष पदाधिष्ठित शासक जन भी (सं प्र ईरते) मिलकर उत्तम रीति से कार्य करते हैं। (योषाः समनं न) स्त्रियें जिस प्रकार समान चित्त वाले पुरुष को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार (योषाः) प्रेम से वा वृत्ति से सेवा करने वाली सेनाएं (समनं) स्तम्भनकारी बल वाले (एनं गच्छन्ति) उसको प्राप्त होती हैं। वह (देवः) विजगीषु, वीर, तेजस्वी पुरुष (ताभिः) उन से (स-युक्) सहयोगी होकर (स-रथं ईयते) समान रूप से महारथी जाना जाता है, वह (अस्य विश्वस्य भुवनस्य) इस समस्त भुवन का राजा के तुल्य है। (२) अध्यात्म में प्राण वा आत्मा के अनुसार नाना अंगों में स्थित नाना प्राण हैं। वे सब उस से संगत हैं। वही इस उत्पन्न देह का राजा है, उन शक्तियों सहित वह इस में रथवान् होकर जाता है।

अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः ।
अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्जातः कुत आ बभूव ॥३॥

भा०—वायु जिस प्रकार (अन्तरिक्षे पथिभिः ईयते) अन्तरिक्ष में नाना मार्गों से जाता है, (कतमत् चन अहः न नि विशते) किसी दिन भी वह निश्चल होकर नहीं बैठता, वह (प्रथम-जाः) प्रथम प्रकट होकर (अपां सखा) मेघादि जलों का मित्र और (ऋता-वा) अन्न वा तेज से युक्त होकर (क्व स्वित् जातः) कहीं प्रकट होता है और (कुतः आ बभूव) कहीं से भी आता प्रतीत होता है। ठीक इसी प्रकार तेजस्वी राजा अन्तरिक्ष में नाना मार्गों से जावे किसी दिन निश्चल नहीं बैठे, (अपां सखा) आप्त विद्वानों, प्रजाओं का मित्र, (ऋतावा) तेजस्वी होता है वह किसी कुल में उत्पन्न होता है, कहीं २ से आकर प्रकट होता है। इसी प्रकार प्राणात्मा भी (अपां सखा) अन्य प्राणों का मित्र (ऋतावा) जल-अन्न का भोक्ता, वह कहां से उत्पन्न होता, कहां आता है यह अज्ञात है।

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः ।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम॥४।२६॥

भा०—वह प्राणात्मा वा जिसका पूर्व मन्त्रों में वर्णन है, वह (देवानाम् आत्मा) देवों, विद्वानों, ज्ञानवान् जीवों वा इन्द्रियों का आत्मा, है। वह (भुवनस्य गर्भः) उत्पन्न देह का ग्रहण करने वाला है। (एषः देवः) वह प्रकाशस्वरूप और अन्यों का प्रकाशक होकर (यथा-वशम् चरति) अपनी इच्छानुसार विचरता और फलों का भोग करता है। वायु के समान (अस्य घोषाः इत् शृण्विरे) इसके ये घोष, नाद ही सुनाई देते हैं। इसके सम्बन्ध की ही सर्वत्र स्तुति सुनाई देती है। (न रूपम्) इसका रूप दिखाई नहीं देता। (तस्मै वाताय) उस

व्यापक, जीवन-स्वरूप प्राणात्मा की हम (हविषा) अन्न, आदि द्वारा उत्तम रूप से सेवा करते हैं।

इसी प्रकार देहस्थ जीव के समान ही महान् ब्रह्माण्ड में परमेश्वर व्यापक होने से 'वात' है। (१) वही जगत् का संहार करता है, नाना मेघ गर्जाता, सूर्यादि को तपाता, और बनाता है, (२) नाना लोकों को चलाता, सब शक्तियां उसे प्राप्त हैं, वह संसार का राजा है। (३) वह सर्वत्र व्यापक है, सब जीवों का मित्र, सबसे प्रथम, सत्-प्रकृति का स्वामी है, वह न कहीं पैदा हुआ, न किसी कारण से उत्पन्न हो सकता है। (४) समस्त सूर्यादि का आत्मा, सबका वशीकर्त्ता, सब में व्यापक, सबको वशकारिणी शक्ति से व्यापता है। इसकी ही सब स्तुतियां हैं, वह अरूप है, उस की हम भक्ति से सेवा करें। इति षड्विंशो वर्गः ॥

[१६९]

ऋषिः शबरः काक्षीवतः ॥ गावो देवताः छन्दः— १ विराट् त्रिष्टुप् । २, ४ त्रिष्टुप् । ३ निचृत् त्रिष्टुप् ॥ चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

म॒यो॒भूर्वातो॑ अ॒भि वा॑तू॒स्रा ऊर्ज॑स्वती॒रोष॑धी॒रा रि॑शन्ताम् ।
पीव॑स्वतीर्जी॒वध॑न्याः पिबन्त्वव॒साय॑ प॒द्वते॑ रुद्र मृळ ॥ १ ॥

भा०—(मयो-भूः) सुखजनक उत्पादक (वातः) वायु (अभि वातु) सब ओर बहे। (उस्राः) गौवें (उर्जस्वतीः ओषधीः) बल देने वाली, ओषधियों को (आ रिशन्ताम्) सर्व ओर खावें। और (पीवस्वतीः) अति हृष्ट पुष्ट होकर (जीव-धन्याः) प्राणों के तर्पक जलों को (पिबन्तु) पान करें। हे (रुद्र) दुष्टों को रुलाने वाले ! पशुओं के तुल्य जीवों को कुमार्ग से रोकने हारे ! तू (पद्वते) चरणों वाले जीव के लिये (अवसाय) खाने योग्य अन्न देने के लिये (मृड) उनपर दया कर।

याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या नामानि वेद ।
या अङ्गिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्यः पर्जन्य महि शर्म यच्छ ॥२॥

भा०—(याः) जो (स-रूपाः वि-रूपाः) एक समान रूप वाली और विविध रूप वाली, और (एक-रूपाः) एक रुचि वाले एक रूप वाली हैं, (यासाम्) जिन के (इष्टया) चाहने योग्य वा यज्ञोचित उत्तम २ (नामानि) समस्त रूपों और नामों को (अग्निः) अग्निवत् बुद्धिमान् पुरुष (वेद) जानता है (याः) जिनको (अङ्गिरसः तपसा) सूर्य के किरणों के तुल्य विद्वान् जन (इह) इस लोक में (चक्रुः) कृषि आदि रूप से उत्पन्न करते हैं हे (पर्जन्य) रसों के देने वाले (ताभ्यः) उनसे या उनके लिये (महि शर्म यच्छ) बड़ा भ री सुख प्रदान कर।

या देवेषु तन्व१मैरयन्त यासां सोमो विश्वा रूपाणि वेद ।
ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः प्रजावतीरिन्द्र गोष्ठे रिरीहि ॥३॥

भा०—(याः) जो (देवेषु) विद्वानों के बीच में (तन्वम्) अपने स्वरूप को (ऐरयन्त) प्रकट करती हैं, (सोमः) उत्तम विद्वान् पुरुष ही (यासाम् विश्वा रूपाणि वेद) जिनके समस्त रूपों को जानता है, (प्रजावतीः) प्रजा से युक्त होकर (पयसा पिन्वमानाः) दूध आदि से पुष्ट करती हुई (ताः) उनको (प्रजावतीः) उत्तम वचनों से युक्त गौवों के तुल्य (गो-स्थे) गौओं या वाणियों के स्थिर होने के उचित्त स्थानों में (रिरीहि) प्रदान कर। पक्षान्तर में—इन्द्र आचार्य की वाणियें, वे शिष्यों से प्रजावती हैं।

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः ।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकुस्तासां वयं प्रजया सं सदेम ४॥२७॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजा का पालक प्रभु (मह्यम्) मुझे

(एताः) इन उत्तम गौओं जैसी नाना वाणियों को (रराणः) प्रदान करता हुआ और (विश्वैः देवैः पितृभिः) समस्त विद्वानों और पालकों से (सं-विदानः) हमें अच्छी प्रकार ज्ञान प्रदान करता हुआ, (नः गोष्ठम्) हमारे वाणियों के रखने वाले, अन्तःकरण को (शिवाः सतीः) कल्याण कारिणी, शुद्ध वाणियां (आ अकः) प्राप्त कराता है। (तासां प्रजया) उनकी प्रजा से (वयम् सं सदेम) हम एक साथ शान्ति से विराजें। इस सूक्त में गौ, वाणी वाचक होने से श्लिष्ट हैं। उत्तम उपदेष्टा होने से रुद्र आचार्य है। इति सप्तविंशो वर्गः ॥

[१७०]

ऋषिः विभ्राट् सूर्यः ॥ सूर्यो देवता ॥ छन्दः—१, ३ विराड् जगती । २ जगती ४ आस्तारपङ्क्तिः ॥ चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

विभ्राड्बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम् ।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पुपोष पुरुधा वि राजति ॥१॥

भा०—(वि-भ्राट्) विशेष दीप्ति से चमकने वाला, (सोम्यं मधु पिबति) जल रूप मधु को पान करता और वह जिस प्रकार (सोम्यं मधु) ओषधि वर्ग के अन्न को पालन करता है उसी प्रकार प्रभु (वि-भ्राट्) विशेष कान्ति से चमकने वाला, स्वप्रकाश प्रभु परमेश्वर (बृहत्) इस महान् (सोम्यं) सोम, जीवात्मा सम्बन्धी उसके हितकारक (मधु) तेज को (पिबतु) पालन करता है, और (यज्ञ-पतौ) यज्ञ के पालन करने वाले में (अविह्रुतं) अकुटिल, अविनाशी (आयुः) जीवन को (दधत्) धारण करता है, (यः) जो (वात-जूतः) प्राण से प्रेरित होकर (त्मना) अपने सामर्थ्य से (प्रजाः अभि रक्षति) प्रजाओं की रक्षा करता है, और (पुपोष) उनका पोषण करता है, और (पुरुधा विराजति) बहुत प्रकार से चमकता है।

विभ्राड्बृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्मन्दिवो धरुणे सत्यमर्पितम् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा २

भा०—वह (ज्योतिः) परम प्रकाश (वि-भ्राट्) विशेष दीप्ति से चमकने वाला, (बृहत्) महान् (सु-भृतं) उत्तम रीति से धारण करने योग्य, (वाज-सातमं) बल और ज्ञान को अति मात्रा में देने वाला, (दिवः धर्मन्) समस्त आकाश को भी धारण करने वाले (धरुणे) सूर्य में (सत्यम्) व्यक्त रूप से (अर्पितम्) स्थापित, (अमित्र-हा) अप्रियों का नाशक (वृत्रहा) आवरणकारी, अज्ञानान्धकार का नाशक (दस्युहंतमम्) नाशकारी कारणों का नाशक (असुरहा) असुरों, दुष्टों और विक्षेपकों, का नाशक और (सपत्नहा) शत्रुओं का भी नाशक रूप से (जज्ञे प्रकट होता है ।

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत् ।
विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम् ३

भा०—(ज्योतिषां) समस्त ज्योतियों के बीच में से (इदं श्रेष्ठं उत्तमं ज्योतिः) यह श्रेष्ठ, सर्वोत्तम ज्योति है । वह (विश्वजित् धनजित् बृहत् उच्यते) समस्त लोकों को जीतने वाला, सबसे बड़ा, समस्त ऐश्वर्यों का जीतने वाला, और महान् कहा जाता है । वही (विश्व-भ्राट्) समस्त जगत् का प्रकाशक, (महि सूर्यः) महान् सूर्य रूप में (दृशे) दिखाई देता है । वही (सहः) सबको मात करने वाला, (अच्युतम्) अविनाशी, नित्य, स्थिर, (ओजः) बल पराक्रम तेज रूप से (उरु पप्रथे) विशाल रूप से व्याप रहा है ।

विभ्राजञ्ज्योतिषा स्व१रगच्छो रोचनं दिवः ।
येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता ॥४।२८॥

भा०—हे प्रभो ! तू (ज्योतिषा) अपने प्रकाश से (स्वः वि भ्राजन्) समस्त आकाश वा सूर्यादि को वा मोक्षलोक को प्रकाशित करता हुआ, (दिवः रोचनं अगच्छः) कामनावान् इस जीव को भी तू बहुत रुचि को प्राप्त है। वह भी तुझे चाहता है। (येन) जिस तेज से (विश्व-कर्मणा) समस्त जगत् को रचने वाले तूने (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवन, लोक, उत्पन्न जीवगण (आभृता) धारण किये और पाले पोसे हैं उस (विश्व-देव्यावता) समस्त सूर्यादि के हितकारी तेज से युक्त रूप से तू जीव की भी प्रीति का पात्र है। इत्यष्टाविंशो वर्गः ॥

[१७१]

ऋषिरिटो भार्गवः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१ निचृद् गायत्री । २, ४ विराड् गायत्री । ३ पादनिचृद्गायत्री ॥ चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

त्वं त्यमिटतो रथमिन्द्र प्रावः सुतावतः ।
अशृणोः सोमिनो हवम् ॥ १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! शत्रुहन्तः ! तेजस्विन् प्रभो ! (त्वं) तू (सुत-वतः) उपासनावान् (इटः) तेरे प्रति नित्य चाहना करने वाले के (त्यम् रथम्) उस रथ अर्थात् रमण के साधन आत्मा वा देह को (प्रावः) रक्षित कर और (सोमिनः) वीर्यवान् उस पुरुष के (हवं अशृणोः) वचन प्रार्थनादि को श्रवण कर।

त्वं मखस्य दोधतः शिरोऽव त्वचो भरः ।
अगच्छः सोमिनो गृहम् ॥ २ ॥

भा०—(त्वं) तू (मखस्य) यज्ञ के (दोधतः) कंपाने वाले दुष्ट पुरुष के (शिरः त्वचः) शिर को देह से (अव भर = हरः) नीचे कर दे। और (सोमिनः गृहम् अगच्छः) उत्तम विद्वान् के गृह को प्राप्त हो।

त्वं त्यमि॑न्द्र मर्त्य॑मास्त्रबुध्नाय॑ वेन्यम् ।
मुहुः॑ श्रथ्ना मनस्यवे॑ ॥ ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (त्वं) तू (त्यम्) उस (वेन्यम् मर्त्यम्) अति कामनायुक्त मनुष्य के (आस्त्र-बुध्नाय मनस्यवे) अश्वों के बल पर शासन करने वाले, मनस्वी, उत्तम जन के लिये (मुहुः श्रथ्नाः) बार २ नाश कर ।

त्वं त्यमि॑न्द्र सूर्य॑ं पश्चा सन्तं॑ पुरस्कृ॑धि ।
देवानां॑ चित्तिरो वश॑म् ॥ ४ ॥ २९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) तेजस्विन् ! (पश्चा सन्तं सूर्यं पुरः) पश्चिम में अस्त होते हुए सूर्य को पूर्व में उदय होते हुए के समान (त्वं) तू (त्यं) उस (तिरः सन्तं) छिपते हुए (वशं) कान्तिमान् वशी पुरुष को (देवानां चित्) विद्वानों के भी बीच में (पुरः कृधि) आगे कर। वा छिपते देवों के तेज को आगे प्रकट कर । एकोनत्रिंशो वर्गः ॥

[१७२]

ऋषिः संवर्तः ॥ उषा देवताः ॥ छन्दः—पिपीलिकामध्या गायत्री ॥
चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

आ या॑हि वन॑सा सह गाव॑ः सचन्त वर्त॒निं यदूध॑भिः ॥ १ ॥

भा०—हे (उषः) गृहस्थ में बसने वाली स्त्री ! (यत्) जब (गावः) गौएं (ऊधभिः) दूध से भरे थानों सहित (वर्तनिं सचन्त) गृह में आवें तब तू (वनसा सह आयाहि) पात्र या दण्ड के साथ उनको वश करने या दोहने के लिये आ । अथवा—हे (उषः) कान्तिमति विदुषि ! तू (वनसा सह) तेज वा सौभाग्य सहित (आ याहि) आ, (यत्) जिससे (ऊधभिः गावः) दूध से भरे स्तनों सहित गौवें भी (वर्तनिं सचन्त) गृह में आवें ।

आ याहि वस्व्या धिया मंहिष्ठो जारयन्मखः सुदानुभिः ॥ २ ॥

भा०—हे (उषः) विदुषि स्त्रि ! तू (वस्व्या धिया) वसु अर्थात् बसने वाले पुरुष के अनुरूप बसने वाली उत्तम स्त्री, गृहिणी के योग्य बुद्धि और कर्मसहित (आ याहि) आ । और इसी प्रकार (मंहिष्ठः) अति दानशील, पुरुष भी (सु-दानुभिः) उत्तम दातव्य धनों सहित (जारयत्-मखः) गृहस्थ यज्ञ को पूर्ण रीति से समाप्त करने वाला हो, वह जीवन भर के यज्ञ को तेरे साथ मिलकर पूरा करे ।

पितुभृतो न तन्तुमित्सुदानवः प्रति दध्मो यजामसि ॥ ३ ॥

भा०—(पितु-भृतः सुदानवः न) अन्न धारण करने वाले जनों के लिये पालक बल और अन्न से सम्पन्न हम लोग (तन्तुम् इत् दध्मः) यज्ञ के समान प्रजा-तन्तु को धारण करें, और (यजामसि) यज्ञ करें, और मिलकर रहें ।

उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता ॥ ४ ॥ ३० ॥

भा०—(उषाः) उत्तम कान्तिमती, स्त्री उषा के समान ही (स्वसुः तमः) रात्रि के अन्धकार के तुल्य अपने पुत्रादि को उत्पन्न करने वाले वा अपने को प्राप्त पुरुष के (तमः) शोक, क्लेश आदि को (अप वर्त्तयति) दूर करती है और उसके (वर्त्तनिम्) मार्ग या गृह-व्यापार को (सु-जातता) उत्तम पुत्र से वा उत्तम कुल-शील-चारित्र से (सं वर्त्तयति) साथ मिलकर ठीक प्रकार से चलावे । इति त्रिंशो वर्गः ॥

[१७३]

ऋषिर्ध्रुवः ॥ देवता—राज्ञः स्तुतिः ॥ छन्दः—१, ३—५ अनुष्टुप् । २ भुरिगनुष्टुप् । ६ निचृदनुष्टुप् ॥ षडृचं सूक्तम् ॥

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥ १ ॥

भा०—हे राजन् ! (त्वा आ अहा र्षम्) मैं तुझे आगे, वा सर्वत्र, सब ओर ले जाता हूँ । तू (अन्तः एधि) हमारे बीच में या राष्ट्र के बीच में स्वामी हो । (ध्रुवः) राज्य को धारण करने वाला, (अविचाचलिः) अविचल, स्थिर हो । (त्वा सर्वाः विशः वाञ्छन्तु) तुझे समस्त प्रजाएं चाहें । (त्वद् राष्ट्रम् मा अधि भ्रशत्) तेरे हाथों से राष्ट्र निकल जावे ।

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः ।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥ २ ॥

भा०—(इह एव एधि) तू यहां ही रह । (मा अप च्योष्ठाः) तू भाग मत, पद से पतित मत हो । तु (पर्वतः इव अविचाचलिः) पर्वत के समान अविचल होकर (इन्द्रः इव) तेजस्वी, आत्मा वा बलवान् पुरुष के समान, (ध्रुवः) धारण समर्थ, धृतिमान् होकर खड़ा रह । (इह राष्ट्रम् धारय उ) यहां राष्ट्र वा दीप्तियुक्त पद को धारण कर ।

इममिन्द्रो अदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवत्तस्मा उ ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) तेजस्वी पुरुष ही, (इमं) इसके (ध्रुवं) स्थिर राज्य को (ध्रुवेण हविषा) स्थायी साधनों से (अदीधरत्) धारण करे । (तस्मै) उसको (सोमः अधि ब्रवत्) उत्तम विद्वान् उपदेश करे और (तस्मै ब्रह्मणः पतिः) उसको ही ब्रह्म अर्थात् वेद का ज्ञानी पुरुष भी (अधि ब्रवत्) उपदेश करे ।

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे ।
ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ ४ ॥

भा०—(ध्रुवा द्यौः) सूर्य ध्रुव, स्थिर है, (पृथिवी ध्रुवा) पृथिवी भी ध्रुव, स्थिर है, अर्थात् वह जगत् को धारण करने में समर्थ है । और (इमे पर्वताः ध्रुवासः) ये पर्वत भी स्थिर हैं । (इदं विश्वं जगत् ध्रुवं) यह समस्त जगत् भी ध्रुव, स्थिर है । (अयम् राजा विशाम् ध्रुवः) यह राजा भी प्रजाओं के बीच स्थिर एवं उनको धारण करने वाला हो ।

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ ५ ॥

भा०—हे राजा-प्रजाजन ! (ते राष्ट्रं) तेरे राष्ट्र को (राजा वरुणः) दीप्तिमान्, तेजस्वी, सर्वश्रेष्ठ पुरुष, (धारयताम्) धारण करे । (बृहस्पतिः देवः ध्रुवं धारयताम्) बड़े बल, वा वेद-ज्ञान का पालक सेनापति वा ब्राह्मण, विद्वान् पुरुष तेरे राष्ट्र को धारण करे । (इन्द्रः च अग्निः च) तेजस्वी और स्वप्रकाश तथा शत्रु-सन्तापक जन भी (ते राष्ट्रं ध्रुवं धारयताम्) तेरे राष्ट्र को स्थिर रूप से धारण करे ।

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि ।
अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत् ॥ ६ ॥ २१ ॥

भा०—हम (ध्रुवेण हविषा) स्थायी साधन से ही (ध्रुवं सोमं) स्थायी शासक को (अभि मृशामसि) विचार पूर्वक प्राप्त करें । हे राजन् ! (इन्द्रः) शत्रुहन्ता वीर पुरुष (अथो) अनन्तर, (ते विशः) तेरी प्रजाओं को (केवलीः) केवल तेरी ही प्रजाएं, और (ते बलि-हृतः) तेरे लिये कर देने वाली (करत्) करे । इत्येकविंशो वर्गः ॥

[१७४]

ऋषिरभीवर्तः ॥ देवता—राज्ञः स्तुतिः ॥ छन्दः—१, ५ निचृदनुष्टुप् । २, ३ विराडनुष्टुप् । ४ पादनिचृदनुष्टुप ॥ पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभिवावृते ।
तेनास्मान्ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्तय ॥ १ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणः पते) बल और धन तथा महान् राज्य के पालक ! (येन) जिस (अभीवर्त्तेन हविषा) शत्रु या उद्देश्य को लक्ष्य करके जाने के योग्य साधन से (इन्द्रः) शत्रुहन्ता राजा वा उत्साही पुरुष (अभि वावृते) लक्ष्य की ओर जाता है, (तेन) उस साधन से (अस्मान्) हमें (राष्ट्राय) उत्तम राष्ट्र को प्राप्त करने के लिये (अभि वर्त्तय) उत्साहित कर और आगे बढ़ा ।

पुरोहितः इदं सूक्तं राजानं युद्धाय कृतसन्नाहं वाचयीत । (सायण) पुरोहित इस सूक्त को युद्धार्थ उद्यत राजा के अभ्युदय के लिये बंचवाता है । अनुक्रमणी में सूत्र है—सारथमागमुपारुह्याभीवर्त्तं वाचयति ।

इस सूक्त में अभीवर्त्त मणि कोई पदार्थ है ऐसी प्रतीति नहीं होती है । प्रत्युत रथादि साधन ही 'अभीवर्त्त हवि' हैं । अभीवर्त्तः—अभिगच्छन्त्यनेन इति अभिवर्त्तः । करणे पचाद्यच् । हविषा साधनेन । इति सा० ॥ और स्पष्टीकरण देखो (अथर्व० ।)

अभिवृत्यं सपत्नानभि या नो अरातयः ।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो न इरस्यति ॥ २ ॥

भा०—(सपत्नान् अभिवृत्य) शत्रुओं को प्राप्त होकर, चारों ओर से घेर कर, हे राजन् ! सेनापते ! (नः याः अरातयः) हमारी जो शत्रु सेनाएं हैं उनको और (यः नः इरस्यति) जो हम से ईर्ष्या करता,

जलता है उस (पृतन्यन्तं अभि) सेना संग्रह करने के उद्योगी शत्रु पर (अभि तिष्ठ) चढ़ाई कर, उसे पराजित कर।

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृतत्।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ३ ॥

भा०—राजा का 'अभीवर्त्त' स्वरूप। (देवः सविता) तेजस्वी, प्रेरक, सञ्चालक पुरुष (त्वा अभि अवीवृतत्) तुझे लक्ष्य की ओर पहुंचावे। (सोमः त्वा अभि अवीवृतत्) उत्तम शासक तुझे लक्ष्य की ओर पहुंचावे। (विश्वा भूतानि अभि अवीवृतन्) समस्त प्राणिगण भी तुझे लक्ष्य तक पहुचावें, (यथा) जिससे तू (अभीवर्तः अससि) 'अभीवर्त्त' अर्थात् शत्रु पर आक्रमण करने में सफल एवं ख्यातिमान् हो।

येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद्युम्न्युत्तमः।
इदं तदक्रि देवा असपत्नः किलाभुवम् ॥ ४ ॥

भा०—(येन हविषा) जिस ग्राह्य, उपादेय साधन से (इन्द्रः) तेजस्वी, शत्रुहन्ता जन (द्युम्नी) धनवान् और यशस्वी और (उत्तमः) सर्वश्रेष्ठ तथा (कृत्वी) कार्य साधने हारा (अभवत्) हो जाता है, हे (देवाः) विजयाभिलाषी जनो ! (इदं तत् अक्रि) वह साधन इस प्रकार किया जाय, जिससे मैं (असपत्नः किल अभवम्) शत्रु-रहित हो जाऊं।

असपत्नः सपत्नहाभिराष्ट्रो विषासहिः।
यथाहमेषां भूतानां विराजानि जनस्य च ॥ ५ ॥ ३२ ॥

भा०—और मैं (असपत्नः) शत्रुरहित, (सपत्न-हा) शत्रुओं का नाशक, (अभि-राष्ट्रः) राज्य का स्वामी, (वि-ससहिः) विशेष रूप से पराजय करने हारा होऊं और (अहम् एषां) मैं इन (भूतानां)

प्राणियों और (जनस्य च) जन वर्ग के बीच में, उन पर (विराजानि) विशेष दीप्ति, तेज से चमकूं, विराट् होकर रहूं ।

अध्यात्म में—(१) काम क्रोधादि अरिषड्-वर्ग पर विजय प्राप्त करने का साधन यम, नियमादि 'अभीवर्त्त' हैं, आत्मा उनसे आगे बढ़ता है । राष्ट्र वह 'स्वाराज्य' पद ज़िसमें स्वप्रकाश आत्मा का लाभ होता है । (२) काम क्रोधादि भीतरी छः शत्रु हैं । (३) देव, सविता, प्रभु सोम गुरु है । (४) इन्द्र आत्मा । (५) भूतों, पांच भूतों का स्वामी, उन पर वश करने वाला और 'जन' जन्म लेने वाले देह में भी मैं विराजूं । इति द्वाविंशो वर्गः ॥

[१७५]

ऋषिरूर्ध्वग्रावार्बुदः ॥ ग्रावाणो देवताः ॥ छन्दः—१, २, ४ गायत्री । ३ विराड् गायत्री ॥ चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

प्र वो ग्रावाणः सविता देवः सुवतु धर्मणा ।
धूर्षु युज्यध्वं सुनुत ॥ १ ॥

भा०—हे (ग्रावाणः) उत्तम ज्ञान उपदेश करने वाले विद्वानो ! एवं शत्रु को पत्थरों के तुल्य दृढ़ होकर दलन करने वाले सैन्य पुरुषो ! (सविता देवः) ऐश्वर्यवान् तेजस्वी, शास्त्र-ज्ञान सुखादि का दाता स्वामी, (वः प्र सुवतु) आप लोगों को उत्तम मार्ग में सञ्चालित करे । आप लोग (धूर्षु) उत्तम उत्तम कार्यों को धारण करने योग्य पदों पर धुरन्धर के तुल्य (युज्यध्वं) नियुक्त होवो और (सुनुत) उत्तम कार्य करो, अधीनों को सन्मार्ग पर चलाओ ।

ग्रावाणो अप दुच्छुनामप सेधत दुर्मतिम् ।
उस्राः कर्तन भेषजम् ॥ २ ॥

भा०—हे (ग्रावाणः) उत्तम उपदेशक और शत्रुमर्दक विद्वानों और वीरो ! आप लोग (दुच्छुनाम्) दुःखदायी विपत्ति को और दुःख-कारिणी अविद्या को (अप सेधत) दूर करो और (दुर्मतिम् अप सेधत) दुष्टमति वाले को वा दुष्ट-बुद्धि और विपरीत मति को दूर करो। और आप लोग (उस्राः) उत्तम मार्ग में गमन करने और सत् आश्रय में रहने वाले, वा किरणों के तुल्य होकर (भेषजम् कर्तन) रोग-ताप को दूर करने का उपाय करो। अथवा आप लोग (भेषजम्) ताप-रोग दूर करने के निमित्त ही (उस्राः कर्त्तन) गौओं के तुल्य उत्तम रस देने वाली बसाने योग्य भूमियों को हलादि से कर्षण करो, उसको छेदन-भेदन करो।

ग्रावा॑ण उप॑रे॒ष्वा म॑ही॒यन्ते॑ स॒जोष॑सः।
वृष्णे॒ दध॑तो॒ वृष्ण्य॑म् ॥ ३ ॥

भा०—(ग्रावाणः) शत्रुओं को पाषाणवत् चूर्ण कर देने वाले जन (स-जोषसः) समान प्रीतियुक्त, एवं समान वचन कहने वाले होकर (उपरेषु) समीपस्थ जनों के बीच, मेघों में गर्जते विद्युतों के तुल्य (आ महीयन्ते) विशेष आदर को प्राप्त करते हैं और वे (वृष्णे) अपने बलशाली नायक में (वृष्ण्यम्) बल को (दधतः) स्थापित करते हैं।

ग्रावा॑णः सवि॒ता नु वो॑ दे॒वः सु॑वतु॒ धर्म॑णा।
यज॑मानाय सुन्व॒ते ॥ ४ ॥ ३३ ॥

भा०—हे (ग्रावाणः) वीरो, विद्वान् जनो ! (सविता देवः वः धर्मणा) शास्ता, विजिगीषु, तेजस्वी पुरुष आप लोगों को अपने २ धर्मानुसार (सुन्वते यजमानाय) अभिषेक करने वाले ऐश्वर्योत्पादक करप्रद प्रजाजन के हित के लिये (सुवतु) सन्मार्ग में चलावे। इति त्रयोविंशो वर्गः ॥

[१७६]

ऋषिः सूनुरार्भवः ॥ देवता—१ ऋभवः । २—४ अग्निः ॥ छन्दः—१, ४ विराडनुष्टुप । ३ अनुष्टुप् । २ निचृद्गायत्री । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

प्र सूनवं ऋभूणां बृहन्नंवन्त वृजनां ।
क्षामा ये विश्वधांयसोऽश्नन्धेनुं न मातरम् ॥ १ ॥

भा०—(ये) जो सूर्य की किरणों के तुल्य (विश्व-धायसः) समस्त जगत् के धारक, (धेनुं न) गौ के बच्चे के तुल्य (मातरं क्षाम्) माता भूमि को (अश्नन्) प्राप्त होते हैं वे (सूनवः) पुत्र के तुल्य होकर (ऋभूणां बृहत् वृजना) सत्य, ज्ञान, तेज से सम्पन्न जनों के बहुत बड़े २ बलों, सामर्थ्यों और ज्ञान-मार्गों को भी (प्र नवन्त) प्राप्त करते हैं। (२) सूर्य के किरण 'विश्व' अर्थात् जल का पान करने से 'विश्व-धायस्' हैं । वे अन्नदात्री माता भूमि पर आते हैं और वे भूमि पर आकर (ऋभूणां सूनवः) जल अन्न के उत्पादक मेघ वायु आदि के संचालक, उत्पादक, प्रेरक होकर (बृहत् वृजना प्र नवन्त) बहुत २ जलराशि प्रदान करते हैं।

प्र देवं देव्या धिया भरता जातवेदसम् ।
हव्या नो वक्षदानुषक् ॥ २ ॥

भा०—यहां से आग्नेय तृच् है । हे विद्वान् लोगो ! (जातवेदसं देवं) ज्ञानवान्, वेदज्ञ विद्वान् और प्रभु की (देव्या धिया) उपास्य देव के योग्य स्तुति और बुद्धि से (प्र भरत) उपासना करो । क्योंकि वह (नः आनुषक् हव्या वक्षत्) हमें निरन्तर ग्राह्य ज्ञानों का प्रवचन या उपदेश करता है । (२) अग्नि-पक्ष में—वह हमारे (हव्या) चरुओं को दूर तक पहुंचाता है । इसलिये उसको दातृ-बुद्धि से धारण करो ।

अयमु ष्य प्र देवयुर्होता यज्ञाय नीयते ।
रथो न योरभीवृतो घृणीवाञ्चेतति त्मना ॥ ३ ॥

भा०—(अयम् उ स्यः) यह वही (देवयुः) विद्वानों और शिष्यों का प्रिय, (होता) ज्ञानादि का दाता (प्र नीयते) वेद में अग्निवत् आदर पूर्वक आसन पर बैठाया जाता है (यः) जो (रथः न) रथ के समान (अभि-वृतः) उत्तम रीति से अनुचरों, शिष्यों द्वारा घिरा हुआ और (घृणीवान्) दीप्तिमान् सूर्य के समान (त्मना) स्वयं अपने सामर्थ्य से (चेतति) शिष्यों को ज्ञानवान् करता और बड़ों का आदर करता है ।

अयमग्निरुरुष्यत्यमृतादिव जन्मनः ।
सहसश्चित्सहीयान्देवो जीवातवे कृतः ॥ ४ ॥ ३४ ॥

भा०—(अयम् अग्निः) यह अग्नि, तेजस्वी, ज्ञानवान्, गुरु (अमृतात् इव) अविनाशी प्रभु से उत्पन्न भय से और उसी प्रकार (जन्मनः) जन्मवान् प्राणि से उत्पन्न भय से भी (उरुष्यति) हमारी रक्षा करता है । वह (सहसः चित् सहीयान्) बलवान् से भी बलवान् (देवः) ज्ञान का दाता (जीवातवे कृतः) जीव के जीवन दान के लिये बनाया है ।

[१७७]

ऋषिः पतङ्गः प्राजापत्यः ॥ देवता—मायाभेदः ॥ छन्दः—१ जगती । २ विराट् त्रिष्टुप् । ३ निचृत् त्रिष्टुप् ॥ तृचं सूक्तम् ॥

पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः ।
समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः १

भा०—(विपश्चितः) ज्ञान और कर्म का संचय करने वाले ज्ञानी

पुरुष, (हृदा मनसा) अपने हृदय से और संकल्प विकल्प करने वाले ज्ञानमय अन्तःकरण से ही (असुरस्य) जगत् के संञ्चालक, प्राणों के दाता, प्रभु और प्राणों में रमने वाले असुर, जीव के (मायया अक्तम्) जगत् निर्माण-शक्ति, प्रकृति से वा बुद्धि से (अक्तं) व्यक्त, हुए (पतङ्गम्) ऐश्वर्य रूप से व्यापक, वा देह से देहान्तर जाने वाले आत्म-रूप को (पश्यन्ति) साक्षात् करते हैं। वे (कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वान् जन (समुद्रे अन्तः) जिस में समस्त संसार के पदार्थ निकलते और जिसमें पुनः सब समुद्र में नदियों के तुल्य चले जाते हैं उसी महान् आत्मा के बीच में ही (वि चक्षते) विशेष रूप से आत्मा का साक्षात् करते हैं। और वे (मरीचीनां) किरणों के (वेधसः) विधाता, सूर्य के तुल्य उस जगद्विधाता के ही (पदम्) परम प्राप्तव्य पद को (इच्छन्ति) चाहते और उसी का वर्णन करते हैं। अथवा (वेधसः) विद्वान् जन उसी प्रभु को (मरीचीनां पदम्) किरणों के आश्रय सूर्यवत् (मरीचीनाम्) प्रकृति के सूक्ष्म तेजोमय परमाणुओं का परमाश्रय बतलाते हैं। 'मरीचि' के लिये देखो ऐतरेय उपनिषत्—"अम्भो मरीचिर्मरमापः"।

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति ॥२॥

भा०—(पतङ्गः) आत्मा (वाचं) वाणी को (मनसा) संकल्प-विकल्प द्वारा ज्ञान करने वाले अन्तःकरण से (बिभर्त्ति) धारण करता है (गन्धर्वः) वाणी को धारण करने वाला, विद्वान् गुरु (ताम्) उसको (गर्भे अन्तः) गर्भ में ही विद्यमान शिष्य के प्रति उसका उपदेश करता है। (ताम्) उस (द्योतमानाम्) अर्थ का प्रकाश करने वाली (स्वर्यम्) सुख-जनक, एक शब्द या ध्वनि से युक्त (मनीषाम्) स्तुति, या मन पर अधिकार करने वाली वाणी को (कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वान्

(ऋतस्य पदे) सत्य, ज्ञानमय, वेद वा यज्ञ के (पदे) रूप में (नि पान्ति) अच्छी प्रकार सुरक्षित करते हैं ।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥३।३५॥

भा०—मैं (गोपाम्) वाणी के पालन करने वाले, प्राणवत् रक्षक को (अनि-पद्यमानम्) कभी न नाश होता हुआ, नीचे जाता हुआ (अपश्यं) देखता हूं । और उसको (आ च परा च) पास और दूर (पथिभिः) मार्गों से (चरन्तं) कर्म फल भोग करते हुए देखता हूं । (सः) वह (सध्रीचीः) साथ रहने वाली और (विषूचीः) चारों ओर फैलने वाली इन्द्रिय शक्तियों को (वसानः) धारण करता हुआ, (भुवनेषु अन्तः) देहों के बीच (आ वरीवर्त्ति) विद्यमान रहता है । इति पञ्चत्रिंशो वर्गः ॥

[१७८]

ऋषिररिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः ॥ देवता—तार्क्ष्यः ॥ छन्दः—१ विराट् त्रिष्टुप् । २ निचृत् त्रिष्टुप् । ३ त्रिष्टुप् ॥ तृचं सूक्तम् ॥

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम् ।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥ १ ॥

भा०—(त्यं) उस (वाजिनं) बल, वेग, ज्ञान और ऐश्वर्य से युक्त, (देव-जूतम्) विद्वानों द्वारा प्रेरित वा सेवित, (सह-वानम्) बलवान् (रथानाम्) अति शीघ्र जाने वाले, रथों के (अरिष्ट-नेमिम्) कभी नष्ट न होने वाले, स्थिर रथ वा चक्र धारा के सदृश लेजाने के बल वाले, (पृतनाजम्) सम्पूर्ण सेना को एक तरफ पछाड़ देने वाले, (आशुम्) अतिशीघ्र व्यापक, (तार्क्ष्यम्) अतिहिंसक, बलशाली वेगवान् तत्त्व, विद्युत् को (इह) यहां हम अपने कार्यकर्त्ता पुरुष के

तुल्य ही (हुवेम) अच्छी प्रकार प्रयोग करें और उसका अन्यों को उपदेश करें ।

इन्द्रस्येव रातिमाजोहुवानाः स्वस्तये नावमिवा रुहेम ।
उर्वी न पृथ्वी बहुले गभीरे मा वामेतौ मा परेतौ रिषाम ॥२॥

भा०—हम (इन्द्रस्य इव रातिम्) उस परमैश्वर्यवान् प्रभु के तुल्य विद्युत् के ही दान को (आजोहुवानाः) पुनः २ प्राप्त करते हुए (स्वस्तये) कल्याण के लिये (नावम् इव) नौका के तुल्य ही (उर्वी पृथ्वी बहुले गभीरे) बहुत गंभीर, विस्तृत, विशाल पृथ्वी आकाश इन दोनों को (आरुहेम) आरूढ़ हों, उन पर यन्त्रों द्वारा विचरें । आकाश पृथ्वी दोनों में हम (आ इतौ परा इतौ) आते और जाते समय भी (मा रिषाम) पीड़ित न हों ।

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान ।
सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम् ३।२६

भा०—जो (सद्यः चित्) शीघ्र ही, (शवसा) बल से (सूर्यः इव ज्योतिषा) तेज से सूर्य के तुल्य (पञ्च कृष्टीः) पांचों प्रकार के मनुष्यों को (अपः ततान) मेघवत् जल देता, नाना कर्म कराता है । वह (सहस्र-साः शत-साः) सैकड़ों, हज़ारों ऐश्वर्यों को देने वाला है । (शर्याम् युवतिं न) लक्ष्य का भेद करने वाली बाण की दण्डी, वा नालिका के तुल्य अथवा शत्रु की हिंसा करने वाली नाना रसादि मिश्रणों से बनी कृत्या के तुल्य (अस्य रंहिः) इसके वेग को कोई (न वरन्ते स्म) नहीं रोक सकते॥ यहां 'युवति' शब्द का अर्थ स्त्री नहीं । अध्यात्म में—तार्क्ष्य आत्मा है । पांच कृष्टि पांच इन्द्रियगण हैं, वे अश्व के तुल्य देह में आत्मा को विषयों की ओर खेंचते हैं ।

'शर्या युवति' नाम कृत्या का प्रकरण देखो (अथर्व का० १२। १ ॥)
इति षड्त्रिंशो वर्गः ॥

[१७९]

ऋषिः शिबिरौशीनरः । २ प्रतर्दनः काशिराजः । ३ वसुमना रौहिदश्वः ॥
इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१ निचृदनुष्टुप् । २ निचृत् त्रिष्टुप् । ३ त्रिष्टुप् ॥
तृचं सूक्तम् ॥

उत्तिष्ठतावं पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातो जुहोतन यद्यश्रातो ममत्तन ॥ १ ॥

भा०—हे विद्वानो ! (उत् तिष्ठत) उठो, उत्तम रीति से खड़े रहो, (इन्द्रस्य) उस ऐश्वर्यवान् आत्मा के (ऋत्वियम्) ऋतु २ में होने वाले (भागम्) सेवनीय, ग्राह्य ऐश्वर्य, कर आदि को (अव पश्यत) ध्यान पूर्वक देखो ! (यदि श्रातः) यदि पक गया है तो (जुहोतन) ग्रहण करो । (यदि अश्रातः) यदि नहीं पका है (ममत्तन) तो खेद करो, और प्रार्थना करो वा प्रजा वा भूमि को तृप्त करो । मदतिर्याच्ञाकर्मा । मदी हर्षग्लेपनयोः मद तृप्तियोगे । राष्ट्र में फसल पकने पर षष्ठांश राजा का होता है । प्रति फसल उस पर प्रजाजन ठीक ध्यान रखें । राजा पकने पर अवश्य ले, न पके, फसल न हो तो राजा प्रजा का पेट भरे । इसी प्रकार विद्वान् सूर्य, मेघादि के वृष्टि आदि अंश पर ध्यान रखें, यदि परिपक्व है, खूब उत्तम ग्रीष्म हुई है, तो यज्ञ करें, यदि ठीक नहीं हुई तो ईश्वर से जलादि की याचना करें वा कृत्रिम उपायों से आकाश को तृप्त और खेती को जल से सिंचन करें ।

श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो विमध्यम् ।
परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम् ॥२॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! स्वामिन् ! (सूरः) सूर्य (अध्वनः)

मार्ग के (वि मध्यम् जगाम) बीच में आगया है । (श्रातं हविः) अन्न परिपक्व होगया है । तू (प्र याहि) उत्तम रीति से आ । (चरन्तं) जाते हुए (व्राज-पतिं) गन्तव्य मार्गों के पालक, वा गृहों के पालक पिता वा आचार्य के (परि) घेर कर (कुलपाः न) कुल के पालक, शिष्य पुत्रादि जिस प्रकार विराजते हैं उसी प्रकार (सखायः) मित्र, तेरे जैसी आख्या वा संज्ञा वाले, स्नेही जन (निधिभिः) अपने २ ख़जानों सहित (त्वा परि आसते) तेरे चारों ओर विराजते हैं ।

(२) वसन्त-सम्पात से प्रारम्भ कर ६ मास में सूर्य आधा मार्ग संक्रमण कर चुकता है, उस समय एक फसल हो जाती है । अन्न पक जाता है । उस समय राजा दौरा करे और कर संग्रह करले । (३) गृहस्थ में– इन्द्र गृहपति है, वह मध्याह्न में सूर्य के मध्याकाश में आने पर, अन्न पक जाने पर भोजन ग्रहण करे ।

श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुश्रातं मन्ये तदृतं नवीयः ।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन्पुरुकृज्जुषाणः॥३।३७

भा०—हे (वज्रिन्) बल-वीर्य से सम्पन्न ! हे (पुरु-कृत्) बहुतों के ऐश्वर्य पैदा करने और बहुत से शत्रुओं का नाश करने हारे ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! शत्रुहन् ! तू (माध्यन्दिनस्य) दिन के मध्य में सूर्य के तुल्य तेजस्वी पुरुष के (दध्नः) धारण शील बल को (पिब) प्राप्त कर । (ऊधनि श्रातम्) गौ के स्तन या मातृस्तन में परिपक्व अंश दूध के समान और (अग्नौ सु-श्राते) अग्नि पर अच्छी प्रकार पकाये अन्न के समान, (नवीयः तत् ऋतम्) अति नया, श्रेष्ठ, स्तुत्य वह तेज (मन्ये) मानता हूं । इति सप्तत्रिंशो वर्गः ॥

[१८०]

ऋषिर्जयः ॥ इन्द्रो देवता छन्दः—१, २ त्रिष्टुप् । ३ विराट् त्रिष्टुप् ॥
तृचं सूक्तम् ॥

प्र संसाहिषे पुरुहूत शत्रूञ्ज्येष्ठस्ते शुष्मं इह रातिरस्तु ।
इन्द्रा भर दक्षिणेना वसूनि पतिः सिन्धूनामसि रेवतीनाम् ॥२॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे शत्रुओं के मूलोच्छेद करने हारे ! हे (पुरु-हूत) बहुतों से प्रशंसित ! तू (शत्रून् प्र ससहिषे) शत्रुओं को पराजित कर । (ते शुष्मः) तेरा शत्रु, शोषक बल बहुत बड़ा, सर्वश्रेष्ठ हो । और (इह रातिः अस्तु) इस लोक में तेरा दान भी बहुत बड़ा हो । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! तू (सिन्धूनां) वेग से जाने वाली सेनाओं और (रेवतीनां) धन-सम्पन्न प्रजाओं का (पतिः असि) पालक है । तू (दक्षिणेन) दक्षिण हाथ से अर्थात् निष्पाप-मार्ग से (वसूनि आ भर) नाना ऐश्वर्यों को प्राप्त कर ।

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताळिहि वि मृधो नुदस्व २

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (भीमः मृगः न) भयंकर सिंह के समान (कु-चरः) सर्वत्र भूमि में विचरण करता हुआ और (गिरि-ष्ठाः) वाणी में स्थिर, सत्य-परायण होकर (परस्याः परावतः आ जगन्थ) दूर से दूर प्रदेश से भी आ । (सृकं पविं तिग्मम् संशाय) वेग से जाने वाले शस्त्र को अच्छी प्रकार तीक्ष्ण कर । (शत्रून् ताढि) तेरे बल का नाश करने वालों पर तू आघात कर । तू (मृधः वि नुदस्व) संग्रामकारियों को विशेष रूप से भगा दे ।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
न तत्र दोषं पश्यामि मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ वासिष्ठधर्मसूत्रे ॥

इन्द्रं क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम् ।
अपानुदो जनममित्रयन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम् ॥३।३८॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (वामम्) सुन्दर, दुष्टहिंसक, (क्षत्रं) बल-वीर्य और (ओजः) पराक्रम को लक्ष्य कर (अभि अजायथाः) प्रकट हो । (चर्षणीनां) मनुष्यों के बीच में (अमित्रयन्तं जनम्) अमित्र अर्थात् शत्रु के तुल्य आचरण करने वाले जन को तू (अप अनुदः) दूर कर । और (देवेभ्यः) उत्तम करादि देने वाले प्रजावर्ग के लिये (उरु लोकम् कृणु) विशाल राष्ट्र बना । इत्यष्टाविंशो वर्गः ॥

[१८१]

ऋषिः प्रथो वासिष्ठः । २ संप्रथो भारद्वाजः ॥ ३ घर्मः सौर्यः ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः—१ निचृत् त्रिष्टुप् । २ त्रिष्टुप् । ३ पादनिचृत् त्रिष्टुप् ॥ तृचं सूक्तम् ॥

प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हविर्यत् ।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः ॥१॥

भा०—(वसिष्ठः) सब बसने वालों में सब से उत्तम, प्रजाओं में राजा के तुल्य विद्वान् पुरुष, (द्युतानात्) चमकने वाले और (धातुः) धारण पोषण करने वाले मेघ से (विष्णोः च सवितुः) विविध जलों को बहाने वाले, सर्वप्रेरक सूर्य से, (रथन्तरं) अति वेग से युक्त ऐसे साधन विद्युत् आदि को (आ जभार) प्राप्त करे । (यस्य नाम) जिसका नाम या स्वरूप वा बल (प्रथः च सप्रथः च) विस्तृत और समान रूप से विस्तृत करने वाला है । और (यत्) जो (आनुष्टुभः हविषः हविः) प्रतिस्तम्भन अर्थात् रोकने वाले (हविषः) साधनों में (हविः) उत्तम ग्रहण करने योग्य है । ज्ञान-पक्ष में—(वसिष्ठः) उत्तम वसु ब्रह्मचारी विद्वान् (धातुः द्युतानात्) तेजस्वी पोषक गुरु से और (विष्णोः च सवितुः) पिता के तुल्य विद्वान् से (रथन्तरम्) उत्तम १

उपदेश ग्रहण करे। जिसका नाम, रूप (प्रथः सप्रथः च) विस्तृत और सव्याख्यान है, और (आनुष्टुभस्य हविषः हविः) प्रतिदिन उपदेश योग्य ज्ञान का परम ग्राह्य रूप है।

अविन्दन्ते अतिहितं यदासीद्यज्ञस्य धाम परमं गुहा यत्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोर्भरद्वाजो बृहदा चक्रे अग्नेः ॥ २ ॥

भा०—(यत्) जो (यज्ञस्य) यज्ञ, सर्वोपास्य प्रभु का (परमं धाम) परम तेज (गुहा) परम गुप्त स्थान, बुद्धि रूप गुफा में है और (यत्) जो (अति-हितम् आसीत्) सब से परे स्थित है उस (बृहत्) महान् ज्ञान को (द्युतानात् धातुः) तेजस्वी, धारणकर्त्ता, (विष्णोः च सवितुः) व्यापक, सर्वोत्पादक एवं (अग्नेः) ज्ञानमय प्रभु एवं गुरु जनों से (भरद्-वाजः) ज्ञान, बल और ऐश्वर्य का धारक विद्वान् (आ चक्रे) ग्रहण करता है। (२) इसी प्रकार बल-धारक विद्वान् विद्युत्, सूर्य, अग्नि आदि से गुप्त बल, तेज को ग्रहण करे।

तेऽविन्दन्मनसा दीध्याना यजुः ष्कन्नं प्रथमं देवयानम्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोरा सूर्यादभरन्घर्ममेते ॥ ३ ॥ ३९ ॥

भा०—(ते) वे (दीध्यानाः) तेजस्वी लोग (प्रथमं) सर्वश्रेष्ठ, (देव-यानम्) विद्वानों के प्राप्त करने योग्य (स्कन्नं) परम प्राप्य, ज्ञान (यजुः) उपास्य को (मनसा अविन्दन्) मन से, ज्ञान से प्राप्त करते हैं। (एते) वे (द्युतानात् धातुः) चमकने वाले परिपोषक तत्त्व विद्युत् से, (विष्णोः च सवितुः च सूर्यात्) व्यापक और प्रेरक सूर्य से (घर्मम्) प्रकाश को (उत् अभरन्) प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त गुण वाले विद्वान् जनों वा प्रभु से लोग ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करते हैं।

इत्येकोनचत्वारिंशो वर्गः ॥

[१८२]

ऋषिः तपुर्मूर्धाबार्हस्पत्यः ॥ बृहस्पतिर्देवता ॥ छन्दः—१ भुरिक् त्रिष्टुप् । २ विराट् त्रिष्टुप् । ३ त्रिष्टुप् ॥ तृचं सूक्तम् ॥

बृहस्पतिर्नयतु दुर्गहा तिरः पुनर्नेषदघशंसाय मन्म ।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्नथा करद्यजमानाय शं योः ॥ १ ॥

भा०—(बृहस्पतिः) महान् ब्रह्माण्ड और बड़ी २ शक्तियों का पालक प्रभु (दुः-गहा) बड़ी कठिनता से ग्रहण करने योग्य, दुर्विज्ञेय वा (दुर्ग-हा) समस्त संकटों को नाश करने वाला है । वह (तिरः नयतु) सब संकटों को दूर करे, वा वह सब (दुर्गहा तिरः नयतु) दुख से वश करने योग्य शत्रु-सैन्यों, और कष्टों को दूर करे । वा वह (तिरः) पार (नयतु) ले जावे । (पुनः) और वह (अघ-शंसाय) हम पर पाप की आंशसा करने वाले, दुर्भाव वाले दुष्ट पुरुष को दूर करने वा सुधारने के लिये (मन्म) मननीय ज्ञान और तेजोयुक्त शस्त्रादि दण्ड (नेषत्) प्रयोग करे । वह (अशस्तिम् क्षिपत्) बुराई को दूर करे, वह (अशस्ति) शासन-रहित ऊच्छृंखलता को उखाड़ दे । (दुर्मतिं अपहन्) दुष्ट मति को परे करे । (अथ) और (यजमानाय) अपने को समर्पण करने वाले का (शंयोः) शान्ति और दुःख-निवारण (करत्) करे ।

नराशंसो नोऽवतु प्रयाजे शं नो अस्त्वनुयाजो हवेषु ।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्नथा करद्यजमानाय शं योः ॥ २ ॥

भा०—(नराशंसः) मनुष्यों को उत्तम मार्ग बतलाने वाला, और मनुष्यों द्वारा स्तुत्य पुरुष (प्र-याजे) उत्तम यज्ञ, दान, सत्संग के अवसर में (नः अवतु) हमारी रक्षा करे, हमें प्राप्त हो । वह (हवेषु) यज्ञों और युद्धों के अवसरों में (अनु-याजः) अनुकूल संगति, दान, सत्संग

आदि करने वाला होकर (नः शम् अस्तु) हमें कल्याणकारक, शान्तिदायक हो। (अशस्तिम् क्षिपत्०) शेष व्याख्या देखो इस से पूर्व मन्त्र में।

तपुर्मूर्धा तपतु रक्षसो ये ब्रह्मद्विषः शरवे हन्तवा उ।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्नथा करद्यजमानाय शं योः ॥३॥४०॥

भा०—(तपुः-मूर्धा) अति तप से युक्त, शिरः स्थान, प्रमुख पद को धारण करने वाला, अग्रणी पुरुष (रक्षसः तपतु) दुष्ट जनों को पीड़ित करे। और (ये ब्रह्मद्विषः) जो ब्रह्म, ब्राह्मण, वेद, अन्न, धनादि से द्वेष करने वाले हैं उनको भी पीड़ित करे। और वह (शरवे) हिंसक जन को (हन्तवै) नाश करने के लिये (उ) भी यत्न करे। (क्षिपद्०) इत्यादि पूर्ववत् ॥ इति चतुर्विंशो वर्गः ॥

[१८३]

ऋषिः प्रजावान्प्राजापत्यः ॥ अन्वृचं यजमानपत्नीहोत्राशिषो देवताः ॥ छन्दः—१ त्रिष्टुप् । २, ३ विराट् त्रिष्टुप् ॥ तृचं सूक्तम् ॥

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष! मैं (त्वा) तुझे (मनसा चेकितानं) ज्ञानवान् चित्त से नाना संकल्प-विकल्प करते हुए और ज्ञानवान् होते हुए (अपश्यम्) देखता वा देखती हूं। और तुझे (तपसः जातम्) तप से उत्पन्न और (तपसः वि-भृतम्) तप से व्याप्त, देखता वा देखती हूँ। हे (पुत्र-काम) पुत्र की कामना करने हारे! युवा पुरुष! (इह) इस आश्रम में, इस उत्तम नारी वा गृहस्थ में (प्रजां) प्रजा को और (रयिम्) ऐश्वर्य, बल, वीर्य को (रराणः) प्रदान करता हुआ, (प्रजया प्र जायस्व) उत्तम सन्तान के रूप में स्वयं उत्पन्न हो। यह मन्त्र स्त्री

द्वारा पुरुष के प्रति वा पुरोहित, गुरु, पिता आदि द्वारा युवा के प्रति अनुज्ञा रूप में है ।

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह ।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्त्ता सा स्मृताऽङ्गना ।। मनु० अ०९।४५ ॥
पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ।। मनु० अ० ९-८ ॥

दूसरे मन्त्र से प्रतीत होता है कि स्त्री का ही पुरुष के प्रति यह वचन है । दूसरे में पुरुष स्त्री से कहता है ।

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम् ।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे ॥ २ ॥

भा०—हे युवति ! मैं पुरुष (त्वा) तुझे (मनसा) मन से (दीध्यानां) ध्यान करती हुई (अपश्यं) देखूं । और (स्वायां तनू) अपनी देह में (ऋत्व्ये) ऋतुकाल में (नाधमानां) सौभाग्य से सम्पन्न होती हुई भी देखूं । तू (युवतिः) युवति, यौवन से युक्त, गृहस्थ बसाने में समर्थ होकर (माम् उप उच्चा बभूयाः) मेरे समीप अति आदर को प्राप्त हो । और हे (पुत्र-कामे) पुत्र की कामना करने हारी ! तू (प्रजया प्रजायस्व) प्रजा द्वारा उत्तम सन्तान की माता बन ।

अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः ।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान् ॥३॥४१॥

भा०—(अहम्) मैं कृषक तुल्य होकर (ओषधीषु) ओषधि, वनस्पतियों के बीच वायुवत् (गर्भम् अदधाम्) गर्भ को धारण कराऊं । (विश्वेषु भुवनेषु अन्तः) समस्त भुवनों के बीच में सूर्य के तुल्यवीर्यधारक दाराओं में गर्भ धारण कराऊं । (अहं पृथिव्याम्) मैं पृथिवी में मेघ या जल के

तुल्य अपनी पृथिवी रूप जाया में (प्रजाः अजनयम्) सन्ततिएं उत्पन्न करूं। और (अहं) मैं (जनिभ्यः) सन्तान उत्पन्न करने वाली धर्म-दाराओं से और (अपरीषु) जो पर की न हों, अपनी हों, उनमें ही (पुत्रान् अजनयम्) पुत्रों को उत्पन्न करूं। आदरार्थ बहुवचन। इत्येकचत्वारिंशो वर्गः ॥

[१८४]

ऋषिः त्वष्टा गर्भकर्ता विष्णुर्वा प्राजापत्यः ॥ देवता—लिंगोक्ताः । गर्भार्थाशीः ॥ छन्दः—१, २ अनुष्टुप् । ३ निचृदनुष्टुप् ॥

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ १ ॥

भा०—(विष्णुः) हृदय में प्रवेश करने वाला पुरुष (योनिं कल्पयतु) उत्तम गृह बनावे। और (त्वष्टा) तेजस्वी वा शिल्पी पुरुष (रूपाणि) नाना रुचिकर पदार्थ (पिंशतु) बनावे। (प्रजापतिः) प्रजा का पालक (आ सिञ्चतु) वीर्य का आसेचन करे। (धाता) हे स्त्रि! तेरा धारण-पोषण करने वा गर्भ आधान करने वाला पुरुष ही (गर्भं दधातु) तेरे गर्भ का भरण-पोषण भी करे। हृदय में प्रेमी होकर, वा शरीर में प्रजारूप होकर प्रवेश करने वाला विष्णु, नाना रुचिकर पदार्थों का रचयिता त्वष्टा, प्रजा का पालक, प्रजापति, गर्भ का आधाता, और पोषक ये सब विशेषण पति के कर्त्तव्य को बतलाते हैं।

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ २ ॥

भा०—हे (सिनीवाली) बंधन में बांधने वाली और पुरुष को वरण करने वाली! हे सुभगे! वरवर्णिनि! तू (गर्भं धेहि) गर्भ को

धारण कर। हे (सरस्वति) उत्तम ज्ञानवति ! तू (गर्भं धेहि) गर्भ को धारण कर। (पुष्कर-स्रजौ) पुष्टिकारक वीर्य और रज को उत्पन्न करने वाले (अश्विनौ) परस्पर व्याप्त होने वाले (देवौ) दोनों के अंग (ते गर्भं आधत्ताम्) तेरे भीतर गर्भ को धारण करावें। कामयुक्त होने से दोनों के अंग यहां 'देव' हैं। परस्पर अनुपात में व्याप्त होने वाले होने से 'अश्वी' हैं। इन नामों और विशेषणों में अन्य भी वैज्ञानिक रहस्य हैं, जिन्हें स्थानाभाव से नहीं लिखते। सिनम् अन्नं भवति। सिनाति भूतानि। वालं पर्व। वृणोतेः। तस्मिन्नन्नवती। वालिनी वा। वालेने वास्याःमणुत्वाचन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति निरु०। ११। ३३॥

हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे॥ ३॥ ४२॥

भा०—(यं) जिस (गर्भं) ग्रहण करने योग्य अपत्य-जनक गर्भ को (हिरण्ययी अरणी) हित और रमण योग्य सुख से युक्त दो अरणि काष्ठों के तुल्य परस्पर (अश्विना) संगत स्त्री पुरुष मिलकर (निर्मन्थतः) अग्नि के तुल्य बालक रूप से उत्पन्न करते हैं (तं) उस (ते गर्भं) तेरे गर्भस्थ सन्तान को हम (दशमे मासि सूतवे) दसवें मास में प्रसव होने के लिये (हवामहे) सब प्रकार से स्वीकार करें उसका यथोचित पालन-पोषण अपने पर सहें। इति द्वाचत्वारिंशो वर्गः॥

[१८५]

ऋषिः सत्यधृतिर्वारुणिः॥ देवता—अदितिः। स्वस्त्ययनम्॥ छन्दः—
१, ३ विराड् गायत्री। २ निचृद् गायत्री॥ तृचं सूक्तम्॥

महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः।
दुराधर्षं वरुणस्य॥ १॥

भा०—(मित्रस्य) सर्वस्नेही, (अर्यम्णः) भीतरी और बाह्य शत्रुओं का नियन्त्रण करने वाले और (वरुणस्य) सबसे वरण करने योग्य, दुःखों के वारक इन (त्रीणाम्) तीनों का (द्युक्षं) अति प्रदीप्त, तेजस्वी, (अवः) रक्षण, ज्ञान और स्नेह (महि) महान् और (दुराधर्षं अस्तु) अन्यों द्वारा अपमान करने योग्य न हो।

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु।
ईशे रिपुरघशंसः ॥ २ ॥

भा०—(तेषाम् अमा चन) उनके गृहों पर, उनके सहयोग में (अघ-शंसः) अनिष्ट की संभावना वाला (रिपुः) दुष्ट, शत्रु (न ईशे) समर्थ नहीं होता, कुछ बिगाड़ नहीं सकता, (तेषाम् अध्वसु) उनके मार्गों में और (तेषां वारणेषु) उनके दुःख-संकट वारण करने के साधनों, स्थानों वा (तेषां वा रणेषु) उनके सहयोग में किये युद्धों वा रमणीय स्थानों में भी (रिपुः न ईशे) शत्रु कुछ नहीं कर सकता।

यस्मै पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय।
ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ॥ ३ ॥ ४३ ॥

भा०—(अदितेः) अविनाशी, सूर्यवत् अखण्ड तेजस्वी प्रभु के (पुत्रासः) पुत्रवत् एवं बहुतों की रक्षा करने वाले जन (यस्मै मर्त्याय) जिस मनुष्य को (प्र जीवसे) उत्तम रीति से दीर्घ जीवन धारण करने के लिये (अजस्रं ज्योतिः यच्छन्ति) अविनाशी प्रकाश प्रदान करते हैं उसका भी दुष्टजन कुछ नहीं कर सकते। इति त्रिचत्वारिंशो वर्गः ॥

[१८६]

ऋषिः उलो वातायनः ॥ वायुर्देवता ॥ छन्दः—१, २ गायत्री । ३ निचृद् गायत्री ॥ तृचं सूक्तम् ॥

वात॒ आ वा॑तु भेष॒जं श॒म्भु म॑यो॒भु नो॑ हृ॒दे ।
प्र ण॒ आयूँ॑षि तारिषत् ॥ १ ॥

भा०—(वातः) वह सर्वव्यापक, वायु के समान बलवान् प्रभु (भेषजम्) सब दुःखों का परम औषधि, (शं-भु) शान्तिदायक और (मयः-भु) सुखकारक होकर (नः आ वातु) हमें प्राप्त हो। (नः आयूषि प्र तारिषत् हमें दीर्घ जीवन प्रदान करे।

उ॒त वा॑त पि॒तासि॑ न उ॒त भ्रा॒तोत॑ नः॒ सखा॑ ।
स नो॑ जी॒वात॑वे कृधि ॥ २ ॥

भा०—हे (वात) वायुवत् बलवान्, जीवनप्रद ! सर्वव्यापक, सर्व-प्रेरक ! (उत) और तू (नः पिता असि) पिता के तुल्य हमारा पालक है, (उत नः भ्राता) और भाई के समान हमारा भरण-पोषण करने वाला है, (उत नः सखा) और मित्र के समान हम से प्रेम करने वाला है। (सः) वह तू (नः) हमारे (जीवातवे) जीवन वृद्धि के लिये (कृधि) कृपा कर।

यद॒दो वा॑त ते गृ॒हे॒३॑ऽमृत॑स्य नि॒धिर्हि॑तः ।
ततो॑ नो देहि जी॒वसे॑ ॥ ३ ॥ ४४ ॥

भा०—हे (वात) व्यापक प्रभो ! (यत्) जो (ते गृहे) तेरे ग्रहण योग्य, तेरे वश में (अमृतस्य निधिः हितः) अमृत का खज़ाना धरा है (ततः) उसमें से (नः) हमें (जीवसे धेहि) दीर्घ जीवन के लिये प्रदान कर। इति चतुश्चत्वारिंशो वर्गः ॥

[१८७]

ऋषिर्वत्स आग्नेयः ॥ अग्निर्देवता ॥ छन्दः—१ निचृद् गायत्री । २—५ गायत्री ॥ पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ १ ॥

भा०—हे विद्वन् ! तू (क्षितीनां वृषभाय) भूमियों पर वर्षण करने वाले मेघ के समान उदार (क्षितीनां वृषभाय) प्रजाओं के बीच श्रेष्ठ स्वामी रूप (अग्नये) अग्निवत् तेजस्वी, अग्रणी, पुरुष के लिये (वाचम् प्र ईरय) वाणी को प्रेरित कर, उसकी स्तुति कर । (सः) वह (नः) हमें (द्विषः) शत्रु और अप्रिय भीतरी काम क्रोधादि से भी (अति पर्षत्) पार करे ।

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो (परस्याः परावतः) दूर से भी दूर स्थान से (तिरः धन्व) अन्तरिक्षवत् सत्र पार कर (अति रोचते) खूब प्रकाशित होता है । (सः नः द्विषः अतिपर्षत्) वह सूर्यवत् तेजस्वी प्रभु हमें समस्त बाहरी और भीतरी शत्रुओं से पार करे ।

यो रक्षांसि निजूर्वति वृषा शुक्रेण शोचिषा ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (वृषा) बलवान् (शुक्रेण शोचिषा) अति शुद्ध कान्ति से उज्ज्वल और दीप्ति से सूर्यवत् (रक्षांसि निजूर्वति) दुष्टों वा रोगों का नाश करता है, (सः नः द्विषः अति पर्षत्) वह हमें भीतरी, बाह्य शत्रुओं से पार करे ।

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४ ॥

भा०—(यः) जो (विश्वा भुवना) समस्त लोकों को (अभि

वि पश्यति) सम्मुख देखता और (सं पश्यति च) अच्छी प्रकार देखता है, (सः नः द्विषः अति पर्षत्) वह हमें अप्रीति युक्त शत्रुओं, दुःखों, रोगों, कष्टों से पार करे।

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥ ४५ ॥

भा०—(यः) जो (अस्य रजसः पारे) इस लोक के पार, रजोगुण से परे (शुक्रः अग्निः अजायत) कान्तियुक्त, सबको भस्म करने वाला, अग्निवत् स्वयं प्रकाश आत्मा प्रकट है (सः नः द्विषः अति पर्षत्) वह हमें सब कष्टों से पार करे। इति पञ्चचत्वारिंशो वर्गः ॥

[१८८]

ऋषिः श्येन आग्नेयः ॥ देवता—अग्निर्जातवेदाः ॥ गायत्री छन्दः ॥ तृचं सूक्तम् ॥

प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्।
इदं नो बर्हिरासदे ॥ १ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो! (नूनं) अवश्य आप लोग (जातवेदसम्) उत्पन्न शरीर को धन के समान प्राप्त करने और भोगने वाले, (वाजिनम्) बलशाली, ज्ञानी, (अश्वम्) अश्व के तुल्य उसे ढोने और उसके भोक्ता आत्मा को (प्र हिनोत) बढाओ, उसकी स्तुतियां करो। (इदं) यह (नः) हमारा (बर्हिः) वृद्धिशील देह ही उसके (आसदे) विराजने के आसन के तुल्य स्थान है। (२) प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में व्यापक और उसको जानने वाला प्रभु भी 'जातवेदाः' है। समस्त बलों, ऐश्वर्यों के स्वामी होने से वाजी और व्यापक और संञ्चालक होने से 'अश्व' है। विद्वान् लोग उसकी स्तुति करें। उसके विराजने के लिये ये (बर्हिः) समस्त लोक ही आसनवत् हैं।

अस्य प्र जातवेदसो विप्रवीरस्य मीळ्हुषः ।
महीमियर्मि सुष्टुतिम् ॥ २ ॥

भा०—(अस्य जात-वेदसः) इस उक्त प्रकार से उत्पन्न शरीरों को लेने वाले (विप्र-वीरस्य) विविध उत्तम वीरों वत् प्राणों के स्वामी, (मीढुषः) बलवान्, वीर्य आदि-सेचक आनन्दप्रद आत्मा की (महीम् सु-स्तुतिम् इयर्मि) बड़ी उत्तम स्तुति करूं । (२) विद्वानों को विविध मार्गों में चलाने वाला होने से प्रभु 'विप्रवीर' है ।

या रुचो जातवेदसो देवत्रा हव्यवाहनीः ।
ताभिर्नो यज्ञमिन्वतु ॥ ३ ॥ ४६ ॥

भा०—उस (जात-वेदसः) जातवेदा, आत्मा की (देव-त्रा) देवों, प्राणों के बीच में जो (हव्य-वाहनीः) ज्ञान और अन्नादि प्राप्त कराने वाली (याः रुचः) जो दीप्तियों के तुल्य अनेक कामनाएं हैं (ताभिः) उन सहित वह (नः यज्ञम् इन्वतु) हमारे यज्ञ को प्राप्त हो ।

इसी प्रकार 'जातवेदाः' अग्नि (२) हमारे यज्ञ में आत्मा और प्रभु का ही प्रतिनिधि है । इति षट्चत्वारिंशो वर्गः ॥

[१८९]

ऋषिः सार्पराज्ञी ॥ देवता—सार्पराज्ञी सूर्यो वा ॥ छन्दः—१ निचृद् गायत्री । २ विराड् गायत्री । ३ गायत्री ॥ तृचं सूक्तम् ॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥

भा०—(अयं) यह (गौः) गमनशील, नित्य गतिमान् भूलोक सूर्य-लोक, चन्द्र-लोक आदि (पृश्निः) आकाश में (आ अक्रमीत्) सब ओर भ्रमण कर रहा है, और (पुरः मातरम् असदत्) आगे के

अपने मातृतुल्य महान् आकाश में विराजता है, और अपने (पितरं) पिता तुल्य (स्वः) महान् प्रेरक, सूर्यवत् अपने से बड़े लोक की (प्र-यन्) परिक्रमा करता है। आकाशस्थ समस्त पिण्ड गतिमान् होने से 'गौ' हैं, उनमें से प्रत्येक आकाश में आगे बढ़ता दीखता है, आकाश में ऐसे विराजता है जैसे माता की गोद में बच्चा। और वह भी किसी न किसी अपने से महान् की, पिता की बालकवत् परिक्रमा करता है। चन्द्र और पृथिवी, सूर्य आर सौर-जगत् अपने से भी महान् किसी प्रेरक की परिक्रमा करता है। यही बात अन्य ग्रहों, उपग्रहों और सोपग्रह-ग्रह सहित सौर, मण्डलों के विषय में भी जानना चाहिये।

(२) अध्यात्म वा अधिविद्य में—(अयं पृश्निः) यह प्रश्नशील जिज्ञासु जन (गौः) ज्ञानार्थी होकर (आ अक्रमीत्) परिक्रमा करे। (मातरं) ज्ञानदाता गुरुरूप माता के (पुरः असदत्) आगे विराजे और इसी (स्वः) प्रकाश स्वरूप, उपदेष्टा गुरु को (पितरं प्रयन्) पिता के तुल्य जान कर प्राप्त करे। (३) इसी प्रकार (अयं गौः) यह ज्ञानी आत्मा (पृश्निः) प्रेममय, ज्योतिर्मय होकर आगे बढ़ता, माता प्रभु को प्राप्त होता, उसी में विराजता है, उसी मोक्षमय पिता, पालक प्रभु को प्राप्त करता है।

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ।
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ २ ॥

भा०—(अस्य रोचना) इस आत्मा की रुचिकारक, दीप्ति चेतना ही (प्राणात् अपानती) प्राण ग्रहण करती और अपान का कर्म करती है। इसीसे (महिषः) वह महान् आत्मा सूर्यवत् (दिवम् वि अख्यत्) द्यौः, ब्रह्माण्डवत् इस देह को वा इच्छामय कामना को प्रकाशित करता है।

त्रिंशद्धाम वि राजति वाक्पतङ्गाय धीयते ।
प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥ ३ ॥ ४७ ॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य (प्रति वस्तोः) प्रति दिन (द्युभिः) कान्तियों से (त्रिंशद् धाम विराजति) तीसों स्थानों पर प्रकाशित होता है और जिस प्रकार कान्तियों से चन्द्र तीसों तिथि-स्थानों पर प्रकाशित होता है उसी प्रकार जो (प्रति वस्तोः) निवास योग्य प्रत्येक देह में और निवास योग्य प्रत्येक लोक में व्यापक प्रभु (त्रिंशद् धाम विरजति) तीसों धाम प्रकाश करता है, चमकता है, उस (पतङ्गाय) सूर्य के समान गमनशील वा व्यापक के ज्ञान, और स्तुति के लिये (वाक् धीयते) वेदवाणी को धारण किया जाता है, उसी के लिये उत्तम स्तुति का प्रयोग होता है ।

त्रिंशत्-धाम = (तीस धाम, स्थान) ज्योतिश्चक्र पर दिन रात्रि में तय होने वाले क्रान्तिवृत्त पर ६० अंश चिन्हित हैं जो दिन की तीस घड़ी वा मास की ३० तिथियों का निर्देश करते हैं । (२) अध्यात्म में भी जाग्रत् काल में उसी प्रकार देह में आत्मा की और जगत् में प्रभु की रक्षा को जानना चाहिये ।

[१९०]

ऋषिरघमर्षणो माधुच्छन्दसः ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—१ विराडनुष्टुप् । २ अनुष्टुप् । ३ पादनिचृदनुष्टुप् ॥

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥

भा०—(अभीद्धात् तपसः) सब ओर से प्रकाशमान 'तप' से (ऋतं च सत्यं च अजायत) ऋत और सत्य भी प्रकट हुआ । (ततः रात्री अजायत) उसीसे रात्रि उत्पन्न होती है । (ततः) उस तप से

ही (अर्णवः समुद्रः) यह जल से युक्त महान् समुद्र और सूक्ष्म जलों से व्याप्त आकाश प्रकट हुआ।

'ऋतं'—ऋतमिति सत्य नाम। ऋतं मानसं यथार्थसंकल्पनं, सत्यं वाचिकं यथार्थभाषणं चकराद्-यदपि शास्त्रीयं धर्मजातं समुच्चीयते ॥ सा० ॥

'तपः' पुरा सृष्ट्यर्थं कृतं तपः (सा०)

'समुद्रः'—समुद्रशब्दोऽन्तरिक्षोदध्योः साधारणः। सा०।

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।

अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥

भा०—(अर्णवात् समुद्राद् अधि) अर्णव समुद्र से, संवत्सर, (अजायत) प्रकट हुआ। (विश्वस्य मिषतः) प्रकट होते हुए समस्त जगत् के (वशी) स्वामी (अहः-रात्राणि विदधत्) दिन और रात्रियों को भी बनाता है।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।

दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥ ४८ ॥

भा०—(धाता यथापूर्वम् अकल्पयत्) विधाता, जगत्-कर्त्ता ने जिस प्रकार पहले बनाया था ठीक उसी प्रकार उसने अब भी (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा, (दिवं च पृथिवीं च) आकाश और पृथिवी, (अन्तरिक्षम् अथ स्वः) अन्तरिक्ष और प्रकाश वा समस्त पदार्थ बनाये।

'संवत्सरः'—संवत्सरोपलक्षितः सर्वकालः। सा० ॥

'मिषतः'—निमेषादियुक्तस्य। सा०। इत्यष्टाचत्वारिंशो वर्गः ॥

[१९१]

ऋषिः संवननः ॥ देवता—१ अग्निः। २—४ संज्ञानम् ॥ छन्दः—१ विराडनुष्टुप्। १ अनुष्टुप्। ४ निचृदनुष्टुप् ॥ ३ त्रिष्टुप् ॥ चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ १ ॥

भा०—हे (वृषन्) बलवन्! समस्त सुखों के वर्षाने हारे! हे (अग्ने) ज्ञान के प्रकाशक, प्रभो! तू (अर्यः) स्वामी, सबका प्रेरक होकर (विश्वानि सं युवसे) समस्त प्राणियों और समस्त तत्वों को मिलाता है। तू (इडः पदे समिध्यसे) भूमि पर अग्नि के तुल्य इस अन्न के बने देह में आत्मा के तुल्य, (इडः पदे) वाणी के परम प्राप्तव्य ज्ञातव्य पद ओंकार रूप में प्रकाशित होता है। (सः) वह तू (नः) हमें (वसूनि) नाना ऐश्वर्य और लोक प्राप्त करा।

सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ॥ २ ॥

भा०—हे मनुष्यो! आप लोग (सं गच्छध्वं) परस्पर अच्छी प्रकार मिलकर रहो! (सं वदध्वम्) परस्पर मिलकर प्रेम से बात चीत करो, विरोध छोड़ कर एक समान वचन कहो। (वः मनांसि) आप लोगों के सब चित्त (सं जानताम्) एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। (यथा) जिस प्रकार (पूर्वे देवाः) पूर्व के विद्वान् जन (भागं) सेवनीय और भजन करने योग्य प्रभु का (जानानाः) ज्ञान सम्पादन करते हुए (सम् उपासते) अच्छी प्रकार उपासना करते रहें उसी प्रकार आप लोग भी ज्ञान सम्पन्न होकर (भागं सम् उपासते) सेवनीय अन्न और उपास्य प्रभु का सेवन और उपासना करो।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥३॥

भा०—(एषाम् मन्त्रः समानः) इन सबका विचार एक समान हो। (समितिः समानी) परस्पर संगति, मेल जोल भी एक समान

भेद-भाव से रहित हो। (मनः समानम्) इनका अन्तःकरण एक समान हो। (एषां चित्तं सह) इनका चित्त एक दूसरे के साथ हो। (वः समानम् मन्त्रम् अभि मन्त्रये) मैं आप लोगों को एक समान विचारवान् करता हूं और (वः समानेन हविषा जुहोमि) एक समान अन्न से प्रदान कर आप लोगों को पालित-पोषित करता हूं।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥४॥४९।८॥१२।१०॥

भा०—(वः आकूतिः समानी अस्तु) आप लोगों का संकल्प, निश्चय और भाव, अभिप्राय एक समान रहे। (वः हृदयानि समाना) आप लोगों के हृदय एक समान हों। (वः मनः समानम् अस्तु) आप लोगो के मन समान हों, (यथा) जिससे (वः) आप लोगों का (सह सु असति) परस्पर का कार्य सर्वत्र एक साथ अच्छी प्रकार होसके। इत्येकोनपञ्चाशो वर्गः। इत्यष्टमोऽध्यायः॥ इति द्वादशोऽनुवाकः।

॥ इत्यष्टमोऽष्टकः समाप्तः॥

॥ इति दशमं मण्डलं समाप्तम् ॥

इति ऋग्वेदः सम्पूर्णः।

इति श्रीविद्यालंकार-मीमांसातीर्थ-विरुदोपशोभितेन श्रीमत्पण्डित जयदेवशर्मणा-विरचित ऋग्वेदालोकभाष्ये अष्टमोऽष्टकः दशमञ्च मण्डलम्, ऋग्वेदालोकभाष्यं च समाप्यते॥

भाष्यकर्त्तुरुपसंहारवचनम्

श्लेषप्रपञ्चजटिला चित्रवर्णपदान्विता ।
सनातनी जगत्सर्गस्थितिसंहारकृत्कृतिः ॥
सरस्वती गभीरार्था भवसागरतारिका ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां धारया बहुधारया ॥
विवृण्वती समस्तानि तत्त्वानि विशदान्यथ ।
समासतो व्यासतश्च ब्रह्मात्मानं नरं प्रभुम् ॥
प्राणं मुख्यं च वीर्यं चाग्नीन्द्रसोमादिदैवतैः ।
कथयन्ती विजयते वेदवाणी परस्तराम् ॥

× × ×

द्व्यङ्काङ्केन्दौ वैक्रमाब्दे पौषे मासि सिते दले ।
समाप्यत भृगौ वार ऋग्वेदालोकभाष्यकम् ॥

× × ×

विद्यालंकार-मीमांसातीर्थोपाधिविभूषितः ।
जयदेवः पौतिमाष्यो वेदब्राह्मणतत्त्ववित् ॥
सामाथर्वयजुऋर्क्ष्वालोकभाष्यं व्यधात् क्रमात् ।
लोकभाषां समाश्रित्य मितं यन्नातिविस्तरम् ॥
नानापक्षोपसंकेतप्रदर्शनपुरःसरम् ।

वेदज्ञानमहाराशिदयानन्दोपदर्शिते ॥
संञ्चरन् वर्त्मनि शुभे ज्ञानयज्ञधिया सुखम् ॥

× × ×

वेदाम्बुधिनिमग्नेन ज्ञानालोकितचेतसा ।
नात्मैवातोष्यत परमप्रीयत च सेश्वरः ॥

× × ×

आलोकभाष्यं वेदानामालोकयति दीपवत् ॥
गुह्यं रहस्यं सुस्पष्टं नानावर्णोज्ज्वलं महत् ।
यदधीत्य कृतार्थाः स्युर्वेदतत्त्वबुभुत्सवः ॥

× × ×

आर्षं च सुमहत् ज्ञानं वेदाक्षरसमन्वितम् ।
आरण्यकं ब्राह्मणं च श्रौतगृह्यादिसूत्रकम् ॥
स्मृत्यर्थधर्मशास्त्राणि दर्शनानि च षट् ततः ।
भाष्याणि चाप्यनेकानि तर्कों वेदाक्षरानुगः ॥
मतिर्विविधविज्ञातुराचाराश्च सतां शुभाः ।
सर्वमेव हि वेदार्थतत्त्वालोचनसाधनम् ॥

आयुर्वेद-ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प

चरक-संहिता

सरल भाषानुवाद सहित तीन खण्डों में पूर्ण

प्रत्येक खण्ड (साइज़ डबल क्राउन १६ पेजी लगभग ८०० पृष्ठ का) सुवर्णाक्षरों से सुशोभित और पक्की जिल्द । मू० ४) रु०

आयुर्वेद-ग्रन्थमाला के स्थायी ग्राहकों को इस माला का प्रत्येक ग्रन्थ पौने दाम ३) रु० में दिया जावेगा ।

आयुर्वेद-ग्रन्थमाला में प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ

चरक-संहिता, सुश्रुत-संहिता, अष्टांग-हृदय, अष्टांग-संग्रह, शालाक्य तन्त्र, नावनीतकम्, कुमार-तन्त्र, अंजननिदान, आयुर्वेदसूत्र, शार्ङ्गधर, कश्यप-तन्त्र, माधव-निदान, सुषेण-संहिता, धन्वन्तरीय राजनिघण्टु, वंगसेन, भावप्रकाश, भैषज्य-रत्नावली, रसरत्नसमुच्चय, राजमार्तण्ड, शालिहोत्र-वैद्यक (अश्वचिकित्सा नकुलकृत), हस्त्यायुर्वेद (पालकाप्य मुनिकृत), हारीत-संहिता, भेड-संहिता इत्यादि । इसी प्रकार अन्य लोकोपकारक आयुर्वैदिक ग्रन्थ भी इस माला में प्रकाशित होंगे ।

व्यवस्थापक—

आर्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर.